आधुनिक अ[illegible]शास्त्र

लेखक

पी. सी. जैन, [illegible]म. ए., [illegible] एम-सी. [illegible])

रीडर, अर्थशास्त्र विभाग, [illegible]

रचयिता, 'इण्डिया बिल्ड्स हर वॉर एकॉनॉमी';

संपादक, 'इण्डस्ट्रियल प्रॉब्लेम्स ऑफ इण्डिया'

और

आर. एन. भार्गव, एम. ए.,

लेक्चरर, अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय;

रचयिता, 'प्राइस कन्ट्रोल ऐण्ड राशनिंग';

'टैक्सेशन ऑफ इनहेरिटेन्स' इत्यादि

प्रकाशक

नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स

बनारस

प्रकाशक
नन्दकिशोर भार्गव
नन्दकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स
चौक, बनारस

प्रथम संस्करण १९५२
मूल्य सात रुपया

मुद्रक
पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस
गायघाट, बनारस

भूमिका

अर्थशास्त्र के प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी में अनेक ऐसी पुस्तकें हैं जिनका अध्ययन पाठ्य-पुस्तकों के रूप में किया जाता है। गत वर्षों में और विशेषकर देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के उपरान्त ऐसी कुछ पुस्तकें हिन्दी में भी प्रकाशित हुई हैं पर [illegible] पुस्तकों में अर्थशास्त्र के नवीन अनुसंधानों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। प्रायः वे पुस्तकें इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान [illegible] गयी हैं कि अर्थशास्त्रज्ञ [illegible] के उपरान्त [illegible] कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। यह पूर्णतः सत्य नहीं है। गत वर्षों में अन्य विज्ञानों की भाँति अर्थशास्त्र ने भी उल्लेख्य प्रगति की है। प्रयाग विश्वविद्यालय में अनेक वर्षों के अध्ययन और अध्यापन के अनुभव के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऐसी पुस्तक की अधिक आवश्यकता है जिसमें नवीन विचारों और अनुसंधानों तथा सिद्धांतों का भी उचित और सरल रूप से समावेश हो।

इस पुस्तक में आधुनिक अर्थशास्त्र इस रीति से उपस्थित किया गया है कि यह प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तक का स्थान ग्रहण कर सके। कुछ नवीन और कठिन विचारों का अध्ययन इन प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए नहीं दिया गया है क्योंकि उनका पूर्ण महत्त्व समझना एक ऐसे विद्यार्थी के लिए कठिन है। हमें आशा ही नहीं, विश्वास है कि यह पुस्तक अध्यापकों और विद्यार्थियों को लाभदायक सिद्ध होगी।

अर्थशास्त्र विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
८-१-१९५२

पी. सी. जैन
आर. एन. भार्गव

प्रकाशक
नन्दकिशोर भार्गव
नन्दकिशोर ऐण्ड ब्र
चौक, बनारस

विषय-सूची

अध्याय १

अर्थशास्त्र की परिभाषा और उसका क्षेत्र

प्रत्येक व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएँ होती है [illegible] वस्तुओ
या सेवाओ मे आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति होती है वे मुफ्त नहीं मिलती। उन वस्तुओ या सेवाओ के प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। इस कारण मनुष्य की आवश्यकताओं [illegible] तभी हो सकती है जब वह परिश्रम करके उन वस्तुओ अथवा सेवाओं को प्राप्त कर [illegible] उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। यह तो सत्य है कि प्रकृति कुछ वस्तुएँ या शक्तियाँ मनुष्य जाति को मुफ्त देती है इस अर्थ मे कि जब प्रकृति मनुष्य जाति को सूर्य का प्रकाश, हवा, वर्षा, नदी, पहाड़, इत्यादि देती है तो वह मनुष्य जाति से उनका मूल्य नही माँगती। सूर्य यह कभी नही कहता कि मै आज अस्त हो रहा हूँ और कल उदय नही होऊँगा, क्योकि जो मैने आज प्रकाश दिया उसका मूल्य मुझको मनुष्य जाति ने कुछ नही दिया। हवा यह कभी नही कहती कि मै अब नही बहूँगी और न मनुष्यों को साँस ही लेने दूँगी क्योंकि मेरी इन सेवाओ का मुझको कुछ पुरस्कार नही मिलता। इसी तरह वर्षा भी यह कभी नही कहती कि मुझको कुछ मूल्य दो और न नदी या पहाड कभी यह कहते है कि हम मनुष्य जाति की सेवा तभी करेंगे जब हमको कुछ वेतन मिलेगा। प्रकृति अवश्य इन वस्तुओ का कोई मूल्य नही माँगती। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मनुष्य इन वस्तुओं का प्रयोग बिना परिश्रम के ही कर सकता है। हवा साधारणत. मुफ्त मिलती है परन्तु साँस लेने मे कुछ परिश्रम करना पड़ता है और तभी हमारी साँस लेने की आवश्यकता की पूर्ति होती है। यदि मनुष्य की इन्द्रियाँ साँस लेने का परिश्रम बन्द कर दे तो चाहे प्रकृति हवा मुफ्त मे ही क्यों न देती हो, मनुष्य की साँस लेने की आवश्यकता की पूर्ति नही हो सकती और उसका जीवित रहना असम्भव हो जायगा। नदी या कुएँ से पानी मुफ्त मे ही मिलता हो परन्तु जब किसी व्यक्ति को प्यास लगती है तो उसको बुझाने के लिए कुएँ या नदी के पास जाना पडता है और अपने हाथों परिश्रम द्वारा पानी उठाकर पानी पीना पडता है और तभी प्यास की आवश्यकता की पूर्ति होती है। कुँआ या नदी मनुष्य के पास नही आते वरन् मनुष्य को अपनी

प्यास बुझाने के लिए उनके पास जाना पड़ता है। यदि कुँआ या नदी मनुष्य के समीप हो तो वह थोड़ा सा परिश्रम करने पर ही अपनी प्यास बुझा सकता है। जब कोई नदी चार-पाँच मील या और अधिक दूर हो तो प्यास बुझाने के लिए उतना ही अधिक परिश्रम करना होगा। जब कुँआ या नदी पानी मुफ्त देते हैं तो प्यास बुझाने के लिए केवल पानी प्राप्त और सेवन करने का ही परिश्रम करना पड़ता है। जब पानी मुफ्त न मिले तो उसको प्राप्त करने का परिश्रम और अधिक होगा क्योंकि ऐसी अवस्था में पानी मोल लेना होगा और पानी मोल लेने के लिए या तो परिश्रम करके कुछ रुपया कमाना होगा या किसी वस्तु का उत्पादन करना होगा जिसको देकर हम पानी प्राप्त कर सकें। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि यदि कोई वस्तु मुफ्त मिलती है तो वह लाभदायक ही हो। अनेक बार हवा से तूफान आता है, अधिक वर्षा से बाढ़ और अधिक सूर्य की गर्मी से मनुष्य बीमार पड़ जाते हैं। अर्थात् प्रकृति की मुफ्त दी हुई वस्तुओं से हानि भी हो सकती है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य की बिना परिश्रम किये किसी भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। हवा, पानी या अन्य वस्तुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिश्रम करना अनिवार्य है। कुछ वस्तुओं के लिए कम परिश्रम करना पड़ता है, कुछ के लिए अधिक। दूसरी ओर मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित होती हैं। मनुष्य को खाने के लिए अच्छे भोजन और पहनने को वस्त्र और रहने को आश्रय ही नहीं बल्कि उत्तम वस्त्र, शानदार मकान, मोटर, रेडियो, हवाई जहाज इत्यादि अनेक वस्तुएँ चाहिये। उसको अपार धन और शक्ति भी चाहिये। इन असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति करना किसी भी मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है क्योंकि उसके साधन और समय सीमित हैं। सीमित समय में वह असीमित वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकता। उसकी परिश्रम करने की शक्ति भी सीमित है और इसी कारण से उसके साधन भी सीमित मात्रा में हैं। सारांश यह है कि मनुष्य के एक ओर तो असीमित आवश्यकताएँ हैं और दूसरी ओर इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उसके साधन और समय सीमित हैं। इसी कारण उसके सामने एक बड़ी समस्या आ खड़ी होती है। यदि उसकी असीमित आवश्यकताओं के साथ उसके साधन अ।र समय भी असीमित होते तो उसके सामने कोई समस्या न थी, क्योंकि वह अपनी प्रत्येक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था; और यदि उसके साधन और समय सीमित हैं तो उसकी आवश्यकताएँ भी इतनी ही होतीं कि उन साधनों से और उस समय में उन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती तो भी कोई समस्या न थी। परन्तु व्यावहारिक जीवन में तो

मानुषिक आवश्यकताएँ असीमित हैं और उनकी पूर्ति के लिए समय और साधन सीमित है। साथ ही साथ आवश्यकताओं की एक बार पूर्ति होने से उनकी सदा के लिए तृप्ति नहीं हो जाती और कुछ घण्टों या समय के बाद उन्हीं आवश्यकताओं का फिर से अनुभव होता है और नई आवश्यकताएँ प्रतिदिन उत्पन्न होती रहती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का लक्ष्य यह होता है कि वह अपने सीमित समय व साधनों का प्रयोग इस तरह करे कि वह अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके जिससे अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो। प्रत्येक मनुष्य का यही लक्ष्य होता है। जब आप रोटी खाते हैं, पढ़ते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं, धन कमाते हैं, कलक्टर बनना चाहते हैं तो इसी लक्ष्य की पूर्ति में ही आप काम करते हैं क्योंकि इन अन्य कार्यों से आप अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति करने का प्रयत्न करते हैं जिससे अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य के सामने एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है कि वह अपने सीमित साधनों से किन आवश्यकताओं की पूर्ति करे और किन आवश्यकताओं को अतृप्त ही रहने दे। अर्थशास्त्र इसी का अध्ययन करता है कि मनुष्य अपने सीमित समय, परिश्रम या साधनों को किस प्रकार उपयोग में लाये कि जिससे उसको अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो। यदि यह सन्तोष उसको उचित आवश्यकताओं की पूर्ति से प्राप्त होता है तो उसको अधिक सन्तोष से अधिक सुख भी प्राप्त होगा। मनुष्य-जीवन का मुख्य लक्ष्य पूर्ण सुख प्राप्त करना है परन्तु उसकी प्राप्ति में सीमित समय और साधन बाधाएँ हैं। अर्थशास्त्र में हम मानवीय आचरणों का इस दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं कि सीमित साधनों का मनुष्य किस प्रकार प्रयोग करता है कि जिससे उसको अधिक सुख प्राप्त हो। वह कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और विवश होने के कारण कुछ आवश्यकताएँ अतृप्त ही रह जाती हैं। जब कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तो कुछ अन्य आवश्यकताएँ अतृप्त रह जाती हैं। अर्थशास्त्र स्वार्थों की एकात्मकता नहीं बतलाता परन्तु उनके पारस्परिक विरोध की ओर दृष्टि आकर्षित करता है। यदि मनुष्य अपनी एक आवश्यकता की पूर्ति करता है तो वह उस समय और साधनों को दूसरी आवश्यकता की पूर्ति में नहीं ला सकता और उन दूसरी आवश्यकताओं को अतृप्त ही रखना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र प्रकृति की उदारता और विपुल सम्पत्ति की प्रशंसा न करके उसकी क्रूरता की ओर ध्यान आकृष्ट करता है क्योंकि इसी कारण तो मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और उसके सामने एक निर्वाचन समस्या उपस्थित हो जाती है। अर्थशास्त्र जीवन के शोकान्त-पक्ष की ओर भी दृष्टि आकृष्ट

करता है और बतलाता है कि मनुष्य यदि एक आवश्यकता की पूर्ति करता है तो उसको अपनी कुछ अन्य आवश्यकताएँ विवश होकर अतृप्त रखनी होंगी। जहाँ कहीं मानवीय आचरण अभाव से संघर्ष करता है वहाँ ही आर्थिक पक्ष विद्यमान रहता है क्योंकि यदि वस्तुओं का अभाव न हो तो कोई आर्थिक समस्या उपस्थित ही नहीं होती है। आर्थिक समस्या तो तभी उठती है जब वस्तुओं का अभाव हो और आपको यह निश्चित करना पड़े कि अपने परिश्रम और समय को किन वस्तुओं को प्राप्त करने में प्रयोग करें कि जिनसे उन वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति हो और अन्य वस्तुओं की आवश्यकताएँ अतृप्त रहें। वस्तुओं का अभाव और समय और साधनों का सीमित होना ही एक निर्वाचन समस्या उपस्थित कर देता है और जहाँ कहीं या जब भी एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है तब एक आर्थिक समस्या खड़ी हो जाती है, क्योंकि ऐसी स्थिति में यह निश्चित करना पड़ता है कि अधिकतम सन्तोष या सुख प्राप्त करने के लिए किस प्रकार का आचरण किया जाय।

मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता चेतन नहीं होती, कुछ आवश्यकताएँ अचेतन होती हैं। चेतन आवश्यकताओं से मनुष्य को दुख होता है और यह दुख उन आवश्यकताओं की तृप्ति से ही मिटता है जिससे सुख प्राप्त होता है। अचेतन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से सुख होता है परन्तु उनके अतृप्त रहने से दुख नहीं होता है। कुछ सन्तोषी प्रकृति के मनुष्य, साधु-महात्मा अपनी अनेक चेतन आवश्यकताओं को त्याग देते हैं जिस कारण उनकी अतृप्ति से उन्हें दुख नहीं होता है। मनुष्य को अधिक से अधिक उचित आवश्यकताओं की उचित रीति से तृप्ति करने से अधिक सुख प्राप्त होता है क्योंकि अतृप्त आवश्यकताओं की मात्रा कम हो जाती है, परन्तु जब अधिक आवश्यकताओं के सन्तुष्ट करने से अनेक नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती जाँय जो अतृप्त रहें तो उनसे उत्पन्न हुआ दुख भी बढ़ता जाता है। पिछली कुछ सदियों में उत्पादन में उत्त-रोत्तर वृद्धि हुई है जिसके कारण वर्तमान में मनुष्य अनेक प्रकार की वस्तु और सेवाओं का उपभोग अधिक करता है परन्तु केवल इसी बात का ध्यान रखकर हम यह नहीं कह सकते कि वह अपने पूर्वजों से अधिक सुखी है, क्योंकि उनके उपभोग की मात्रा और प्रकार आज की अपेक्षा कम थे। यदि वर्तमान का मनुष्य अपनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है तो साथ ही साथ उसकी अतृप्त आवश्यकताओं की मात्रा भी बहुत अधिक है। रेडियो, मोटर, बिजली का पंखा इत्यादि सुख के अच्छे साधन हैं परन्तु इनके उत्पादन से अनेक मनुष्य अपनी इन वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकते जिससे उनकी अतृप्त आवश्यक-

ताओं की मात्रा बढ़ जाती है। और जो व्यक्ति इन वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं उनको अन्य कई मूल्यवान वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा रहती है। वास्तविक सुख अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति से ही नहीं मिलता। अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक उपयोगिता तो प्राप्त होती है परन्तु अधिक उपयोगिता प्राप्त होने से अधिक सुख नहीं मिलता। वास्तव में सुख तृप्त आवश्यकताओं पर ही निर्भर नहीं परन्तु अतृप्त आवश्यकताओं पर भी निर्भर है। अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है परन्तु अधिक अतृप्त आवश्यकताओं से अधिक दुख भी होता है और वास्तव में सुख इन दोनों पर ही निर्भर है। यदि एक व्यक्ति अपनी दूसरे की अपेक्षा अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो तो यह आवश्यक नहीं कि वह उससे अधिक सुखी हो; क्योंकि सम्भव है उसकी अतृप्त आवश्यकताएँ जो दुख देती हों दूसरे की अपेक्षा कहीं अधिक हों। धनी व्यक्ति एक गरीब व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है जिससे उसको अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह गरीब व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुखी हो। यह सम्भव है कि इस धनी व्यक्ति की अतृप्त आवश्यकताएँ भी अधिक हों और उनकी अतृप्ति से इसको दुख भी अधिक होता हो, जब कि गरीब व्यक्ति की अतृप्त आवश्यकताएँ कम हों और उनकी अतृप्ति से उसको कम दुख होता हो क्योंकि वह अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार जो कुछ प्राप्त कर सकता हो उसी में प्रसन्न रहता हो।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति को पूर्ण सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब वह अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करे और कोई आवश्यकता अतृप्त न रहे। परन्तु यह सम्भव नहीं क्योंकि आवश्यकताएँ असीमित होती हैं और उन सबकी पूर्ति नहीं हो सकती। यदि वह अपनी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति कर भी ले तो भी कुछ आवश्यकताएँ अतृप्त रह जाती हैं और जिन आवश्यकताओं की पूर्ति एक बार हो भी जाती है उनका पुनः उसे अनुभव होता है। आवश्यकताओं के अस्तित्व से दुख होता है और इस दुख को मिटाने ही के लिए मनुष्य परिश्रम करके आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस कारण यदि आवश्यकताएँ हों ही नहीं तो दुख भी न हो और दुख उत्पन्न होने का कोई कारण ही न रहे। दुख का अभाव ही सुख है। इन्हीं विचारों को सामने रखते हुए प्रो० मेहता का कथन है कि पूर्ण सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को एक ऐसी स्थिति पर पहुँचना चाहिए जहाँ उसे कोई आवश्यकता ही न रहे। इसी कारण उन्होंने अर्थशास्त्र की परिभाषा इन शब्दों में की है, "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवी आचरणों का इस दृष्टि से अध्ययन

करता है कि वह आचरण मनुष्य को ऐसी स्थिति पर, जहाँ कोई आवश्यकता ही न हो, पहुँचाने में कहाँ तक सहायक है *।" आवश्यकताओं से छुटकारा मोक्ष मिलने पर ही होता है। अर्थात् पूर्ण सुख तभी प्राप्त होता है जब आवश्यकताओं के बन्धन से शरीर मुक्त हो जाय। परन्तु जब तक मनुष्य जीवित है यह सम्भव नहीं। जब तक मनुष्य जीवित रहता है शरीर की कुछ न कुछ आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति करना जीवित रहने के लिए [illegible]। हवा, पानी और कुछ मात्रा में भोजन का सेवन किये बिना मनुष्य अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। परन्तु मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि वह अपनी आवश्यकताओं को कम कर दे जिससे उनके अनुभव से जो दुख होता है कम हो जाय। इस विवेचन से हम आवश्यकताओं के त्याग के आदर्श पर पहुँचते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन आवश्यकताओं का जिसकी वह पूर्ति न कर सके त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे वह अपनी आवश्यकताओं को इतना घटा दे कि उसके साधनों से उन घटी हुई सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। ऐसी स्थिति में कोई अतृप्त आवश्यकता न होगी क्योंकि जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साधन उसके पास न होंगे उनको वह त्याग देगा और बची हुई आवश्यकताओं की पूर्ति वह अपने साधनों के द्वारा कर लेगा। इन तृप्त आवश्यकताओं का कुछ समय पश्चात् फिर से अनुभव होगा और इस कारण उसको उनकी तृप्ति बार बार करनी होगी। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य अपनी आर्थिक उन्नति के प्रयत्न न करे। उसको ऐसे प्रयत्न करने चाहिये जिससे वह अपना जीवन अधिक सुखी बना सके। परन्तु सुख के लिए सन्तुष्ट होना आवश्यक है और इसी कारण मनुष्य को अपनी अनुचित और व्यर्थ आवश्यकताओं का त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करने से यदि उसकी आय कम है तो भी उसकी अतृप्त आवश्यकताओं से उसको दुख बहुत कम होगा।

अर्थशास्त्र गाय, बैल व अन्य पशुओं के आचरणों का अध्ययन नहीं करता †। वह तो केवल मानवी आचरणों का ही अध्ययन करता है।

---

* "Economics must therefore be defined as the science of human activities considered as an endeavour to reach the state of wantlessness."—Prof. J. K. Mehta, "Advanced Economic Theory."

† जिस अर्थशास्त्र का हम अध्ययन करते हैं वह केवल मानवी आचरणों से ही सम्बन्ध रखता है। गाय, बैल व अन्य पशुओं को भी निर्वाचन

इन आचरणों का अध्ययन वह इस दृष्टि से करता है कि वस्तु के अभाव का उन आचरणों पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि प्रत्येक वस्तु अपार मात्रा में मुफ्त ही मिल सके तो अर्थशास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती क्योंकि ऐसी स्थिति में कोई समस्या ही नहीं होती। परन्तु संसार में सब वस्तुएँ और सेवाओं को प्राप्त करने के लिए उद्योग करना पड़ता है। इसी कारण प्रत्येक मानवी आचरण अभाव से प्रभावित रहता है। यदि मनुष्य एक समय में एक कार्य करता है तो [illegible] कार्य उस समय नहीं कर सकता। इस कारण उसको यह निश्चित करना पड़ता है कि वह कौन से कार्य करे और कौन सी आवश्यकताओं की पूर्ति करे जिससे उसको अधिकतम सुख प्राप्त हो। यह कहना भूल है कि कुछ मानवी आचरण आर्थिक होते हैं और कुछ नहीं होते। वास्तव में प्रत्येक मानवीय आचरण का आर्थिक पक्ष भी होता है जिस प्रकार उसी आचरण के राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, कानूनी इत्यादि पक्ष भी होते हैं। अर्थशास्त्र में हम प्रत्येक आचरण का एक ही पक्ष से अध्ययन करते हैं। इस कारण केवल अर्थशास्त्र का अध्ययन मानवी आचरणों का बिल्कुल अपूर्ण अध्ययन है। उन आचरणों के सब पक्षों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन करना आवश्यक है; तभी हम मनुष्य के आचरणों के सम्पूर्ण पक्षों का अध्ययन कर सकते हैं। इस कारण यह कहना गलत है कि यदि कोई व्यक्ति अपने प्रयोग के लिए धन कमाता है तो उसका अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है और यदि पं० जवाहरलाल नेहरू या गांधी जी देश की सेवा के लिए कार्य करते हैं तो उन कार्यों का अध्ययन नहीं होता या जब कोई व्यक्ति ईश्वर-भक्ति करता है तो उसका अध्ययन नहीं होता। अर्थशास्त्र में इन सब आचरणों का अध्ययन होता है परन्तु उनके आर्थिक पक्ष का ही। प्रत्येक व्यक्ति (चाहे देशभक्ति से या ईश्वर-भक्ति से या धन कमाने से) अपनी विभिन्न रीतियों से पूर्ण सुख प्राप्त करना चाहता है। महात्मा गांधी देशसेवा इसलिए करते थे कि उनकी देशसेवा की आवश्यकता की पूर्ति हो और उस पूर्ति से उनको सुख प्राप्त हो। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य ईश्वर-भक्ति करता है तो वह भक्ति इसी कारण करता है कि

समस्या का सामना करना पड़ता है। क्योंकि उनको भी यह निश्चय करना पड़ता है कि वह अपने सीमित साधनों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करें। इस कारण पशुओं के आचरणों के अध्ययन का भी एक नवीन अर्थशास्त्र विज्ञान में अध्ययन हो सकता है। •

उससे उसकी एक आवश्यकता की पूर्ति होती है और उसको सुख प्राप्त होता है। जब वह ईश्वर-भक्ति करता है तो उस समय सो नहीं सकता, बातचीत नहीं कर सकता, पढ़ नहीं सकता, किसी कारखाने में काम नहीं कर सकता इत्यादि। अर्थात् एक विशेष समय अपनी ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता-पूर्ति करने के कारण वह अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। उन अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा वह उस सम[illegible]ी आवश्यकता की पूर्ति करता है क्योंकि इससे उसको अधिक सुख प्राप्त होता है। आप भोजन करते हैं, पढ़ते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं, धन प्राप्त करते हैं, कलक्टर होना चाहते हैं, न्यायाधीश होना चाहते हैं, परीक्षा में सफल होना चाहते हैं, ईश्वर-भक्ति करते हैं, देश-सेवा इत्यादि करते हैं इसी कारण कि आप अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करके अधिक सुख प्राप्त कर सकें। कोई व्यक्ति धन कमाना देशसेवा से अधिक लाभदायक समझता है और कोई अन्य व्यक्ति इसके विपरीत समझता है। इस कारण एक व्यक्ति अपना समय देशसेवा में व्यतीत नहीं करता क्योंकि उसको अन्य कार्यों से ही अधिक सुख प्राप्त होता है। दूसरा व्यक्ति जिसे देशसेवा से अधिक सुख प्राप्त होता है अपना अधिक समय देशसेवा में ही व्यतीत करता है क्योंकि उसको अन्य कार्यों से इतना सुख नहीं मिलता। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अधिक सुख प्राप्त करने के लिए ही अपने विभिन्न कार्य विभिन्न प्रकार से करता है। चोर चोरी इसलिए करता है क्योंकि इससे उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है और उपयोगिता प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र उसको यह बतलाता है कि वह चोरी किस तरह करे कि जिससे कम से कम परिश्रम करने से वह सफल हो सके। वह चोरी इसलिए भी करता है क्योंकि उसे परिश्रम की अपेक्षा चोरी करके धन कमाना सरल और अच्छा लगता है। कुछ व्यक्ति मादक वस्तुओं का उपयोग करते हैं क्योंकि उनको उससे उस समय उपयोगिता प्राप्त होती है चाहे बाद में हानि ही हो और उन्हें पछताना पड़े। इसी प्रकार कुछ लोग ईमानदारी की अपेक्षा बेइमानी और धोखे से धन कमाते हैं क्योंकि उनको ऐसा करने से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि आप एक अर्थशास्त्री से पूछें कि "मैं उस व्यक्ति को चपत लगाऊँ या नहीं" तो वह यही उत्तर देगा कि यदि आपको चपत लगाने से उपयोगिता प्राप्त होती हो तो ऐसा करिये, अन्यथा नहीं। इसी तरह यदि आप उसकी राय लें कि आप शराब का सेवन करें या चोरी करें या नहीं, तो वह यही उत्तर देगा कि यदि इन कार्यों से आपको उपयोगिता प्राप्त हो और आपकी आवश्यकता की पूर्ति होती हो तो आप ऐसे कार्य अवश्य कीजिये। इसी कारण कुछ लेखकों का कहना है

कि अर्थशास्त्र आवश्यकताओं की अच्छाई बुराई का निर्णय नहीं करता। आपकी आवश्यकता चाहे अच्छी हो या बुरी, उचित या अनुचित, यदि उसकी पूर्ति से उपयोगिता प्राप्त होती हो तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसकी पूर्ति करनी चाहिये। परन्तु यह तभी सत्य है जब हम केवल उस ही आवश्यकता पर ध्यान दें। यदि हम मनुष्य के मुख्य और अंतिम लक्ष्य अर्थात् अधिकतम सुख प्राप्त करने पर ध्यान दें तो हम कह सकते हैं कि मादक वस्तुओं का सेवन करना उसको उसके इस लक्ष्य से दूर ले जायेगा। इन अनुचित आवश्यकताओं की पूर्ति से उस समय तो चाहे उसे उपयोगिता प्राप्त होती हो परन्तु कुछ समय बाद उसको पछताना पड़ेगा कि उसने अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया। जिससे उसके अन्तःकरण को दुख होगा और आत्मा का पतन होगा। इसी कारण उच्च और उचित आवश्यकताओं की पूर्ति, नैतिक रीति से मनुष्य के मुख्य और अंतिम लक्ष्य पर पहुँचने के लिए, अधिक लाभदायक है और इसके विपरीत आचरण करना अनुचित और हानिकारक है। यदि मनुष्य के अनेक कार्यों को हम इस दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि उसको उन कार्यों का करना उचित नहीं है जो उसे उसके लक्ष्य से दूर ले जायँ। इसी कारण एक अर्थशास्त्री चोर को चोरी करने की सलाह न देगा चाहे उसको उस समय चोरी करने से उपयोगिता ही प्राप्त हो क्योंकि ऐसा करने से वह अपने अंतिम और मुख्य लक्ष्य से दूर हट जायेगा।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं अर्थशास्त्र मानवी आचरणों के एक ही पक्ष का अध्ययन करता है। यदि एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के चपत लगाता है तो इसी क्रिया को अर्थशास्त्र इस दृष्टि से अध्ययन करेगा कि इस व्यक्ति की एक आवश्यकता थी और चपत लगाने का परिश्रम करने से उस आवश्यकता की पूर्ति हो गई, जिससे उसको उपयोगिता प्राप्त हुई। धार्मिक दृष्टि से इस क्रिया की निन्दा करेंगे, कानूनी दृष्टि से उसे इस क्रिया के करने का दण्ड मिलेगा। इसी तरह हिरोशिमा पर जो एटम बम गिरा उस क्रिया का अध्ययन हम विभिन्न विज्ञानों की दृष्टि से कर सकते हैं। भौतिक विज्ञान उसको इस दृष्टि से देखता है कि एक एटम को तोड़ने से इतनी शक्ति उत्पन्न होती है कि लाखों मनुष्यों को हानि पहुँचती है और एक बड़ा शहर नष्ट हो जाता है। राजनैतिक दृष्टि से इस क्रिया का इतना महत्त्व था कि इसके कारण जापान को सुलह की भीख माँगनी पड़ी। धार्मिक दृष्टि से अमरीका के लिए यह उचित न था कि वह युद्ध जीतने के लिए हजारों निर्दोष व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दे। ऐतिहासिक दृष्टि से इस घटना का बहुत महत्त्व है कि जिसने युद्ध के सारे इतिहास को एक नई ओर मोड़ दिया।

आर्थिक दृष्टि से अमरीका ने एटम बम का प्रयोग इस कारण किया कि युद्ध में अधिक परिश्रम करने की अपेक्षा शीघ्र ही विजय प्राप्त कर लें। इस तरह अमरीका ने युद्ध जीतने की आवश्यकता की पूर्ति की और परिश्रम की बचत भी की। एक ही क्रिया का विभिन्न विज्ञानों में विभिन्न दृष्टि से अध्ययन होता है। यह कहना अनुचित होगा कि अमुक क्रिया राजनैतिक या धार्मिक है, इस कारण उसका अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं होता। कोई विशेष क्रिया न धार्मिक है, न राजनैतिक है, न आर्थिक, परन्तु प्रत्येक क्रिया का प्रत्येक विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। हम अर्थ-शास्त्र में प्रत्येक क्रिया का आर्थिक दृष्टि से अध्ययन करते हैं जिस प्रकार अन्य विज्ञानों में उसी क्रिया का उन विज्ञानों की दृष्टि से अध्ययन कर सकते हैं। यदि हम किसी क्रिया का पूर्ण अध्ययन करना चाहते हों तो यह तभी सम्भव है जब हम उस क्रिया का विभिन्न विज्ञानों की दृष्टि से अध्ययन करें।

रौबिन्स (Robbins) की अर्थशास्त्र की परिभाषा

'लण्डन स्कूल आफ इकौनौमिक्स' के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर रौबिन्स ने अर्थशास्त्र की परिभाषा इन शब्दों में की है* :—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय आचरणों का, साध्य और सीमित साधनों के विभिन्न प्रयोगों के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से अध्ययन करता है।"

प्रोफेसर रौबिन्स ने यह अनुभव किया कि अर्थशास्त्र की जो परिभाषाएँ उस समय तक विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने दी थीं उनमें त्रुटि थी। इस कारण सन् १९३२ में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी जिसमें अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र की छानबीन करी और उसको ध्यान में रखते हुए उक्त लिखित परिभाषा दी। इस परिभाषा में उन्होंने बताया है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानवीय आचरणों का अध्ययन करता है। उन आचरणों का अध्ययन इस विज्ञान में केवल एक ही दृष्टि से होता है कि मनुष्य अपने अनेक साध्यों को प्राप्त करने के लिए सीमित साधनों का—जिनके विभिन्न प्रयोग हैं—प्रयोग किस प्रकार करता है। उन्होंने बतलाया है कि मनुष्य के अनेक और अनगिनत साध्य होते हैं जिन्हें विशेषतानुसार क्रम से रखा जा सकता है। मनुष्य अपने सीमित साधनों का इस प्रकार प्रयोग करता है कि प्रथम अधिकतम उपयोगी साध्यों की पूर्ति करे और उसके उपरान्त उनसे कम उपयोगी साध्यों की। जो साध्य सीमित

---

*"Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses."—Lionel Robbins: 'An Essay on the Nature and Significance of Economic Science'.

साधन होने के कारण वह प्राप्त नहीं कर सकता है वह उन साध्यों से कम उपयोगी होते हैं जो प्राप्त किए जा चुके हैं। इन साध्यों की विभिन्न उपयोगिता होने के कारण ही मनुष्य यह निर्णय कर सकता है कि सीमित साधनों के कारण वह कौन से साध्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे और किन्हें अप्राप्य ही रहने दे। प्रो० रौबिन्स के अनुसार मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताएँ उसके विभिन्न साध्य हैं। मनुष्य को भोजन चाहिये यह एक साध्य है, उसे वस्त्र चाहिए यह दूसरा साध्य है। वह सोना चाहता है, बातचीत करना चाहता है, स्कूल जाना चाहता है, भगवान की भक्ति करना चाहता है, अपने माता-पिता की सेवा करना चाहता है, धन कमाना चाहता है, एक मोटर चाहता है, इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य के अनेक साध्य हैं। मनुष्य के अनेक और अनगिनत साध्यों से ही कोई समस्या उपस्थित नहीं होती यदि उनके प्राप्त करने के लिए समय और साधन उसके पास हों। रौबिन्स ने इस परिभाषा में बतलाया है कि साधन और समय दोनों ही सीमित हैं परन्तु इन साधनों और समय का विभिन्न प्रयोग हो सकता है। किसी एक समय आप पढ़ सकते हैं या सो सकते हैं या खेल सकते हैं या सिनेमा जा सकते हैं या ईश्वर-भक्ति कर सकते हैं, इत्यादि, इत्यादि। अर्थात् अपना समय आप चाहे जिस साध्य की प्राप्ति में लगायें। इसी तरह जो विभिन्न साधन होते हैं उनके भी विभिन्न प्रयोग होते हैं, चाहे कुछ प्रयोग अच्छे हों और कुछ बुरे या मूर्खतापूर्ण हों। जैसे किसी एक निश्चित समय में एक मेज को आप लिखने की मेज के काम में ला सकते हैं या उस पर खाना खा सकते हैं या सो सकते हैं, अपनी किताबें या अन्य वस्तुएँ रख सकते हैं या उसको जलाकर भोजन या चाय बना सकते हैं। इसी तरह एक चश्मा आँखों पर लगाया जा सकता है या उससे बच्चे खेल सकते हैं या उससे कागज दबा सकते हैं जिससे वे हवा में न उड़ें। जूता पैर में पहना जा सकता है, उससे कुत्ते को भी मार सकते हैं और छोटे बच्चे जूतों से कभी कभी खेलते भी हैं। सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु के एक से अधिक प्रयोग होते हैं। एक विशेष समय में उसका आप वह प्रयोग करते हैं जो आपके विचार में उस समय अन्य प्रयोगों से अधिक उपयोगी हो। साधारणतः एक रेशमी रूमाल जेब में रखने के प्रयोग में लाया जाता है परन्तु जब आपके हाथ में चोट आ गई हो और खून बह रहा हो तो और कोई दवाई पास में न होने के कारण अ प रेशमी रूमाल को जलाकर उसकी राख खून का बहाव रोकने के लिए लगा देते हैं, क्योंकि उस समय रूमाल का यही प्रयोग अधिक उपयोगी है। इसी प्रकार आप जूता इसलिए नहीं खरीदते कि उससे कुत्तों को मारा करेंगे परन्तु किसी समय आप जूते को

इस प्रयोग में लाते हैं क्योंकि उस समय जूते का यह प्रयोग अधिक उपयोगी लगता है। सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न प्रयोगों में से विभिन्न समयों पर कोई भी एक प्रयोग अन्य प्रयोगों की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो सकता है। परन्तु उस वस्तु का एक निश्चित समय में वही उपयोग किया जाता है जो उस समय सबसे अधिक उपयोगी हो।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक ओर तो आपके अनेक और अनगिनत साध्य हैं और दूसरी ओर सीमित समय और साधन। अर्थशास्त्र यही अध्ययन करता है कि आप अपने सीमित समय और साधनों का प्रयोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में किस प्रकार करते हैं। रौबिन्स ने बताया है कि अर्थशास्त्र में प्रत्येक मानवी आचरण का जो सीमित समय और साधनों से सम्बन्ध रखता है अध्ययन होता है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र पर इसके अतिरिक्त और कोई बन्धन नहीं है। अर्थात् हम यह नहीं कह सकते कि कुछ मानवी आचरण आर्थिक हैं और कुछ दूसरे मानवी आचरण आर्थिक नहीं हैं। परन्तु यदि मानवी आचरण इस प्रकार का हो कि एक साध्य प्राप्त करने के लिए (या एक आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए) किसी दूसरे साध्य का त्याग करना (या किसी दूसरी आवश्यकता को अतृप्त रखना) आवश्यक हो, क्योंकि समय और साधन सीमित हैं, तो उस मानवी आचरण का आर्थिक पक्ष होता है जिसका अध्ययन हम अर्थशास्त्र में करते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए समय और साधन सीमित हैं। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य के अनगिनत साध्य (या आवश्यकताएँ) होते हैं जिनकी पूर्ति करना सम्भव नहीं, क्योंकि समय और साधन सीमित हैं। इसी कारण उसके सामने एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है और उसको यह निश्चित करना होता है कि वह किन साध्यों को प्राप्त करेगा और किनको अप्राप्त रहने देगा। यह निर्वाचन समस्या ही अर्थशास्त्र की समस्या है।

अब हम रौबिन्स की परिभाषा की आलोचना करेंगे। रौबिन्स की परिभाषा यह बतलाती है कि हम केवल मानवी आचरणों का अध्ययन करते हैं। यह सत्य है, क्योंकि हमारा अर्थशास्त्र पशुओं इत्यादि के आचरण का अध्ययन नहीं करता। रौबिन्स ने कहा है कि, "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है।" इससे यह भाव उत्पन्न होता है कि अर्थशास्त्र कला नहीं। जैसा कि हम अध्याय २ में बतायेंगे अर्थशास्त्र का विज्ञान भी है और कला भी। इस कारण यह उचित होता कि प्रो० रौबिन्स अपनी परिभाषा में यह कहते, "अर्थशास्त्र का विज्ञान.....अध्ययन करता है।" जिससे यह स्पष्ट हो जाता कि अर्थशास्त्र की कला भी है।

जब रौबिन्स अपनी परिभाषा में साधन शब्द के पहले 'सीमित'

विशेषण लगा देते हैं तो उससे ऐसा अनुभव होता है कि कदाचित् कुछ साधन असीमित भी हैं। परन्तु हम जानते हैं मनुष्य के पास कोई भी साधन असीमित मात्रा में नहीं है। प्रत्येक साधन को प्राप्त करने के लिए उसे कुछ न कुछ परिश्रम करना पड़ता है। कुछ साधनों को प्राप्त करने के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ता है और कुछ के लिए कम। जिनके लिए अधिक परिश्रम करना पड़ता है वह अधिक सीमित हैं और जिनके लिए कम परिश्रम करना पड़ता है वह कम सीमित हैं। उक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि "सीमित" विशेषण की कोई आवश्यकता ही न थी क्योंकि प्रत्येक साधन सीमित मात्रा में ही होता है। प्रायः प्रो० रौबिन्स ने इस विशेषण का प्रयोग इस कारण किया कि वह साधनों के सीमित होने पर विशेष बल देना चाहते थे। यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि रौबिन्स द्वारा की गई 'सीमित' की व्याख्या में कुछ त्रुटि है। रौबिन्स के अनुसार यदि किसी वस्तु (या साधन) की पूर्ति माँग से कम है तो वह वस्तु (या साधन) सीमित है; अर्थात् वस्तु का सीमित होना उसकी मात्रा पर निर्भर नहीं है। इसको समझाने के लिए उन्होंने ताजे और सड़े अण्डों का उदाहरण दिया है। ताजे अण्डों की मात्रा सड़े अण्डों की अपेक्षा बहुत होती है तो भी वे सीमित होते हैं क्योंकि उनकी मात्रा सब मनुष्यों की माँग से कम होती है; इसी कारण कुछ परिश्रम और मूल्य देने पर ही ताजे अण्डे प्राप्त किए जा सकते हैं। सड़े अण्डे चाहे दो या चार ही क्यों न हों परन्तु उनकी माँग शून्य होती है। इस कारण वे इतनी कम मात्रा में भी असीमित होते हैं। सीमित शब्द की यह परिभाषा त्रुटिहीन नहीं है। मान लीजिये कि आप एक कमरे में बन्द हों जिसमें हवा आने का कोई रास्ता न हो। कुछ समय बाद ताजी हवा की कमी के कारण आपका दिल घबड़ाने लगेगा, चाहे कमरे के बाहर कितनी ही हवा क्यों न हो। रौबिन्स के अनुसार हम कह सकते हैं कि हवा सीमित नहीं है। परन्तु हवा प्राप्त करने के लिए आपको कमरा तोड़कर बाहर आना होगा अर्थात् परिश्रम करना होगा। इस कारण यह उचित होगा कि हम सीमित की व्याख्या इस प्रकार करें कि यदि किसी वस्तु या साधन को प्राप्त करने में परिश्रम करना पड़ता है तो वह सीमित है। यदि अधिक परिश्रम करना पड़े तो अधिक सीमित है, यदि कम परिश्रम करना पड़े तो कम सीमित है। गंगा से पानी मुफ्त मिलता है परन्तु उसके प्राप्त करने में कुछ न कुछ परिश्रम करना पड़ता है—गंगा के किनारे तक जाइये और झुक कर चुल्लू भर पानी उठाइये—इस कारण वह सीमित है।

रौबिन्स ने अपनी परिभाषा में कहा है कि प्रत्येक साधन के

विभिन्न प्रयोग होते हैं। इससे यह अनुभव होता है कि यदि साधनों के विभिन्न प्रयोग न हों तो कोई आर्थिक समस्या ही न होगी। अपनी पुस्तक में रौबिन्स ने बताया है कि यदि रौबिन्सन क्रूसो के पास लकड़ियों का ढेर है और यदि लकड़ियों का एक ही प्रयोग है अर्थात् वह उनको जला सकता है (लकड़ी की नाव नहीं बना सकता, मेज नहीं बना सकता, उनसे जानवरों को नहीं मार सकता इत्यादि, क्योंकि लकड़ियों का एक ही प्रयोग है) तो जहाँ तक लकड़ियों का प्रश्न है रौबिन्सन क्रूसो के लिए कोई आर्थिक समस्या नहीं। उसे सोचने की आवश्यकता नहीं, निश्चय करने की आवश्यकता नहीं, उसका आचरण स्वाभाविक होगा क्योंकि लकड़ियों का एक ही प्रयोग है। इस मत से हम सहमत नहीं। यदि लकड़ियों का एक ही प्रयोग है परन्तु उनकी मात्रा सीमित है तो एक आर्थिक समस्या खड़ी हो जाती है। लकड़ियों की मात्रा सीमित होने से क्रूसो को मितव्ययता से लकड़ियाँ जलानी होंगी और यह निश्चय करना होगा कि कौन से कार्यों के लिए लकड़ी जलावे और कौन से कार्यों के लिए नहीं। अर्थात् लकड़ी जलाने का प्रयोग भोजन या चाय बनाने के लिए करे या स्नान के लिए पानी गरम करने के लिए करे या शीत ऋतु में तपने के लिए करे या प्रकाश के लिए करे, लकड़ियों को २४ घण्टे जलने दे या जब आवश्यकता हो तब ही जलावे। इस कारण हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु का एक ही प्रयोग क्यों न हो यदि वह वस्तु सीमित है तो उसका प्रयोग भी एक आर्थिक समस्या उपस्थित कर देता है।

मार्शल (Marshall) की अर्थशास्त्र की परिभाषा

अर्थशास्त्र का विवेचन करते समय डा० मार्शल ने अर्थशास्त्र की परिभाषा निम्न शब्दों में की है* :—

"अर्थशास्त्र मनुष्य-जीवन की साधारण क्रियाओं का अध्ययन करता है। यह व्यक्तिगत और सामाजिक क्रियाओं के उस भाग की जाँच करता है जो स्पष्ट रूप से सुखी रहने के भौतिक साधनों के प्रयोग व उनकी प्राप्ति से सम्बन्धित है।

---

* Economics is a study of mankind in the ordinary business of life ; it examines that part of individual and social action which is most clearly connected with the attainment and with the use of the material requisites of wellbeing.

Thus it is on the one side a study of wealth ; and on the other, and more important side, a part of the study of man.''– Dr. Alfred Marshall, **'Principles of Economics'**, page 1.

इस प्रकार यह विज्ञान एक ओर धन का और दूसरी व अधिक महत्त्वपूर्ण ओर मनुष्य के जीवन के एक भाग का अध्ययन करता है।"

मार्शल की अर्थशास्त्र की परिभाषा की आलोचना करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उन्होंने अपनी पुस्तक लगभग ६० वर्ष पूर्व लिखी थी। इन वर्षों में अन्य विज्ञानों की तरह अर्थशास्त्र के विज्ञान ने भी उन्नति की है। मार्शल जैसे विद्वान अर्थशास्त्री यह जानते थे कि प्रत्येक विज्ञान उन्नति करता रहता है। उसमें नए नए भाव उत्पन्न होते हैं और उनकी आलोचना नई रीतियों से होती है। इसी कारण इन्होंने जब अपनी प्रसिद्ध पुस्तक की एक प्रति अपने शिष्य को भेंट की तो उसमें अपने हाथों से लिखकर यह आशा प्रकट की कि वह शीघ्र ही उनके विचारों की उन्नति करेगा। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि जब मार्शल की कोई कमी बताई जाती है तो हमको उसकी जाँच अच्छी तरह करनी चाहिये और इसको उनकी निन्दा समझकर क्रोध नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे तो स्वयं ही यह आशा करते थे—और यह उचित भी है—कि अर्थशास्त्र की उन्नति उनके बाद भी होगी। इस कारण ऐसे भाव रखना कि जो मार्शल ने कहा वही सही है और उनका कहा ही अर्थशास्त्र पर अंतिम शब्द है, उचित न होगा। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि मार्शल के समय तक अर्थशास्त्र विकास की स्थिति में था और उसकी अन्य समस्याओं की जाँच पर ही अर्थशास्त्रियों का ध्यान केन्द्रित था। अर्थशास्त्र की ठीक-ठीक परिभाषा देने की ओर मार्शल व अन्य अर्थशास्त्रियों का ध्यान उस समय तक आकृष्ट न हुआ था। मार्शल की जो परिभाषा ऊपर दी गई है वह उन्होंने इस ध्यान से न दी थी कि उनके उत्तराधिकारी उन शब्दों को चुनकर यह जाँच करेंगे कि यह दो-तीन वाक्य अर्थशास्त्र की कहाँ तक ठीक परिभाषा है। अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में वह यह बताना चाहते थे कि अर्थशास्त्र किन बातों का अध्ययन करता है और इस विषय पर उन्होंने थोड़ा प्रकाश डाला। हम इन पंक्तियों का संकीर्ण अर्थ भी कर सकते हैं और इनकी व्यापकता भी दर्शा सकते हैं परन्तु इसका उचित अर्थ वह होगा जो उनकी पुस्तक के अन्य विचारों से मिलता हुआ हो।

उक्त परिभाषा में लिखा है कि अर्थशास्त्र मनुष्य-जीवन का अध्ययन करता है। यह बिल्कुल सत्य है। हम पशुओं इत्यादि के आचरणों का अध्ययन नहीं करते वरन् केवल मानवी आचरणों का ही। परन्तु उन्होंने लिखा है कि "अर्थशास्त्र मनुष्य-जीवन की साधारण क्रियाओं का अध्ययन करता है।" इससे कुछ शंका उत्पन्न होती है क्योंकि इसके अनुसार अर्थ-शास्त्र मनुष्य-जीवन की असाधारण क्रियाओं का अध्ययन नहीं करेगा।

युद्ध, एटम बम का फेंका जाना, हत्या, आत्महत्या, भयंकर दुर्घटना इत्यादि साधारण क्रियाएँ नहीं परन्तु इन सबका अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है। क्योंकि ये सब क्रियाएँ सीमित साधनों से प्रभावित हैं। मार्शल ने भी अपनी पुस्तक में यह कहीं नहीं लिखा है कि अर्थशास्त्र में इन क्रियाओं का अध्ययन नहीं होता। उनके अनुसार इन क्रियाओं का भी अर्थशास्त्र मे अध्ययन होता है। परन्तु उन्होंने क्रियाओं के पूर्व 'साधारण' विशेषण का प्रयोग किया जिससे स्पष्ट है कि उनके विचार में कुछ ऐसी मानवी क्रियाएँ थीं जिनका अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं होता है। इन क्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख इन्होंने कही नही किया है। उनकी परिभाषा में यह त्रुटि है क्योंकि अर्थशास्त्र में प्रत्येक मानवी क्रिया का अध्ययन होता है जैसा कि हम समझा चुके हैं।

मार्शल ने लिखा है कि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत व सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। वह यह नहीं कहते कि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत क्रियाओं का अध्ययन नहीं करता तो भी उनके चेलों ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र, यह कहकर कि अर्थशास्त्र केवल सामाजिक मनुष्यों का और उनकी सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करता है, संकुचित कर दिया। जैसा कि हमने अध्याय ४ में बताया है अर्थशास्त्र सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों ही स्थितियों का अध्ययन करता है और ऐसे मनुष्यों के आचरण का भी अध्ययन करता है जो समाज से अलग रहते हों यदि उनके आचरण सीमित साधनों से प्रभावित हों।

मार्शल ने "सुखी रहने के भौतिक साधनों के प्रयोग व उनकी प्राप्ति" का वर्णन किया है। अर्थात् अर्थशास्त्र उन मानवी आचरणों का अध्ययन नहीं करता जिनसे भौतिक साधनों की उत्पत्ति नहीं होती है। संगीत सुनना, सिनेमा देखना, व्याख्यान सुनना, ईश्वर-भक्ति करना इत्यादि से आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और सन्तोष प्राप्त होता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य परिश्रम भी करता है। परन्तु संगीतज्ञ, सिनेमा दिखानेवाला और वक्ता तथा भक्त जो उपयोगिता उत्पन्न करते हैं वह किसी भौतिक पदार्थ के रूप में नहीं होती। इस उपयोगिता उत्पन्न करने से उनको सन्तोष या धन की प्राप्ति होती है। क्या इन आचरणों का अर्थशास्त्र में अध्ययन न होगा? मार्शल का इस वाक्यांश का इतना संकुचित अर्थ न था क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी पुस्तक में संगीत का उदाहरण दिया है। तो भी इस वाक्यांश से स्पष्ट है कि उनके विचार में अर्थशास्त्र के क्षेत्र की कुछ सीमाएँ थी जिनको उन्होंने स्पष्ट रूप से नहीं लिखा।

मार्शल ने लिखा है कि "अर्थशास्त्र एक ओर धन का अध्ययन करता है।" इन शब्दों का उनके साथियों ने संकुचित अर्थ निकाला और इसी कारण उनका कथन है कि अर्थशास्त्र ऐसी क्रियाओं का अध्ययन नहीं करता जो देश-सेवा, ईश्वर-भक्ति और माता पिता के प्रेम इत्यादि के

कारण की जाती हैं। यह मतभेद 'धन' शब्द के अर्थ पर निर्भर है। धन शब्द का संकुचित अर्थ भी किया जा सकता है और व्यापक भी। संकुचित रीति से माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्र से प्रेम, महात्मा गांधी व पंडित नेहरू का देशप्रेम व उनकी देशसेवा का धन से कुछ सम्बन्ध नहीं। परन्तु मार्शल इस शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते थे। अर्थशास्त्र में हम प्रत्येक उपयोगिता व सन्तोष की नाप धन से करते हैं और हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को अमुक कार्य से इतने धन या द्रव्य के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण से देशसेवा, स्त्री-पुत्र से प्रेम इत्यादि को हम धन में नांप सकते हैं और हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मानवी आचरण का आदर्श धन की उत्पत्ति होता है जिससे मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मार्शल ने जब अर्थशास्त्र को धन का अध्ययन कहा तो उनके मस्तिष्क में इस प्रकार के विचार थे, क्योंकि वे स्वयं इस बात पर जोर देते थे कि हम प्रत्येक मानवी संतोष या उपयोगिता की नाप द्रव्य या धन में कर सकते हैं। परन्तु उनके चेले और साथियों ने इस परिभाषा में धन का संकुचित अर्थ किया और कहा कि कुछ ऐसी मानवी क्रियाएँ हैं जिनका धन से संबंध नहीं और इस कारण उन क्रियाओं का अर्थशास्त्र में अध्ययन नहीं होता। यह उनकी भूल है परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि यदि अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में धन का प्रयोग न हो—जैसा रौबिन्स ने किया है—तो अधिक उचित होगा, क्योंकि उस स्थिति में उस परिभाषा को गलत समझने का कोई अवसर ही न मिलेगा। मार्शल ने धन का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है यह इससे भी स्पष्ट है कि वह लिखते हैं कि अर्थ-शास्त्र "अधिक महत्त्वपूर्ण ओर" मनुष्य के जीवन का अध्ययन करता है। अर्थात् अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य है, धन नहीं; धन तो केवल इस अध्ययन में सहायक है। मार्शल ने यह भी लिखा है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन के केवल एक भाग का अध्ययन करता है। यह बिल्कुल सत्य है। मार्शल एक महान् और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थे और उनको इस बात का पूर्ण अनुभव था कि केवल अर्थशास्त्र तो मनुष्य-जीवन के एक पक्ष का ही अध्ययन करता है और अन्य पक्षों का अध्ययन दूसरे विज्ञानों में होता है। इससे भी यह स्पष्ट है कि मार्शल के विचार में अर्थशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत था क्योंकि उन्होंने लिखा कि 'अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन के एक भाग का अध्ययन करता है', अर्थात् प्रत्येक आच-रण का अध्ययन एक दृष्टि से अर्थशास्त्र में होता है और मनुष्य-जीवन के अन्य दूसरे भागों का या उन आचरणों का दूसरी दृष्टि से अध्ययन दूसरे विज्ञानों में किया जाता है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व

अर्थशास्त्र विचार-वितर्क की एक रीति है। अर्थशास्त्र बतलाता है कि अमुक कारणों का अमुक परिणाम होगा और अमुक परिणाम के अमुक कारण होंगे। इस कारण उसके अध्ययन से विचार और तर्कशक्ति का विकास होता है और मनुष्य की उस पूर्णता का प्रकाशन होता है जो उसमें गुप्त रीति से हैं।

अर्थशास्त्र मानवी आचरणों के अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पक्ष का अध्ययन करता है जो व्यावहारिक जीवन में अधिक लाभदायक है। मानवी आचरणों का अध्ययन बिल्कुल अपूर्ण होगा यदि उनका अध्ययन आर्थिक दृष्टि से भी न किया जाय। अर्थशास्त्र का अध्ययन साधनों की सीमित मात्रा पर ध्यान आकर्षित करता है और इस कारण उत्पादन और उत्पादन-शक्ति की वृद्धि की आवश्यकता पर जोर देता है। वह बतलाता है कि सीमित साधनों के कारण मनुष्य को निर्वाचन समस्या का सामना करना पड़ता है और अभाव ही उसे राजनैतिक और आर्थिक संघर्षों की ओर प्रेरित करता है। अभाव के कारण ही मनुष्य अपने पड़ोसियों, मित्रों, सम्बन्धियों इत्यादि का शोषण करता है और इसी कारण पूँजी-पति मजूरों को कम-से-कम वेतन देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। यह अभाव का ही परिणाम है कि एक राष्ट्र या जाति दूसरे राष्ट्र या जाति पर आक्रमण करते हैं जिससे उसे पराजित करके अपने सुख के साधन बढ़ा सके। यदि हमारे साधन सीमित न होते तो मनुष्य-जीवन बहुत उच्च और श्रेष्ठ होता।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि हम अपनी प्रत्येक आवश्यकता की तृप्ति कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि हमारी आवश्यकताएँ असीमित हैं और साधन और समय सीमित हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र आवश्यकताओं के त्याग के महत्त्व पर प्रकाश डालता है और बतलाता है कि आवश्यकताओं का घटाना भी मनुष्य के लिए हितकर है।

अर्थशास्त्र यह बतलाता है कि हम अपने सीमित साधनों का प्रयोग किस प्रकार करें कि जिससे हमको अधिकतम सुख व सन्तोष प्राप्त हो। इस प्रकार वह बुद्धिमानी के साथ व्यय करने के महत्त्व पर जोर देता है। वह बतलाता है कि हमको दूरदृष्टि से ऐसी वस्तुओं का सेवन करना चाहिए जिससे स्वास्थ्य और कार्यक्षमता में वृद्धि हो और यह भी बतलाता है कि ऐसी वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये जिनसे स्वास्थ्य या कार्यक्षमता को हानि पहुँचे या जो कुछ समय के लिए आनन्द दें परन्तु वास्तव में जिनका विपरीत प्रभाव हो। अर्थशास्त्र यह भी बतलाता

है कि हमको अपनी आय सम सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार व्यय करनी चाहिये जिससे हम अधिकतम उपयोगिता प्राप्त कर सकें। वह यह भी बतलाता है कि इस प्रकार व्यय करने के लिए पारिवारिक बजट बनाकर उसके अनुसार व्यय करना लाभदायक है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यदि उत्पादन में अधिक वृद्धि की जाय तो मानवी परिश्रम से हम निर्धनता का अन्त कर सकते हैं। उत्पादन की वृद्धि और समान वितरण से देश का लाभ होता है जिसमें प्रत्येक वर्ग साझीदार हो सकता है। यदि प्रत्येक वर्ग—पूँजीपति, मजूर इत्यादि—यह समझ जाय कि अधिक उत्पादन से ही मनुष्य-जाति के सुख के साधन बढ़ सकते हैं जिससे सबको लाभ होगा तो उनमें पारस्परिक विरोध की अपेक्षा एकता के विचारों का प्रसार होगा।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से राजनीतिज्ञ और अर्थमन्त्री को भी अधिक लाभ है। जिन अनेक समस्याओं का उनको सामना करना पड़ता है उनमें से अधिकांश को अर्थशास्त्र की सहायता से हल किया जा सकता है। अर्थशास्त्र यह बतलाता है कि कर द्वारा या अन्य तरीकों से कितना धन राज्य के व्यय के लिए एकत्रित किया जाय और यह धन किन व्यक्तियों से और प्रत्येक से कितना एकत्रित किया जाय। वह यह भी बतलाता है कि राष्ट्र की आय किस प्रकार व्यय की जाय अर्थात् किन-किन कार्यों पर व्यय की जाय और प्रत्येक कार्य पर कितनी जिससे देश और जनता को अधिकतम लाभ हो।

भारत में अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व

अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व ऊपर बताया जा चुका है। उसके अतिरिक्त भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति में अर्थशास्त्र का महत्त्व और भी अधिक है। हमारे देश में खेती, कारखानों व अन्य उद्योग-धन्धों की उपज पाश्चात्य देशों की अपेक्षा कम है। खेती अधिकतर पुरानी रीति से ही होती है और कारखानों में भी उपज कम होती है क्योंकि हमारे पास पाश्चात्य देशों की जैसी अच्छी मशीनें नहीं हैं। हमारे मजूर व कारीगरों की कार्यक्षमता भी उनकी अपेक्षा बहुत कम है। शिक्षित लोगों की संख्या भी बहुत कम है। भारतवासियों का स्वास्थ्य भी इतना अच्छा नहीं होता जिससे वे रोगों के शिकार आसानी से बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में आर्थिक उन्नति की योजनाओं का अधिक महत्त्व है। हमको अपनी खेती की उपज बढ़ानी होगी और नए नए उद्योग-धन्धों व बड़े-बड़े कार-खानों की स्थापना करनी होगी जिससे बेकारी समाप्त हो जाय, लोगों की आय बढ़ जाय और उनके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा हो जाय। नये

कारखानों की स्थापना और उत्पादन की वृद्धि के साथ साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि इनके साथ जो बुराइयाँ पाश्चात्य देशों में उपस्थित हुईं वह यहाँ न आने पावें। नये कारखानों की स्थापना के साथ इनके आसपास की आबादी घनी होती जाती है जिससे बीमारियाँ फैलने का डर होता है और मजूरों व अन्य निर्धन व्यक्तियों के रहने के लिए अच्छे मकान भी नहीं होते। देश के बढ़ते हुए धन के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि इस धन की मात्रा कुछ इने-गिने व्यक्तियों के पास ही एकत्रित न होकर उचित वितरण हो जिससे देश की आर्थिक उन्नति का लाभ जनता प्राप्त कर सके और मजूर, पूंजीपति व अन्य वर्गों में पारस्परिक विरोध न हो।

भारत की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय है। आर्थिक समस्याओं ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। उत्पादन में वृद्धि नहीं होती और वस्तुओं के मूल्य बढ़ते जा रहे हैं। नाज की मात्रा जो राशन द्वारा मिलती है वह पर्याप्त नहीं है जिससे लोगों के स्वास्थ्य और कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरी अन्य आवश्यक वस्तुओं की भी कमी है। बड़े बड़े शहरों में मकानों का अभाव है और शरणार्थियों के कारण इस समस्या ने और भी भयंकर रूप धारण कर लिया है। सरकार का व्यय बढ़ता जाता है परन्तु जनता से ऋण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता जिससे विकास की योजनाओं को कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता। इन अनेक समस्याओं को हल करने में अर्थशास्त्र का बहुत बड़ा हाथ है।

कुछ भ्रान्त धारणाएं

कुछ लेखकों का कहना है कि हम ऐसे ही व्यक्तियों का अध्ययन करते हैं जो समाज के सदस्य हों। यह विचार गलत है। यदि कोई व्यक्ति समाज का सदस्य न हो और एकान्त में रहता हो तो उसकी भी आवश्यकताएँ होती हैं और उनकी पूर्ति परिश्रम करने से ही हो सकती है। ऐसे व्यक्तियों को भी यह निश्चय करना होता है कि सीमित समय और सीमित साधनों का प्रयोग किस प्रकार करें कि उनकी अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। उनके सामने भी एक निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है जिस कारण उनका भी अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है। ऐसे व्यक्तियों की समस्याएँ समाज में रहनेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा सरल और सीधी होती हैं। समाज में रहने से अनेक नई नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति समाज से अलग रहते हैं उनकी आवश्यकताएँ समाप्त नहीं हो जातीं, वरन् कुछ आवश्यकताएँ दूसरी प्रकार की होती हैं। मनुष्य समाज में रहे या समाज से अलग,

गृहस्थ में रहे या संन्यास धारण कर ले, धन से प्रेम करे या उससे साधु-महात्माओं की तरह घृणा, अपना जीवन चाहे ईमानदारी से व्यतीत करे या बेइमानी से, इत्यादि, प्रत्येक स्थिति में आवश्यकताएँ तो उसे सताती ही हैं जिनकी पूर्ति के लिए उसको परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के लिए समय और साधन सीमित हैं।

यह भी कहा जाता है कि वह मानवी आचरण जो प्रेम, धर्म, मनोरञ्जन या देश-भक्ति के कारण किये जाते हैं उनका अर्थशास्त्र में अध्ययन नहीं होता क्योंकि ऐसे आचरणों का उद्देश्य धन का कमाना नहीं होता है। परन्तु यह कहना गलत है कि अर्थशास्त्र में केवल उन्हीं आचरणों का अध्ययन होता है जिनका उद्देश्य धन का कमाना हो। जब स्त्री प्रेम के कारण अपने कुटुम्ब का भोजन बनाती है तो इस क्रिया से कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति की भोजन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। जो परिश्रम व समय वह स्त्री भोजन बनाने में व्यतीत करती है उसका प्रयोग अन्य किसी कार्य के लिए नहीं हो सकता। अर्थात् एक आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति उस स्त्री के परिश्रम से जो उपयोगिता उत्पन्न होती है उससे पूरी होती है। इसी तरह देशभक्त की आवश्यकता देशभक्ति से पूरी होती है, और किसी धार्मिक व्यक्ति की ईश्वर-भक्ति से। जब कोई व्यक्ति कबड्डी, क्रिकेट या अन्य खेल मनोरंजन के लिए खेलता है तो उस क्रिया का भी अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है। क्योंकि उस खेल के खेलने से उसकी एक आवश्यकता की पूर्ति होती है। वह समय और साधन जो उस खेल के खेलने में प्रयुक्त होते हैं अन्य किसी कार्य में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। अर्थात् खेलने की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए कुछ अन्य आवश्यकताएँ जिनकी उपयोगिता खेल से कम है अतृप्त रह जाती हैं। खेलने से खेल की आवश्यकता की पूर्ति होती है और सन्तोष प्राप्त होता है। जब कोई व्यक्ति अपने धर्म की रक्षा के लिए अपना लहू बहाता है तो वह ऐसा इसीलिए करता है क्योंकि उसको इससे उपयोगिता और सन्तोष प्राप्त होते हैं, जिससे उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है। वह अपना समय और साधन अन्य किसी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयुक्त नहीं कर सकता। सारांश यह है कि ऐसे आचरण जिनका उद्देश्य देश की सेवा, ईश्वर की भक्ति, धर्म की रक्षा, मनोरञ्जन या प्रेम इत्यादि होता है उन सबका अध्ययन अर्थशास्त्र में आर्थिक दृष्टि से होता है। ऐसे कार्य कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं जिसके कारण जो समय और साधन इन कार्यों में लगाये जाते हैं दूसरी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में नहीं लगाये जा सकते।

कभी कभी यह भी कहा जाता है कि अर्थशास्त्र में केवल साधारण व्यक्तियों का ही अध्ययन होता है। ऐसे व्यक्ति सामान्य या औसत रुचि के होते हैं। इस कारण ऐसे व्यक्ति जो अत्यन्त कंजूस, शराबी या अपव्ययी हों व नपुंसक व बच्चों के आचरणों का अर्थशास्त्र में अध्ययन नहीं होता। यह मत बिल्कुल गलत है। इन प्रत्येक व्यक्तियों की आवश्यकताएँ होती हैं और इनके आचरणों पर सीमित समय व साधनों का प्रभाव होता है। कुछ व्यक्ति किसी एक वस्तु या स्वभाव–जैसे शराब, कंजूसी इत्यादि–पर अधिक बल देते हैं परन्तु इस कारण यह कहना अनुचित है कि उनका अर्थशास्त्र में अध्ययन नहीं होता। इससे तो केवल यही स्पष्ट है कि किसी वस्तु की उपयोगिता और आदर्शों का महत्त्व प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होता है। इस कारण यह कहना अनुचित होगा कि केवल उन्हीं व्यक्तियों का अर्थशास्त्र में अध्ययन होता है जिनके आदर्श और स्वभाव अधिकांश व्यक्तियों के आदर्श और स्वभाव के समान होते हैं।

हम इस अध्याय के प्रारम्भ में समझा चुके हैं कि अर्थशास्त्र में प्रत्येक मानवी आचरण का अध्ययन आर्थिक दृष्टि से होता है। इस कारण यह कहना अनुचित है कि कुछ आचरण आर्थिक हैं और कुछ अन्य आचरण आर्थिक नहीं हैं। यह भी कहना गलत है कि कुछ आवश्यकताएँ आर्थिक हैं और कुछ आर्थिक-व्यक्ति हैं; क्योंकि प्रत्येक आवश्यकता और प्रत्येक व्यक्ति अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्दर है। यह भी कहना गलत है कि कुछ क्रियाओं का लक्ष्य आर्थिक होता है और कुछ का नहीं। प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य सन्तोष या उपयोगिता की प्राप्ति होता है और इस कारण कोई भी मानवी क्रिया, जो सीमित समय और साधनों से प्रभावित है, अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर नहीं है।

अभ्यास के प्रश्न

१. अर्थशास्त्र की परिभाषा विस्तारपूर्वक समझाइये।
२. 'अर्थशास्त्र के क्षेत्र' पर टिप्पणी लिखिये और अर्थशास्त्र के विज्ञान की सीमाएँ बतलाइये।
३. क्या आवश्यकताओं का घटना भी मनुष्य के लिए हितकर है?
४. अर्थशास्त्र मानवी आचरणों का किस दृष्टिकोण से अध्ययन करता है? क्या अर्थशास्त्र मानवीय आचरणों के सब पक्षों का अध्ययन करता है?
५. रौबिन्स और मार्शल की अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ समझाइये। आपकी राय में इनमें से कौन-सी परिभाषा श्रेष्ठ है?
६. अर्थशास्त्र के अध्ययन के महत्त्व का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि भारत में इसके अध्ययन से क्या लाभ है।

अध्याय २

कला और विज्ञान

कुछ लोग कला की परिभाषा करते समय उसको विज्ञान का एक भाग बताते हैं। यह उचित नहीं। एक चतुर संगीतज्ञ के लिये यह आवश्यक है कि उसको संगीत के विज्ञान का ज्ञान हो और साथ ही साथ संगीत की कला में निपुण हो। यदि उसको केवल संगीत के विज्ञान का ही ज्ञान है तो यह आवश्यक नहीं कि वह उसकी कला में भी उतना ही निपुण हो। इसी तरह कोई व्यक्ति चित्रकारी के विज्ञान में निपुण है तो यह आवश्यक नहीं कि वह स्वयं चतुर चित्रकार हो। अर्थात् कला और विज्ञान विभिन्न हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अर्थशास्त्र विज्ञान है जब कि संगीत कला है। यह गलत है क्योंकि दोनों ही का विज्ञान भी है और कला भी है। विज्ञान ज्ञान है और उस ज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग को ही कला कहते ह। विज्ञान में हम ज्ञान का विकास करते हैं या कारण-परिणाम-प्रणाली का अध्ययन करके नियमों का निर्माण करते हैं। विज्ञान विचार करने की रीति है। कुछ लेखक विज्ञान को व्यवस्थित ज्ञान कहते हैं परन्तु ज्ञान तो व्यवस्थित ही होता है। यदि वह व्यवस्थित नहीं तो ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्णतया व्यवस्थित कोई भी ज्ञान नहीं होता और उसमें सदा उन्नति का स्थान रहता है। यदि हम विज्ञान की परिभाषा व्यवस्थित ज्ञान कहकर करें तो यह भी प्रश्न उठता है कि वह कितने प्रतिशत व्यवस्थित है और पूर्णतया व्यवस्थित होने में कितनी कमी है। इस कारण विज्ञान को हम ज्ञान ही कहेंगे। विज्ञान पढ़ाया जा सकता है और पढ़ा जाता है परन्तु कला सीखी जाती है और अभ्यास करने से आती है। जिस तरह समय बीतता जाता है, विज्ञान की उन्नति होती रहती है और जितनी भी उन्नति विज्ञान की भूत-काल में होती है उसका लाभ वर्तमान और भविष्य काल के व्यक्ति उठाते हैं। अर्थात् विज्ञान की लगातार उन्नति होती रहती है और किसी भी विज्ञान के ज्ञान का विकास का आरंभ हम वहाँ से करते हैं जहाँ तक उसकी उन्नति भूतकाल में हो चुकी हो। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जितने भी विज्ञान हैं उनका ज्ञान आज इतना बढ़ा हुआ है कि जितना भूतकाल में न था; क्योंकि वह सदा उन्नति करते रहे हैं। किसी विज्ञान

का जो ज्ञान हमको पहले था उसमें हम नवीन खोज करके उन्नति करते हैं और नये नये नियमों का उद्घाटन करते हैं। परन्तु कला के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक कला का सर्वोत्तम आधुनिक कलाकार भूतकाल के कलाकारों की अपेक्षा अधिक निपुण है। उदयशंकर प्रसिद्ध नृत्यकार है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उसके उपरान्त उससे निपुण नृत्यकार हों जब कि यह बात निश्चित है कि नृत्य का विज्ञान भविष्य में भी उन्नति करेगा जैसा कि प्रत्येक विज्ञान अब तक उन्नति करता आया है। किसी भी कला का सबसे चतुर कलाकार सैकड़ों वर्ष पूर्व हुआ हो और उसके बाद उतना निपुण कलाकार पैदा न हो जैसे माइकल एंजिलो (Michael Angelo) एक प्रसिद्ध मूर्तिकार, ल्योनार्डो डा विन्ची (Leonardo da Vinci) एक प्रसिद्ध चित्रकार, बिथोवन (Beethoven) एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ सैकड़ों वर्ष पूर्व हुए परन्तु उनकी कला उनके साथ चली गई, केवल अपनी कला के कुछ प्रमाण वे संसार में छोड़ गये। लेकिन विज्ञान में जो उन्नति बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने की, उसका लाभ आनेवाली पीढ़ियों ने उठाया; और जो नये-नये नियमों का उद्घाटन उन्होंने किया उस ज्ञान से उन्होंने संसार को धनी बनाया। उनकी की हुई उन्नति उनके साथ नहीं गई और उनके बाद की पीढ़ियों ने उन उन्नतियों को मान कर ही आगे उन्नति की। किसी विज्ञान की कला मनुष्य को आप ही आप आती है। कलाकार जन्मजात होता है, उसको बनाया नहीं जा सकता। अभ्यास से कलाकार अपनी कला की उन्नति कर सकता है परन्तु कला भावना और अनुभूति पर ही निर्भर होती है, वह सीखने या पढ़ने पर ही निर्भर नहीं होती। कोई व्यक्ति कितना ही चतुर क्यों न हो परन्तु यदि उसको किसी कला के प्रति अभिरुचि नहीं है तो उसको वह कला चाहे कितनी ही सिखाइये अथवा पढ़ाइये वह एक अच्छा कलाकार नहीं हो सकता। गांधीजी या पंडित नेहरू अत्यन्त विद्वान् मनुष्य हुए हैं परन्तु अत्यन्त परिश्रम करने से भी वह निपुण संगीतज्ञ या नर्तक नहीं हो सकते, यदि उनमें संगीत या नृत्य की रुचि न हो। विश्वविद्यालय और कॉलेजों में विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन किया जाता है, केवल कुछ व्यावहारिक आदेश जो भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, संगीत, चित्रकारी इत्यादि में दिये जाते हैं वही 'कला का सिखाना' कहा जा सकता है। अर्थात् अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास इत्यादि का विज्ञान विद्यालयों में पढ़ाया जाता है परन्तु उनका व्यावहारिक जीवन में प्रयोग उनकी कला के ज्ञान पर निर्भर है। एक निपुण अर्थशास्त्री जिसको अर्थशास्त्र के विज्ञान का पूर्ण ज्ञान हो उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी उपयोगिता, सन्तोष या सुख अधिकतम करने में दूसरों की अपेक्षा अधिक सफल हो। यह तभी सम्भव है जब वह अर्थशास्त्र की

कला में भी उतना ही निपुण हो, क्योंकि अर्थशास्त्र के विज्ञान का ज्ञान और उसका व्यावहारिक प्रयोग (जो कला है) विभिन्न बातें हैं।

उक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि प्रत्येक विज्ञान की कला भी होती है। अर्थात् अर्थशास्त्र, संगीत, चित्रकारी, राजनीति इत्यादि का विज्ञान भी है और कला भी। यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति इन विज्ञानों में निपुण हो वह उनकी कला में भी उतना ही निपुण हो। हो सकता है कि वह विज्ञान अच्छी तरह जानता हो परन्तु उस विज्ञान की कला में उतना निपुण नहीं हो। जैसे, एक व्यक्ति नृत्य का विज्ञान जानता हो अर्थात् उसको परिचय हो कि पैर कैसे उठाना चाहिये और अन्य अंगों का किस प्रकार संचालन करना चाहिये परन्तु स्वयं नृत्यकार न हो। परन्तु जो व्यक्ति कोई भी कला अच्छी तरह जानता है उसको उस कला के विज्ञान का ज्ञान अवश्य होता है चाहे उसका विज्ञान उसने पढ़ा न हो और उसको स्वयं आप ही आप आता हो। जो एक निपुण नर्तक होता है उसने चाहे नृत्य का विज्ञान न पढ़ा हो तो भी उसको उसका ज्ञान होता है और वह जानता है कि कौन से अंग का किस प्रकार संचालन करे, अन्यथा वह निपुण नर्तक हो ही नहीं सकता।

आदर्श (Normative) और वास्तविक (Positive) विज्ञान

विज्ञान दो प्रकार के होते हैं—आदर्श और वास्तविक। आदर्श विज्ञान हमको बतलाता है कि 'क्या होना चाहिये', अर्थात् वह बतलाता है कि हमको किन आदर्शों को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। आदर्श विज्ञान मनुष्य-जीवन की घटनाएँ या मनुष्य के कार्यों का इस विचार से अध्ययन करता है कि वह माने हुए आदर्शों की दृष्टि से कहाँ तक उचित और कहाँ तक अनुचित हैं–जैसे, धर्म एक आदर्श विज्ञान है। धर्म कुछ आदर्श मानता है और मनुष्य को बतलाता है कि उसे उन आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य झूठ बोलता है तो धर्म का विज्ञान उसको बतलाता है कि उसको झूठ नहीं बोलना चाहिये और सदा सत्य ही बोलना चाहिये। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति चोरी या बेइमानी से धन कमाता है तो धर्म का विज्ञान उसको बतलाता है कि यह अनुचित है और उसको ईमानदारी से ही धन कमाना चाहिये।

वास्तविक विज्ञान 'क्या है' का ही अध्ययन करता है। वह क्रियाओं और घटनाओं का जिस प्रकार वे होती हैं उसी प्रकार उनका अध्ययन करता है, उन पर कोई निर्णय नहीं करता क्योंकि वह कोई आदर्श नहीं मानता; जैसे, गणित-शास्त्र चाहे चोरी का धन हो, चाहे ईमानदारी से कमाया हुआ हो दोनों रीति से एकत्रित किये हुए धन का जोड़ लगाता

है। इसी तरह जब धन उचित रीति से व्यय किया जाय या बुरे कार्यों में व्यय किया जाय गणित-शास्त्र दोनों का अध्ययन करता है। गणित-शास्त्र चोर, साहुकार, अर्थमन्त्री इत्यादि सब व्यक्तियों की आय-व्यय का जोड़ इत्यादि लगाता है। परन्तु जिस वस्तु का जोड़ लगाता है उस पर कोई निर्णय नहीं करता।

जब एक व्यक्ति चोरी करके धन कमाता है या झूठ बोलकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करता है तो इस क्रिया का आदर्श विज्ञान में अध्ययन करते समय इसकी निन्दा होगी और इसको अनुचित बताया जायेगा। वास्तविक विज्ञान उसी क्रिया का अध्ययन करते समय उसको उचित या अनुचित कुछ न कहेगा। वह उसका अध्ययन करेगा और उसका प्रभाव बतायेगा।

उक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए अब हम बतला सकते हैं कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान। किसी व्यक्ति को चोरी करनी चाहिये या नहीं, इसका उत्तर अर्थशास्त्र में नहीं मिलेगा और एक अर्थशास्त्री यही कहेगा कि यदि ऐसा करने से उस व्यक्ति को अधिक सन्तोष प्राप्त होता है तो उसे चोरी करनी चाहिये और यदि उसको चोरी करने की अपेक्षा कोई और दूसरा कार्य करने से अधिक सन्तोष प्राप्त हो तो वही कार्य करना चाहिये, चोरी नहीं। अर्थात् अर्थशास्त्र यह नहीं बतलाता कि कौन कार्य करना उचित है और कौन अनुचित। वह तो केवल इतना ही बतलाता है कि जिस कार्य को करने से अधिक सन्तोष या उपयोगिता प्राप्त हो—चाहे वह कार्य अच्छा हो या बुरा—उसको ही करना चाहिये। इसी विचारधारा को सामने रखते हुए कुछ लेखकों का कथन है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है। अर्थशास्त्री का यह कर्तव्य नहीं कि वह किसी को आलस्य या धन कमाने की सम्मति दे। उसका तो केवल यही कार्य है कि यदि कोई व्यक्ति धन कमाना चाहता हो तो उसको यह बतला दे कि वह किस प्रकार और क्या कार्य करे जिससे वह अधिकतम धन कमा सके। इस मत से हम सहमत नहीं हैं। अर्थशास्त्र यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श अधिकतम सन्तोष या सुख प्राप्त करना है। इस कारण वह बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना धन सम सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार व्यय करना चाहिये और यदि वह उस नियम के अनुसार व्यय नहीं करता है तो उसके व्यय की निन्दा करके उसको बतलाता है कि वह अपना व्यय किस प्रकार करे कि जिससे अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सके। अर्थशास्त्र बतलाता है कि वह अपने सीमित समय और साधनों का प्रयोग किस प्रकार करे कि जिससे वह अधिकतम सन्तोष प्राप्त कर सके। ऐसा करने के लिए एक ही उपाय है कि वह सम सीमान्त उपयोगिता के नियम का पालन करे।

अर्थात् अर्थशास्त्र उन क्रियाओं की निन्दा करता है जो अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के आदर्श में बाधाएँ डालती हैं और उन क्रियाओं की प्रशंसा करता है जो इस आदर्श की प्राप्ति में सहायक होती हैं। कुछ व्यक्ति इन विचारों से पूर्णतया सहमत नहीं। उनका कहना है कि यदि किसी व्यक्ति को मदिरा-सेवन से उपयोगिता प्राप्त होती है तो अर्थशास्त्र धर्म के समान उस क्रिया की निन्दा नहीं करता वरन् उसको उपयोगिता की कसौटी पर ही जाँचता है। यदि मदिरा पर व्यय सम सीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार है तो वह व्यय उचित है। परन्तु यह कठिनाई तभी तक प्रतीत होती है जब तक हम मनुष्य का आदर्श अधिकतम सन्तोष या उपयोगिता प्राप्त करना मानते हैं। यदि हम मनुष्य के प्रमुख उद्देश्य की ओर ध्यान आकर्षित करें तो यह कठिनाई दूर हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना है और उसके प्रत्येक कार्य का अर्थशास्त्र में इसी दृष्टि से अध्ययन करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक ही मार्ग है। कुछ कार्य उसको उस उद्देश्य के समीप ले जाते हैं और कुछ अन्य कार्य उसे उस उद्देश्य से दूर ले जाते हैं। जब कोई व्यक्ति मदिरा सेवन करता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है या बेइमानी करता है तो उसको उस समय अधिक उपयोगिता तो प्राप्त होती है परन्तु यह कार्य उसको उसके प्रमुख उद्देश्य से दूर ले जाते हैं और इसी कारण इन कार्यों की हम अर्थशास्त्र में निन्दा करते हैं। अर्थशास्त्री का यह कर्तव्य है कि वह उस व्यक्ति को बतलाये कि इन कार्यों से चाहे उसे कुछ समय के लिए सुख प्राप्त हो परन्तु उसको ऐसा नहीं करना चाहिए क्योंकि यह कार्य उसको उसके उद्देश्य की प्राप्ति के समीप न ले जाकर और दूर पटक देते हैं। अर्थात् अर्थशास्त्र बतलाता है कि अपना प्रमुख उद्देश्य प्राप्त करने के लिए कौन-सा कार्य करना उचित है और कौन से कार्य करना अनुचित है। इसी कारण हम अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान कह सकते हैं। 'राजस्व' के अध्याय में हम बतलायेंगे कि राज्य का प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह जनता का सुख बढ़ाये और इस कारण उसे धनी व्यक्तियों पर अधिक कर लगाकर निर्धनों पर अधिक व्यय करना चाहिए। जो जनतन्त्र राज्य ऐसा नहीं करते उनकी कर-नीति की अर्थशास्त्र निन्दा करता है क्योंकि वह उनके आदर्श की प्राप्ति में बाधा डालती है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए अधिकतम सुख के प्रमुख उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक ही मार्ग है जो उस उद्देश्य पर सीधे और सरल रीति से शीघ्र पहुँचाता है। उस उद्देश्य पर पहुँचने का प्रत्येक व्यक्ति के लिए केवल वही एक मार्ग नहीं है परन्तु विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न

मार्ग हैं, एक विशेष व्यक्ति के लिए एक विशेष मार्ग ही है परन्तु दूसरे व्यक्ति के लिए वही मार्ग उचित होना आवश्यक नहीं; क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की रुचि, अरुचि, आदत, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, आनन्द भोग सकने की क्षमता, विभिन्न होते हैं। इसी कारण विभिन्न व्यक्तियों के लिए उसी उद्देश्य पर पहुँचने के लिए विभिन्न मार्ग हैं जब कि एक विशेष व्यक्ति के लिए एक विशेष मार्ग ही है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। यदि आप दिल्ली नगर में किसी भी स्थान पर हों तो वहाँ से प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के मकान के अनेक मार्ग हैं। उनमें से एक ही मार्ग सबसे छोटा है परन्तु विभिन्न स्थानों से सबसे छोटे मार्ग भी विभिन्न होंगे। समीप के स्थानों के लिए लगभग एक ही मार्ग सबसे छोटा होगा। इसी तरह समान व्यक्तियों को लगभग एक ही मार्ग प्रमुख उद्देश्य पर पहुँचायेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१. कला और विज्ञान में क्या भेद है? अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान?
२. आदर्श और वास्तविक विज्ञान का अन्तर समझाते हुए बतलाइये कि अर्थशास्त्र इनमें से कौन-सा विज्ञान है।

अध्याय ३

अर्थशास्त्र की मान्यताएँ, नियम और अध्ययन की रीति

अर्थशास्त्र की मान्यताएँ

अर्थशास्त्र यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। साधारणतः अधिक उपयोगिता प्राप्त करने से अधिक सुख मिलता है परन्तु यह आवश्यक है कि उपयोगिता की प्राप्ति उचित आवश्यकताओं की पूर्ति से ही हो। अनुचित आवश्यकताओं की पूर्ति से——जैसे बेइमानी से धन कमाना या मदिरा सेवन——उपयोगिता प्राप्त होती है और कुछ समय के लिए सुख भी मिलता है परन्तु कुछ समय के उपरान्त ही इनके हानिकारक प्रभावों का अनुभव होता है और वास्तव में इस प्रकार से प्राप्त की गई उपयोगिता अधिकतम सुख प्राप्त करने में बाधा डालती है। अनुचित कार्यों से प्राप्त की गई उपयोगिता मनुष्य को उसके प्रमुख उद्देश्य अधिकतम सुख की प्राप्ति की ओर न ले जाकर गलत मार्ग की ओर ले जाती है। मनुष्य का प्रमुख उद्देश्य 'अधिकतम सुख की प्राप्ति' मानना स्वाभाविक और ठीक है। प्रत्येक मनुष्य आप ही आप अपने आचरणों को अपनी समझ के अनुसार इस उद्देश्य की प्राप्ति में ही लगाता है। यह सम्भव है कि अज्ञानता या भूल से वह ऐसे आचरण करे जो उसके इस उद्देश्य की प्राप्ति में बाधा डालें। अर्थशास्त्र इस उद्देश्य को मानता है तो इसमें कोई गलती नहीं है। यदि मनुष्य का उद्देश्य अधिकतम सुख प्राप्त करना न हो तो क्या उसका उद्देश्य दुख की प्राप्ति या अधिकतम दुख या कम सुख की प्राप्ति माना जायेगा? इनमें से कोई भी उद्देश्य मानना बिल्कुल गलत होगा क्योंकि कोई भी व्यक्ति ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता। अर्थशास्त्र यह भी मानता है कि मनुष्य अपने आचरणों का प्रयोग बुद्धिमानी और ज्ञान से करता है अर्थात् वह जान-बूझकर कुएँ में नहीं गिरता और न अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है। ऐसा वह तभी करेगा जब इससे उसका लाभ हो। ये मान्यताएँ बिल्कुल स्वाभाविक है और इनका कोई अपवाद नहीं।

अर्थशास्त्र यह भी मानता है कि प्रत्येक मनुष्य स्वार्थी है और वह अपने स्वार्थ के ही कार्य करता है। यहाँ 'स्वार्थ' शब्द का व्यापक अर्थ में

प्रयोग किया गया है। स्वार्थ शब्द का अर्थ अपने सुख और सन्तोष के लिए प्रयत्न करना है। जब एक व्यक्ति किसी अनाथ या अपाहिज को दान देता है तो क्या यह आचरण स्वार्थी नहीं? वह दान इसीलिए देता है क्योंकि उसको ऐसा करने से सुख या सन्तोष प्राप्त होता है। जब कोई व्यक्ति दूसरों की सहायता करता है तो वह भी ऐसा इसीलिए करता है क्योंकि उसको सन्तोष प्राप्त होता है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी विभिन्न रीतियों से अधिक सन्तोष या सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। किसी व्यक्ति को अधिक सुख देशसेवा से प्राप्त होता है, किसी को दूसरों की सहायता करने से, किसी को धर्म का प्रचार करने से और किसी को केवल अपने कुटुम्ब पर व्यय करने से ही। प्रत्येक स्थिति में मनुष्य वही कार्य करता है जिससे उसके स्वार्थ की पूर्ति हो, अर्थात् जिस कार्य को करने से उसको सन्तोष या सुख प्राप्त हो। जब कोई व्यक्ति धर्म-प्रेम या रीति-रिवाज के दबाव से कोई कार्य करता है तो वह इसीलिए करता है क्योंकि उस कार्य के न करने से उसे दुख होता और उस दुख का न होना ही सुख है। महात्मा गांधी या पंडित नेहरू को देश-सेवा करने से सुख प्राप्त होता है और वह देश-सेवा इसी कारण करते हैं क्योंकि सुख प्राप्त करने के लिए उनके लिए यह कार्य अनिवार्य है और इसलिए वह भी अपने स्वार्थ सम्बन्धी कार्य करते हैं। साधारणतः लोग स्वार्थ शब्द को घृणा की दृष्टि से देखते हैं परन्तु जब हम अर्थशास्त्र में यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी है तो हमारे कहने का केवल यही तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करता है जिससे उसे सन्तोष या उपयोगिता प्राप्त होती है। यह मान्यता बिल्कुल स्वाभाविक है और इसका कोई अपवाद नहीं।

अर्थशास्त्र के नियम

अर्थशास्त्र के नियम यह बतलाते हैं कि अमुक कार्य का अमुक परिणाम होगा। वह बतलाते हैं कि कुछ दिये हुए कारणों का एक निश्चित परिणाम अवश्य होगा। जैसे माँग का नियम बतलाता है कि मूल्य बढ़ने पर माँग अवश्य कम हो जायगी और सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम यह बतलाता है कि किसी वस्तु के उपभोग की अविच्छिन्न क्रिया में उस वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता क्रमानुसार क्रमशः कम होती जाती है। यह नियम अनिवार्य है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि कुछ कारणों से ऐसे परिणाम हों जो नियम के विरुद्ध हों—जैसे, यदि लोगों की आय बढ़ जाय तो हो सकता है कि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ने पर भी उस वस्तु की माँग कम न हो। ऐसी घटनाओं को ध्यान में रखकर हम

यह नहीं कह सकते कि अर्थशास्त्र के नियम अटल नहीं होते। इससे तो यह स्पष्ट होता है कि नियम अटल है परन्तु वह लागू इस कारण नहीं हो रहा है क्योंकि मूल्य बढ़ने के साथ साथ आय में भी परिवर्त्तन हो गया है। यदि आय में परिवर्त्तन न होता तो माँग अवश्य घट जाती। इन उदाहरणों को ध्यान में रखकर हम यह नहीं कह सकते कि अर्थशास्त्र के नियमों में कुछ अनिश्चितता होती है। कुछ लेखक उक्त उदाहरणों को नियम का अपवाद मान लेते हैं और इसी कारण कहते हैं कि अर्थशास्त्र के नियम भौतिक विज्ञानों के नियमों के समान निश्चित और अनिवार्य नहीं होते। उनके मत का यह भी कारण है कि वे कहते हैं कि अर्थशास्त्र का प्रत्येक नियम तभी सत्य होता है जब "अन्य परिस्थितियाँ समान रहें।" परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि "अन्य परिस्थितियों का समान रहना" केवल अर्थशास्त्र के नियमों के लिए ही आवश्यक नहीं है। रसायन-शास्त्र के नियम यह कहते हैं कि उचित या विशेष मात्रा में खाद का प्रयोग करने से उपज अच्छी होती है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब "अन्य परिस्थितियाँ समान रहें।" यदि ऐसा न हो तो आप कितना ही अच्छा खाद क्यों न प्रयोग करें परन्तु टिड्डी, बाढ़ या भूचाल से उपज बिल्कुल नष्ट हो सकती है। इसी तरह गुरुत्वाकर्षण (Law of Gravitation) का नियम यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी अपनी ओर आकृष्ट करती है परन्तु एक पतंग या हवाई जहाज पृथ्वी पर आने की अपेक्षा हवा में ऊपर उड़ता है। ऐसा होने से हम यह नहीं कहते कि गुरुत्वाकर्षण नियम अनिवार्य नहीं परन्तु ऐसा तो इसीलिए होता है क्योंकि "अन्य परिस्थितियाँ समान नहीं हैं।" इसी तरह ग्रीष्मकाल में मक्खन या घी पिघल जाता है परन्तु यदि उसे बर्फ में रख दें तो वह पिघलने की अपेक्षा जम जायेगा। सारांश यह है कि "अन्य परिस्थितियों का समान रहना" तो प्रत्येक विज्ञान के नियमों के लागू होने के लिए आवश्यक है। अर्थशास्त्र के नियम यह बतलाते हैं कि यदि कुछ कारण उपस्थित हैं तो अन्य बाधाओं के न होने पर विशेष परिणाम अनिवार्य हैं।

कुछ लेखकों का कहना है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक नियमों के समान पूर्ण नहीं होते। दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग औक्सीजन से पानी बनता है तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हाइड्रोजन और औक्सीजन की मात्रा दुगनी करने से दुगना पानी बनेगा और तीन गुनी करने से तिगुना पानी बनेगा। परन्तु माँग का नियम यह नहीं बतलाता कि मूल्य में ५०% कमी होने से माँग कितनी बढ़ जायेगी। वह तो केवल इतना ही बतलाता है कि मूल्य कम होने से माँग की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर होगी। परन्तु यह तुलना ठीक नहीं है। उक्त प्राकृतिक

नियम के समान अर्थशास्त्र में उपज का नियम यह बतलाता है कि यदि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को दुगुना कर दिया जाय तो उपज दुगुनी हो जायेगी और यदि प्रत्येक साधन को तिगुना कर दिया जाय तो उपज भी तिगुनी हो जायेगी। परन्तु जब उत्पत्ति के साधनों में से एक ही साधन की मात्रा बढ़ाई जाय तो हम यह नहीं कह सकते कि उपज में क्या परिवर्त्तन होगा। जब मूल्य ५०% घट जाता है तो हम यह नहीं कह सकते कि माँग भी ५०% बढ़ जायेगी; क्योंकि माँग का नियम माँग और मूल्य में एक सम्बन्ध तो स्थापित करता है परन्तु यह नहीं कहता कि जिस मात्रा में मूल्य घटेगा उस मात्रा में ही माँग बढ़ेगी। ऐसी आशा रखना तो गलत होगा क्योंकि नियम इस विषय पर यह नहीं कहता कि माँग और मूल्य का पारस्परिक घटने-बढ़ने का सम्बन्ध समान अनुपात में होता है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के नियम उतने ही पूर्ण, अटल और अनिवार्य होते हैं जितने अन्य प्राकृतिक विज्ञान के नियम होते हैं।

कुछ लेखक कहते हैं कि अर्थशास्त्र के नियम सामाजिक होते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं है। जैसा कि हम अगले अध्याय में बतलायेंगे अर्थशास्त्र सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों स्थितियों का अध्ययन करता है*। इस कारण उसके मूल नियम व्यक्तिगत स्थिति में भी लागू होते हैं। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम ऐसे व्यक्ति पर भी लागू होता है जो समाज से बिल्कुल अलग हो। सामाजिक समस्याएँ अधिक जटिल होती हैं और इसी कारण समाज के अर्थशास्त्र के नियम एक एकान्तवासी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होंगे। जैसे कर का नियम एक सामाजिक नियम है और वह एकान्तवासी व्यक्ति के लिए व्यर्थ है क्योंकि उस स्थिति में कर की कोई समस्या ही नहीं होती। यह भी कहना गलत है कि अर्थशास्त्र के नियम मनुष्य की उन मनोवृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं जो धन या द्रव्य में नापी जा सकें*। जैसा कि हमने पहले अध्याय में बतलाया है अर्थशास्त्र पर इस प्रकार के कोई बन्धन नहीं हैं और उसमें प्रत्येक मानवी आचरण का अध्ययन होता है यदि वह आचरण सीमित समय और साधन से प्रभावित हो।

अध्ययन की रीतियाँ

प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन की दो रीतियाँ होती हैं:—(१) निगमन रीति और (२) आगमन रीति। निगमन रीति (Deductive Method) में सामान्य सत्य से हम विशिष्ट सत्य पर पहुँचते हैं। इस प्रणाली में

---

* पृष्ठ २०–२१ देखिये

हम कुछ आधारभूत और स्वयंसिद्ध बातों को अपना आधार मान लेते हैं और फिर उनसे कुछ परिणामों पर पहुँचते हैं। उदाहरणतः हम जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु अवश्य होती है। इस आधारभूत बात को लेकर हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि राम की मृत्यु अवश्य होगी क्योंकि राम मनुष्य है। प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु अवश्य होती है यह सामान्य सत्य है इससे हम एक विशिष्ट परिणाम पर पहुँचते हैं कि राम की भी मृत्यु होगी। यह अध्ययन की निगमन रीति कहलाती है।

आगमन रीति (Inductive Method) में हम कुछ विशिष्ट बातों का अध्ययन करते हैं और उससे कुछ सामान्य तथ्य खोज निकालते हैं। इस रीति में हम घटनाओं का अध्ययन करते हैं और उस अध्ययन से विशेष वस्तुओं में कारण और परिणाम का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यदि हम राम, श्याम, मोहन इत्यादि व्यक्तियों का अध्ययन करें और इस परिणाम पर पहुँचे कि उनमें से प्रत्येक की ऊँचाई, वजन, रंग इत्यादि विभिन्न है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में विचारशक्ति है जो अन्य पशुओं में नहीं पाई जाती, तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य एक विचार-शक्ति वाला जीव है। यह अध्ययन की आगमन रीति कहलाती है। इस रीति से हम निगमन रीति द्वारा प्राप्त किये परिणामों की जाँच भी कर सकते हैं जिससे निगमन रीति के परिणामों की सत्यता सिद्ध हो जाती है। हम आगमन रीति द्वारा प्राप्त किये परिणामों से निगमन रीति द्वारा नई विशिष्ट बातों का पता लगा सकते हैं। जैसे, जब आगमन रीति से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रत्येक व्यक्ति विचार-शक्ति वाला जीव है तो अब हम निगमन रीति द्वारा इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कृष्ण और गोविन्द भी विचार शक्ति रखते हैं क्योंकि वे मनुष्य हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी विज्ञान के अध्ययन के लिए निगमन या आगमन दोनों रीतियों का प्रयोग आवश्यक है; क्योंकि यह दोनों रीतियाँ एक दूसरे की सहायक और पूरक हैं। अर्थशास्त्र में भी नियमों का उद्घाटन दोनों रीतियों द्वारा किया जाता है। कुछ समस्याओं के अध्ययन के लिए निगमन रीति अधिक उचित होती है और कुछ के लिए आगमन रीति। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम का उद्-घाटन हम निगमन रीति से करते हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है कि जब उसकी एक विशेष आवश्यकता की कुछ मात्रा में पूर्ति हो जाती है तो उस आवश्यकता की तीव्रता घट जाती है और इसी कारण किसी वस्तु का अविच्छिन्न उपभोग करने से क्रमानुसार घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। जब इस नियम का उद्घाटन हम निगमन रीति से कर लेते हैं, तो इसकी जाँच आगमन रीति से हो सकती है।

हम देखते हैं कि एक विशेष व्यक्ति राम पहली रोटी के लिए अधिक मूल्य देने को तय्यार है और दूसरी के लिए कम और तीसरी के लिए उससे भी कम। इस प्रकार निगमन रीति से उद्घाटित किए नियम की सत्यता आगमन रीति से जाँच ली जाती है। माल्थस ने आगमन रीति से अपना प्रसिद्ध जनसंख्या का नियम निकाला। इसी तरह हम एक बाजार में विभिन्न मूल्यों पर माँग की मात्रा का अध्ययन कर सकते हैं और जब हम यह देखते हैं कि मूल्य बढ़ने से माँग घटती है और मूल्य घटने से बढ़ती है तो हम माँग के नियम का निर्माण करते हैं। उसके उपरान्त जब हम एक विशेष वस्तु का मूल्य घटता हुआ देखते हैं तो तुरन्त निगमन रीति के प्रयोग द्वारा कह सकते हैं कि अब उस वस्तु की माँग बढ़ जायेगी। कुछ अर्थशास्त्र की समस्याओं के अध्ययन में निगमन रीति अधिक सुगम होती है और कुछ समस्याओं में आगमन रीति। इस कारण दोनों रीतियों का प्रयोग लाभदायक और आवश्यक है। कुछ प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों ने केवल निगमन रीति का ही प्रयोग किया परन्तु ऐसा करने से उन्होंने अनेक त्रुटियाँ कीं। उन्होंने 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना की जो केवल धन प्राप्ति में ही लगा रहता है। उन्होंने यह भी माना कि ऐसा मनुष्य धर्म, रीति-रिवाज, देश-प्रेम, ईश्वर-भक्ति, स्त्री-प्रेम इत्यादि की अपेक्षा धन को ही अधिक महत्त्व देता है। ऐसा काल्पनिक मनुष्य जो सदा धन को ही अधिक महत्त्व दे व्यावहारिक जीवन में नहीं पाया जाता। इसी कारण उनके द्वारा जिन नियमों का निर्माण हुआ उनमें त्रुटि थी। यदि वह आगमन रीति द्वारा अपने नियमों की जाँच करते तो उनको अपनी त्रुटि मालूम हो जाती। इसी कारण हमने ऊपर बताया है कि दोनों रीतियों का प्रयोग लाभदायक और आवश्यक है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यही मत है।

अभ्यास के प्रश्न

१. अर्थशास्त्र किन मान्यताओं को लेकर चलता है? क्या इन मान्यताओं में कुछ त्रुटि है?
२. अर्थशास्त्र के नियमों की प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों से तुलना कीजिये।
३. अर्थशास्त्र के अध्ययन की दोनों रीतियों को समझाइये। इनमें से कौन-सी रीति अधिक आवश्यक है?

अध्याय ४

अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

क्या अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह समझना उचित होगा कि समाज और सामाजिक विज्ञान का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। यदि किसी सभ्यता या देश में एक ही व्यक्ति रहता हो जिसका और किसी व्यक्ति से कोई सम्बन्ध न हो और उनसे बिल्कुल अलग रहता हो तो वह एक व्यक्ति की सभ्यता कहलायेगी। ऐसी स्थिति में समाज का अस्तित्व नहीं होता। समाज एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा बनता है और समाज के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों की संख्या एक से अधिक हो। जो विज्ञान समाज या समाज की समस्याओं का अध्ययन करता है उसको सामाजिक विज्ञान कहते हैं। सामाजिक विज्ञान उन्हीं व्यक्तियों का या उनकी समस्याओं का अध्ययन करता है जो समाज के सदस्य हों। सामाजिक विज्ञान ऐसे व्यक्तियों का अध्ययन नहीं करता जो समाज से बिल्कुल अलग हों और जिनके संसार में वह एक व्यक्ति ही मनुष्य हो।

यह ठीक ठीक पता चलाने के लिए कि अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है या नहीं उक्त व्याख्या आवश्यक थी ; क्योंकि बहुत से लोगों का अटल विश्वास होता है, कि अर्थशास्त्र तो सामाजिक विज्ञान ही है और इस विश्वास के विरुद्ध वह सोचने की इच्छा ही नहीं रखते। अर्थशास्त्र में हम मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। यह अध्ययन एक ही पक्ष से किया जाता है जैसा कि हम अध्याय १ में समझा चुके हैं। जहाँ कहीं भी मनुष्य का अस्तित्व होता है, चाहे वह समाज में रहता हो या समाज से बिल्कुल अलग (रौबिन्सन्न क्रूसो के समान), वहीं ऐसी समस्याएँ होती हैं जिनका अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है। अर्थशास्त्र के इस क्षेत्र में केवल एक ही बन्धन है कि मनुष्य का जीवन सीमित समय व साधनों से प्रभावित हो। यदि कोई ऐसा समाज हो जहाँ समय और साधन सीमित न हों या कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अकेला ही ऐसी दुनिया में रहता हो जहाँ समय व साधन सीमित न हों तो इन स्थितियों में कोई आर्थिक समस्या नहीं उठती। परन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐसे व्यक्ति या समाज का होना असम्भव है। यदि संसार में एक ही व्यक्ति होता तो भी आर्थिक

समस्या उसको सताती; क्योंकि उसके लिए समय और साधन सीमित होते। उसको यह निश्चय करना होता कि वह अपना कितना समय सोने में व्यतीत करे, कितना घूमने में, कितना भागने में, कितना ईश्वर-भक्ति में, कितना अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली वस्तुओं के उत्पादन में, इत्यादि इत्यादि। उसको यह भी निश्चय करना होता कि यदि वह बाग लगाना चाहे या खेती करना चाहे तो अपने परिश्रम का कितना भाग उस खेती की जंगली जानवरों से रखवाली करने में या उसके चारों ओर बाढ़ लगाने में व्यतीत करे। अर्थात् उसको अनेक आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता। इस कारण अर्थशास्त्र उसका अध्ययन करता और उसकी समस्याएँ सुलझाने में उसके लिए उपयोगी प्रतीत होता। इस कारण हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र एक व्यक्तिगत विज्ञान भी है। अर्थशास्त्र एक ऐसे व्यक्ति का भी अध्ययन करता है जो संसार में अकेला हो। वह समाज का भी अध्ययन करता है और ऐसे व्यक्ति का भी जो समाज का सदस्य हो। जो व्यक्ति समाज का सदस्य होता है उसके सामाजिक व व्यक्तिगत दोनों प्रकार के आचरणों का अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है। इस कारण एक व्यक्तिगत अर्थशास्त्र भी हो सकता है और सामाजिक अर्थशास्त्र भी। व्यक्तिगत अर्थशास्त्र में हम केवल ऐसे व्यक्ति के आचरणों का अध्ययन करेंगे जो संसार में अकेला हो और सामाजिक अर्थशास्त्र में हम समाज का और उसके सदस्यों का अध्ययन करेंगे। इस प्रकार अर्थशास्त्र गणितशास्त्र, भूगोल या अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के समान है जो ऐसे संसार की समस्याओं का भी अध्ययन करते हैं जहाँ केवल एक व्यक्ति हो और ऐसे संसार का भी जहाँ अनेक व्यक्ति हों। इसके विपरीत राजनीति या न्यायशास्त्र ऐसे विज्ञान हैं जो समाज के अस्तित्व पर ही निर्भर हैं। यदि समाज न हो तो इन शास्त्रों के अध्ययन की भी कोई आवश्यकता नहीं। जो व्यक्ति ऐसे संसार में रहता हो जहाँ वह अकेला हो वहाँ न राजनीति की समस्या उठती है और न न्याय की, इस कारण यह शास्त्र सामाजिक शास्त्र है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह कहना बिल्कुल गलत होगा कि अर्थ-शास्त्र साधुओं, चोरों इत्यादि के आचरण का अध्ययन नहीं करता। इन व्यक्तियों की भी आवश्यकताएँ होती हैं और उनकी पूर्ति के लिए उन्हें परिश्रम करना पड़ता है क्योंकि उनके भी समय और साधन सीमित हैं। सारांश यह है कि कोई व्यक्ति और उसका कोई भी आचरण अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर नहीं हैं जब तक उस पर सीमित समय या साधनों का प्रभाव हो।

अब हम अर्थशास्त्र के अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे। इसके पहले यह बता देना आवश्यक है कि उन समस्त विज्ञानों में जो मनुष्य

का अध्ययन करते हैं एक बड़ी भारी एकता है। इनमें से प्रत्येक विज्ञान मनुष्य के आचरणों का एक पक्ष से अध्ययन करता है । राजनीति-शास्त्र में हम मनुष्य के आचरणों का राजनीति की दृष्टि से अध्ययन करते हैं, नीतिशास्त्र में नीति की दृष्टि से, धर्म में धर्म की दृष्टि से, न्यायशास्त्र में न्याय की दृष्टि से, स्वास्थ्य-विज्ञान में स्वास्थ्य की दृष्टि से, इत्यादि। अर्थशास्त्र में हम उन्हीं आचरणों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक दृष्टि से अध्ययन करते हैं। उन्हीं आचरणों के दूसरे पक्षों का अध्ययन दूसरे शास्त्रों में होता है। मानवी आचरणों का एक ही दृष्टि से अध्ययन करना अपूर्ण और एकांगी अध्ययन होगा । उन आचरणों का पूर्ण अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनका अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न शास्त्रों की सहायता से किया जाय। विभिन्न दृष्टियों से मानवी आचरणों के अध्ययन का विभिन्न महत्त्व है परन्तु एक निश्चित समय पर कौन सी दृष्टि से अध्ययन करने का अधिक महत्त्व है यह इस बात पर निर्भर है कि हमारे अध्ययन करने का उद्देश्य क्या है।

अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र

राजनीति-शास्त्र में हम राज्य और उसके नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं। हम यह भी अध्ययन करते हैं कि शासन किस प्रकार का है और उस राज्य का दूसरे राज्यों से क्या सम्बन्ध है। आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि देश में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो । इनके अभाव से उत्पादन में कमी होगी जिसके कारण उपभोग की मात्रा भी घट जायेगी। इसी प्रकार राजनैतिक क्रान्ति या उथल-पुथल से जनता की आर्थिक स्थिति को हानि पहुँचेगी। देश की राज-नीति का भी आर्थिक स्थिति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि विदेशी नीति आक्रामक हो तो उस देश को हिटलर के जर्मनी के समान 'मक्खन की अपेक्षा बन्दूकों' का उत्पादन बढ़ाना होगा । आजकल हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आशंकापूर्ण नीति के कारण प्रत्येक राज्य अपनी आय का अधिक भाग सैनिक और शस्त्र पर व्यय करता है । इस वर्ष केवल अमेरिका लगभग २० हजार करोड़ रुपया अपनी तथा अपने मित्र-राष्ट्रों की सुरक्षा की योजनाओं पर व्यय करेगा। यदि संसार में शंका और डर की अपेक्षा शांति और विश्वास हो तो यह धन जनता के सुख के साधनों के बढ़ाने में लगाया जा सकता है। आर्थिक स्थिति का भी राजनीति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह हमारी आर्थिक स्थिति का ही कारण है कि हमारे राष्ट्र ने जमींदारी-उन्मूलन का कानून बनाया है और मदिरा का प्रयोग बन्द किया है। आर्थिक स्थिति की उन्नति और

जनता के हित के ही कारण राष्ट्रीयकरण की योजनाएँ बनाई जाती हैं। जनता में साहस की कमी और उसके पिछड़े होने के कारण राज्य को स्वयं उत्पादन की ओर कदम बढ़ाना पड़ता है और नई नई उत्पादन-योजनाओं में सहायता करनी पड़ती है। यदि आवश्यक वस्तुओं की अधिक कमी हो तो राज्य के लिए उन वस्तुओं का मूल्य नियन्त्रित करना और राशन द्वारा वितरण करना अनिवार्य हो जाता है और ऐसे कानून बनाने पड़ते है कि जो लोग इसका विरोध करें उन्हें दण्ड दिया जाय।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र के अध्ययन से हम अच्छे और बुरे का ज्ञान प्राप्त करते हैं। नीतिशास्त्र हमें अच्छे और बुरे में अन्तर मालूम करने का मापदण्ड देता है। धन कमाने की अनेक रीतियाँ हैं और किसी रीति से भी धन कमाया जाय तो धन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु धन ईमानदारी और परिश्रम से भी कमाया जा सकता है और डाका डालकर भी। एक रीति उचित है और दूसरी अनुचित। कुछ समय के लिए डाके के धन से सुख के साधन मिल सकते हैं परन्तु ऐसे धन कमाने से अन्तःकरण को दुख होता है और आत्मा का पतन होता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र हमको बतलाता है कि मनुष्य के प्रमुख उद्देश्य अधिकतम सुख को प्राप्त करने के लिए उचित रीतियों से उपयोगिता या सन्तोष प्राप्त करना लाभदायक है। जिस समाज के लोग समृद्धिवान् होंगे वे ईमानदार और सच्चे भी होंगे और उनकी नीति के आदर्श भी ऊँचे होंगे। जो लोग सच्चे और ईमानदार होते हैं उनका जीवन आर्थिक दृष्टि से महान् और अधिक सुखी होगा। ऐसे समाज में बेइमानी, घूस, शोषण और चोर बाजार इत्यादि जो जनता को सुख प्राप्ति में बाधाएँ हैं, न होंगे। जब मजूरों का वेतन उनकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है तो हो सकता है कि वह इतना कम हो कि उनका चरित्र भ्रष्ट हो जाय और उनका नैतिक पतन हो जाय। इन हानियों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि उनको अधिक वेतन दिया जाय। नीतिशास्त्र हमको यह बतलाता है कि शोषण पाप है और अर्थशास्त्र भी यही बतलाता है कि शोषण जन-साधारण की उन्नति में बाधा है।

अर्थशास्त्र और धर्म

मनुष्य का आर्थिक स्वार्थ उसको बतलाता है कि दुर्बल और दूध न देनेवाली गायों का वध करना लाभदायक है क्योंकि ऐसे पशु हमारे देश के घास इत्यादि के सीमित क्षेत्र में भार हैं, परन्तु हमारा धर्म ऐसा करने से हमको रोकता है। इसी प्रकार धार्मिक विश्वासों के कारण

विवाह और मृत्यु के अवसर पर अनेक कार्यों का करना आवश्यक होता है और उन पर किया गया व्यय वहन करना बड़ा कठिन होता है। अनेक किसान इत्यादि ऐसे कार्यों के लिए ऋण ले लेते हैं जिससे वे जन्मभर छुटकारा नहीं पाते। हिन्दूधर्म के अनुसार कन्यादान और पुत्र द्वारा दाह-कर्म स्वर्ग की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इन विचारों का जनसंख्या पर बड़ा प्रभाव पड़ता है क्योंकि ऐसी स्थिति में एक पुत्र और एक पुत्री होना आवश्यक है, जिसके कारण विवाह एक धार्मिक संस्था है। धर्म के अनुसार शोषण करना पाप है, और धर्म दान और दुर्बलों की सहायता का महत्त्व भी बतलाता है। इस प्रकार धर्म के नियम मानने से असमान वितरण की समस्या हल हो जाती है। इसी समस्या को हम राजस्व में धनवानों पर अधिक कर लगाकर और निर्धनों पर अधिक व्यय करके हल करते हैं।

अर्थशास्त्र और न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्र इस बात के नियम बनाता है कि मनुष्य क्या कर सकता है और उसे क्या नहीं करना चाहिये और वर्जित कार्यों के करने से बनाये हुए कानूनों के द्वारा दण्ड मिलता है। कोई व्यक्ति कानून अपने हाथ में नहीं ले सकता और यदि उसे दूसरों के विरुद्ध कुछ शिकायतें हैं तो उसको कानून की सहायता लेकर उनको दूर करना चाहिए। अच्छे कानून आर्थिक उन्नति में सहायक होते हैं। यदि एक ही स्थान पर बहुत से कारखानों के एकत्रित होने की प्रवृत्ति हो या एक ही प्रकार के कारखानों में अधिक धन लगाने की प्रवृत्ति हो तो ऐसे कानून बनाये जा सकते हैं जिससे नये कारखानों की स्थापना ऐसे स्थानों पर की जाय जो देश के लिए अत्यधिक लाभदायक हो और नई पूँजी भी ऐसे कारखानों में लगाई जाय जो देश की आवश्यकता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हो। मजूरों के हित के नियम उनकी कार्यक्षमता की वृद्धि के लिए हितकर होते हैं। कानूनों का आर्थिक स्थिति पर भी अधिक प्रभाव पड़ता है। विलायत में Law of Primogeniture के अनुसार सारी जमीन बड़े बेटे को मिलती है, जिस कारण वहाँ बड़े बड़े खेत हैं। हिन्दुओं में सारी जायदाद सब पुत्रों में बाँटने के नियम के कारण भारतवर्ष में छोटे छोटे खेतों के अलग अलग स्वामी होते हैं जिससे कृषि को हानि पहुँचती है। किसी देश के कानून उसकी आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर होते हैं। उन्नतिशील देशों में बच्चों से मजूरी कराना मना होता है, प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होती है, निश्चित मजूरी से कम देना मना होता है, बीमारी और बुढ़ापे की बीमे की योजनाएँ और बेकारी में सहायता देने इत्यादि के कानून होते हैं।

अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान

अर्थशास्त्र का अध्ययन मनोविज्ञान के कुछ सत्यों को दृष्टि में रखकर किया जाता है, जैसे सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम का निर्माण मनोविज्ञान के इस सत्य से किया जाता है कि जब किसी व्यक्ति की एक वस्तु की आवश्यकता कुछ मात्रा में सन्तुष्ट हो जाती है तो उस वस्तु की आवश्यकता की तीव्रता घट जाती है। इसी कारण उस वस्तु के उपभोग से क्रमानुसार घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। मनोविज्ञान हमको बतलाता है कि मनुष्य परिश्रम की अपेक्षा विश्राम को अधिक पसन्द करता है। इसी कारण परिश्रम करने में उसको दुख होता है क्योंकि उसको विश्राम का त्याग करना पड़ता है। इस दुख का ही परिणाम है कि मनुष्य परिश्रम करने पर कुछ वेतन की आशा रखता है चाहे यह वेतन उसको द्रव्य में प्राप्त हो या उपयोगिता में। पूँजीपति को उसकी लगाई पूँजी का व्याज भी इसीलिए देना पड़ता है क्योंकि मनुष्य का स्वभाव ही यह है कि वह वर्तमान सन्तोष को भविष्य में प्राप्त होनेवाले समान सन्तोष से अधिक महत्त्व देता है। नये उत्पादन के कार्यों में पूँजी लगाना अनेक बातों पर निर्भर है जिसमें से पूँजीपतियों की मनोवृत्ति विशेष है। यदि पूँजी-पतियों के विचार में आर्थिक स्थिति में गड़बड़ होने का डर है तो वे अपनी पूँजी को नये कार्यों या कारखानों में लगाने से हिचकिचायेंगे, चाहे इससे देश और जनता को अधिक हानि हो। इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओं का मूल्य या अर्घ इसी पर निर्भर होता है कि समाज या उपभोक्ता के विचार में उस वस्तु का क्या महत्त्व है। लोग ऐसे ही कपड़े पहिनते हैं जो उस समाज में उचित समझे जाँय। भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त टाई और टोप की प्रथा बहुत कम हो गई है और लोगों के विचार में गाँधी टोपी और शेरवानी ही उचित वस्त्र हैं। कपड़ों के फैशन में जो परिवर्त्तन होता है वह मनुष्य के विचारों पर ही निर्भर है। जिस समाज की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है उसके सदस्य भी विचारशील और गंभीर होते हैं।

अर्थशास्त्र और आर्थिक इतिहास

आर्थिक इतिहास में हम मनुष्य के आर्थिक विकास का अध्ययन करते हैं और भिन्न भिन्न समयों पर उसकी आर्थिक स्थिति का पता लगाते हैं। आर्थिक इतिहास के अध्ययन से हमको पता चलता है कि आर्थिक स्थिति का सामाजिक संस्थाओं पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस अध्ययन से हम यह भी पता लगा सकते हैं कि राज्य की कर-नीति का देश के उत्पादन

और जनता के उपभोग पर कैसा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक इतिहास से हमको यह भी पता लगता है कि अब तक समाज की जो उन्नति हुई उसके क्या कारण थे और जिन आपत्तियों का उसको अनुभव हुआ उसको भविष्य में किस प्रकार रोका जा सकता है। इसी अध्ययन से ही हमको पता लगता है कि असमान वितरण होने के कारण उत्पादन अधिक होने पर वस्तुओं का विक्रय नहीं हो सकता; क्योंकि जिनको उस वस्तु की आवश्यकता है उनके पास क्रय करने के साधन नहीं हैं और जिनके पास साधन हैं उनको उस वस्तु की आवश्यकता नहीं है। इससे देश या संसार आर्थिक संकट में पड़ जाता है। आर्थिक इतिहास के अध्ययन से ही हमको पता लगता है कि स्वदेशी माल की इस प्रकार रक्षा करने की नीति से जिससे वह विदेशी माल की अपेक्षा सस्ता बिक सके नये नये उद्योगों को आरम्भ किया जा सकता है। भारत में इस नीति के ही द्वारा कागज, सीमेंट, लोहे इत्यादि के कारखाने स्थापित किये गये और अब इन वस्तुओं की माँग की पूर्ति बहुत कुछ भारतीय कारखानों से ही होती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने भी प्रारम्भ में अपनी आर्थिक उन्नति इस नीति को अपनाकर ही की।

अर्थशास्त्र और आर्थिक विचारों का इतिहास

आर्थिक विचारों के इतिहास का अध्ययन करने से हमको मालूम होता है कि आर्थिक विचारों और नियमों में किस प्रकार परिवर्त्तन हुआ। मध्य-काल में मनुष्य बहुत कुछ कृषि पर ही निर्भर था। जिसके पास अधिक भूमि थी वही धनी माना जाता था। इसी कारण फ्रान्स के प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों ने (जिनको Physiocrats कहा जाता है) भूमि को ही सम्पत्ति का स्रोत माना और कहा कि कृषि द्वारा ही मनुष्य कुछ उत्पादन करता है—कुछ बीज डालने से मनों नाज पैदा होता है—क्योंकि अन्य कार्यों में तो वह केवल पदार्थों के रूप में ही परिवर्त्तन करता है। उनकी यह भूल थी। कृषि में भी पदार्थों के रूप का ही परिवर्त्तन होता है। मार्क्स (Marx) का अर्घ का सिद्धान्त के वस्तुओं का मूल्य उन पर व्यय किये गये परिश्रम पर ही निर्भर है (Labour Theory of Value), शोषण की प्रतिक्रिया थी। इसके पूर्व अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition) का ही अध्ययन करते थे। उस स्थिति में मजूरों को वेतन कम मिलता था और धन पूँजीपतियों के पास ही एकत्रित होता रहता था। मार्क्स के विचारों को जब विज्ञान की कसौटी पर कसा गया तो अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition) के सिद्धान्त का निर्माण हुआ। इससे वैज्ञानिक रीति से यह बतलाया गया कि राज्य के

हस्तक्षेप न करने की नीति (Laissez faire) देश व जनता के लिए हितकर नहीं है। असमान वितरण और धन का कुछ इने-गिने व्यक्तियों के पास एकत्रित होने से ही अर्थशास्त्रियों ने कर-नीति का महत्त्व बतलाया और 'सामर्थ्य के अनुसार कर लगाने के सिद्धान्त' (Ability Theory of Taxation) की महत्ता दर्शायी।

अर्थशास्त्र और भूगोल

मनुष्य का जीवन बहुत कुछ भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है। इंगलैण्ड जैसे ठंढे देशों में अधिक कपड़े, आश्रय और भोजन की आवश्यकता होती है। वहाँ की जलवायु भी ऐसी होती है जिसमें मनुष्य अधिक परिश्रम कर सकता है। इस कारण उन देशों ने आर्थिक उन्नति की। गर्म देशों में कपड़े, आश्रय इत्यादि की आवश्यकता कम होती है और प्रकृति की देन के कारण थोड़ा-सा परिश्रम करने पर ही फल-फूल व अनाज भी उत्पन्न हो जाते है। इन कारणों से मनुष्य आलसी हो जाते हैं और जलवायु भी ऐसी होती है कि अधिक परिश्रम करना कठिन होता है। इसीलिए पूर्वी देश अधिकतर कृषि पर ही निर्भर है और आर्थिक उन्नति में पीछे रह गये हैं। इंगलैण्ड का समुद्री तट बहुत कटा हुआ है जिससे वहाँ अच्छे अच्छे बन्दरगाह है। छोटा टापू होने से किसी भी स्थान से समुद्र बहुत दूर नहीं है। इसी कारण वहाँ के लोग प्राचीन युग में भी निपुण मल्लाह होते थे। इससे वे साहसी भी होते हैं। दूर दूर के देशों से व्यापार भी करते है तथा वहाँ जाकर बस भी जाते हैं।

अर्थशास्त्र और अंकशास्त्र व गणित

आर्थिक नियमों को अंकशास्त्र की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है। अंकशास्त्र के अध्ययन से नये आर्थिक नियमों का निर्माण भी होता है। माल्थस ने अंकशास्त्र द्वारा अध्ययन करने के उपरान्त ही जनसंख्या के सिद्धान्त का उद्घाटन किया। अंकशास्त्र द्वारा ही हम सिद्ध करते हैं कि अधिक कर का उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि उससे बचत और नये कारखानों की स्थापना में बाधा पड़ जाती है। अंकशास्त्र से हम यह भी सिद्ध करते हैं कि यदि उत्पादन में वृद्धि न हो तो द्रव्य की मात्रा बढ़ने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। आर्थिक नियमों को गणित द्वारा प्रतिपादित करने से उनमें अधिक निश्चितता और स्पष्टता आ जाती है। अर्थशास्त्र में गणित द्वारा ही मात्रा की अधिकता और न्यूनता का ज्ञान होता है।

अर्थशास्त्र और भौतिक व प्राकृतिक विज्ञान

यह रसायन-शास्त्र का नियम है कि मनुष्य न पदार्थ को उत्पन्न कर सकता है, न उसका नाश ही कर सकता है। वह केवल पदार्थों का रूप बदल सकता है। इसी नियम पर अर्थशास्त्र में उत्पादन और उपभोग की परिभाषा निर्भर है। फ्रान्स के प्रारम्भिक अर्थशास्त्री (Physiocrats) रसायन-शास्त्र के इस नियम की अज्ञानता के कारण उत्पादन की ठीक ठीक परिभाषा न दे सके। मनुष्य मदिरा का सेवन करे या फल के रस का, उसकी एक आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु स्वास्थ्य-शास्त्र बतलाता है कि एक से हानि और दूसरे से उसके स्वास्थ्य को लाभ पहुँचेगा। इसी प्रकार भूख की तृप्ति तो किसी प्रकार का भोजन भी करने से हो सकती है परन्तु स्वास्थ्य-शास्त्र बतलाता है कि किन वस्तुओं का अधिक उपभोग करना चाहिये कि जिससे स्वास्थ्य और कार्यक्षमता में उन्नति हो। भौतिक और प्राकृतिक विज्ञानों के आविष्कारों से उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है और नई नई वस्तुओं का उत्पादन होता है जिससे जीवन अधिक सुखी और महान् बनता है। मोटर, रेल, हवाई जहाज, रेडियो इत्यादि का उत्पादन भौतिक व प्राकृतिक विज्ञानों के आविष्कारों द्वारा ही हुआ है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी बनाने की आवश्यकता ही मनुष्य को नये नये आविष्कारों की ओर प्रेरित करती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. क्या अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है ? इसको विस्तारपूर्वक समझा-कर लिखिये।

२. अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

अध्याय ५

अर्थशास्त्र के विभाग और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

अर्थशास्त्र में मानवी आचरणों का (जो अभाव से प्रभावित हैं) आवश्यकता और उनकी पूर्ति के दृष्टिकोण से अध्ययन होता है। सुगमता और विस्तार से अध्ययन करने के लिए इसको कई भागों में बाँटा जाता है, जो निम्नलिखित हैं :—

(१) उपभोग, (२) उत्पादन, (३) विनिमय, (४) वितरण, (५) राजकीय अर्थशास्त्र।

उपभोग (Consumption) :—आवश्यकताओं की पूर्ति वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग के द्वारा होती है। जब किसी वस्तु से मानवी आवश्यकता की पूर्ति होती है तो पूर्ति करनेवाली वस्तु की उपयोगिता या तो कम हो जाती है या लुप्त हो जाती है। इस कारण किसी मानवी आचरण का वस्तुओं की उपयोगिता के घटने की दृष्टि से किये गये अध्ययंन को 'उपभोग' कहते हैं। उपभोग में इससे सम्बन्ध रखनेवाली सब समस्याओं का अध्ययन होता है।

उत्पादन (Production) :—उपभोग के लिए वस्तुएँ या सेवाएँ मुफ्त नहीं मिलतीं। इस कारण उनको प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम से या तो उन वस्तुओं को प्राप्त करते हैं जिनसे आवश्यकता की पूर्ति होती है या उस उपयोगिता का उत्पादन करते हैं जो उपभोग द्वारा लुप्त हो जाती है। मानवी क्रियायों का उपयोगिता की वृद्धि के दृष्टिकोण से किया गया अध्ययन ही 'उत्पादन' कहलाता है। मानवी परिश्रम द्वारा जिस उपयोगिता की वृद्धि या उसका निर्माण किया जाता है उसी को उत्पादन कहते हैं। उत्पादन का अर्थशास्त्र में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि बिना उत्पादन के उपभोग सम्भव नहीं है। नदी से पानी पीने में या जंगल से फल तोड़कर खाने में या साँस लेने में भी परिश्रम करना पड़ता है, जिससे कुछ उपयोगिता का निर्माण होता है और प्यास, भूख या हवा की आवश्यकता की पूर्ति होती है। उत्पादन में हम यह अध्ययन करते हैं कि उत्पादन किस प्रकार होता है, उसकी क्या समस्याएँ हैं, उस पर कौन से नियम लागू होते हैं, इत्यादि।

विनिमय (Exchange) :—ऐसी स्थिति के अतिरिक्त, जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए प्रत्येक वस्तु का

स्वयं उत्पादन करता है, विनिमय की आवश्यकता होती है। ऐसी सभ्यता में भी विनिमय की आवश्यकता होती है जहाँ एक कुटुम्ब मिलकर अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति स्वयं प्रत्येक वस्तु का उत्पादन करके करता है। ऐसी स्थिति में पिता खेत में परिश्रम करता है और माता भोजन बनाती है, मकान में झाड़ू लगाती है, कपड़े धोती व सीती है इत्यादि और बच्चे छोटा-मोटा काम करते हैं। इस प्रकार पिता अपने परिश्रम से उत्पादन किये गये नाज को देकर अपनी स्त्री के परिश्रम (क्योंकि वही रोटी बनाती है) और प्रेम से विनिमय करता है। जो नाज पिता उत्पन्न करता है उसमें से कुछ वह स्वयं खाता है और कुछ उसकी स्त्री और बच्चे। अर्थात् वह कुछ नाज अपनी स्त्री और बच्चों को देता है, उसके बदले में उसकी स्त्री भोजन बनाती है और उनमें पारस्परिक प्रेम है। सारांश यह है कि पिता कुछ नाज स्वयं खाता है और कुछ नाज का विनिमय स्त्री के परिश्रम व प्रेम से करता है। इसी प्रकार जंगली सभ्यता में भी विनिमय होता है। रोगी और बीमार व्यक्ति घर पर ही रहकर काम करते हैं और स्वस्थ और शक्तिमान् व्यक्ति शिकार करते हैं। वह अपने परिश्रम द्वारा जो शिकार लाते हैं उसके कुछ भाग का विनिमय रोगी साथियों के परिश्रम से करते हैं जो उनका भोजन इत्यादि बनाते हैं। जहाँ कुछ व्यक्ति एक वस्तु का उत्पादन करते हैं और दूसरे अन्य व्यक्ति दूसरी अन्य वस्तुओं का वहाँ विनिमय का अधिक महत्त्व होता है। जब एक व्यक्ति गेहूँ पैदा करता है और दूसरा कपड़ा, तो उनकी कपड़े व भोजन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि वे कुछ गेहूँ व कपड़े का विनिमय करें।

विनिमय भी उत्पादन ही है। क्योंकि जब हम विनिमय करते हैं तो एक ऐसी वस्तु देते हैं जिसकी उपयोगिता हमारे लिए प्राप्त की गई वस्तु की अपेक्षा कम होती है। इससे उपयोगिता का लाभ होता है अन्यथा विनिमय करने के हेतु कोई प्रस्तुत ही न होता।

एक विशेष अर्थ में विनिमय तब भी होता है जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति उन वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करके करता है। जब वह उत्पादन की गई उपयोगिता का उपभोग न करके उसको भविष्य में उपभोग करने के लिए बचाता है तो वह वर्तमान के सन्तोष का भविष्य के सन्तोष से विनिमय करता है। वह ऐसा करने को तभी प्रस्तुत होगा जब इसमें उसका लाभ हो अर्थात् भविष्य के सन्तोष की मात्रा वर्तमान के सन्तोष की मात्रा से अधिक हो। इस प्रकार बचत भी उत्पादन है क्योंकि उससे उपयोगिता की वृद्धि होती है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि साधारणतया 'विनिमय' का प्रयोग अर्थशास्त्र

में इस अर्थ मे नहीं होता। विनिमय सदा दो व्यक्तियों में होता है। अर्थशास्त्र के इस विभाग में हम उन समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो विनिमय से सम्बन्ध रखती हों, जैसे द्रव्य, शाख, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय इत्यादि।

वितरण (Distribution) :—जब एक से अधिक व्यक्ति या उत्पादन के साधन मिलकर किसी वस्तु या सेवा का उत्पादन करते हैं तो उनका अलग अलग भाग मालूम करने और उसके बाँटने की आवश्यकता होती है। इसी को 'वितरण' कहते हैं। किसी भी वस्तु या सेवा के उत्पादन के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनों का प्रयोग और उनमें पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। जब इन विभिन्न उत्पादन के साधनों की पूर्ति एक ही व्यक्ति द्वारा की जाती है तो यह मालूम करने की कि प्रत्येक उत्पादन के साधन का उत्पादित वस्तु में कितना भाग है कोई विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति विभिन्न उत्पादन के साधनों का मालिक स्वयं ही होता है परन्तु विज्ञान की दृष्टि से यह मालूम करना लाभदायक होगा कि उत्पादन के प्रत्येक साधन का उस वस्तु के मूल्य में कितना भाग है; अर्थात् जो वस्तु का मूल्य उसको मिलता है उसका कौन-सा भाग उसको पूँजीपति की हैसियत से मिलता है और कौन-सा श्रम, साहस इत्यादि की पूर्ति करने से। ऐसी सभ्यता में जहाँ प्रत्येक परिवार अपने उपभोग की वस्तुएँ स्वयं उत्पादन करता है और इस प्रकार स्वावलम्बी होता है तो भी यथार्थ वितरण की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब उत्पादन की गई वस्तु में उत्पादन के साधन एक से अधिक व्यक्ति लगाता है जो अपनी आय अलग अलग व्यय करना चाहते हैं तो वितरण का महत्त्व बढ़ जाता है। वर्तमान जटिल समाज में जहाँ किसी वस्तु या सेवा के उत्पादन में कई व्यक्ति उत्पादन के साधन लगाते हैं तो वितरण का अध्ययन अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक आवश्यक और लाभदायक हो गया है। वितरण में हम इन्हीं समस्याओं का अध्ययन करते हैं कि प्रत्येक उत्पादन के साधन का उत्पादित धन में क्या भाग है और वह किन नियमों द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह भी पता लगाते हैं कि वितरण की इन रीतियों में कौन-सी कमियाँ हैं जिनसे अनेक हानि और समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

राजकीय अर्थशास्त्र (Public Finance) :—समाज के विकास के साथ साथ यह अनुभव हुआ कि कुछ सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति एक संगठित संस्था द्वारा अधिक मितव्ययता से हो सकेगी। इस प्रकार राज्य का निर्माण हुआ। राज्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर लगाने पड़ते हैं और उस आय को व्यय करने से राज्य की आव-

श्यकताओं की पूर्ति होती है। रौबिन्सन क्रूसो जैसी सभ्यता में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि राज्य एक सामाजिक संस्था है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि अर्थशास्त्र के विभागों में घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योंकि वे एक ही वैज्ञानिक अध्ययन के अलग अलग भाग हैं। अब हम इन भागों के पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे।

उपभोग और उत्पादन:—प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसका उसको उपभोग करना हो या जिसकी उपभोक्ताओं की ओर से माँग हो। इसी तरह कभी-कभी उत्पादन भी उपभोग का संचालन करता है। अनेक बार उत्पादक यह अनुमान लगाता है कि प्रचार से नई आवश्यकताओं का अनुभव कराया जा सकता है और इस कारण वह ऐसी वस्तुओं का भी उत्पादन करता है जिनकी माँग उपभोक्ताओं की ओर से प्रारंभ नहीं होती। उदाहरणतः हमारे देश में टमाटर और शकरकन्द का उपभोग प्रचार द्वारा बढ़ गया है। इस प्रकार उपभोग और उत्पादन का एक दूसरे पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

उपभोग और विनिमय:—विनिमय द्वारा हम उन वस्तुओं का उपभोग करते हैं जो हम स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति चतुर नर्तक और संगीतज्ञ नहीं हो सकता, परन्तु अपने धन का कुछ भाग विनिमय कर नृत्य और संगीत का आनन्द उठा सकता है। इसी प्रकार वह मोटर, घड़ी, किताबें इत्यादि खरीद सकता है। सारांश यह है कि विनिमय द्वारा उन आवश्यकताओं का क्षेत्र बढ़ जाता है जिनकी पूर्ति की जा सकती है। उन्हीं वस्तुओं का अधिक विनिमय होता है जिनकी आवश्यकता उपभोग के लिए होती है।

उपभोग और वितरण:—किसी व्यक्ति को उत्पादित धन का जो भाग वितरण द्वारा प्राप्त होता है उसी पर उसके उपभोग की मात्रा निर्भर होती है। इसी कारण वितरण द्वारा जो भाग शारीरिक परिश्रम को दिया जाता है उसको बढ़ाने की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है, जिससे मजूरों के उपभोग की मात्रा अधिक हो और उनका रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सके। जब उत्पादन एक संगठित कार्य का परिणाम है तो व्यक्तिगत उपभोग तभी सम्भव है जब उत्पादित धन का वितरण हो जाय। क्योंकि लोग अपने भाग का उपभोग करना चाहते हैं इसीलिए वितरण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

उपभोग और राजकीय अर्थशास्त्र:—यदि नागरिकों में हानिकारक वस्तुओं के उपभोग का प्रचार है तो राष्ट्र ऐसी वस्तुओं के उपभोग पर रोक लगा सकता है। जैसे हमारे देश में 'शराब पीने की मनाही की नीति' अपनाई है। वस्तुओं पर कर लगाकर राष्ट्र उनके उपभोग पर प्रभाव

डाल सकता है। वस्तुओं की कमी होने पर राष्ट्र उनके मूल्य नियन्त्रित कर सकता है और राशन द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के उपभोग का भाग निश्चित कर सकता है और प्रत्येक के उचित भाग के बँटवारे का प्रबन्ध कर सकता है। राष्ट्र लाभदायक वस्तुओं के उपभोग की मात्रा भी बढ़ा सकता है। राष्ट्र अपने व्यय द्वारा निर्धनों के उपभोग के दर्जे को ऊँचा भी कर सकता है, जैसे उनके लिए मुफ्त शिक्षा, खेलने के मैदान व उद्यान, सस्ता नाज इत्यादि का प्रबन्ध कर सकता है।

उत्पादन और विनिमय :—जैसा कि हमने ऊपर बताया है विनिमय भी एक दृष्टि से उत्पादन ही है। विनिमय से उत्पादित वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि होती है क्योंकि विनिमय द्वारा वह वस्तु ऐसे व्यक्ति के पास चली जाती है जिसके लिए उसकी उपयोगिता उत्पादक की अपेक्षा अधिक होती है। यदि विनिमय सम्भव न हो तो उत्पादन को बड़ी हानि पहुँचे; क्योंकि उस स्थिति में लोग उसी वस्तु का उत्पादन करेंगे जिसका वे स्वयं उपभोग कर सकें। यदि विनिमय सम्भव न होता तो आजकल के अनेक सुखी रहने के साधनों—जैसे मोटर, साइकिल, रेडियो, घड़ी इत्यादि —से हम निराश रह जाते। विनिमय के कारण ही श्रम का विभाजन और कार्य विशेष में विशेषज्ञ होना सम्भव है। यदि विनिमय न होता तो पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी स्वयं अपना नाज पैदा करना पड़ता, कपड़े बनाने होते, उन्हें स्वयं धोना पड़ता, रहने के लिए मकान स्वयं बनाना पड़ता इत्यादि। सारांश यह है कि उत्पादन की उन्नति विनिमय पर ही निर्भर है। साथ ही साथ यदि उत्पादक के पास अपने उपभोग के अतिरिक्त कुछ शेष न रहे तो विनिमय के लिए वस्तुएँ ही न हों।

उत्पादन और वितरण :—उत्पादन संगठित होने के कारण यथार्थ वितरण आवश्यक है और क्योंकि यथार्थ वितरण सम्भव है तो उत्पादन भी संगठित हो सकता है। यदि उत्पादन अधिक है तो वितरण की मात्रा भी अधिक होगी। उत्पादन कम होने पर वितरण की मात्रा भी कम होगी, जिससे प्रत्येक का भाग कम हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि जनता का लाभ उत्पादन की वृद्धि में ही है, जिससे प्रत्येक का भाग अधिक हो सके। उचित रीति से वितरण होने पर उत्पादन को लाभ पहुँचता है क्योंकि उससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है और असन्तोष लुप्त हो जाता है। जो व्यक्ति अपने साधनों का स्वयं प्रयोग नहीं कर सकते वह उनको दूसरे व्यक्तियों को प्रयोग के लिए दे सकते हैं और वितरण द्वारा उत्पादित धन में उनका भाग निश्चित किया जा सकता है। इससे उनका व देश का लाभ होता है। यदि वितरण उचित रीति से नहीं होता है तो उत्पादन में हड़ताल, तालाबन्दी इत्यादि से अड़चन पड़ने की सम्भावना है।

उत्पादन और राजकीय अर्थशास्त्र :—राष्ट्र के कार्यों का क्षेत्र उसकी आय पर निर्भर होता है। राष्ट्र की आय उसके नागरिकों के कर देने की शक्ति पर निर्भर होती है जो उत्पादन पर आधारित है। यदि देश में उत्पादन अधिक होता है तो राष्ट्र अधिक कर वसूल कर सकता है। यदि उत्पादन में अशान्ति, आशंका व अन्य कारणों से रुकावटें पड़ती हैं तो राष्ट्र की आय भी कम हो जायेगी। कर-नीति का भी उत्पादन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि राष्ट्र की कर-नीति उचित नहीं है तो उत्पादन कम हो जायेगा क्योंकि लोग नये कारखानों की स्थापना रोक देंगे और चालू कारखानों में उत्पादन की मात्रा कम कर देंगे। राष्ट्रीय व्यय का भी उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। यदि राष्ट्र स्वदेशी वस्तुएँ ही खरीदे तो देश के उत्पादन में वृद्धि होगी। राष्ट्र, स्वदेशी माल की इस प्रकार रक्षा करने की नीति से जिससे वह विदेशी माल की अपेक्षा सस्ता बिक सके, नये नये उद्योगों और कारखानों की स्थापना में सहायता दे सकता है।

विनिमय और वितरण :—वितरण तभी सम्भव है जब संगठित उत्पादन द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं का विनिमय द्वारा विक्रय किया जाय। यदि उन वस्तुओं का विनिमय नहीं होता तो वितरण में बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। यदि वितरण सम्भव न हो तो उत्पादित वस्तु का विनिमय द्वारा विक्रय का महत्त्व बहुत कम हो जाता है।

विनिमय और राजकीय अर्थशास्त्र :—राष्ट्र की आय व व्यय विनिमय द्वारा ही सम्भव है। विनिमय द्वारा ही नागरिक राष्ट्र को कर सुगमता से दे सकते हैं और प्राप्त किये गये धन को राष्ट्र जिस प्रकार चाहे व्यय कर सकता है। अनुचित कर-नीति विनिमय में बाधाएँ डाल सकती है जैसे क्रय-विक्रय या आयात-निर्यात पर अधिक कर लगाने से व्यापार और विनिमय को धक्का पहुँचता है और उनकी मात्रा कम हो जाती है। अधिक विनिमय होने से कुछ करों, जैसे विक्रय-कर, द्वारा राज्य की आय बढ़ जाती है। यदि विनिमय सम्भव न हो तो प्रत्येक व्यक्ति उत्पादित वस्तुओं का स्वयं उपभोग करेगा और ऐसी स्थिति में विक्रय-कर और उत्पादन-कर की आय न्यून हो जायेगी।

वितरण और राजकीय अर्थशास्त्र :—असमान वितरण और आधुनिक उत्पादन की रीतियों के कारण धन इने-गिने व्यक्तियों के पास एकत्रित होता जाता है। इससे समाज में असमानता फैलती है और इसके कारण एक ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके पास अत्यधिक धन होता है और दूसरी ओर ऐसे निर्धन व्यक्ति होते हैं जिनको पेट भर भोजन और पर्याप्त मात्रा में कपड़े मिलना भी कठिन होता है। ऐसी स्थिति में जनता के

हित के लिए धनवालों पर अधिक कर लगाकर निर्धनों पर अधिक व्यय करना आवश्यक होता है। आधुनिक उत्पादन की रीतियों के द्वारा पूँजीपतियों को देश के आय का अधिक भाग मिलता है परन्तु राज्य की कर-नीति द्वारा उसका एक बड़ा अंश राज्य ले लेता है जिसका निर्धनों पर व्यय होता है। इस प्रकार पूँजीपतियों के अहंकार की सन्तुष्टि हो जाती है और उनकी पूँजी और ज्ञान से उत्पादन भी अधिक होता है। राज्य की कर व व्यय-नीति द्वारा असमान वितरण की समस्या कुछ सीमा तक हल की जा सकती है। वितरण में जितनी कम असमानता होगी उतनी ही राज्य के लिए धनवानों पर अधिक कर लगाने की आवश्यकता कम होगी। साम्यवादी समाज में वितरण द्वारा पूँजीवादी समाज की अपेक्षा शारीरिक परिश्रम को अन्य उत्पादन के साधनों से अधिक भाग मिलता है, जिस कारण विभिन्न व्यक्तियों की आय में अधिक असमानता नहीं होती। इससे राज्य को एक वर्ग पर अधिक कर लगाकर दूसरे वर्ग पर अधिक व्यय नहीं करना पड़ता, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति पर लगभग बराबर ही कर लगाना पड़ता है। वास्तव में ऐसे समाज में राज्य उत्पादित धन का कुछ भाग अपने पास व्यय करने को रख लेता है जिसका यही परिणाम होता है कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति को समान कर देना पड़ता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. अर्थशास्त्र के मुख्य भागों का वर्णन कीजिये और बतलाइये कि प्रत्येक भाग में किन समस्याओं का अध्ययन होता है।
२. अर्थशास्त्र के मुख्य भागों का पारस्परिक सम्बन्ध लिखिये।

अध्याय ६

आर्थिक जीवन का विकास

जब से मनुष्य का अस्तित्व हुआ उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की भी समस्या उठी। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सदा से की है। यह पूर्ति किस प्रकार और किन रीतियों से हुई है सदा समान न रही वरन् युग युग में इसमें परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन उन्नति की दृष्टि से ही किया गया। इस परिवर्तन के इतिहास के अध्ययन से हमको मनुष्य की आर्थिक उन्नति का ज्ञान होता है और पता लगता है कि सभ्यता की उन्नति के साथ साथ उसकी आवश्यकताओं में क्या परिवर्तन हुआ और उनकी पूर्ति की रीतियाँ उसने किस प्रकार बदलीं। उसकी आवश्यकताएँ भी ऊँचे दर्जे की होती गईं और अपनी भूख और प्यास की सन्तुष्टि के अतिरिक्त, उसे ज्ञान, विज्ञान प्राप्त करने तथा आध्यात्मिक उन्नति इत्यादि आवश्यकताओं की पूर्ति की भी आवश्यकता पड़ी। यदि हम मनुष्य के जीवन के इतिहास का आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति की दृष्टि से अध्ययन करें तो उस इतिहास को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा जा सकता है:—

(१) शिकारी जीवन का युग।

(२) पशुपालन का युग।

(३) कृषि का युग।

(४) औद्योगिक युग।

इन युगों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि प्रत्येक देश में मनुष्य के आर्थिक जीवन का विकास उक्त क्रम से हुआ हो यह जरूरी नहीं। कुछ देश या जातियों में पशुपालन और कृषि की प्रथा साथ साथ अपनाई गई और कुछ अन्य देशों में शिकारी जीवन के बाद ही मनुष्य ने कृषि करना आरंभ किया। ऐसा भी नहीं हुआ कि प्रत्येक देश में नये युग का आरंभ एक ही निश्चित समय में हुआ हो। कुछ देश व जातियों ने शीघ्र उन्नति की और एक युग से दूसरे युग की ओर वह दूसरों की अपेक्षा जल्दी बढ़ गये। इस उन्नति के साथ साथ ऐसा नहीं हुआ कि पुराने युग की प्रथाओं की बिल्कुल इतिश्री हो गई हो। पुरानी प्रथाएँ भी जारी रहीं परन्तु जैसे जैसे मनुष्य उन्नति करता

गया पुरानी प्रथाओं का महत्त्व कम होता गया। आधुनिक औद्योगिक युग में भी कुछ लोग भेड़, बकरी पालकर जीवन व्यतीत करते हैं और प्रत्येक देश में, चाहे उसने कितने ही औद्योगिक उन्नति क्यों न की हो, कृषि द्वारा भी लोग धन कमाकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसी तरह कुछ लोग अब भी शिकार खेलते हैं। यह सत्य है कि आजकल शिकार नये शस्त्रों द्वारा किया जाता है और खेती में भी मशीन व अन्य औजारों का प्रयोग होता है। परन्तु जिन उक्त लिखित भागों में हमने मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास को बाँटा है साधारणतः अधिकतर मनुष्य शिकारी जीवन के युग में शिकार करके, पशुपालन के युग में पशुओं को पालकर इत्यादि प्रकार से जीवन व्यतीत करते थे। आधुनिक औद्योगिक युग में अधिकतर मनुष्य कृषि द्वारा ही जीवन व्यतीत करते हैं, कुछ लोग पशुपालन में लगे हुए हैं परन्तु केवल शिकार से ही जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों की संख्या बहुत कम है। केवल जंगली जातियाँ ही शिकार करके जीवन व्यतीत करती हैं।

शिकारी जीवन का युग :—हजारों वर्ष तक मनुष्य ने शिकार करके ही जीवन व्यतीत किया। वह मैदानों में या पेड़ों के नीचे रहता था और बाद में गुफाओं और कन्दराओं में भी रहने लगा। वह कन्दमूल और जंगली फल खाता था या मुर्ग, खरगोश, लोमड़ी, कुत्ते इत्यादि जैसे छोटे-छोटे जानवरों का शिकार करता था। प्रारंभ में बिना हथियारों के ही जानवरों का शिकार करता था। कुछ समय बाद उसने पत्थर के हथियार बनाये और शिकार में अधिक सफलता प्राप्त करने लगा। उसने बड़े जानवरों जैसे जंगली घोड़े, बारहसिंगे इत्यादि का भी शिकार आरंभ कर दिया और अपने हथियार अधिक पैने और नुकीले बनाये। कुछ समय बाद उसने धातु का भी प्रयोग आरंभ कर दिया जिससे हथियार अधिक अच्छे बनने लगे। अपने तन ढकने को वह पत्ते या जानवरों की खाल का प्रयोग करता था। जैसे-जैसे जानवर घास की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे तो मनुष्य भी उनके पीछे पीछे अपना निवास-स्थान बदलता रहता था। शिकार की कमी होने पर कभी कभी बच्चों व दुर्बल मनुष्यों को मारकर उनका मांस भी खाता था। समुद्री तट के पास वह मछलियों का शिकार करता था और ऐसे मनुष्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता कम थी क्योंकि मछलियों की संख्या जल्दी बढ़ती है। इस स्थिति में मनुष्य अपने उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करता था। वह कोई वस्तु बनाता नहीं था परन्तु जो कुछ भी प्रकृति की देन होती थी उसको अपनाकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।

पशुपालन का युग :—कुछ समय के उपरान्त मनुष्य को यह अनुभव हुआ कि यदि वह जानवरों को पालतू बना ले तो उसके भोजन की समस्या

अधिक सुगमता और निश्चितता से हल हो जायेगी। मनुष्य ने घोड़े, कुत्ते, गाय, बैल, भेड़ इत्यादि को पालतू बनाया। वह उनका मांस भी [illegible] था और उनको सवारी के प्रयोग में भी लाने लगा। बाद में कुछ जानवरों का दूध भी पीने लगा परन्तु अब भी वह जानवरों के लिए घास की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमता रहा। घास की कमी के कारण कभी कभी दो गिरोहों में परस्पर युद्ध भी होता था। पराजित मनुष्यों को मारने की अपेक्षा (क्योंकि मनुष्य की मांस खाने की प्रथा कम हो चली थी) उनको दास या गुलाम बना लिया जाता था और वह अपने स्वामी की सेवा और उसके पालतू जानवरों की देख-भाल करते थे। पालतू जानवर ही धन माने जाते थे। इस युग में भी मनुष्य अधिकतर स्वयं ही अपने उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न करता था। परन्तु अब वह अन्य मनुष्यों के साथ काम करने लगा क्योंकि जानवरों के झुण्ड की देखभाल करने के लिए कई व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी। पालतू जानवरों को धन मानने की प्रथा से व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास हुआ।

कृषि का युग :—प्रारंभ में मनुष्य ने जानवरों के लिए घास उगाना तथा बाद में कुछ नाज भी पैदा करना आरंभ किया। अब भी वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता था और इस कारण उसके खेत बदलते रहते थे। जब कृषि द्वारा वह अधिक नाज उत्पन्न करने लगा तो वह एक ही स्थान पर रहने लगा और इस प्रकार छोटे छोटे गाँव बस गये। केन्द्रीय स्थानों पर बड़े बड़े गाँव बने। अभी तक भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी वरन् उस पर जाति का ही अधिकार था चाहे मनुष्य उस पर खेती अपने कुटुम्ब की सहायता से करता था। अकाल पड़ने पर एक जाति या गाँव नाज या पशुओं की खोज में दूसरी जाति या गाँव पर आक्रमण करते थे। पराजित व्यक्तियों को दास बना लिया जाता था और वे अपने स्वामी के खेतों पर काम करते थे। विनिमय का आरंभ तो शिकारी जीवन के युग में ही हो गया था, जब कुछ लोग जो शिकार नहीं कर सकते थे हथियार बनाकर उनका विनिमय मांस इत्यादि से करते थे। इस युग में विनिमय का महत्त्व बढ़ गया और जो नाज या जानवर आवश्यकता से अधिक होते थे उनका विनिमय दूसरे प्रकार के नाज, जानवर या हथियारों से होता था। तब भी अधिकतर प्रत्येक मनुष्य स्वावलम्बी था और अपने उपभोग की वस्तुओं को स्वयं ही उत्पन्न करता था।

औद्योगिक युग :—कृषि के युग में ही मनुष्य ने मिट्टी के बर्तन और रहने को झोपड़ियाँ बनानी आरंभ कर दी थीं। वह हथियार भी बनाता था परन्तु अब उसने कपड़े व जेवर इत्यादि भी बनाना आरंभ कर दिया। प्रारंभ में एक ही परिवार के लोग अपने लिए कपड़े, बर्तन, मकान इत्यादि

स्वयं बनाते थे। कुछ समय के बाद मनुष्य को अनुभव हुआ कि यदि यह किसी एक पेशे में विशेषता प्राप्त कर ले तो उसकी उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होगी। इस प्रकार पेशेवर दस्तकारों का विकास हुआ और खाती, मोची, लोहार, राज इत्यादि के अलग अलग वर्ग बन गये। यह लोग औजार काम में लाते थे परन्तु मशीन के अभाव में हाथ से ही काम करते थे। यह औजार इनके अपने होते थे और वह अपने घरों में अपने कच्चे माल से वस्तुएँ तय्यार करते थे और उनका नाज इत्यादि से विनिमय करते थे। कुछ दस्तकारों के कुटुम्ब के अन्य लोग कृषि भी करते थे और जानवर भी पालते थे। प्रत्येक दस्तकार-वर्ग ने अपना संघ बनाया जिससे वह अपने वर्ग के स्वार्थो की रक्षा कर सके। यह संघ उत्पादित वस्तुओं का मूल्य भी निर्धारित करते थे। कुछ समय के उपरान्त दस्तकारी की वस्तुओं की माँग बढ़ने पर उनका बाजार अधिक विस्तृत हो गया जिस कारण पूँजीपति की आवश्यकता पड़ी। दस्तकार पूँजीपति से कच्चा माल ले जाते थे और अपने घरों में वस्तुएँ बनाकर पूँजीपति को दे आते थे जो उन वस्तुओं को बेचता था। इस प्रकार की प्रथा अभी तक कहीं कहीं दिखाई देती है। जैसे, अलीगढ़ में दस्तकार कच्चा माल कारखाने वालों से लेकर अपने घरों में ताले बनाते हैं और अपनी मजूरी लेकर ताले कारखाने वालों को दे देते हैं। कुछ समय के उपरान्त जब बाजार और भी विस्तृत होने लगा तब पूँजीपति ने बहुत से दस्तकारों को मजूर रखा और वह एक स्थान पर काम करके अपने स्वामी के अधीन वस्तुओं का उत्पादन करने लगे। इसके बाद जब मशीन का आविष्कार हुआ तो बड़े बड़े कारखानों की स्थापना हुई। भाप या कोयले से चलनेवाली मशीनों के उपयोग के द्वारा औद्योगिक क्रान्ति हुई। यातायात के साधनों ने और भी उन्नति की जिससे बाजार और भी विस्तृत हो गये। उत्पादन भी बड़े पैमाने पर होने लगा और एक कारखाने द्वारा उत्पादित वस्तुएँ उससे सैकड़ों मील दूर तक बिकने लगीं। ऐसे कारखानों में अधिक पूँजी की आवश्यकता हुई और उनकी स्थापना साधारण कारीगरों की शक्ति और साहस के बाहर थी। कारीगरों को मजूरी पर इन कारखानों में काम करना पड़ा जिससे पूँजीपति और मजूरों के दो वर्ग बन गये। आजकल माँग का पहले से ही अनुमान लगाकर उत्पादन किया जाता है जिससे विक्रय के पहले ही उत्पादन के साधनों पर व्यय करना पड़ता है। इसी कारण अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। साथ ही साथ द्रव्य और साख का प्रचलन हुआ जिसके द्वारा विस्तृत बाजार और बड़े पैमाने के कारखानों की स्थापना सम्भव हुई। उत्पादन और कार्य-क्षमता में मशीनों के आविष्कार और श्रम विभाजन से अधिक उन्नति हुई।

इससे वस्तुओं के मूल्य कम हुए और भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उपभोग अधिक व्यक्ति करने लगे। इसके साथ कुछ हानियाँ भी [illegible] हुई। बड़े पैमाने के उत्पादन की रीति द्वारा धन इने-गिने व्यक्तियों के पास एकत्रित होने लगा जिससे एक ओर अत्यन्त धनी व्यक्ति होने लगे और दूसरी ओर अधिकांश निर्धन व्यक्ति। धन का उत्पादन तो बहुत बढ़ा परन्तु शोषण के कारण निर्धनों और मजूरों की संख्या बढ़ती गई। शोषण के रोकने के लिए मजूरों के संघ बनाये गये और मजूरों ने आन्दोलन करके अपनी मजूरी बढ़ाने की माँग की। बड़े बड़े कारखानों के कारण एक ही स्थान पर जनसंख्या बढ़ने लगी जिससे मजूरों और निर्धनों को छोटे छोटे मकानों में रहना पड़ा। उनके रहने के मकान भी गन्दे मुहल्लों में होते हैं और सफाई का भी उचित प्रबन्ध नहीं होता जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे बीमारियों के शिकार बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य के लिए 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का प्रयोग असम्भव हो गया क्योंकि यह नीति जनता के लिए अत्यधिक हानिकारक थी। राज्य को मजूरों के हित के लिए कानून बनाने पड़े। राज्य का कार्य केवल आन्तरिक और बाह्य रक्षा करना ही नहीं वरन् समाज सेवा करना हो गया। ऐसे राज्य का मुख्य आदर्श समाज का सुख है और इसी कारण असमान वितरण की हानियों को रोकने के लिए और जनहित के लिए उसे धनवानों पर अधिक कर लगाकर निर्धनों पर अधिक व्यय करना पड़ता है।

यातायात के साधनों के विकास और उनकी उन्नति के कारण एक दूसरे देशों में पारस्परिक व्यापार बहुत बढ़ गया है। प्राचीन काल के स्वावलम्बी परिवार की अपेक्षा आजकल प्रत्येक देश के मनुष्य अपनी बहुत-सी आवश्यकताओं की पूर्ति विदेशी वस्तुओं से ही करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्त्व बहुत बढ़ गया है, जिससे एक देश के आर्थिक संकट का प्रभाव दूसरे देशों पर पड़ता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मनुष्य-जाति के हित के लिए प्रत्येक देश की आर्थिक उन्नति होना आवश्यक है जिससे सब देश परस्पर लाभ उठा सकें।

अभ्यास के प्रश्न

१. आदिकाल से अब तक मनुष्य के आर्थिक जीवन का जो विकास हुआ है उसको युगों में विभाजित कीजिये और प्रत्येक युग के मुख्य लक्षण संक्षेप में बतलाइये।

२. "आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति से लाभ के अतिरिक्त कुछ हानियाँ भी हुई हैं"—इस कथन को समझाइये।

अध्याय ७

कुछ आवश्यक परिभाषाएँ

अर्थशास्त्र की अपनी कोई वैज्ञानिक शब्दावली नहीं है। इस विज्ञान में प्रतिदिन की बोलचाल के शब्दों को ही अपना लिया गया है और उनका विशेष वैज्ञानिक अर्थों में प्रयोग किया गया है। इस कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जब एक साधारण शब्द का हम प्रयोग करते हैं तो यह सम्भावना रहती है कि कुछ लोग उसको वैज्ञानिक अर्थ में समझें और कुछ लोग उसको साधारण अर्थ में ही समझें। यह भी सम्भावना है कि कुछ लोग उस शब्द का अर्थ थोड़ा वैज्ञानिक अर्थ में और थोड़ा साधारण अर्थ में समझें। हमें केवल इन्हीं कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता वरन् एक विशेष कठिनाई यह भी है कि विभिन्न अर्थशास्त्री एक ही शब्द का वैज्ञानिक अर्थ एक समान नहीं समझते हैं। विभिन्न अध्यायों का अध्ययन करने से ये कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी क्योंकि उन अध्यायों में अनेक साधारण बोलचाल के शब्दों का वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग किया गया है और प्रयोग करने से पूर्व उनका वैज्ञानिक अर्थ समझाया भी गया है। यह अनुभव किया गया है कि पाठक उन शब्दों का वैज्ञानिक अर्थ या तो भूल जाते हैं या ठीक ठीक समझने का महत्त्व नहीं जानते। इस कारण आर्थिक नियमों और आर्थिक समस्याओं के समझने में उन्हें कठिनाई पड़ती है। यदि अर्थशास्त्र में भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन विज्ञान (Chemistry), वनस्पति विज्ञान (Botany) इत्यादि के समान वैज्ञानिक शब्दावली होती तो उक्त लिखित कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता। ऐसी शब्दावली के अभाव में यह आवश्यक है कि जिन शब्दों का हम वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग करते हैं उनकी परिभाषा स्पष्ट कर दी जाय। इस अध्याय में हम केवल 'वस्तुएँ' और 'सम्पत्ति' की परिभाषा समझायेंगे। अन्य आवश्यक शब्दों* की परिभाषाएँ दूसरे अध्यायों में समझा दी गई हैं।

वस्तुएँ:—साधारणतः इस शब्द का प्रयोग वस्तुएँ या सेवाएँ दोनों के लिए होता है। जिसमें मानवी इच्छा या आवश्यकता की पूर्ति करने का

* उत्पादन, उपभोग, उपयोगिता, अर्घ, वितरण, पूंजी, बचत, विनिमय, मूल्य, संचय, इत्यादि।

गुण या लक्षण हो उसे 'वस्तु' कहते हैं। जैसे हवा, पानी, किताब, रोटी इत्यादि मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति के काम में आती हैं और इस कारण 'वस्तुएँ' कहलाती हैं। कुछ लेखक असीमित मात्रा में मिलनेवाली वस्तुओं (Free Goods) और आर्थिक वस्तुओं (Economic Goods) में अन्तर करते हैं; परन्तु यह तर्कसम्मत नहीं है जैसा कि हम पहले अध्याय में समझा चुके हैं। प्रत्येक वस्तु सीमित मात्रा में होती है। यह कहना गलत है कि कुछ वस्तुएँ मुफ्त मिलती हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ परिश्रम अवश्य करना पड़ता है। परिश्रम की मात्रा चाहे कितनी ही कम हो परन्तु बिना परिश्रम किये कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। किसी वस्तु का उपभोग करने से पूर्व उसको अपनाना और प्राप्त करना आवश्यक है। चाहे प्रकृति कुछ वस्तुएँ मुफ्त दे, परन्तु उनका भी उपभोग करने से पूर्व उनको अपनाना और प्राप्त करना पड़ता है और वही उनका मूल्य है। हम यह कह सकते हैं कि ऐसी वस्तुएँ बहुत सस्ती मिलती हैं क्योंकि उनका मूल्य उनके स्वामी (अर्थात् प्रकृति) को नहीं देना पड़ता वरन् उनके प्राप्त करने में थोड़ा-सा परिश्रम ही करना पड़ता है। ऐसी वस्तुएँ भी कभी कभी अधिक दुर्लभ हो जाती हैं, जैसे, रात को प्रकाश, गहरी खान के अन्दर हवा, रेगिस्तान में पानी और गर्मियों में ठंढी हवा।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं वस्तुओं में सेवाओं की भी गिनती होती है। यदि कोई कुली आपका बोझा उठाता है तो वह आपकी सेवा करता है और उस सेवा को भी हम वस्तु ही कहते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आपकी सेवा संगीत सुनाकर करे तो संगीत भी एक वस्तु है और उसका भी आपको मूल्य देना होगा और वही उस वस्तु का मूल्य कहलायेगा। कुछ वस्तुएँ पार्थिव (Material Goods) होती हैं और कुछ अपार्थिव (Non-material Goods) होती हैं। पार्थिव वस्तुएँ किसी पदार्थ की बनती हैं, जैसे रोटी, मकान, किताब इत्यादि। कुछ अन्य वस्तुएँ पदार्थ की नहीं बनतीं परन्तु उनमें मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति होती है, जैसे संगीत, व्याख्यान, प्रेम इत्यादि।

सम्पत्ति :—जिसमें भी उपयोगिता या मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति हो वह 'सम्पत्ति' कहलाती है। प्रत्येक वस्तु सम्पत्ति है। सम्पत्ति का यह गुण है कि उसमें उपयोगिता होती है और वह दुर्लभ होती है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति (Personal Wealth):—एक व्यक्ति की सम्पत्ति में कुल पार्थिव पदार्थ जिसका वह स्वामी है सम्मिलित किये जाते हैं। उसकी सम्पत्ति में जो ऋण उसको लेना है वह जोड़ा जायेगा

और जो ऋण देना है उसे घटाया जायेगा। यदि कोई व्यक्ति चतुर डाक्टर है तो उसके लिये इस चतुराई की बहुत उपयोगिता है। परन्तु यह उपयोगिता इसलिए है कि उस चतुराई के योग से वह चतुर सेवाएँ कर सकता है। यदि वह उस चतुराई का प्रयोग न कर सके तो वह चतुराई व्यर्थ है। इसी कारण उस चतुराई की अपेक्षा उस चतुराई द्वारा उत्पादित सेवाएँ सम्पत्ति हैं। इसी प्रकार मनुष्य के हाथ, कान, पैर भी उत्पादन में सहायता करते हैं परन्तु वे सम्पत्ति नहीं कहलाते। उनके प्रयोग द्वारा जो परिश्रम करके उत्पादन किया जाता है वह सम्पत्ति कहलाती है। इसी प्रकार एक नर्तक या संगीतज्ञ की कला सम्पत्ति नहीं वरन् उस कला द्वारा उत्पादित नृत्य और संगीत सम्पत्ति है।

राष्ट्र की सम्पत्ति (National Wealth):—मालूम करने के लिए उसके प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति जोड़नी चाहिये। राष्ट्र की सम्पत्ति के अनुमान में उसके नागरिकों के पारस्परिक ऋण को नहीं गिनना चाहिये। जो ऋण उसके नागरिकों या राज्य को दूसरे राष्ट्र के नागरिकों या राज्य को देना हो उसको अनुमानित सम्पत्ति में से घटा देना चाहिये और जो ऋण लेना हो उसको जोड़ देना चाहिये। इसमें सार्वजनिक सम्पत्ति जैसे सड़कें, अजायब-घर, राष्ट्रीय इमारतें इत्यादि भी जोड़नी चाहिये। राष्ट्र की प्राकृतिक देन जैसे नदियाँ, पहाड़, अच्छी जलवायु और उसके नागरिकों का चरित्र इत्यादि भी उसके लिए लाभदायक हैं। परन्तु इनको सम्पत्ति में न गिनकर इनके द्वारा जो सहायता इत्यादि उत्पादन में मिलती है वह उस राष्ट्र के लिए सम्पत्ति है। ऐसे वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा दी गई सहायताएँ, जो अन्य राष्ट्रों को अप्राप्त हैं, उस राष्ट्र की सम्पत्ति हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति (International Wealth)—मालूम करने के लिये प्रत्येक राष्ट्र की सम्पत्ति जोड़ी जाती है। इसमें जो ऋण विभिन्न राष्ट्रों को आपस में लेने देने हैं उनको नहीं जोड़ना चाहिये। ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार और उत्पादन के तरीके जो प्रत्येक राष्ट्र को मालूम हैं और जिनसे उत्पादन को सहायता मिलती है उनको अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति में न जोड़ कर उनके द्वारा दी गई सहायता को अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति में जोड़ना चाहिये। इसी प्रकार जो सहायता समुद्र इत्यादि से मिलती है और जो किसी राष्ट्र की सम्पत्ति में नहीं जोड़ी गई है उसको भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति में जोड़ना चाहिये।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि सम्पत्ति के लक्षण उसमें उपयोगिता या उसका दुर्लभ होना ही नहीं है वरन् उसकी यह भी विशेषता है कि वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दी जा सकती है। कोई व्यक्ति

अपना ज्ञान या चतुराई दूसरे व्यक्ति को नही दे सकता। इनको हमने सम्पत्ति नही माना है वरन् इनके द्वारा उत्पादित सेवाएँ ही [illegible] क अन्तर्गत मानी गई है क्योंकि इनका क्रय-विक्रय हो [illegible]ता है। इसी प्रकार किसी राष्ट्र की अच्छी जलवायु व वर्षा की सहायता द्वारा उत्पादित वस्तुएँ या सेवाएँ भी उस राष्ट्र के लिए सम्पत्ति है और उनका भी क्रय-विक्रय हो सकता है।

अध्याय ८

उपभोग

प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ आवश्यकताएँ अवश्य होती हैं जिनकी तृप्ति के लिए उसे कुछ कार्य करने पड़ते हैं। बिना कुछ कार्य किये आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती क्योंकि संसार में वे वस्तुएँ या सेवाएँ जिनमें आवश्यकताओं की पूर्ति करने की शक्ति होती है मुफ्त में नहीं मिलती। आवश्यकता से हमारा तात्पर्य इस बात से है कि मनुष्य में ऐसी इच्छा होती है कि किसी वस्तु के मिलने या उपभोग करने से उस इच्छा की पूर्ति हो जाती है। किसी वस्तु या सेवा में किसी आवश्यकता की पूर्ति करने की शक्ति को ही उपयोगिता कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि जिस चीज का मूल्य अधिक हो उसकी मनुष्य को अधिक आवश्यकता हो। उदाहरणतः वायु तो मुफ्त ही मिल जाती है परन्तु मनुष्य-जीवन के लिए उसकी उपयोगिता बहुत अधिक है। किसी वस्तु की उपयोगिता किसी मनुष्य की आवश्यकता और उस वस्तु पर निर्भर रहती है, जैसे अंडा, मछली या मांस एक ब्राह्मण के लिए कोई उपयोगिता नहीं रखते, क्योंकि उसके धर्म में इन वस्तुओं का उपयोग वर्जित है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति का पेट भरा है और उसको भूख नहीं है तो कितना ही स्वादिष्ट भोजन क्यों न हो उसकी उपयोगिता उस समय उस मनुष्य के लिए अत्यन्त न्यून होगी, चाहे कुछ समय बाद उसी भोजन की उपयोगिता काफी अधिक हो जायेगी। इसी भोजन की उपयोगिता एक दूसरे मनुष्य-के लिए जो भूखा है बहुत अधिक है जब कि ऊपरवाले व्यक्ति के लिए उसकी उपयोगिता कुछ नहीं है क्योंकि उसको भूख नहीं है। इसी तरह गर्मियों में एक ऊनी कोट की उपयोगिता कुछ नहीं होती वरन् उसके पहनने से तो कष्ट ही होता है। बिजली का पंखा गर्मियों में बड़ा सुखद लगता है परन्तु शीत ऋतु में तो कोई भी व्यक्ति उसका उपयोग करना पसन्द नहीं करता। अतः प्रत्येक वस्तु या सेवा की उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रत्येक समय विभिन्न होती है।

मानुषिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी वस्तु या सेवा के उपयोग को ही उपभोग कहते हैं। जैसे भूख की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए मनुष्य रोटी खाता है तो खाने का कार्य उपभोग कहलाता

है। उपभोग से रोटी की उपयोगिता कुछ न रही और इसीलिए यह कहा जाता है कि उपभोग से उपयोगिता का ह्रास होता है। यह तो हम जानते ही हैं कि भौतिक पदार्थ का न तो नाश ही होता है और न निर्माण हो सकता है। मनुष्य केवल उनके रूप में परिवर्त्तन कर सकता है। रोटी खाने से जो रोटी में भौतिक पदार्थ है उनका शरीर में जाकर परिवर्त्तन हो जाता है। इसलिए उपभोग से तात्पर्य किसी वस्तु की उपयोगिता में कमी होने से ही होता है, जैसे कि उत्पादन उपयोगिता की वृद्धि को कहते हैं। उपभोग से कुछ मानुषिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो होती है परन्तु इससे उपयोगिता का ह्रास होता है। रोटी खाने की क्रिया को हम दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं। मनुष्य रोटी इसलिए खाता है कि रोटी खाने से शक्ति बढ़ती है तो क्या रोटी खाने का कार्य उत्पादन नहीं है? इसी तरह कोयला जलाने से भोजन पकता है, कोयलों का अवश्य उपभोग हो गया परन्तु साथ ही साथ आटा इत्यादि जिससे भोजन तय्यार किया गया उसकी उपयोगिता बढ़ गई। 'भोजन बनाना' एक ही क्रिया है परन्तु एक दृष्टि से उत्पादन है क्योंकि इस क्रिया से उपयोगिता की बढ़ती होती है। दूसरी दृष्टि से कोयले और आटे का उपभोग हो गया। इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी भी क्रिया को हम उत्पादन या उपभोग की दृष्टि से देख सकते हैं। यदि हम उसे एक आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से देखें तो वह उपभोग है जैसे रोटी खाने से भूख की आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु उसी क्रिया को यदि हम पूर्ति के साधन की दृष्टि से देखें तो वह उस क्रिया का उत्पादन पक्ष होगा। जैसे, रोटी खाने से एक मानुषिक आवश्यकता की पूर्ति होती है, यह उस क्रिया का उपभोग की दृष्टि से अध्ययन हुआ। और यदि हम उसी क्रिया का उत्पादन की दृष्टि से अध्ययन करें तो कहेंगे कि रोटी खाने से मनुष्य में शक्ति उत्पन्न होती है जिसकी उपयोगिता रोटी की उपयोगिता से अधिक है। इस तरह उपयोगिता की वृद्धि हुई और यह उत्पादन कहा जायगा, या यों भी कह सकते हैं कि किसी क्रिया से जो प्रत्यक्ष सन्तोष मिलता है वह उपभोग है और जो परोक्ष सन्तोष मिलता है वह उत्पादन है। रोटी खाने से मनुष्य की एक आवश्यकता प्रत्यक्ष रूप से पूरी हो जाती है और रोटी खाने से एक परोक्ष सन्तोष भी प्राप्त होता है—कि शक्ति उत्पन्न होती है और शक्ति से उसकी एक इच्छा-पूर्ति होती है। इसी बात को हम एक और दृष्टि से भी देख सकते हैं कि उपभोग सदा वर्तमान में होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध किसी क्रिया से जो प्रत्यक्ष सन्तोष मिलता है उससे होता है। उत्पादन सदा भविष्य में होता है क्योंकि परोक्ष सन्तोष भविष्य के सन्तोष का प्रतिविम्ब है। उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उपभोग

और उत्पादन कोई अलग अलग मानुषिक क्रियाएँ नही है अर्थात् हम यह नहीं कह सकते है कि ये क्रियाएँ तो उत्पादन है और दूसरी विभिन्न क्रियाएँ उपभोग है। [illegible] तो यह है कि हर एक मानुषिक क्रिया को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है––(१) उपभोग-दृष्टि और (२) उत्पादन दृष्टि।

उपभोग-दृष्टि से उपयोगिता का ह्रास होता है और उत्पादन-दृष्टि से उसकी वृद्धि होती है। यहाँ हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि क्या वास्तव में कोई मनुष्य कभी ऐसा कार्य करता है कि जिसका फल उपयोगिता का ह्रास हो? मनुष्य तो सदा ही ऐसे ही कार्य करता है और करना चाहता है कि जिसका फल उपयोगिता की वृद्धि हो। कोई मूर्ख ही ऐसा कार्य करेगा कि जिसका परिणाम उपयोगिता का ह्रास हो, या वह ऐसा कार्य गलती से या अज्ञानवश कर सकता है! तो हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि वास्तव में हर मानुषिक क्रिया उत्पादन ही है क्योकि मनुष्य का आदर्श हमेशा उपयोगिता की वृद्धि ही होता है। वह रोटी इसलिए खाता है क्योंकि शक्ति की उपयोगिता रोटी से अधिक है। वह मिल या कारखानो में कपड़े का उत्पादन इसलिए करता है क्योंकि इसकी उपयोगिता रूई, कोयला या मशीन इत्यादि जो उसके उत्पादन के काम में आते है इनकी उपयोगिता से अधिक है। इससे यह परिणाम निकलता है कि सब मानुषिक क्रियाएँ उत्पादन की इच्छा से ही की जाती है। उपभोग तो केवल उन क्रियाओं के करने मे जो प्रत्यक्ष सन्तोष (Direct satisfaction) प्राप्त होता है वही है। यह कहने से हमारा तात्पर्य यह नही है कि उपभोग का अध्ययन ही नहीं करना चाहिए। माना कि मनुष्य किसी भी क्रिया को इसी कारण करता है कि उस क्रिया के करने से उसकी उपयोगिता की वृद्धि होती है परन्तु फिर भी हम उस क्रिया को उपभोग की दृष्टि से देख सकते है। साथ ही साथ यह अध्ययन हमको यह भी बतलाता है कि मानुषिक आवश्यकताओं की पूर्ति का कितना महत्त्व है।

कुछ लोगो का कहना है कि आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उपयोगिता का नष्ट होना ही उपभोग है। यह कथन उचित नही। मनुष्य रोटी खाता है तो यह कहना अनुचित है कि वह रोटी को नष्ट कर रहा है। रोटी खाने से तो रोटी का उपयोग होता है चाहे उसका परिणाम यही हो कि रोटी, रोटी के रूप मे नही रही। यदि वह रोटी को एक नाली में फेंक दे तब यह कहना उचित होगा कि उसने रोटी नष्ट कर दी। इसी तरह हम कहते है कि जो एटम बम हिरोशिमा में गिरा उसने उस शहर को नष्ट कर दिया या जब एक मकान की छत भूचाल या किसी अन्य कारण से कमजोर हो जाती है और उसके गिरने का डर होता है तो ऐसी कमजोर टूटी-फूटी इमारत को हम नष्ट करना चाहते

हैं। अन्यथा कोई भी समझदार मनुष्य किसी लाभदायक वस्तु को नष्ट नहीं करता। नष्ट शब्द का तात्पर्य विनाशकारी भावना से है, [illegible] कारण उपभोग के सम्बन्ध में उसका प्रयोग करना अ[illegible] है। उपभोग का तात्पर्य उपयोगिता के ह्रास से है, उपयोगिता को नष्ट करने से नहीं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि कुछ वस्तुओं की उपयोगिता शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और कुछ वस्तुओं की उपयोगिताओं का धीरे धीरे ह्रास होता है। जैसे रोटी खाने से रोटी की उपयोगिता उसी समय समाप्त हो जाती है परन्तु जूता या कमीज पहनने से इन वस्तुओं की उपयोगिता उसी समय समाप्त नहीं होती, परन्तु धीरे धीरे उनके उपयोग करने से कम होती जाती है और अन्त में जब वह जूता या कमीज बिल्कुल फट जाते हैं और पहनने के काम के नहीं रहते तभी उनकी उपयोगिता समाप्त होती है। कुछ व्यक्ति उपभोग को एक दूसरी दृष्टि से भी दो भागों में बाँटते हैं—(१) अन्तिम उपभोग और (२) उत्पादक उपभोग। अन्तिम उपभोग से उनका तात्पर्य उस उपभोग से होता है जब किसी वस्तु का उपयोग मनुष्य की आवश्यकता को सीधी तौर से पूरा करने में किया जाय, जैसे प्यास बुझाने को पानी पिया जाय। उत्पादक उपभोग से उनका मतलब किसी वस्तु के उस उपयोग से होता है जो मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति सीधी तरह तो न करती हों परन्तु उस वस्तु के उपयोग से कोई ऐसी वस्तुएँ बनाई जायँ जो अन्तिम उपभोग के काम में आती हों; जैसे कोयला व आटे का उपयोग रोटी बनाने में किया जाय जब कि रोटी खाने से अन्तिम उपभोग होता है। परन्तु यह कथन गलत है। पहले तो उत्पादन उपभोग में ही विरोध है। यदि आप किसी क्रिया को उत्पादन की दृष्टि से देखते हैं तो वह उपभोग नहीं है और यदि आप उसको उपभोग की दृष्टि से देखते हैं तो वह उत्पादन कैसे हो सकता है? उक्त लिखित विभाजन किसी उलझन का परिणाम है। जिस क्रिया को उत्पादक उपभोग कहा जाता है वह तो वास्तव में उस क्रिया का उत्पादन दृष्टि से अध्ययन है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं आटा और कोयले के उपयोग से रोटी बनती है इस क्रिया को अगर रोटी बनने की दृष्टि से देखें तो उत्पादन है क्योंकि रोटी की उपयोगिता आटे और कोयले की उपयोगिता से अधिक है। यदि इसी क्रिया को हम आटे और कोयले इत्यादि की उपयोगिता की ह्रास की दृष्टि से देखें तो यह उपभोग है। जब यह लोग उत्पादक उपभोग कहते हैं तो इनका तात्पर्य वास्तव में यह कहने का होता है कि किसी भी क्रिया को हम उत्पादन की दृष्टि से देख सकते हैं। यदि इनका कथन मान लिया जाय तो अर्थशास्त्र में उत्पादन के लिए कहीं स्थान ही न रहेगा क्योंकि प्रत्येक उत्पादन-क्रिया

को उत्पादक उपभोग कहा जायेगा। हम धोती बनाते हैं तो कारखाने में [illegible] व परिश्रम का उपयोग होता है और धोती इसलिए बनाई जाती है कि वह [illegible] मानुषिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। सारा उत्पादन ही इसी दृष्टि से होता है। यदि कोई वस्तु मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति न कर सके तो उसका उत्पादन ही न किया जायेगा।

उपभोग का महत्त्व

कुछ प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादन पर ही जोर देते थे और उपभोग को अर्थशास्त्र का एक मामूली-सा भाग समझते थे। परन्तु आधुनिक काल में उपभोग का महत्त्व बहुत बढ़ गया है जिसके कई कारण हैं। मनुष्य में उपभोग करने की इच्छा ही मानुषिक क्रियाओं को जन्म देती है। यदि मनुष्य में उपभोग करने की इच्छा ही न हो तो उसे शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। यदि संसार में वस्तु और सेवाएँ इतनी अत्यधिक मात्रा में होतीं कि वे मुफ्त में ही मिल सकतीं तो भी उपभोग की समस्या तो रहती ही जब तक मनुष्य की आवश्यकताएँ रहतीं। हमें साँस लेने के लिए वायु प्रकृति से मुफ्त में प्राप्त होती है तब भी उसके उपयोग की आवश्यकता है क्योंकि वह मनुष्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करती है। जिस संसार में हम रहते हैं उसमें तो अत्यधिक वस्तुएँ सीमित हैं और परिश्रम करने से ही प्राप्त होती हैं। मानुषिक परिश्रम और समय सीमित हैं, परन्तु मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यधिक है। इसी कारण मनुष्य के सामने निर्वाचन समस्या उपस्थित होती है। यदि वह पढ़ना चाहता है तो उसी समय न वह सो सकता है और न गप्प ही लड़ा सकता है। उसको यह निश्चय करना होगा कि किसी एक समय या तो वह पढ़ ले या सो ले या गप्प लड़ा ले। तीनों काम एक साथ एक समय नहीं हो सकते। जंगली और असभ्य मनुष्यों की भी आवश्यकताएँ होती हैं और उन्हें भी उपभोग की समस्या का सामना करना पड़ता है। जैसे जैसे सभ्यता की उन्नति होती है मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं और उसके साथ साथ उपभोग का महत्त्व भी। प्रारंभ में आवश्यकताएँ ही मनुष्य को क्रियाशील बनाती हैं और इस क्रियाशीलता के कारण ही नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण आवश्यकताओं का समूह बढ़ता ही जाता है। साथ ही साथ एक आवश्यकता की पूर्ति करने से सदा के लिए उसकी तृप्ति नहीं हो जाती। भूख-प्यास मनुष्य की प्रारंभिक आवश्यकताएँ हैं और बार बार खाने और पीने से कुछ समय के लिए अवश्य उनकी पूर्ति हो जाती है परन्तु सदा के लिए उनकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। एक बार सिनेमा देखने से एक आवश्यकता की अवश्य

पूर्ति हो जाती है परन्तु कुछ समय या कुछ दिनों के बाद फिर वह आवश्यकता पुनः प्रकट हो जाती है।

यह सच है कि आधुनिक काल में उत्पादन अधिक बढ़ गया है परन्तु केवल उत्पादन के बढ़ने से ही जन-साधारण का जीवन सुखी नहीं होता। क्योंकि ऐसा देखा गया है कि आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता में उत्पादन अवश्य अधिक होता है परन्तु सम्पत्ति कुछ गिने-चुने मनुष्यों के पास ही एकत्रित होती जाती है। इस कारण जन-साधारण की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि अधिक उत्पादन के साथ साथ उसका वितरण भी उचित रीति से हो, जिससे कि जन-साधारण अपनी अत्यधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आधुनिक काल की (जब कि चारों ओर जनतान्त्रिक विचारों की प्रगति हो रही है और जन-साधारण की शक्ति में वृद्धि होती जा रही है) माँग भी यही है कि अधिक उत्पादन का वितरण इस तरह होना चाहिए कि जन-साधारण अपने उपभोग की शक्ति बढ़ा सकें।

उपभोग के आँकड़ों से हम कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न हल कर सकते हैं और ये आँकड़े उन प्रश्नों पर प्रकाश डालते हैं। इन आँकड़ों की जाँच से हम यह पता लगा सकते हैं कि हानिकारक वस्तुओं का उपभोग तो नहीं बढ़ रहा है और यदि बढ़ रहा है तो क्या राज या समाज उसके रोकने के लिए उचित उपाय कर सकता है? यह आँकड़े उत्पादक के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि आधुनिक काल में उत्पादन भविष्य की माँग की गणना के अनुसार होता है। यदि एक उत्पादक धोतियाँ बनाना चाहे तो उसे कई महीने पहिले मजूर लगाने होंगे, कोयला, सूत इत्यादि खरीदना होगा और तब ही ठीक समय पर वह धोतियाँ बना सकेगा। जिस वस्तु का उपभोग नहीं होता उसका उत्पादन भी नहीं होता और जिसका उपभोग अधिक होता है उसका उत्पादन भी अधिक होता है, क्योंकि उत्पादक अपने उपभोग के लिए ही वस्तुएँ नहीं बनता परन्तु उनको विक्रय के लिए ही बनाता है। एक पूँजीपति अपने रहने के लिए तो एक ही मकान बनायेगा और बाकी तो किराये पर ही उठायेगा। सिनेमा-घर की माँग होती है तो वह सिनेमा-घर बनवाता है, न कि मजूरों के रहने के मकान। उपभोग ही उत्पादन को संचालित करता है। इसी कारण आधुनिक काल में जब कि उत्पादन बड़े परिमाण में होता है उपभोग का बहुत महत्त्व है। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि मनुष्य ऐसी वस्तुओं का उपभोग करें कि जिससे उनके स्वास्थ्य और कार्यक्षमता की उन्नति हो। इसी कारण उपभोग का अध्ययन अत्यधिक आवश्यक है। इसी अध्ययन से हम यह पता लगा सकते हैं कि कौन व्यक्ति अपना उपभोग उचित रीति से करते हैं और कौन अनुचित रीति से, और किस

तरह अनुचित रीति से उपभोग करनेवालों को सही रास्ते पर लाया [illegible] से कि उनका और देश का भला हो।

उपभोग और बचत

किसी भी वस्तु के दो उपयोग हो सकते है, या तो उसको उपभोग के काम मे लाया जाय या उसको बचा लिया जाय । किसी वस्तु या धन को मनुष्य इसलिए बचा कर रखता है कि उसका भविष्य में उपभोग करे । इसी कारण बचत को हम भविष्य का उपभोग कह सकते है। साराश यह हुआ कि जब वस्तु का आधुनिक काल में उपभोग होता है तो उसे उपभोग कहते है और जब आधुनिक काल में उपभोग न करके उसका उपभोग भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाय तो उसे बचत कहते है। यदि आधुनिक उपभोग और भविष्य के उपभोग की बराबर उपयोगिता हो तो मनुष्य आधुनिक उपभोग ही पसन्द करेगा, क्योंकि साधारणतः मनुष्य उपभोग के लिए रुकना नही चाहता जब तक कि इस रुकने से कुछ लाभ न हो। मानुषिक वृत्ति ऐसी होती है कि वर्तमान के एक सुख को भविष्य के बराबर के सुख से अधिक पसन्द करती है। इसका कारण यह है कि भविष्य अनिश्चित होता है। आधुनिक काल का सुख छोड़ कर भविष्य का सुख मनुष्य तभी पसन्द करता है जब इसमें कुछ लाभ हो। यह आवश्यक नही कि यह लाभ रुपयों में ही प्राप्त हो। लेकिन यह लाभ उपयोगिता की वृद्धि में प्राप्त होना चाहिए। यदि एक व्यक्ति के पास ५००) रुपये हो तो यह सम्भव है कि इनमें से अन्तिम १००) रुपयों की उपयोगिता उसके लिए अभी कम हो और इन्ही १००) रुपयों की उपयोगिता भविष्य मे अधिक हो। इसका कारण यह हो सकता है कि भविष्य में उसकी आय कम होने की सम्भावना हो या उसकी आवश्यकताएँ बढ जायँ जब कि आय मे कोई वृद्धि न हो; या वह बीमारी या अन्य कारणों से अपने काम पर न जा सके और आय कम हो जाय। ऐसी सूरत में वह १००) रुपये बचाना पसन्द करेगा क्योंकि इन १००) रुपयों की आधुनिक उपयोगिता कम है और भविष्य की उपयोगिता अधिक है। यह समस्या मनुष्य के सामने सदा रहती है कि वह किसी वस्तु का उपभोग अभी करे या भविष्य में, अर्थात् उसको उपभोग के काम में लाये या बचत के। जब यह बचत और अधिक उत्पादन के काम में लायी जाती है तो पूँजी का रूप धारण कर लेती है और पूँजी कहलाती है। किसी भी बचत को पूँजी का रूप धारण करने के लिए यह आवश्यक नही कि वह किसी कारखाने या मिल में ही लगाई जाय क्योंकि हो सकता है कि घर में रखे रहने से भी उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो। उदाहरणतः एक किसान फसल के समय थोड़ा अनाज बीज के लिए बचा कर रख लेता है। वह उस

अनाज का उपभोग स्थगित कर देता है क्योंकि उसे मालूम है कि ऐसा करने से अनाज की उपयोगिता बीज के समय तक बढ़ [illegible] बचत (Saving) संचय (Hoarding) से भिन्न [illegible]। जब एक कंजूस रुपया एकत्रित करता चला जाता है क्योंकि उसको ऐसे एकत्रित करने से आनन्द प्राप्त होता है तो उसको संचय कहा जा सकता है यदि वह इस कारण एकत्रित न करता हो कि भविष्य में उस धन की उसके लिए उपयोगिता अधिक होगी या उसको उस धन का भविष्य में उपभोग करने का ध्यान ही न हो। वह तो उस धन से केवल प्रत्यक्ष सन्तोष प्राप्त करता है और किसी उत्पादक क्रिया के काम में वह आता ही नहीं है, जैसे माइडस राजा की कहानी सब लोगों को मालूम ही है। वह धन केवल इसलिए एकत्रित करता था कि उसको उस धन को देखकर आनन्द प्राप्त होता था। उसको उस धन का भविष्य में उपभोग करने का ध्यान ही न था और न वह इसीलिए एकत्रित करता था कि भविष्य में उस धन की उसके लिए उपयोगिता अधिक होगी। ऐसे संचय से देश और समाज का कोई लाभ नहीं होता जब तक वह संचय के रूप में रहता है। जब वह संचय से बचत का रूप धारण करता है और अधिक उत्पादन में सहायक होता है तभी पूँजी (Capital) कहलाता है। पूँजी को उद्योग-धन्धों में लगाना देश और समाज के लिए लाभदायक है।

उपभोग और बचत दोनों ही उत्पादन की सहायता करते हैं और इन दोनों में उचित समानता उत्पादन की वृद्धि के लिए आवश्यक है। जब मनुष्य अपना धन उपभोग की वस्तुओं पर व्यय करते हैं तो उत्पादित वस्तु का विक्रय होता है। यदि उन वस्तुओं का विक्रय न हो तो उत्पादक और दूकानदारों के पास माल का ढेर लगता चला जायेगा और वह उत्पादन बन्द कर देंगे और उत्पादन को इस कारण हानि पहुँचेगी। इसी तरह यदि किसी समाज में बचत होती ही न हो तो उत्पादन के लिए पूँजी की कमी हो जायेगी और उत्पादन को हानि पहुँचेगी। जब किसी समाज में उसके सदस्य बचत करके वह धन नये-नये उत्पादक कार्यों में लगाते हैं तभी उस देश में उत्पादन की वृद्धि होती है जिससे सभी को लाभ होता है। अधिक उत्पादन होने से मजूरों को अधिक काम और अधिक मजूरी मिलती है। यदि देश का उत्पादन ही कम होगा तो वहाँ मजूरी और काम भी कम ही होगा। इसका मतलब यह नहीं कि धन का उपभोग करना आवश्यक नहीं। यदि मनुष्य उपभोग की वस्तुओं पर व्यय ही नहीं करेंगे तो उत्पादित वस्तुओं का विक्रय ही नहीं होगा और उत्पादन को धक्का पहुँचेगा। उक्त उल्लेख से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उपभोग और बचत में उचित सन्तुलन होना चाहिए।

परन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि कभी तो जन-साधारण उपभोग पर व्यय अधिक करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि देश की बचत की मात्रा घट जाती है। इस कारण नये कारखानों इत्यादि के चलाने के लिए पर्याप्त पूँजी नही मिलती। देश में उत्पादन कम होता है और उससे देश की आर्थिक वृद्धि मे अड़चन पड़ती है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि देश मे उपभोग के लिए व्यय कम हो रहा है और बचत उस देश की स्थिति की आवश्यकता से अधिक हो रही है। ऐसी दशा में एक ओर तो बचत अधिक होने से नये-नये उत्पादन-कार्यो में अधिक पूँजी लगाई जाती है और देश में उत्पादन की वृद्धि होती जाती है। दूसरी ओर उपभोग पर व्यय कम होने से उत्पादित वस्तुओं का विक्रय कम होता है। माल दूकानदार और कारखाने वालों के पास एकत्रित होता जाता है जिसके कारण वह उत्पादन घटाने के लिए विवश हो जाते हैं। जब वह उत्पादन कम करते है तो उन्हें मजूर निकालने पड़ते है जिससे देश मे बेकारी फैलती है। ये बेकार व्यक्ति काम करने के योग्य होते हैं परन्तु उत्पादन की कमी होने के कारण इनकी सेवाएँ उत्पादन के काम में नही आती, इससे इनकी और देश की बहुत हानि होती है। ऐसी अवस्था में आवश्यकता इस बात की है कि जनता उपभोग की वस्तुओं पर तो व्यय अधिक करे और अपनी बचत कम कर दे, जिससे ये बेकार लोग उत्पादक कार्यो मे लग जायँ। यह एक इतनी बड़ी समस्या है कि किसी एक व्यक्ति के कम बचाने और अधिक व्यय करने से हल नहीं हो सकती परन्तु राज्य को इसके हल करने में भाग बटाना चाहिए। सबसे पहले सन् १९२९ में स्वीडन के एक महान् अर्थशास्त्री प्रोफेसर लिन्ढौल (Prof. Lindahl) ने बताया कि राज्य की आय और बचत में परिवर्त्तन करने से जनता की ओर से अधिक व्यय या अधिक बचत से उत्पन्न होनेवाले संकटों को स्थगित किया जा सकता है। उन्होंने बताया कि जब जनता देश की स्थिति की आवश्यकता से अधिक बचत कर रही हो तो राज्य को अपना व्यय बढ़ा देना चाहिए जिससे उत्पादित वस्तुओं का विक्रय हो सके और जब जनता उपभोग की वस्तुओं पर अधिक व्यय कर रही हो तो राज्य को अपना व्यय कम करके बचत अधिक कर देनी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि किसी वर्ष राज्य को अपनी आय से अधिक व्यय करना होगा और किसी वर्ष उससे कम, जिससे राज्य को प्रतिवर्ष अपना व्यय अपनी आय के बराबर रखने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इस बात की आवश्यकता है कि राज्य कई वर्षो के अन्दर अपनी आय और व्यय बराबर करे। इस नियम को स्वीडन ने वास्तविक रीति से १९३७ में अपनाया और आज-

कल तो लगभग सभी पूँजीवादी देशों में इस नीति को अपना लिया गया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की नवीन प्रथा (New Deal) का यही आधार है कि जब व्यक्तिगत क्रियाशीलता में कमी है तो राज्य निश्चित और ठोस ऐसे कार्य करता है जिससे देश की उत्पादन-शक्ति में शिथिलता न आये। इंगलैण्ड में भी यह प्रथा सन् १९४४ में प्रकाशित हुए White Paper on Employment Policy में अपनाई गई, जिसमें सरकार ने इस बात की जिम्मेवारी मान ली कि किसी सम्भावित बेकारी की स्थिति को रोकने के लिए वह उचित योजनाओं का प्रयोग करेगी। उसी वर्ष भारत के अर्थमन्त्री ने भी भारत की कानूनी सभा में ऐसे ही विचार प्रकट किये और उन्होंने बतलाया कि प्रान्तीय राज्य जो धन युद्ध के समय एकत्रित कर रहे थे उसे युद्ध के समाप्त होने पर (पैदा होनेवाले बेकारी के संकट को रोकने के लिए) उत्पादक योजनाओं के उपयोग में लाया जायेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१. उपभोग से आप क्या समझते हैं ? उपभोग का महत्त्व विस्तारपूर्वक लिखिये ।
२. उत्पादन के लिए उपभोग अधिक लाभदायक है या बचत ?
३. बचत (Saving) और संचय (Hoarding) में क्या अन्तर है ? देश के लिए इनमें से कौन लाभदायक है ?

अध्याय ६

आवश्यकताएँ

प्रत्येक मनुष्य को कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ अवश्य होती है चाहे वह किसी देश या समाज में रहता हो। असभ्य और जंगली मनुष्यों की भी कुछ आवश्यकताएँ अवश्य होती है। भूख, प्यास, ठंढ या वर्षा से रक्षा करने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य को अनुभव होती है चाहे वह पहाड़ की गुफाओं में या निर्जन द्वीप में निवास करता हो। साधु-महात्माओं को भी इन आवश्यकताओं की तृप्ति करनी होती है। यह सम्भव है कि कुछ मनुष्यों को ये आवश्यकताएँ अधिक तीव्र मालूम देती हों जब कि दूसरे अन्य मनुष्यों को यह इतना न सताती हों। आवश्यकताओं की तीव्रता और उनकी संख्या प्रत्येक मनुष्य के लिए भिन्न भिन्न होती है और वह अनेक कारणों पर निर्भर है जिनमें से मुख्य कारणों का नीचे विवेचन किया गया है।

प्रकृति ने मनुष्य को इस प्रकार का बनाया है कि उसको जीवित रहने के लिए कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करना अनिवार्य है। केवल भूख और प्यास मिटाने के लिए भोजन और पानी ही पर्याप्त नही। उसे ऐसा भोजन और पानी चाहिए जिससे उसका स्वास्थ्य बना रहे और वह अपना कार्य अच्छी प्रकार कर सके। गन्दा पानी पीने से प्यास अवश्य बुझ सकती है परन्तु मनुष्य का स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा और उसे अनेक रोग घेर लेंगे। इस कारण उसे स्वच्छ पानी की आवश्यकता है और इसीलिए उसे भोजन के पदार्थ भी ऐसे चाहिएं जो स्वास्थ्यप्रद हों जिससे उसकी शक्ति में कमी न होकर वृद्धि ही हो। इसी तरह मनुष्य-जाति को शुद्ध हवा और धप आदि की आवश्यकता होती है। सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचत के लिए भी किसी आश्रय की आवश्यकता होती है। परन्तु यदि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है तो वह अच्छे अच्छे भोजन खायेगा और यदि निर्धन है तो सादे भोजन से ही अपनी भूख मिटायेगा। वह उन खाद्य-पदार्थो का भी उपयोग न करेगा जो उसके धर्म के अनुकूल न हों, जैसे ब्राह्मण मछली या मांस का उपयोग नहीं करता जब कि अनेक देशों में इनके खाने की बहुत प्रथा है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ देश की भौगोलिक स्थिति पर भी निर्भर होती है, जैसे ठंढे देशों में अधिक गर्म कपड़ों की आवश्यकता होती है,

परन्तु भारतवर्ष जैसे गर्म देश में तो वर्ष में ६ महीने ठंढे कपड़ों से ही काम चल जाता है। इसी तरह ठंढे देश के रहनेवाले लोग ऐसे भोजन के पदार्थ उपयोग में लाते हैं जिनसे उनके शरीर को गर्मी मिल सके, जब कि गर्म देश में रहनेवाले लस्सी और ठंढाई का उपयोग करना चाहेंगे। मंसूरी या नैनीताल के आस-पास के गाँव वालों को वहाँ की भौगोलिक स्थिति के कारण साइकिल एक बेकार-सी ही वस्तु है जब कि मैदान में बसे शहरों और गाँवों में इसका बहुत प्रयोग है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ इस बात पर भी निर्भर होती हैं कि वह किस और कैसे समाज में रहता है। एक गाँव वाले को मेज-कुर्सी की कोई आवश्यकता नहीं होती परन्तु हमारे वे भाई जो अंगरेजी तरीकों से रहते हैं उन्हें टाई और सूट की भी आवश्यकता होती है और खाने के बर्तन भी चीनी के चाहिएँ। साधारणतः भारतवासी काँटे छुरी से भोजन नहीं करते परन्तु जो व्यक्ति अंगरेजी सभ्यता से रहते हैं उन्हें इन वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती है। जब कि हमारे गाँव में रहनेवाली बहनें पान और महदी का उपयोग करती हैं तो हमारी आजकल की सभ्य बहनों को होठों में लगाने को लिपस्टिक (Lip-stick), नाखूनों में लगाने को नेल पौलिश (Nail Polish) और आँखों की भौंह पर लगाने को आई-ब्रो (Eye-brow) और पहनने को जौर्जट की साड़ी की आवश्यकता होती है। रीति-रिवाज और फैशन का भी आवश्यकताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि कोई गुजरात में रहता है तो उसे अपने अतिथियों का चाय से स्वागत करना पड़ता है जब कि एक गाँव में हुक्के या दूध, मट्ठे से। भारतवर्ष के स्वतंत्र होने के पहले टाई और सूट का फैशन था परन्तु अब वह जगह गांधी टोपी ने ले ली है। गांधी टोपी की माँग अधिक बढ़ गई है क्योंकि उसका पहनना अब एक फैशन सा हो गया है। कई बार मनुष्य की आवश्यकताएँ उसकी आदत पर निर्भर होती हैं जैसे चाय या सिगरेट की आदत पड़ने पर वह अनिवार्य आवश्यकताएँ बन जाती हैं।

मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कुछ उसकी आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर होती हैं। यदि उसकी आय कम है तो उसकी आवश्यकताएँ भी कम होंगी। यह तो सच है कि एक मजूर भी यह चाहता है कि वह भी एक शानदार बंगले में रहे, मोटर, रेडियो और बिजली का पंखा भी रखे, पर उसकी आय कम होती है इसी कारण उसको उसके खाने-पीने की आवश्यकताएँ ही अधिक सताती हैं। एक रईस जमींदार को रहने के लिए एक शानदार बंगले की, जिसमें तीन चार माली काम करते हों और अच्छे अच्छे फूल लगे हों, आवश्यकता होती है। एक गरीब किसान घी का सेवन ही नहीं करता जब कि एक रईस अत्यधिक घी में बने हुए अच्छे अच्छे भोजन के पदार्थ प्रतिदिन सेवन करता है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ उसके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण पर भी निर्भर रहती हैं। यदि वह सीधा-साधा, धार्मिक और सन्तोषी मनुष्य है तो उसकी आवश्यकताएँ अधिक तीव्र न होकर सीधी-साधी और कम होंगी। भारतवर्ष में सदा 'सादा जीवन और उच्च विचार' का आदर्श रहा है। इसी कारण हमारी आवश्यकताएँ पाश्चात्य देशों से कहीं कम हैं। साधारणतः मनुष्य सौन्दर्य-प्रेमी भी होता है और उसे अनेक ऐसी वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है जो उसकी इस भावना को सन्तुष्ट कर सके। कुछ मनुष्यों में देश या समाज-सेवा की भावना बड़ी तीव्र होती है और इसी कारण उनकी आवश्यकताऍं भी भिन्न प्रकार की होती हैं। यह कहना तो असत्य होगा कि महात्मा गांधी की आवश्यकताएँ कम थीं। सत्य तो यह है कि उनकी आवश्यकताऍं किसी एक साधारण व्यक्ति से बहुत अधिक थीं। कोई एक व्यक्ति तो यही चाहता है कि उसका धन बढ़े और वह और उसके कुटुम्ब वाले आराम का जीवन व्यतीत करें। यह सम्भव हो सकता है यदि वह उपाय करे और सफल हो। परन्तु महात्मा जी की तो इच्छा यह थी कि सारा देश धनी हो और सब देश-निवासी सुखी हों और वे अपनी अधिक से अधिक अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। महात्मा जी की इस इच्छा की पूर्ति करना अधिक कठिन है।

आवश्यकताओं के लक्षण

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। वास्तव में आवश्यकताएँ **असीमित** या **अनन्त** होती हैं। यदि खाने-पीने की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं तो उसे मकान और कपड़ा चाहिए और यह भी मिल जाय तो उसे अच्छे-अच्छे भोजन के पदार्थ और रेशमी और महीन कपड़ें मिलें और वह सोचता है कि घूमने को मोटर होनी चाहिए, गाने और समाचार सुनने को रेडियो और गर्मी से बचत के लिए खस के पर्दे और बिजली का पंखा। ये वस्तुएँ मिलने पर भी आवश्यकताओं की समाप्ति नहीं होती परन्तु अब वह यह सोचता है कि एक हवाई जहाज भी होना चाहिए, रेल से यात्रा करने के लिए एक पूरा डिब्बा या गाड़ी हो इत्यादि इत्यादि। और यदि उसके लिए सब आराम के साधन हैं तो वह सोचता है कि यह सब उसके सम्बन्धियों के लिए भी होने चाहिएँ। सारांश यह है कि मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं और इसी कारण उसकी सब आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना असम्भव है। सभ्यता, विज्ञान और ज्ञान की उन्नति से मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं। यह सभ्यता की उन्नति का ही कारण है कि अब हमें विभिन्न प्रकार के भोजन के पदार्थ और कपड़े चाहिएँ। विज्ञान की उन्नति के ही कारण अब

रेडियो और टेलीफोन की आवश्यकता प्रतीत होती है। कुछ लोगों का कथन है कि आवश्यकताओं का यह लक्षण साधु-संन्यासी और महात्माओं को लागू नहीं, परन्तु यह बिल्कुल गलत है। उनकी आवश्यकताएँ रेशमी कपड़े और टेलीफोन की न हों परन्तु साधारण पुरुष की अपेक्षा उनकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना अत्यन्त कठिन है। आरंभ में उनकी आवश्यकता होती है कि ईश्वर का भजन करें। फिर सोचते हैं कि सांसारिक बन्धनों से छुटकारा हो जाय और जब इसकी भी सिद्धि हो जाती है तो इच्छा करते हैं कि ईश्वर के दर्शन प्राप्त हो जायँ और जब यह भी हो जाय तो भी शांति नहीं, परन्तु भावना होती है कि ईश्वर सदा हमारे सामने ही खड़े रहें। अतः उनकी आवश्यकताएँ भी अनन्त होती हैं, परन्तु उत्कृष्ट। कुछ लोगों का कथन है कि आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर ही आर्थिक उन्नति निर्भर है और इसलिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाते ही जाना चाहिए, जिससे वह उनकी तृप्ति करने के लिए अधिक उपाय करेगा और अपनी आर्थिक स्थिति सुधारेगा। पाश्चात्य देशों की भौतिक-वादी सभ्यता इसी ओर संकेत करती है। परन्तु ऐसे आदर्श में एक कमी है। अधिक उत्पादन होने से मनुष्य अपनी अधिक आवश्यकताएँ सन्तुष्ट कर सकता है। यह तो सत्य है, परन्तु साथ-साथ यह भी सत्य है कि उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती चली जाती हैं और उनमें से अनेकों को वह सन्तुष्ट नहीं कर सकता जिससे उसको दुख होता है। आवश्यकता के अस्तित्व से दुख होता है और उसकी तृप्ति से इस दुख की शांति होती है और सुख मिलता है। मनुष्य अधिक से अधिक आवश्यकताएँ इसलिए सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है कि उसका सुख बढ़ता जाय और जो दुख अतृप्त आवश्यकताओं से होता है वह कम होता जाय। इस दुख को न्यून करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की अतृप्त आवश्यकताएँ बिल्कुल न रहें, तभी उसे पूर्ण सुख प्राप्त होगा। इसी विचार-धारा को सामने रखते हुए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री जे० के० मेहता ने पूर्ण सुखमय जीवन के लिए इस आदर्श की स्थापना की है कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को कम करते-करते उस स्थिति पर पहुँचना चाहिए जहाँ उसे कोई आवश्यकता ही न रहे*। हम इस स्थिति को 'मोक्ष' कह सकते हैं।

यह सत्य है कि मनुष्य की असीम आवश्यकताएँ होती हैं परन्तु इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए

* इस विषय का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए श्री जे० के० मेहता जी की पुस्तक "Advanced Economic Theory" पढ़िये।

प्रत्येक समय प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता विभिन्न होती है। जैसे कुछ विद्यार्थी सप्ताह में एक या दो बार सिनेमा अवश्य देखते है परन्तु अन्य विद्यार्थियों को यह आवश्यकता इतनी तीव्र नहीं होती और इसी कारण वे महीने मे एक या इससे भी कम बार सिनेमा देखने जाते है या एक व्यक्ति को अच्छे कपड़ों की आवश्यकता इतनी तीव्र होती है कि वह सादा भोजन खाकर रह जाता है जब कि उसी स्थिति का दूसरा व्यक्ति भोजन पर अधिक व्यय करता है और साधारण ही कपड़े पहन कर जीवन व्यतीत करता है। इसी तरह ठंढे पानी की उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य को साधारणतः गर्मियो में शीतकाल की अपेक्षा अधिक होती है और नींद की उपयोगिता दिन की अपेक्षा रात मे अधिक होती है।

मानुषिक आवश्यकताओं का दूसरा लक्षण यह है कि जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसका उपभोग करने से उसकी पूर्ति क्रमशः होती जाती है, जैसे, यदि किसी व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता हो जिसकी तृप्ति चार रोटी खाने से होती हो तो यदि वह एक रोटी खा ले तो उसकी भोजन की आवश्यकता की तीव्रता घट जायगी और दूसरी रोटी खाने के बाद यह तीव्रता और भी कम हो जायेगी और जब वह चारों रोटी खा चुकेगा तो भोजन की आवश्यकता की तीव्रता बिल्कुल न्यून हो जायेगी। जैसे जैसे वस्तुओं का उपभोग मनुष्य करता है वैसे वैसे उन वस्तुओं की आवश्यकता की तीव्रता में कमी होना स्वाभाविक है, क्योंकि वस्तुओं के सेवन के साथ-साथ उस आवश्यकता के कुछ भाग की तृप्ति होती जाती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि किसी भी एक आवश्यकता की पूर्णतया सन्तुष्टि की जा सकती है। इस संबन्ध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी भी आवश्यकता की पूर्णतया या कुछ अंश तक पूर्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य के पास उसकी तृप्ति करने के साधन हों। हमारे देश में तो निर्धनता इतनी अधिक है कि अनेक बार देखा गया है कि जन-साधारण अपनी भूख की आवश्यकता की भी पूरी-पूरी तृप्ति नही कर सकते, क्योंकि उनके पास इतने भी साधन नहीं होते कि वह मोटे अनाज का भी सेवन पर्याप्त मात्रा में कर सकें। सन् १९४२ के बगाल के अकाल में तो लाखों व्यक्ति केवल भूख से ही मर गये। इसी तरह यदि एक अपाहिज मनुष्य को भूख सता रही हो और चाहे भोजन उससे थोड़ी दूर पर ही रखा हो तो भी वह अपनी भूख की आवश्यकता की पूर्ति नही कर सकता क्योंकि वह इस योग्य नहीं है कि उस भोजन तक पहुँच सके। सारांश यह है कि किसी भी एक आवश्यकता की तृप्ति के लिए पर्याप्त साधनों का होना आवश्यक है। कुछ लेखक कहते है कि आवश्यकताओं का उक्त लिखित लक्षण मनुष्य की रुपये-पैसे और शक्ति

की आवश्यकताओं पर लागू नहीं होता। धन और शक्ति की कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाय उनकी आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि नहीं होती। यह कोई विशेषता नहीं। यदि मनुष्य के पास पर्याप्त मात्रा में साधन हों तो वह अथाह धन और शक्ति की आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सकता है परन्तु सीमित साधनों से अथाह शक्ति या धन प्राप्त नहीं हो सकते। यह तो इन आवश्यकताओं के लिए भी सच है कि उनकी क्रमशः तृप्ति होने से उनकी तीव्रता घटती जाती है और यही लक्षण प्रत्येक मानुषिक आवश्यकताओं में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी एक आवश्यकता की एक बार पूर्णतया या कुछ अंशों में तृप्ति होने से वह सदा के लिए सन्तुष्ट नहीं हो जाती परन्तु उसका बार-बार अनुभव होता है। एक बार पेट भर खाना खाने से सदा के लिए तो भूख नहीं मिट जाती। कुछ समय बाद ही भूख की आवश्यकता फिर से अनुभव होती है।

मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता के मूल में परस्पर प्रतियोगिता (Competition) होती है। मनुष्य के सीमित साधन और असीमित आवश्यकताएँ होने के कारण वह अपनी कुछ ही आवश्यकताएँ तृप्त कर सकता है। इसी कारण उसकी विभिन्न आवश्यकताओं में खींचतान होती रहती है और यदि वह कुछ आवश्यकताओं की तृप्ति करता है तो कुछ अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। उदाहरणतः यदि आपके पास एक रुपया है और आप सिनेमा भी जाना चाहते हैं, होटल में चाय भी पीना चाहते हैं, अपने छोटे भाइयों को मेले में जाने के लिए पैसे भी देना चाहते हैं और जूते की मरम्मत भी कराना चाहते हैं तो इन अन्य आवश्यकताओं की आपस में खींचतान होती रहेगी और अन्त में आप इनमें से उसी आवश्यकता की पूर्ति करेंगे जिससे अत्यधिक उपयोगिता प्राप्त हो; क्योंकि ऊपर की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक रुपया चाहिए और आपके पास तो कुल एक ही रुपया है ।

आवश्यकताओं का यह भी लक्षण होता है कि प्रत्येक आवश्यकता की तृप्ति करने के लिए अनेक साधन हो सकते हैं। उदाहरणतः, यदि आपको भूख लग रही है तो उसकी तृप्ति रोटी, बिस्किट, दूध, दही, फल, तरकारी इत्यादि किसी भी वस्तु से कर सकते हैं और यदि ठंढ लग रही है तो ऊनी कोट पहन लीजिये या दुशाला, कम्बल या रूई की रजाई ओढ़ लीजिये या कोयला जला के ताप लीजिये या बिजली का 'हीटर' जलाकर कमरा गरम कर लीजिये, इत्यादि ।

कुछ आवश्यकताएँ आपस में एक दूसरे की पूरक होती हैं। यदि आपको टाई बाँधना है तो कालरदार कमीज भी चाहिए; यदि आपको ताँगे पर बैठना है तो ताँगा घोड़ा और साज भी चाहिए अन्यथा केवल

ताँगा या केवल साज व्यर्थ है। इसी तरह यदि आपके पास बिजली का बल्ब है तो घर में बिजली का होना भी आवश्यक है और यदि आपको दाढ़ी बनाने को सेफ्टी रेज़र चाहिए तो उसके साथ साबुन, ब्रुश और ब्लेड की भी आवश्यकता होगी।

आवश्यकताओं का एक लक्षण यह भी है कि वर्तमान आवश्यकता भविष्य की आवश्यकता से जो उतनी ही तीव्र है अधिक सताती है और इसी कारण वर्तमान आवश्यकता की तृप्ति से अधिक सुख होता है। इसका कारण यह है कि भविष्य अदृश्य और अनिश्चित होता है। यदि आपको प्यास लग रही है तो आपको वर्तमान की इस प्यास से भविष्य की प्यास की अपेक्षा अधिक कष्ट होगा।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण

मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं का वर्गीकरण किया जा सकता है। साधारणतः आवश्यकताएँ निम्न भागों में बाँटी जाती हैं—(१) आवश्यक आवश्यकताएँ (२) सुखदायक आवश्यकताएँ (३) भोग-विलास की आवश्यकताएँ। आवश्यक आवश्यकताएँ (Necessaries) के भी तीन उपभेद किये जाते हैं—(१) जीवित रहने की आवश्यकताएँ (Necessaries for existence) (२) कार्यक्षमता प्राप्त करने की आवश्यकताएँ (Necessaries for efficiency) और (३) रीति-रिवाज सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Conventional Necessaries)

जीवित रहने की आवश्यकताएँ (Necessaries for existence) :—यह वे आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति के बिना मनुष्य का जीवन ही असम्भव सा प्रतीत होता है, जैसे भूख और प्यास इत्यादि। खाने को भोजन (चाहे कितना ही सादा क्यों न हो), पीने को पानी और साँस लेने को हवा प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। कुछ देर वह अपनी साँस रोक सकता है, कुछ समय तक प्यासा भी रह सकता है और कुछ दिनों बिना भोजन किए भी जीवित रह सकता है परन्तु एक निश्चित समय के बाद वह ऐसा नहीं कर सकता। मनुष्य को जीवित रहने के लिए कुछ कपड़ा और आश्रय की भी आवश्यकता होती है। ऊपर लिखी आवश्यकताओं को प्रत्येक मनुष्य अपने साधनों के अनुसार पूर्ण करने का प्रयत्न करता है।

कार्यक्षमता प्राप्त करने की आवश्यकताएँ (Necessaries for efficiency):—उन आवश्यकताओं को कहते है जिनकी पूर्ति करने से मनुष्य की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इस वृद्धि की उपयोगिता उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के परिश्रम से अधिक होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति करना मनुष्य के हित में ही होता है। ऐसा करने से

उसकी आय में जो वृद्धि होती है वह इन आवश्यकता पूरक वस्तुओं के मूल्य से कहीं अधिक होती है। जीवित रहने के लिए आवश्यक भोजन के अतिरिक्त उसे स्वास्थ्यप्रद भोजन भी चाहिए जिससे उसकी कार्यशक्ति में वृद्धि होती है। इसी वर्ग में एक पर्याप्त हवादार मकान, पढ़ाई के साधन, स्वच्छता, सुगम चिकित्सा और कुछ वस्त्र आते हैं। शीतकाल में वह जीवित तो एक मोटी खद्दर की बंडी या चादर ओढ़कर भी रह सकता है परन्तु यदि उसके पास एक ऊनी कोट या चादर हो तो उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि अवश्य होगी।

रीति-रिवाज सम्बन्धी आवश्यकताएँ (Coventional Necessaries):—उन्हें कहते हैं जिनकी पूर्ति समाज के रीति-रिवाजों के अनुसार करना आवश्यक है। अतिथि को गाँवों में हुक्का पिलाना, शहरों में पान या चाय पिलाना इसी वर्ग में आते हैं। इसी तरह विवाह के अवसर पर सम्बन्धियों या मित्रों को भोजन या जलपान कराना और वर-वधू को कुछ वस्त्र आभूषण इत्यादि देना आवश्यक है। इसी वर्ग में कुछ मनुष्यों को पान-बीड़ी या सिगरेट सेवन करने की आदत और अंग्रेजी सभ्यता में रहनेवाले व्यक्तियों के टाई टोप व बनाव-श्रृंगार के साधन (Cosmetics) इत्यादि आते हैं।

सुखदायक आवश्यकताएँ (Comforts):—उन्हें कहते हैं जिनकी पूर्ति से मनुष्य को सुख प्राप्त हो और जिनकी पूर्ति न करने से उसको अत्यधिक कष्ट न हो। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है उनका उपभोग मनुष्य के लिए अनिवार्य तो नहीं होता परन्तु उनका सेवन न करने से उसे कुछ कष्ट होता है; जैसे एक व्यस्त डाक्टर के लिए एक मोटर और एक विद्यार्थी के लिए टेबुल लैम्प सुखदायक वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओं का सेवन न करने से भी उनका काम तो चलता है परन्तु कार्यक्षमता का ह्रास हो जाता है।

भोग-विलास की आवश्यकताएँ (Luxuries) :—उन्हें कहते हैं जिनकी पूर्ति करने से साधारणतः मनुष्य में कुछ आलस्य आ जाय और उसकी कार्यक्षमता में कोई वृद्धि न हो, परन्तु उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों का ह्रास हो। विलासिता की वस्तुओं का सेवन करना मनुष्य के लिए अनिवार्य नहीं और इन वस्तुओं का उपभोग तो उसे तभी करना चाहिए जब वह अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर चुका हो। ऐसी वस्तुओं का अधिक उपयोग होने से देश और समाज को भी हानि पहुँचने की संभावना रहती है।

उक्त वर्गीकरण वस्तुविशेष पर निर्धारित नहीं है और न उसके लिए कोई ठोस नियम ही है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि आवश्यक आवश्यकताएँ उन्हें कहते हैं जिनकी पूर्ति करने से मनुष्यों की कार्यक्षमता

में वृद्धि होती है और जिनकी पूर्ति न करने से कार्यक्षमता का ह्रास होता हो। इसी तरह सुखदायक आवश्यकताएँ उनको कहते हैं जिनकी पूर्ति से कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नहीं होती और यदि होती भी है तो अत्यन्त न्यून, परन्तु जिनकी पूर्ति न करने से कार्यक्षमता में ह्रास होता है। इसी कारण इन आवश्यकताओं की भी पूर्ति करना उचित है। भोग-विलास की आवश्यकताएँ उन्हें कहते हैं कि जिनकी पूर्ति करने से सुख तो अवश्य प्राप्त होता है परन्तु कार्यक्षमता में वृद्धि होना आवश्यक नहीं और कभी-कभी कार्यक्षमता का ह्रास भी होता है; इन आवश्यकताओं की पूर्ति न करने से कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नहीं होती।

इस बात पर जोर देना विशेष आवश्यक है कि एक ही वस्तु किसी व्यक्ति के लिए आवश्यक वस्तु हो सकती है और किसी दूसरे के लिए सुखदायक या भोग-विलास की वस्तु। जैसे एक मोटरकार एक विद्यार्थी के लिए भोग-विलास की वस्तु है जब कि वह एक डाक्टर या प्रोफेसर के लिए सुखदायक वस्तु है और पंडित जवाहरलाल नेहरू के लिए तो वह अत्यन्त आवश्यक है। उनके लिए तो एक शहर से दूसरे शहर जाने के लिए हवाई जहाज भी आवश्यक वस्तु है। उनके पास इतना समय नहीं कि वे बैलगाड़ी में बैठकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जायँ। यही बैलगाड़ी एक ग्रामीण मजदूर के लिए सुखदायक या विलासिता की वस्तु होगी क्योंकि उसके काम करने का स्थान उसके घर से चार कदम की दूरी पर होता है। इसी तरह एक कलक्टर या शहर-कोतवाल के लिए टेलीफोन आवश्यक वस्तु है जब कि वह एक अमीर जमींदार के लिए विलासिता की या सुखदायक वस्तु है। यहाँ पर इस बात का ध्यान भी रखना चाहिए कि एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति को विभिन्न विभिन्न समय पर आवश्यक वस्तु या सुखदायक वस्तु या विलासिता की वस्तु हो सकती है। एक विद्यार्थी के लिए साधारणतः एक मोटर विलासिता की वस्तु है परन्तु जब उसका स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ है और वह अत्यन्त दुर्बल है तो वही वस्तु उसके लिए सुखदायक हो सकती है और जब कई विद्यार्थियों को उनके कॉलेज या विश्वविद्यालय से कुछ मील दूर किसी शिक्षासम्बन्धी दौरे पर जाना है तो एक मोटर या लारी आवश्यक वस्तु हो जाती है। यह वर्गीकरण वस्तु के मूल्य पर भी निर्भर है। जब कि एक मोटर के दाम दस हजार रुपये हैं तो वह एक साधारण कॉलेज के अध्यापक के लिए विलासिता की वस्तु है। यदि उसका दाम दो या तीन हजार रुपये हो जाय तो वही मोटर उस अध्यापक के लिए सुखदायक वस्तु हो जाती है और उसी मोटर को आवश्यकता की वस्तु कहेंगे जब कि उसकी कीमत पाँच सौ रुपये हो जाती है। इसी प्रकार एक रोगी की सेवा के

लिए एक नर्स आवश्यक है परन्तु एक स्वस्थ मनुष्य के लिए नहीं। बीमारी में ग्लूकोज़ का सेवन आवश्यक हो जाता है जब कि प्रतिदिन उसका सेवन एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं। ऐसे ही एक ओवरकोट मंसूरी जैसी ठंढी जगह के लिए शीत ऋतु में एक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए आवश्यक है जब कि वही ओवरकोट इलाहाबाद जैसे शहर में सुखदायक वस्तु है। यह वर्गीकरण किसी व्यक्ति के रोजगार और आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर है। एक डिप्टी कलक्टर या अध्यापक के लिए टाई और सूट या कोट टोपी व अच्छा जूता आवश्यक वस्तुएँ हैं जब कि यही वस्तुएँ एक पन्सारी के लिए सुखदायक वस्तुएँ होंगी क्योंकि वह तो अपना काम साधारणतः धोती, कुरता पहन कर ही चलाता है। आवश्यकताओं का वर्गीकरण व्यक्तिगत आय पर भी निर्भर होता है। एक निर्धन किसान के लिए गेहूँ, चावल या चाय सुखदायक वस्तुएँ हैं परन्तु शहर के एक मध्यम श्रेणी के मनुष्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हैं। इसी तरह मजूरों को घी, दूध और फल प्राप्त ही नहीं होते क्योंकि उनकी आय बहुत कम होती है जब कि यही वस्तुएँ मध्यम या ऊँची श्रेणी के कुटुम्ब के लिए आवश्यक होती हैं। यह वर्गीकरण व्यक्ति के रहन-सहन के दर्जे पर भी निर्भर होता है। गाँवों में जमीन पर ही बैठने की प्रथा होती है इसलिए मेज़-कुर्सी आवश्यक नहीं, परन्तु शहरों में यही वस्तुएँ आवश्यक हो जाती हैं। बंगाल में चावल और पंजाब में गेहूँ ग्रामीणों के लिए भी आवश्यक हैं परन्तु राजस्थान में जहाँ ग्रामीण अधिकतर बाजरा, चना या जौ खाते हैं यही नाज सुखदायक हो जाते हैं। पाश्चात्य देशों के रहनेवालों के लिए एक अच्छा मकान, पर्याप्त मात्रा में कपड़े, बच्चों की पढ़ाई और काम पर जाने के लिए यातायात के साधन आवश्यक वस्तुएँ हैं जब कि हमारे ग्रामीण भाइयों को रहने को झोंपड़ियाँ, तन ढकने को एकाध कपड़ा ही आवश्यक हैं।

अंत में इस ओर ध्यान आकर्षित कर देना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं कि कोई व्यक्ति अपनी अनेक आवश्यकताओं की तृप्ति आवश्यकताओं के वर्गीकरण के क्रम के अनुसार ही करे। कुछ व्यक्ति अपनी सुखदायक या विलासिता की आवश्यकताओं की तृप्ति आवश्यक आवश्यकताओं से पहले करते हैं; जैसे, देखा गया है कि बहुत से मजूर और कारीगर अपनी आय मिलते ही उसका अत्यधिक भाग शराब व अन्य मादक वस्तुओं के सेवन में व्यय कर देते हैं जब कि उनकी अनेक आवश्यक आवश्यकताएँ असन्तुष्ट ही रह जाती हैं। इसी तरह हमारे देश में रीति-रिवाज इतने प्रबल हैं कि अनेक व्यक्ति विवाह या मृत्यु के अवसर पर अत्यधिक व्यय कर देते हैं चाहे उनकी खाने और कपड़ों की आवश्यक आवश्यकताएँ

पर्याप्त रूप से पूर्ण न होती हों। कुछ व्यक्तियों को सिनेमा का इतना शौक होता है कि वह एक समय भोजन टाल देगे पर सिनेमा अवश्य जायेगे। यह कोई अचरज की बात नही क्योकि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति उनसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता के क्रम के अनुसार करता है। जिन आवश्यकताओं की तृप्ति से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है उनकी तृप्ति पहले करता है और जिनसे कम, उनकी बाद में। वह सिनेमा देखना भोजन की अपेक्षा तभी पसन्द करेगा जब सिनेमा देखने की उपयोगिता भोजन की उपयोगिता से अधिक हो। इसी कारण वह विवाह और मृत्यु के अवसर पर अधिक व्यय कर देता है क्योकि रीति-रिवाज के दबाव से इन अवसरो पर व्यय न करने से जो कष्ट उसको होता है वह अन्य आवश्यक आवश्यकताओं की अतृप्ति से कही अधिक होता है। सुखदायक और विलासिता की आवश्यकताओं की तृप्ति की अपेक्षा आवश्यक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि से कार्यक्षमता में अधिक उन्नति होती है। इसी कारण यह सत्य है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की तृप्ति आवश्यकताओं के वर्गीकरण के क्रम के अनुसार ही करे तो उसका और समाज का दोनों का ही लाभ है क्योकि इसका प्रभाव उसकी कार्यक्षमता पर अधिक लाभदायक होगा।

रहन-सहन का दर्जा

जब हम किसी वर्ग के रहन-सहन के दर्जे पर विचार करते है तो हमारा ध्यान उस वर्ग के उपभोग की मात्रा की ओर आकर्षित होता है। अर्थात् किसी व्यक्ति या वर्ग के रहन-सहन के दर्जे से हमारा तात्पर्य उस व्यक्ति या वर्ग के उपभोग की मात्रा से होता है। यदि कोई व्यक्ति वस्तुओं का अधिक मात्रा में उपभोग करता है तो उसका रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता है। जिन वस्तुओ का और जिस मात्रा मे कोई व्यक्ति उनका उपभोग करता है उसकी उसको आदत पड़ जाती है और उपभोग मे कमी होने से उसको अधिक कष्ट होता है। इस कारण वह अपने रहन-सहन के दर्जे को नीचे नही गिरने देता ।

किसी व्यक्ति के रहन-सहन का दर्जा उसके उपभोग की मात्रा पर निर्भर है और उपभोग की मात्रा आय और वस्तुओं के मूल्य पर। जिस व्यक्ति की आय अधिक है उसका रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा होगा। आय मे कमी होने से उसको अपने रहन-सहन का दर्जा नीचा करना होगा क्योकि ऐसी स्थिति में वह पहले की अपेक्षा कम वस्तुओं का उपभोग कर सकेगा। यदि उसकी आय बढ़ जाती है तो उसके रहन-सहन के दर्जे की भी ऊँचे होने की प्रवृत्ति होगी, क्योंकि अब वह अपने उपभोग की मात्रा बढ़ा सकेगा। रहन-सहन का दर्जा इस पर भी निर्भर है कि आय

किस प्रकार प्राप्त की जाती है। यदि उसके प्राप्त करने में अधिक कठिनाई व परिश्रम करना पड़ता.है तो विश्राम का समय कम होगा और मनुष्य के लिए विश्राम भी आवश्यक है। यदि आय प्राप्त करने के लिए गन्दे और अस्वस्थ स्थानों में काम करना पड़े और मानसिक अशान्ति रहे तो भी मनुष्य के सुख में बाधा पड़ती है। इस कारण शान्ति और उचित रीति से आय प्राप्त करने का अधिक महत्त्व है। रहन-सहन का दर्जा वस्तुओं के मूल्य पर भी निर्भर है। यदि वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हैं तो एक निश्चित आय से कम वस्तुएँ खरीदी जायँगी जिससे उपभोग की मात्रा कम होगी। वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से द्रव्य की क्रयशक्ति घट जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रत्येक वस्तु के लिए अधिक द्रव्य देना पड़ता है और द्रव्य की एक निश्चित मात्रा से कम वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। वस्तुओं के मूल्य नीचे होने से द्रव्य की क्रयशक्ति बढ़ जाती है और द्रव्य की एक निश्चित मात्रा से अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। सारांश यह है कि यदि आय स्थिर भी रहे तो भी वस्तुओं के मूल्य में परिवर्त्तन होने से उपभोग की मात्रा में परिवर्त्तन हो जाता है क्योंकि उपभोग की मात्रा आय और वस्तुओं के मूल्य पर निर्भर है। हमने ऊपर उपभोग की मात्रा आय पर निर्भर बताई है परन्तु यह कहना अधिक सत्य होगा कि उपभोग की मात्रा व्यय पर और व्यय आय पर निर्भर है। जिसकी आय अधिक होती है उसकी व्यय करने की शक्ति भी अधिक होगी। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह व्यय भी अधिक ही करे। यदि आय कम होती है तो व्यय करने की शक्ति भी कम होती है। रहन-सहन का दर्जा उचित व्यय की रीति पर भी निर्भर है। यदि कोई व्यक्ति अधिक खर्चीला है तो यह मतलब नहीं कि उसके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा है; क्योंकि हो सकता है कि वह टिकाऊ और उपयोगी वस्तुओं की अपेक्षा विलासिता और व्यर्थ की वस्तुओं पर अधिक व्यय करता हो। उसको कुछ समय के लिए उपयोगिता तो अवश्य प्राप्त होगी परन्तु सम्भव है कि इस प्रकार का व्यय उसके स्वास्थ्य और कार्यक्षमता के लिए हानिकारक हो। यदि कोई व्यक्ति अपनी आय शराब या अन्य मादक वस्तुओं पर व्यय करता है तो इससे उसके रहन-सहन के दर्जे की घटने की ही प्रवृत्ति होगी। यदि व्यय उचित वस्तुओं पर ही किया जाय तो यह भी आवश्यक है कि कुल व्यय समसीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार किया जाय। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रहन-सहन का दर्जा निम्नलिखित कारणों पर निर्भर होता है:—(१) आय का कौन-सा भाग व्यय किया जाता है, यदि आय अधिक होगी तो व्यय भी अधिक हो सकता है; (२) वस्तुओं के मूल्य; (३) किस प्रकार की

वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग होता है और व्यय करने की रीति उचित है या अनुचित। किसी वर्ग के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने से उस वर्ग के लोगों को अधिक आय प्राप्त करने के प्रयत्न करने पड़ते हैं अन्यथा उनके रहन-सहन का दर्जा नीचे गिर जायगा। इस कारण ऊँचे रहन-सहन का दर्जा अधिक कार्य करने को उत्साहित करता है। ऊँचे रहन-सहन के दर्जे के वर्गों में देर में विवाह करने की भी प्रथा होती है क्योंकि उस वर्ग के लोग स्त्री और बच्चों के खर्च का बोझा तब तक अपने सिर पर उठाना नहीं चाहते जब तक उनकी आय इतनी न बढ़ जाय कि वह उनको उस वर्ग के रहन-सहन के अनुसार ही रख सकें।

भारतवर्ष में इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर जन-साधारण के रहन-सहन का दर्जा अत्यन्त निम्न स्तर का है। अधिकतर मनुष्यों को न पेट भर भोजन मिलता है और न पर्याप्त मात्रा में कपड़ा ही। अधिकांश एक ही झोपड़ी या कमरे में पूरा कुटुम्ब जिसमें अनेक व्यक्ति होते हैं रहते हैं। इस आश्रय में केवल स्थान की ही कमी नहीं होती बल्कि धूप और शुद्ध हवा के आने का भी उचित प्रबन्ध नहीं होता है। निर्धनता के कारण जन-साधारण के लिए अपने बच्चों को साधारण शिक्षा देना भी सम्भव नहीं और जब रोग-व्याधि घेर लेते हैं तो चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध नही होता है। रोग भी अधिक होते हैं क्योंकि मकानों के चारों ओर गन्दगी का वास होता है। ऐसी सूरत में अधिकांश व्यक्तियों के लिए आनन्ददायक विश्राम-स्थल व सुख के साधन स्वप्न ही होते हैं। इसी कारण भारतीय मजदूरों व कारीगरों की कार्यक्षमता पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अत्यन्त न्यून है। उनकी निर्धनता और कार्यक्षमता की कमी एक दूसरे पर बुरा प्रभाव डालती हैं और इसी कारण वे साधारण रोगों के भी शिकार बन जाते हैं। उनकी जीवन-शक्ति क्षीण होती है जिससे उनकी सन्तानें भी दुर्बल पैदा होती हैं। ऐसे बहुत से दुर्बल बच्चे शिशु अवस्था में ही काल के ग्रास बन जाते हैं। जन-साधारण की आय इतनी कम है कि वह उनके आवश्यक व्यय के लिए भी पर्याप्त नहीं होती तो बचत का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसका परिणाम यह होता है कि जब उनपर कोई संकट आता है तो वह उसका मुकाबला करने में बिल्कुल असमर्थ होते हैं। १९४२ का बंगाल का अकाल तो सबको ही याद होगा। चारों ओर सभ्यता की उन्नति और आर्थिक वृद्धि की ध्वनि में यह एक अत्यन्त भयानक घटना हुई। कहा जाता है कि लगभग ३५ लाख व्यक्ति वास्तव में भूखों मर गये। यह कहना अनुचित होगा कि वे भूख के शिकार इस ही लिए बन गये कि बंगाल में अनाज की कमी थी। यदि अनाज की ही कमी होती तो कोई धनवान् या मध्यम श्रेणी

का मनुष्य भी तो भूख से मरता। वास्तव में कमी धन की थी। इन लोगों की आर्थिक स्थिति इतनी गिर गई थी कि उनके पास चोर-बाजार में अनाज खरीदने के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। देश की निर्धनता के ही कारण एक ऐसी घटना हुई जो वास्तव में एक जंगली या बहुत पिछड़ी हुई सभ्यता का ही चिह्न है।

भारतवासियों के रहन-सहन के नीचे दर्जे के अनेक कारण हैं। उनकी आय बहुत कम होती है जिससे व्यय की मात्रा भी कम होती है और आपत्ति-काल के लिए वह कुछ धन भी नहीं बचा सकते। जन-साधारण में शिक्षा का लगभग अभाव ही है; न तो उन्हें लिखना-पढ़ना ही आता है और न टैकनिकल ज्ञान ही प्राप्त है। रोजगार व पेशों की कमी के कारण बेकारी फैली रहती है और मजदूरी की दर भी कम है। साथ ही साथ हमारी जन-संख्या भी बढ़ती जाती है परन्तु बढ़ती हुई जन-संख्या के साथ देश के उत्पादन में वृद्धि नहीं होती। अधिकतर व्यक्ति अपना व्यय भी उचित रीति से नहीं करते। कुछ वर्गों में शराब पीने की प्रथा है जिससे अधिकतर आय इस मद पर ही व्यय हो जाती है और आवश्यक आवश्यकताओं की भी पर्याप्त मात्रा में तृप्ति नहीं होने पाती। मुकद्दमेबाजी का भी विशेष रूप से गाँव वालों को चाव है जिससे अनेक बार केवल झूठी प्रतिष्ठा के लिए इस मद पर अधिक व्यय करते हैं। रीति-रिवाजों का भी इतना प्रबल प्रभाव है कि ऐसे अवसरों पर अधिकतर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से अधिक व्यय करते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकतर भारतवासी 'साधारण जीवन और उच्च विचार' के आदर्श को मानते हैं जिससे उनमें सन्तोष का प्रभाव है और वे अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारने के दृढ़ प्रयत्न नहीं करते।

यह अत्यन्त शोचनीय बात है कि हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय २८८ रु० प्रतिवर्ष है जब कि यही आय नार्वे में १७०४ रुपये, आस्ट्रेलिया में २२७४ रुपये, डेनमार्क में २७७० रुपये, न्यूज़ीलैण्ड में ३१०३ रुपये, स्वीडन में ३५०४ रुपये और स्विट्ज़रलैण्ड में ३९७० रुपये है। इन आँकड़ों से पता चलता है कि हम पाश्चात्य देशों से आर्थिक अवस्था में कितने पिछड़े हुए हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे देश-निवासियों को उचित शिक्षा दी जाय जिससे उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो और उनकी आय बढ़े, तभी वह स्वास्थ्य-रक्षक भोजन व पर्याप्त कपड़ों का सेवन कर सकेंगे और हवादार बड़े मकानों में रह सकेंगे। इसके साथ-साथ ही कृषि का उत्पादन बढ़ाना चाहिए और नये उद्योग-धन्धों की स्थापना भी होनी चाहिये जिससे बेकारी समाप्त हो जाय और देश की आर्थिक उन्नति हो। आर्थिक उन्नति के साथ-साथ

इस बात की भी आवश्यकता है कि हमारे देश-निवासी अपनी आय बुद्धिमानी के साथ व्यय करें। शराब व अन्य मादक वस्तुएँ और रीति-रिवाज के दबाव से व्यर्थ व्यय तथा अन्य विलासिता की वस्तुओं का उपभोग न करके उन्हें ऐसी वस्तुओं का ही उपभोग बढ़ाना चाहिये जिससे उनकी शक्ति और कार्यक्षमता में वृद्धि हो। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह स्वादिष्ट भोजन की अपेक्षा स्वास्थ्यप्रद भोजन का सेवन करें और केवल शौक और दिखावट की आवश्यकताओं की तृप्ति न करके ऐसी ही वस्तुओं का सेवन करें, जो उनके वास्तविक हित में हो। राज्य को भी उनकी चिकित्सा, स्वास्थ्य, सफाई व मनोरंजन का उचित प्रबन्ध करना चाहिए जिससे वे अपना जीवन अधिक मनोहर बना सकें।

अभ्यास के प्रश्न

१. आवश्यकताओं के मुख्य लक्षण विस्तारपूर्वक लिखिये ।

२. आवश्यकताओं के वर्गीकरण से आप क्या समझते हैं ? आवश्यकताओं का वर्गीकरण समझाइये।

३. कारण सहित समझाइये कि निम्नलिखित वस्तुएँ आवश्यकताओं के वर्गीकरण के अनुसार कौन सी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं:—

(अ) एक विद्यार्थी के लिए मोटर।

(ब) एक शिक्षित किसान के लिए फाउन्टैनपेन।

(स) एक विद्यार्थी के लिए पाठ्य-क्रम में निर्धारित पुस्तकें।

(द) एक ग्रामीण मजदूर के लिए चीनी और गुड़।

(य) पंडित जवाहरलाल नेहरू और आलसी करोड़पति के लिए हवाई जहाज।

४. 'रहन-सहन के दर्जे' से आप क्या समझते है ? भारतवर्ष में जन-साधारण के रहन-सहन के दर्जा के नीचे होने के क्या कारण हैं ? उसको ऊँचे करने के उपाय समझाइये।

अध्याय १०

सीमान्न उपयोगिता के ह्रास का नियम

(Law of Diminishing Marginal Utility)

यह तो प्रत्येक व्यक्ति, चाहे बड़ा हो या बच्चा, जानता है कि यदि मनुष्य भोजन करने बैठता है तो वह भोजन करता ही नहीं रहता, चाहे वह भोजन कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो, बल्कि थोड़ा भोजन करने के बाद उसकी भूख की आवश्यकता की तृप्ति हो जाती है और उसके उपरान्त भी भोजन करने से तो कष्ट ही होता है। इसका कारण यह है कि भूख होने पर भोजन या रोटी की उपयोगिता अधिक होती है और भूख की तृप्ति होने पर रोटी की उपयोगिता कुछ नहीं रहती। ऐसी दशा में और रोटी खाने से तो पेट में दर्द या कै हो जायेगी जिससे कष्ट ही होगा। अर्थात् पेट भरने के बाद रोटी खाने से उपयोगिता प्राप्त नहीं होती; परन्तु अनुपयोगिता (Disutility) ही प्राप्त होती है । जब मनुष्य को बड़े जोर की भूख लगी होती है तब रोटी की उपयोगिता बहुत अधिक होती है क्योंकि यह रोटी उसकी भूख की सबसे तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करती है। एक रोटी खाने के पश्चात् उसकी भूख की तीव्रता कम हो जाती है और इसी कारण दूसरी रोटी का सेवन करने से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह पहली रोटी की उपयोगिता से कुछ कम होती है। जब वह दो रोटी खा चुकता है तब उस मनुष्य की भूख की तीव्रता और भी कम हो जाती है और क्योंकि तीसरी रोटी इस घटी हुई आवश्यकता की तीव्रता की सन्तुष्टि करती है उसकी उपयोगिता पहली और दूसरी रोटियों की उपयोगिता से कम होती है। इस तरह जैसे जैसे वह रोटियों का उपयोग करता जाता है रोटी से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में क्रमशः ह्रास होता जाता है । इसी नियम को अर्थशास्त्र में 'सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम' कहते हैं। संक्षेप में इस नियम की व्याख्या हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं :—

यदि वस्तु की इकाई उचित परिमाण में हो और उपभोक्ता की रुचि, आदत और आर्थिक स्थिति इत्यादि में कोई परिवर्त्तन न हो तब उपभोग की अविच्छिन्न क्रिया में उस वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता क्रमानुसार कम होती जाती है।

जब किसी वस्तु की मात्रा किसी व्यक्ति के पास बढ़ती जायेगी तब भी उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता में उक्त लिखित नियम के अनुसार ह्रास होगा।

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयाँ बिल्कुल एकसी होनी चाहिएँ; जैसे, यदि रोटी की पहली इकाई गेहूँ की सूखी रोटी है तो अन्य इकाइयाँ भी ऐसी ही होनी चाहिएँ न कि बाजरे की रोटी या अधिक घी दार गेहूँ की रोटी या पूड़ी, कचौड़ी इत्यादि। उपभोग की क्रिया भी अविच्छिन्न होनी चाहिए। यह नही कि एक रोटी अभी खाई जाय और दूसरी कुछ घण्टों के बाद। यदि ऐसा होगा तो उस स्थिति में यह नियम कुछ नहीं कहता। ऐसा हो सकता है अभी आपको भूख बहुत कम हो और कुछ घण्टों बाद उसकी तीव्रता बढ़ जाय जिस स्थिति में दूसरी रोटी की उपयोगिता अधिक ही होगी। इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वस्तु की इकाई का उचित परिमाण विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न होगा। यदि गेहूँ की इकाई का उचित परिमाण एक सेर है तो मिर्च और नमक की इकाई का उचित परिमाण भी एक सेर नही, बल्कि एक या आधी छटाँक ही होगा। इसी तरह पानी की इकाई का उचित परिमाण दूध या घी की इकाई के उचित परिमाण से अधिक होगा। किसी वस्तु की इकाई का उचित परिमाण उस वस्तु के उपयोग पर भी निर्भर है; जैसे यदि पानी का सेवन पीने के लिए करना है तो उसकी इकाई का उचित परिमाण एक गिलास पानी होगा, यदि भोजन बनाने के लिए उसका उपयोग करना है तो एक लोटा होगा और यदि स्नान के लिए उसका उपयोग करना है तो एक बाल्टी होगा और यदि बाग की सिंचाई में उपयोग करना है तो एक चरस के बराबर हो सकता है। इकाई का उचित परिमाण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न होता है जैसे रोटी की इकाई का उचित परिमाण एक स्वस्थ युवक के लिए एक रोटी है तो एक छोटे से बच्चे या रोगी व्यक्ति के लिए $\frac{१}{२}$ या $\frac{१}{३}$ रोटी ही होगा। यह इकाई का उचित परिमाण विभिन्न समय पर भी विभिन्न होता है जैसे लम्बे सिर के बालों के लिए इकाई का उचित परिमाण चालीस या पचास बूँद तेल के बराबर है परन्तु कुछ समय के उपरान्त किसी कारणवश यदि सिर के बाल काट डाले जायँ तो तेल की इकाई का उचित परिमाण उस समय बिल्कुल ही न्यून—लगभग सात आठ बूँद हो सकता है।

सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार यह भी आवश्यक है कि जिस व्यक्ति का हम अध्ययन कर रहे हैं उसकी रुचि, आदत

और आर्थिक स्थिति इत्यादि में कोई परिवर्त्तन न हो। मांस की उपयोगिता एक ब्राह्मण के लिए बिल्कुल शून्य है परन्तु यदि उसके सेवन का रिवाज उस जाति में हो जाता है तो उसकी उपयोगिता उस जाति के लिए बढ़ जायेगी। इसी तरह यदि एक व्यक्ति जिसको इमरती स्वादिष्ट नहीं लगती थी उस वस्तु को अब पसन्द करने लग जाय तो इमरती की उपयोगिता उसके लिए बढ़ जायेगी। बीड़ी-सिगरेट का सेवन न करने वाले को इन वस्तुओं के उपयोग की आदत पड़ने पर इनकी उपयोगिता बढ़ जायेगी। आर्थिक स्थिति के परिवर्त्तन से भी ऐसा ही परिणाम हो सकता है। एक अध्यापक के लिए मोटर की उपयोगिता में अधिक आय होने पर वृद्धि हो सकती है। ऐसे ही मजदूरों के लिए दूध या घी की उपयोगिता उनकी आय में वृद्धि होने से बढ़ सकती है।

अब हम इस नियम को एक उदाहरण देकर समझायेंगे। मान लीजिये कि एक व्यक्ति रोटियों का, जो बराबर और एक सी है, उपभोग करता है और पहली रोटी के उपभोग से उसको छः आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है और दूसरी रोटी के उपभोग से चार आने के बराबर। दूसरी रोटी की उपयोगिता पहली की अपेक्षा कम है क्योंकि पहली रोटी का सेवन करने से उसकी रोटियों की आवश्यकता की तीव्रता कम हो जाती है। इसी तरह तीसरी, चौथी इत्यादि रोटियों का उपभोग करने से क्रमशः घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होगी। मान लीजिये कि उस व्यक्ति को तीसरी रोटी से दो आने, चौथी रोटी से एक आने और पाँचवी से शून्य के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। पाँचवीं रोटी से कुछ भी उपयोगिता प्राप्त नहीं होने का कारण यह है कि चार रोटियों का उपभोग करने के उपरान्त उस व्यक्ति की रोटियों की आवश्यकता की लगभग पूर्ण सन्तुष्टि हो जाती है और वह पाँचवीं रोटी का उपभोग तभी करेगा जब वह उसे मुफ्त प्राप्त हो। यदि अब उसे छठी रोटी खाने के लिए कहा जाय तो वह उसे खाने के लिए तय्यार न होगा। इसके खाने से तो उसको कष्ट ही होगा क्योंकि उसकी रोटियों की आवश्यकता की पूर्ति पहले ही हो चुकी है। मान लीजिये यह कष्ट एक आने के बराबर होता है तो हम कह सकते हैं कि छठी रोटी की उपयोगिता–१ आना है या इस प्रकार कहिये कि उसकी अनुपयोगिता एक आने के बराबर है। सातवीं रोटी खाने से उसे और अधिक कष्ट होगा और उसकी अनुपयोगिता तीन आने के बराबर मानी जा सकती है। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि वह छठी और सातवी रोटी का उपभोग तभी करेगा जब उसको रोटी ही केवल मुफ्त न मिले बल्कि उसके साथ एक आना और तीन आना क्रमानुसार उसको दिया

जाय। नीचे के कोष्ठक से उसको विभिन्न रोटियों से प्राप्त हुई उपयोगिता स्पष्ट होती है:—

रोटियों की इकाई	प्राप्त उपयोगिता
१	६ आने
२	४ ,,
३	२ ,,
४	१ ,,
५	० ,,
६	–१ ,,
७	–३ ,,

इस कोष्ठक को उपयोगिता का कोष्ठक (Utility Schedule) कहते हैं। इसको नीचे दिये ग्राफ द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:—

अ अ' पर रोटियों की इकाई नापी गई है और अ ब पर प्राप्त

होनेवाली धन उपयोगिता और अ ब' पर ऋण उपयोगिता नापी गई है। पहली रोटी से ६ आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है अतः ग्राफ में यह बात क^1 बिन्दु से दिखाई गई है। इसी तरह क^2, क^3, क^4, क^5, क^6, क^7 बिन्दुओं से दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं रोटियों से क्रमानुसार प्राप्त हुई उपयोगिता दिखाई गई है। इन बिन्दुओं को मिला देने से रोटियों की उपयोगिता की वक्ररेखा क^{1}क^7 बनती है। रेखाचित्र द्वारा प्राप्त उपयोगिता का निरूपण करने में एक कमी रह जाती है। मान लीजिये कि हम एक बिन्दु ख' पहली और दूसरी रोटी के बीच में लेते हैं। यदि ख' से ख ख' अ ब के समानान्तर खींची जाय तो वह क^1 क^7 वक्ररेखा को ख बिन्दु पर काटती है। इससे यह प्रतीत होगा कि यदि एक रोटी के बाद आधी रोटी खाई जाय तो उसकी उपयोगिता ख' ख के बराबर है। परन्तु यह भूल है क्योंकि हमारे उदाहरण में तो रोटियों की इकाई का उचित परिमाण एक है और वह व्यक्ति एक एक इकाई में रोटियों का उपभोग करता है। इस भूल का परिणाम अधिक स्पष्ट हो जायेगा यदि हम रोटियों की अपेक्षा जूता, चश्मा या मोटर का उदाहरण लें। इन वस्तुओं का $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{3}$ कोई अर्थ नहीं रखता; क्योंकि $\frac{1}{2}$ जूता, चश्मा या मोटर बिल्कुल बेकार है। इसी तरह $\frac{1}{2}$ रोटी का हम विचार ही नहीं कर सकते जब कि हमारे उदाहरण में रोटियों की इकाई का उचित परिमाण एक रोटी है। इसी कारण सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अधीन बने कोष्ठक का वक्ररेखा द्वारा निरूपण नहीं करना चाहिए और यदि करें तो इस बात का ध्यान रखें कि उस वक्ररेखा में केवल पूरी इकाइयों के बिन्दुओं के ही कुछ अर्थ होते हैं। अस्तु, ऐसे कोष्ठक का निरूपण आयत द्वारा करना ही अधिक उचित है। म क^1, म^1 क^2, म^2 क^3, म^3 क^4, ग^1 क^6, ग^2 क^7 आयत द्वारा ही उक्त लिखित कोष्ठक का निरूपण किया गया है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि वक्ररेखा द्वारा निरूपण करने की रीति में जो कमी है वह उस पर निर्भर नहीं कि वस्तु विभाज्य है या अविभाज्य; क्योंकि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार वस्तु की इकाई उचित परिमाण में होनी चाहिए जो सदा समान रहे। आयताकार क्षेत्र इस बात को दर्शाता है कि इकाई की मात्रा अपरिवर्त्तनशील और निश्चित है। वक्ररेखा के द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता।

कुछ लेखक ऐसा कहते हैं कि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अन्य अपवाद हैं। अब हम उन पर विचार करेंगे। कहा जाता है कि टेलीफून एक ऐसा अपवाद है। यदि आपके घर में एक टेली-फून लगा हुआ है तो जैसे जैसे अधिक व्यक्तियों के घरों या दूकानों पर टेलीफून लगते हैं तो आपके टेलीफून की उपयोगिता बढ़ती जाती है

क्योंकि अब आप अधिक व्यक्तियों से टेलीफून पर बात कर सकते हैं। यह बिल्कुल सत्य है पर यह नियम का अपवाद नहीं। नियम तो केवल इतना ही कहता है कि यदि आपके पास एक टेलीफून है तो उसकी उपयोगिता दूसरे टेलीफून से अधिक होगी। उक्त लिखित उदाहरण में इस बात का मिलान न करके कुछ दूसरी ओर ही ध्यान आकर्षित किया गया है। इस उदाहरण में तो यह बताया गया है कि यदि १०० व्यक्तियों के पास टेलीफून हो तो आप उन १०० व्यक्तियों से ही बातचीत कर सकते हैं और जब ११० व्यक्तियों के पास टेलीफून है तो आप अधिक व्यक्तियों से अपने टेलीफून पर बातचीत कर सकते हैं। इसी कारण पहली स्थिति में टेलीफून की उपयोगिता कम है। इस उदाहरण में एक ओर तो विवेचित वस्तु एक ऐसा टेलीफून है जिससे १०० व्यक्तियों से बातचीत की जा सकती है और दूसरी ओर ऐसा टेलीफून है जिससे ११० व्यक्तियों से बातचीत की जा सकती है। यह दोनों विभिन्न वस्तुएँ हैं और नियम तो केवल समान वस्तुओं के उपभोग पर ही लागू होता है।

कभी कभी यह भी कहा जाता है कि वस्तु की इकाई की मात्रा अधिक न्यून हो तो प्रारंभ में प्राप्त उपयोगिता में वृद्धि होती है, जैसे, यदि पीने को एक एक बूँद पानी मिले और जलाने को एक एक कोयला तो प्रारंभ में प्राप्त उपयोगिता की वृद्धि होगी; क्योंकि एक बूँद पानी और एक कोयला तो व्यर्थ सी ही वस्तु है परन्तु जब आपके पास एक एक बूँद एकत्रित कर कुछ पानी इकट्ठा हो जाता है तो उससे प्यास बुझ सकती है। यह भी नियम का अपवाद नहीं है क्योंकि यहाँ वस्तु की इकाई का परिमाण उचित मात्रा से अत्यधिक न्यून है।

ऐसा भी कहा जाता है कि शराब व अन्य मादक वस्तुओं के सेवन में कुछ उपभोग करने के उपरांत उन वस्तुओं की आवश्यकता की तीव्रता बढ़ जाती है और इस कारण प्राप्त उपयोगिता में कुछ समय तक क्रमशः वृद्धि होती है। पहले तो इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि इन वस्तुओं की इकाई का उचित परिमाण विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न होगा। एक साधारण मनुष्य के लिए यह एक या आधी छटाँक हो सकता है जब कि एक शराबी के लिए एक पाव या आधा सेर होगा। जिस व्यक्ति के लिए इन वस्तुओं का उचित परिमाण आधा सेर है उसको यदि एक एक छटाँक शराब दी जायेगी तो उसको उक्त लिखित पानी के उदाहरण की तरह बढ़ती हुई उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। दूसरे, ऐसे उदाहरणों में इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि, हो सकता है इन वस्तुओं की एक इकाई के उपभोग के उपरांत उपभोक्ता की स्थिति

में परिवर्त्तन हो जाता हो तो यह नियम का अपवाद नहीं होता परन्तु परिवर्त्तित स्थिति के कारण नियम का लागू होना स्थगित कर दिया जाता है।

कुछ लोगों का यह मत है कि यह नियम अद्भुत, दुर्लभ या विचित्र वस्तुओं के लिए लागू नहीं होता, जैसे यदि एक व्यक्ति को सिक्के, टिकट, हस्ताक्षर एकत्रित करने की अभिरुचि (hobby) हो तो जैसे-जैसे उसका भंडार बढ़ता जाता है वैसे ही शेष नमूना की उपयोगिता बढ़ती जाती है क्योंकि उसका भंडार पूर्ण होने में क्रमशः घटते हुए नमूनों की आवश्यकता रह जाती है। यह लोग भूल जाते हैं कि प्रत्येक नमूना विभिन्न वस्तु है और नियम तो समान वस्तुओं के उपभोग पर ही लागू है। यदि उक्त लिखित व्यक्ति के पास अशोक सम्राट् का एक सिक्का हो तो बिल्कुल वैसे ही दूसरे, तीसरे इत्यादि सिक्कों की उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए क्रमशः घटती जायेगी। इसी तरह यदि उसके पास एक विशेष प्रकार का टिकट है तो वैसे ही दूसरे टिकट की उपयोगिता कम होगी और यदि उसके पास महात्मा गांधी का एक हस्ताक्षर है तो महात्मा जी के दूसरे हस्ताक्षरों की उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम होगी।

कुछ लेखकों के अनुसार धन और शक्ति की वृद्धि से उनकी उपयोगिता बढ़ती जाती है। यह तो सच है कि शक्ति या धन से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता इनकी बढ़ती हुई मात्रा से बढ़ती है परन्तु नियम के अनुसार तो सीमान्त उपयोगिता का ह्रास होता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए पहला रुपया दूसरे से अधिक आवश्यक है, दूसरा रुपया तीसरे से और तीसरा रुपया चौथे से अधिक आवश्यक है, इत्यादि। क्योंकि पहले रुपये से उसकी सबसे तीव्र आवश्यकता की पूर्ति होती है और दूसरे रुपये से उससे कम तीव्र आवश्यकता की। इसी तरह शक्ति के पहले अंश की उपयोगिता दूसरे अंश से अधिक होती है क्योंकि पहला अंश शक्ति की सबसे तीव्र आवश्यकता की पूर्ति करता है और दूसरा अंश उससे कम तीव्र आवश्यकता को।

यह भी कहा जाता है कि कुछ कविताएँ, संगीत या सिनेमा के गीत को बार बार सुनने से बढ़ती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति अनेक बार यह अनुभव करता है कि किसी संगीत इत्यादि को एक बार सुनने से उसकी आवश्यकता की पूरी सन्तुष्टि नहीं होती। यह तो अनेक वस्तुओं के लिए सत्य है, एक ही रोटी खाने से भूख तो नहीं मिट जाती और न एक कमीज बनवा लेने से कमीजों की आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि ही होती है। आप बार बार एक ही गीत इसलिए सुनते हैं कि एक बार सुनने के उपरान्त उस गीत की उपयोगिता शून्य नहीं हो जाती; परन्तु जब आप कई बार लगातार उसी गीत को सुन

चुकते हैं तो आप उसके सुनने से थक जाते हैं और फिर उसको उस समय सुनना नहीं चाहते। क्योंकि जब उस संगीत के सुनने की आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि हो जाती है तो उस समय उस संगीत को फिर सुनने की उपयोगिता शून्य हो जाती है। चाहे कुछ समय के उपरांत उस आवश्यकता का फिर उदय हो जाय। सारांश यह है कि उसी संगीत को लगातार सुनने से आरंभ में उपयोगिता अधिक प्राप्त होती है और अंत में शून्य। अर्थात् जैसे जैसे आप उस गीत को बार बार लगातार सुनते हैं वैसे वैसे उस गीत से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का ह्रास होता है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि आप उस गीत को आज सुनते हैं और दूसरी बार कुछ घण्टे या दिनों के उपरांत। इस दशा में यह हो सकता है कि पहली बार आपको कम उपयोगिता प्राप्त हो और दूसरी बार अधिक। यह नियम का अपवाद नहीं। नियम के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि उपभोग की क्रिया अविच्छिन्न हो ।

कुछ अर्थशास्त्री यह भी कहते हैं कि नियम तभी लागू होता है जब वस्तु के मूल्य में कोई परिवर्त्तन न हो । उनका कथन है कि यदि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जायेगा तो उसकी माँग घट जायेगी और उसकी उपयोगिता भी। और यदि उस वस्तु का मूल्य घट जायेगा तो लोग उसको अधिक मात्रा में खरीदेंगे और उसकी उपयोगिता भी उनके लिए बढ़ जायेगी। यह मत ठीक नहीं। यदि मूल्य बढ़ जाता है तो आप बढ़े हुए मूल्य पर अवश्य कम मात्रा में वह वस्तु खरीदते हैं और जब मूल्य घट जाता है तो अधिक मात्रा में। अर्थात् मूल्य के परिवर्त्तन से तो वस्तु की खरीदी मात्रा में परिवर्त्तन होता है, उपयोगिता में नहीं। पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि रोटियों का मूल्य दो आने है तो वह व्यक्ति तीन रोटियाँ खरीदेगा। अब यदि मूल्य बढ़ कर चार आने हो जाता है तो वह दो रोटियाँ ही खरीदेगा और यदि मूल्य घटकर एक आना ही रह जाता है तो वह चार रोटियाँ खरीदेगा। परन्तु इस मूल्य परिवर्त्तन से उपयोगिता में तो कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम का कोई अपवाद नहीं। यह नियम प्रत्येक व्यक्ति पर प्रत्येक समय लागू होता है । गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitation) यह कहता है कि पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपने केन्द्र की ओर आकर्षित करती है और सब वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि इस नियम का कोई अपवाद नहीं। परन्तु क्या आपने एक हवाई जहाज या गुब्बारे को नीचे गिरने की अपेक्षा हवा में ऊपर जाते नहीं देखा? इसी प्रकार जब मेज पर एक गिलास पानी रखा है तो वह नीचे जमीन पर क्यों नहीं

गिरता और जब आप उस गिलास को पानी पीने के लिए उठाते हैं तो वह नीचे गिरने की अपेक्षा आपके होंठों के पास क्यों जाता है? यह उदाहरण गुरुत्वाकर्षण के नियम के अपवाद नहीं परन्तु प्रत्येक उदाहरण में कोई ऐसी शक्ति काम करती है जिसके कारण नियम के लागू होने पर भी वस्तुएँ पृथ्वी पर नहीं गिरतीं। इसी तरह अनेक बार कुछ उपभोग की क्रियाओं में ऐसा प्रतीत होता है कि सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम लागू नहीं हो रहा है जब कि वास्तव में वह लागू है परन्तु कुछ प्रतिगामी शक्तियों के कारणों के प्रभाव से ही उपयोगिता बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

इस नियम का अर्थशास्त्र में अत्यधिक महत्व है। यह इस शास्त्र का वह प्रारम्भिक नियम है जिस पर अनेक अन्य नियम आधारित हैं। समसीमान्त उपयोगिता का नियम इसी पर निर्भर है, इसी तरह माँग के नियम का भी यही मूल है। 'राजस्व' के खण्ड में हम यह बतायेंगे कि इसी नियम से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि धन और साधनों की असमानता की घटती हुई मात्रा से समाज को अधिक लाभ है।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)

अब यह समझाना आवश्यक है कि सीमान्त उपयोगिता का ठीक ठीक क्या अर्थ है। जब एक व्यक्ति किसी वस्तु की कुछ इकाइयों का उपयोग करने के बाद आगे उपभोग करना रोक देता है तो इन उपभोग की गई इकाइयों में से अन्तिम इकाई को ही उस वस्तु की सीमान्त इकाई कहते हैं और इस इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता ही उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता कहलाती है। यदि वह किसी वस्तु की चार इकाइयों का उपभोग करने के उपरान्त उस वस्तु का उस समय और उपभोग नहीं करता तो यह चौथी इकाई ही सीमान्त इकाई है और इससे प्राप्त हुई उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। यदि वह दो इकाइयों का उपभोग करने के उपरान्त ही उस वस्तु का उपभोग रोक देता है तो ऐसी स्थिति में उस वस्तु की दूसरी इकाई सीमान्त इकाई होगी और उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की सीमान्त इकाई दूसरी या चौथी या सातवीं इकाई ही नहीं होती बल्कि कोई सी भी इकाई सीमान्त इकाई हो सकती है। अर्थात् सीमान्त इकाई एक निश्चित इकाई नही परन्तु यह उपभोग की इकाइयों की मात्रा पर ही निर्भर है। जब आप किसी वस्तु को खरीदते या एकत्रित करते है, तो उस वस्तु की कुल खरीदी हुई या एकत्रित की गई हुई इकाइयों में अन्तिम इकाई ही सीमान्त इकाई कहलाती है और उससे प्राप्त हुई उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। यदि आप पाँच नारंगियाँ

खरीदते है तो पाँचवी नारगी की उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता हुई और यदि दो ही खरीदते है तो दूसरे की। सीमान्त उपयोगिता शून्य और ऋण भी हो सकती है। पृष्ठ ८८ के उदाहरण मे यदि आप पाँच रोटियो का उपभोग करे तो सीमान्त उपयोगिता पाँचवी रोटी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता होगी जो शून्य है। यदि आप छ रोटियो का उपभोग करते है तो छठी रोटी सीमान्त इकाई हुई जिसकी अनुपयोगिता एक है। जब आप किसी वस्तु का अविच्छिन्न उपभोग करते है तो उस वस्तु की विभिन्न इकाइयो से प्राप्त हुई उपयोगिता मे क्रमश ह्रास होता जाता है और आप साधारणत उस वस्तु का उपभोग शून्य उपयोगिता से पहले ही रोक देते है क्योकि ससार मे वस्तुएँ मुफ्त नही मिलती। पृष्ठ ८८ के उदाहरण मे यदि आप पाँचवी रोटी का उपभोग करते है तो उससे उपयोगिता तो कुछ भी प्राप्त नही होती परन्तु उसका मूल्य तो आपको देना ही होगा। इसलिए पाँचवी रोटी के उपभोग करने से तो आपको हानि होती है और आप उसका उपभोग नही करेगे। आप पाँचवी रोटी का उपभोग तो तभी करेगे जब वह आपको मुफ्त मे मिले और छठी का तभी जब रोटी ही केवल मुफ्त मे न मिले परन्तु उसके साथ आपको एक आना भेट भी किया जाय। ऐसा हो सकता है कि जब रोटियो का मूल्य एक आना प्रति रोटी हो, आप भूल से पाँच रोटी खा जायँ और आपको पाँचवी रोटी खाने से एक आने की हानि हो। परन्तु आप जान-बूझकर पाँचवी रोटी का उपभोग कदापि न करेगे। भूल इस कारण हो जाती है कि उपभोग से पहले कभी आप उस इकाई से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता का ठीक ठीक अनुमान नही लगा पाते। यह साधारण अनुभव की बात है कि जब आप किसी दावत मे जाते है जहाँ बडा स्वादिष्ट भोजन बना हो तो खूब ठूँस-ठूँस कर खाते चले जाते है और अन्त मे पछताते है, "अरे भाई, आज तो बहुत खा गये इस कारण पेट फटा जा रहा है।" इस कष्ट को दूर करने के लिए किसी चूर्ण इत्यादि का सेवन करते है। ऐसी स्थिति मे जब आप भोजन कर रहे हो तब तो आप यही विचार करते है कि भोजन की इकाइयो की उपयोगिता अभी शून्य नही हुई है और खाना तभी रोकते है जब आप यह सोचते है कि भोजन की अन्तिम इकाई की उपयोगिता शून्य प्रतीत होती है। परन्तु कुछ ही देर बाद आपको यह अनुभव होता है कि अन्तिम इकाइयो की उपयोगिता का खाते समय आपने ठीक ठीक अनुमान नही लगाया था।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की कितनी इकाइयाँ खरीदता या उपभोग करता है यह उस वस्तु के मूल्य और उससे प्राप्त हुई उपयोगिता पर निर्भर है। पृष्ठ ८८ के उदाहरण

में यदि रोटियों का मूल्य दो आना प्रति रोटी है तो वह तीन रोटियों का उपभोग करेगा और जब मूल्य एक आना है तब चार का; अर्थात् मूल्य कम होने पर उपभोग की मात्रा में वृद्धि होती है। इसी प्रकार जब मूल्य एक आना है परन्तु प्राप्त उपयोगिता चौथी रोटी से डेढ़ आना और पाँचवीं से एक आना है तो वह पाँच रोटियों का उपभोग करेगा। परन्तु जब पाँचवीं रोटी की उपयोगिता शून्य है तो वह उसका उपभोग नहीं करता।

इस स्थान पर यह समझाना आवश्यक है कि जब आप चार रोटियों का उपभोग करते हैं या चार रोटियाँ खरीदते हैं तो चौथी रोटीसी मान्त रोटी हुई और उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता, परन्तु इन चारों में से कौन-सी रोटी चौथी या सीमान्त रोटी है? यह तो माना ही हुआ है कि चारों रोटियाँ समान हैं और इस कारण से कोई सी भी रोटी चौथी या सीमान्त रोटी हो सकती है। यदि हम इन रोटियों को अ, ब, स, द, नाम दे दें तो आप यदि अ, ब, स पहले खरीदते या उपभोग करते हैं तो चौथी रोटी द हो जायेगी और यदि आप पहले ब, स, द खरीदें या उपभोग करें तो अ सीमान्त रोटी हो जायेगी। सच तो यह है कि क्योंकि चारों रोटियाँ एक सी हैं आप कोई सी भी तीन पहले खरीद या उपभोग कर सकते हैं और अ, ब, स और द कोई सी भी सीमान्त रोटी हो सकती है। इस कारण हम इस परिणाम पर पहुँचे कि जब तक चारों रोटियाँ साथ हैं हम यह नहीं बता सकते कि इन चारों में से कौन सी चौथी या सीमान्त रोटी है क्योंकि कोई भी रोटी सीमान्त रोटी हो सकती है। इसलिए कौन सी विशेष रोटी चौथी है इसका पता तभी लग सकता है जब हम तीन रोटियों का उपभोग कर चुकें तो बची हुई चौथी रोटी ही सीमान्त रोटी है और कोई भी नहीं। यदि हम अ, ब, द रोटियाँ खा चुकते हैं तो स ही सीमान्त रोटी है। इसी तरह यदि हम चार रोटियाँ एक साथ खरीदें तो कोई सी भी सीमान्त रोटी हो सकती है परन्तु यदि हम दूकानदार से तीन रोटियाँ मोल ले लें और उसके क्षण बाद ही चौथी रोटी लें तो यही रोटी चौथी रोटी कहलायेगी। परन्तु जैसे ही हम चार रोटियाँ खरीद चुकें तो उनमें से कोई सी भी चौथी हो सकती है। उक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यदि हम यह पता लगाना चाहते हैं कि किसी वस्तु की कौन सी विशेष इकाई सीमान्त इकाई है तो यह तभी बता सकते हैं जब उस वस्तु के एक ढेर में से जो हमारे पास है या जो हम खरीदते हैं या तो हम एक इकाई कम कर दें या एक इकाई और जोड़ दें तो यह कम की गई हुई या जोड़ी हुई इकाई ही सीमान्त इकाई है। जैसे ही

इस इकाई को ढेर में मिला दिया जाता है तो इसकी विशेषता समाप्त हो जाती है और उसके ढेर में मिलने के बाद कोई सी भी इकाई सीमान्त इकाई हो सकती है क्योंकि वस्तु की प्रत्येक इकाइयाँ समान हैं। इसी तरह जब आपके सामने पाँच रोटियों का ढेर रखा है और आपको उनका उपभोग करना है तो उनमें से कोई सी भी रोटी पहली, दूसरी से लेकर सीमान्त रोटी तक हो सकती है क्योंकि सब रोटियाँ समान हैं परन्तु जब आप एक रोटी खा चुके तो वही रोटी पहली है और कोई सी नहीं। और जब आप दूसरी रोटी भी खा लेते हैं तो वही दूसरी हो जाती है और जब आप चार रोटियाँ खा चुकते हैं तो बची हुई रोटी ही पाँचवीं या सीमान्त रोटी है और उससे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता। इस स्थिति में और कोई सी भी रोटी सीमान्त रोटी नहीं हो सकती परन्तु जब आपके सामने पाँचों रोटियाँ रखी हैं तो कोई सी भी पाँचवीं या सीमान्त रोटी हो सकती है। चार रोटी खाने के उपरांत ही एक विशेष रोटी सीमान्त रोटी होती है।

सीमान्त उपयोगिता का अर्थशास्त्र में बड़ा महत्व है। आप एक वस्तु की कितनी इकाइयों का उपभोग या क्रय करते हैं यह सीमान्त उपयोगिता पर ही निर्भर है। यदि रोटियों का मूल्य दो आना है तो पृष्ठ ८८ में दिये उदाहरण के अनुसार आप तीन रोटियाँ ही खरीदेंगे क्योंकि चौथी रोटी का मूल्य प्राप्त होनेवाली उपयोगिता से अधिक है। ऐसी स्थिति में तीसरी रोटी से प्राप्त होनेवाली उपयोगिता रोटियों की सीमान्त उपयोगिता हुई और आप न तीन से अधिक खरीदेंगे, न उपभोग करेंगे। आप किसी भी वस्तु की विभिन्न इकाइयाँ खरीदते चले जायेंगे जब तक उससे प्राप्त हुई उपयोगिता मूल्य से अधिक है। अर्थात् आप सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य कदापि न देंगे। इस तरह कोई खरीददार या उपभोक्ता सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं देगा। 'अर्घ के सिद्धान्त' की व्याख्या करते समय हम बतलायेंगे कि सीमान्त उपयोगिता का किसी वस्तु का अर्घ या मूल्य निश्चय करने में कितना महत्व है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सीमान्त इकाई किसी वस्तु के मूल्य पर ही निर्धारित है। पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि रोटियों का मूल्य दो आना प्रति रोटी है तो आप तीन रोटियाँ खरीदेंगे और तीसरी रोटी सीमान्त रोटी हुई। यदि रोटियों का मूल्य एक आना प्रति रोटी है तो आप चार रोटियाँ खरीदेंगे और चौथी रोटी सीमान्त रोटी हुई और सीमान्त उपयोगिता एक आने के बराबर। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सीमान्त उपयोगिता का मूल्य को निर्धारित करने में बड़ा महत्व है और सीमान्त उपयोगिता मूल्य पर ही निर्भर है।

कुल उपयोगिता* (Total Utility)

यदि आप किसी वस्तु की कुछ इकाइयाँ खरीदें या उपभोग करें तो उन विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता का जोड़ ही उस वस्तु की कुल इकाइयों की कुल उपयोगिता हुई। जैसे पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि आप तीन रोटियाँ खरीदते या उपभोग करते हैं तो रोटियों की कुल उपयोगिता ६+४+२=१२ आने के बराबर हुई। और यदि आप चार रोटियाँ उपभोग करते हैं तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१=१३ आने के बराबर हुई। और यदि आप पाँच रोटियाँ खरीदते हैं तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१+०=१३ आने के बराबर हुई। जब आप छः रोटियाँ खरीदते हैं तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१+० (–१) =६+४+२+१+०–१=१२ आने के बराबर हुई। उक्त विवरण से यह परिणाम निकलता है कि जैसे जैसे किसी वस्तु की इकाइयों के उपभोग या क्रम में वृद्धि होती है वैसे ही कुल उपयोगिता भी बढ़ती जाती है परन्तु यह वृद्धि घटती हुई दर से होती है क्योंकि क्रमानुसार उपभोग या प्राप्त होनेवाली इकाइयों की उपयोगिता घटती जाती है। परन्तु जब किसी इकाई की उपयोगिता शून्य हो जाती है तो कुल उपयोगिता में वृद्धि नहीं होती। और जब उपभोग या प्राप्त होनेवाली इकाइयाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि उनसे ऋण उपयोगिता (अर्थात् अनुपयोगिता) प्राप्त होती है तो कुल उपयोगिता भी घटने लगती है।

औसत उपयोगिता (Average Utility)

उपभोग या प्राप्त होनेवाली इकाइयों की कुल उपयोगिता को उन इकाइयों की संख्या से भाग देकर जो उपयोगिता प्राप्त हो, उसीको औसत उपयोगिता कहते हैं; अर्थात् औसत उपयोगिता $= \frac{\text{कुल उपयोगिता}}{\text{उपभोग या क्रय की गई इकाइयों की संख्या}}$।
पृष्ठ ८८ के उदाहरण में यदि आप तीन रोटियाँ खरीदते या उपभोग करते हैं तो कुल उपयोगिता ६+४+२=१२ आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १२÷३=४ आने के बराबर हुई। यदि आप चार रोटियाँ खरीदते हैं तो कुल उपयोगिता ६+४+२+१=१३ आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १३÷४=३¼ आने के बराबर। इसी तरह जब आप पाँच रोटियों का उपभोग करते हैं तो कुल उपयोगिता तेरह आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १३÷५=२⅗ आने के बराबर।

---

* पृष्ठ १०८ भी देखिये।

जब आप छः रोटियाँ खरीदते हैं तो कुल उपयोगिता १२ आने के बराबर हुई और औसत उपयोगिता १२ ÷ ६ = २ आने के बराबर । अर्थात् जैसे जैसे उपभोग या क्रय की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे वैसे सीमान्त उपयोगिता के समान औसत उपयोगिता भी कम होती जाती है।

उपयोगिता का नाप*

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि उपयोगिता नापी नही जा सकती। प्रारम्भ में पेरटो (Pareto) ने ही इस विचार की व्याख्या की। प्रोफेसर रौबिन्स (Robbins), हिक्स (Hicks) और एलन (Allen) इत्यादि भी यही कहते हैं कि उपयोगिता नापी नहीं जा सकती। उनका कथन है कि आप यह तो कह सकते हैं कि एक फाउन्टेन पेन की उपयोगिता आपको एक पेन्सिल से अधिक है, परन्तु कितनी अधिक है यह ठीक ठीक नहीं नापा जा सकता; क्योंकि उपयोगिता के नाप का कोई मान नही। हम किसी वस्तु की लम्बाई या चौड़ाई गजों में ठीक ठीक नाप सकते हैं। इसी तरह किसी वस्तु का वजन मनों या सेरों में तोला जा सकता है और किसी व्यक्ति का तापक्रम थर्मामीटर से नापा जा सकता है और हम यह मिलान कर सकते हैं कि इस व्यक्ति का तापक्रम किसी दूसरे व्यक्ति से कितना कम या अधिक है; परन्तु उपयोगिता को इस प्रकार नहीं नापा जा सकता।(*)

हम इस मत से सहमत नहीं और हमारे विचार में तो जिस प्रकार किसी वस्तु की लम्बाई या वजन नापा जा सकता है उसी प्रकार उसकी उपयोगिता भी। उपयोगिता के नाप से या तो हमारा उद्देश्य यह हो सकता है कि हम यह तय कर सकें कि कुछ भिन्न वस्तुओं में कौन-सी वस्तु की उपयोगिता अधिक है और किसकी कम ; जैसे हम कह सकते हैं कि एक ताजी रोटी की उपयोगिता एक बासी और सूखी रोटी से हमारे लिए अधिक है। इस प्रकार उपयोगिता के नाप की संभावना तो उक्त लिखित मत वाले अर्थशास्त्री भी मानते हैं। परन्तु इस नाप से यह तो पता नहीं चलता कि एक अच्छी रोटी की उपयोगिता बुरी रोटी से कितनी अधिक है। इस बात का पता लगाने को हम उपयोगिता को

---

* इस विषय का विस्तार के साथ अध्ययन करने के लिए श्री जे० के० मेहता की Advanced Economic Theory पढ़िये।

(*) यहाँ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि उपयोगिता नापने के यन्त्र का आविष्कार नहीं हुआ है तो यह अर्थशास्त्र की त्रुटि नहीं, बल्कि भौतिक विज्ञानों की कमी है।

द्रव्य में नाप सकते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक लम्बाई गजों में नापी जाती है और प्रत्येक वजन मनों में नापा जाता है, उसी प्रकार उपयोगिता भी द्रव्य में नापी जा सकती है। जब हम किसी कमरे की लम्बाई नापते हैं तो हम वास्तव में यही नापते हैं कि वह कमरा लम्बाई में एक गज की लम्बाई से कितना गुना लम्बा है। जब हम एक गेहूँ के बोरे को तोल कर पता लगाते हैं कि उसका वजन ढाई मन है तो हमारा यही तात्पर्य होता है कि इसमें इतना वजन है कि जितना एक एक मन के ढाई बाटों में या एक एक सेर के १०० बाटों में। इसी तरह जब उपयोगिता का नाप द्रव्य में किया जाता है और हम कहते हैं कि किसी एक व्यक्ति को एक विशेष वस्तु की उपयोगिता पाँच रुपया है तो हमारा तात्पर्य यही होता है कि उस वस्तु की उपयोगिता उसे इतनी ही है कि जितनी उपयोगिता उसे एक एक रुपये के पाँच सिक्कों से प्राप्त होगी। अर्थात् हम किसी वस्तु की किसी व्यक्ति के लिए उपयोगिता द्रव्य की मात्रा से मिलाते हैं जैसे हम किसी वस्तु की लम्बाई गज की लम्बाई से या किसी वस्तु का वजन एक मन के वजन से मिलान करते हैं। उपयोगिता का नाप हम द्रव्य की अपेक्षा किसी वस्तु में भी कर सकते हैं जैसे हम कह सकते हैं कि एक फाउन्टेन पेन की उपयोगिता हमारे लिए एक मन गेहूँ (की उपयोगिता) के बराबर है और एक मोटर की उपयोगिता हमारे लिए तीन सौ मन गेहूँ (की उपयोगिता) के बराबर है। परन्तु उपयोगिता के नाप के लिए सबसे अच्छी वस्तु द्रव्य है। जैसे आप प्रत्येक वस्तु की लम्बाई एक आदमी या बच्चे या पशु की लम्बाई से भी नाप सकते हैं अर्थात् आप कह सकते हैं कि अमुक मेज की लम्बाई एक गाय की लम्बाई के बराबर है और अमुक कमरे की लम्बाई साढ़े चार गायों की लम्बाई के बराबर। परन्तु माप का यह मान इतना सरल और सुगम नहीं जितना कि एक गज है। इसी तरह गेहूँ, गाय, बकरी या अन्य वस्तु उपयोगिता के नाप के इतने सरल व सुगम साधन नहीं। यदि हम इस प्रकार कहें कि आपके लिए अमुक वस्तु की उपयोगिता दस मन गेहूँ के बराबर है और दूसरे व्यक्ति के लिए उसी वस्तु की उपयोगिता पाँच मन गेहूँ के बराबर है तो यह आवश्यक नहीं कि उस वस्तु की उपयोगिता आपके लिए दूसरे व्यक्ति से दुगुनी हो। सम्भव है कि उस वस्तु की उपयोगिता आपके लिए दस मन घुने और सुले गेहुँओं के बराबर हो जब कि दूसरे व्यक्ति के लिए पाँच मन श्रेष्ठ शर्बती गेहुँओं के बराबर। इसी तरह यह भी सम्भव है कि आप गेहुँओं की अपेक्षा चावल अधिक पसन्द करते हों और इसी कारण आप उस वस्तु के लिए दस मन गेहूँ देने को तय्यार हों। दूसरा व्यक्ति चावलों की अपेक्षा गेहूँ अकिध

पसन्द करता हो और इसी कारण उस वस्तु के लिए वह केवल पाँच मन गेहूँ ही देने को तय्यार हो परन्तु चावलों की मात्रा (जो उसे कम पसन्द है) वह आपके बराबर देने को तय्यार हो। ऐसी दशा मे यदि उस वस्तु की उपयोगिता गेहूँ मे नापी जाती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी उपयोगिता दूसरे व्यक्ति से दूनी है और जब उपयोगिता का नाप चावलों में करते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप दोनों को उस वस्तु की उपयोगिता बराबर है। ऐसी ही कठिनाइयों को पार करने के लिए उपयोगिता के नाप का मान द्रव्य माना जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि जब हम यह कहते है कि अमुक वस्तु की अमुक व्यक्ति के लिए आठ आने के बराबर उपयोगिता है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए आठ आने देने को तय्यार है। इसका यह भी अर्थ है कि जब उसके सामने यह निर्वाचन समस्या है कि या तो आठ आने ले ले या वह वस्तु ले ले तो वह उस वस्तु को ही प्राप्त करना चाहेगा। इस स्थिति मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब उस वस्तु की उपयोगिता आठ आने के बराबर है तो वह आठ आने की अपेक्षा उस वस्तु को ही लेना क्यों पसन्द करता है? वह उस वस्तु को ले या आठ आने को ले उसकी स्थिति में कोई अन्तर नही आता। यह बिल्कुल सत्य है। परन्तु यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि साधारणतः जब अर्थशास्त्र में हम यह कहते है कि अमुक वस्तु की उपयोगिता अमुक व्यक्ति के लिए आठ आने के बराबर है तो हमारा तात्पर्य वास्तव में यह होता है कि उस वस्तु की उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए आठ आने की उपयोगिता से कम नहीं वरन् कुछ अंशों में अधिक ही है और इसी कारण वह आठ आने की अपेक्षा उस वस्तु को प्राप्त करना उचित समझता है।*

अभ्यास के प्रश्न

१. सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम को समझाये। क्या इस नियम में कुछ अपवाद हैं?

२. सीमान्त उपयोगिता, कुल उपयोगिता और औसत उपयोगिता में अन्तर समझाइये।

---

*यदि हमें किसी वस्तु की एक व्यक्ति के लिए उपयोगिता द्रव्य में नापनी हैं तो हम उस वस्तु को उस व्यक्ति के सामने उपस्थित कर सकते है और यह अनुमान लगा सकते है कि वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक कितना द्रव्य देने को तय्यार है। यदि एक व्यक्ति पहली रोटी के लिए ८ आने देने को तय्यार है परन्तु ९ आने देने को तय्यार नहीं है तो पहली रोटी की उपयोगिता उसके लिए ८ आने के बराबर हुई। इसी प्रकार अन्य रोटियों की उपयोगिता भी नापी जा सकती है।

अध्याय ११

समसीमान्त उपयोगिता का नियम

(Law of Equi-marginal Utility)

मनुष्य के लिए स्वाभाविक है कि वह अपने सीमित साधनों से अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है और इसी कारण वह उन साधनों को उन वस्तुओं पर व्यय करता है जिनसे उसको अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति को सबसे अधिक उपयोगिता गेहूँ से प्राप्त होती हो परन्तु गेहूँ की विभिन्न मात्राओं की उपयोगिता के क्रमशः ह्रास के कारण वह अपने सारे साधन केवल गेहूँ की प्राप्ति में ही नहीं लगा देता बल्कि कुछ मात्रा में गेहूँ प्राप्त करने के उपरांत वह कुछ अन्य वस्तुएँ लेना चाहता है जिनकी पहली इकाई से गेहूँ की पहली इकाई की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होती है, अर्थात् वह सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के कारण एक वस्तु की कुछ मात्रा प्राप्त करने के बाद उस वस्तु की अपेक्षा दूसरी अन्य वस्तुएँ प्रतिस्थापित करता है। प्रतिस्थापन के नियम (Law of Substitution) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी और दूसरी वस्तु की अपेक्षा तीसरी इत्यादि वस्तुएँ प्राप्त करना पसन्द करता है जिससे उसकी कुल उपयोगिता अधिक से अधिक हो। मान लीजिये कि एक व्यक्ति टमाटर, आलू और अमरूद इन तीन वस्तुओं को खरीदना चाहता है और उसके पास बारह आने हैं और प्रत्येक आना इन विभिन्न वस्तुओं पर व्यय करने से उसको निम्नलिखित उपयोगिता प्राप्त होती है।

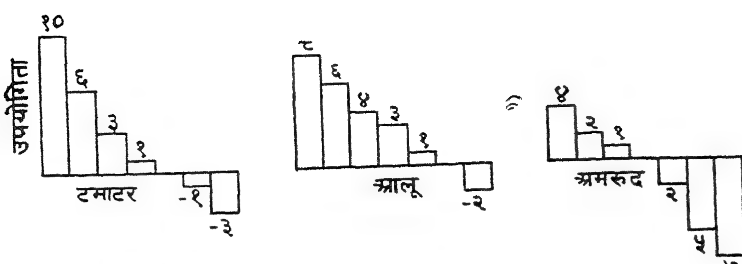
वस्तुओं की क्रमानुसार इकाई	वस्तुओं के नाम व उनसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिता आनों में।		
	टमाटर	आलू	अमरूद
पहली	१०	८	४
दूसरी	६	६	२
तीसरी	३	४	१
चौथी	१	३	०
पाँचवीं	०	१	−२
छठी	−१	०	−५
सातवीं	−३	−२	−७

इस उदाहरण में इस व्यक्ति को टमाटर सबसे अधिक पसन्द हैं परन्तु वह सारी इकन्नियाँ टमाटरों पर ही व्यय नहीं करता। वह पहली इकन्नी टमाटर पर व्यय करता है और दूसरी टमाटर पर न करके आलू खरीदता है; क्योंकि इस तरह उसके दो आने व्यय करने से कुल उपयोगिता अट्ठारह आने होती है जब कि यही उपयोगिता सोलह आने होती यदि वह दोनों आने टमाटर पर ही व्यय करता। कुल प्राप्त उपयोगिता को बढ़ाने ही के कारण वह टमाटर की दूसरी इकाई को आलू की पहली इकाई से प्रतिस्थापित करता है। इसी तरह वह अपनी बारह इकन्नियाँ क्रमानुसार निम्नलिखित रीति से करेगा :—

इकन्नियों की इकाई	वस्तु*	प्राप्त उपयोगिता आनों में
पहली	टमाटर	१०
दूसरी	आलू	८
तीसरी	आलू और टमाटर	६
चौथी		६
पाँचवीं	अमरूद और आलू	४
छठी		४
सातवीं	टमाटर और आलू	३
आठवीं		३
नवीं	अमरूद	२
दसवीं	टमाटर, आलू और अमरूद	१
ग्यारहवीं		१
बारहवीं		१
		४९

इस प्रकार उसकी कुल उपयोगिता अधिक से अधिक तभी होती है कि जब वह बारह आने इस तरह व्यय करे कि चार आने के टमाटर ले, पाँच आने के आलू और तीन आने के अमरूद। यह पृष्ठ १०१ पर दिये कोष्ठक से स्पष्ट है। यही परिणाम निम्न आयतों से और भी स्पष्ट हो जाता है :—

* प्रत्येक वस्तु की इकाई की मात्रा इतनी है जितनी वह वस्तु एक आने में आती है।



इसी प्रकार जब एक ही वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं तो उस वस्तु का प्रयोग उन अन्य उपयोगों में इस तरह किया जाता है कि प्रत्येक उपयोग से प्राप्त हुई सीमान्त उपयोगिता बराबर हो, क्योंकि तभी उस वस्तु की विभिन्न उपयोगों की कुल उपयोगिता अधिक से अधिक होगी। मान लीजिये कि एक किसान कुछ धान की उपज करता है। यह धान उसे अपने और अपने कुटुम्ब, गाय, बैलों को खिलाने के लिए और बीज व दान करने के लिए चाहिए। मान लीजिये कि इस धान की अन्य इकाइयाँ उक्त लिखित कार्यों में क्रमानुसार उपयोग करने से निम्नलिखित उपयोगिता प्राप्त होती है:—

धान का उपयोग	प्राप्त उपयोगिता
परिवार के खाने के लिए	१५, १२, १०, ८, ६, ४, ०
पशुओं को खिलाने के लिए	८, ६, ४, २, ०
बीज के लिए	१०, ८, ३, ०
दान करने के लिए	६, ४, ०

यदि उसके पास धान की एक इकाई है तो वह अपने परिवार के खाने के उपयोग में लायेगा और इसी तरह धान की दूसरी इकाई को भी। परन्तु धान की तीसरी इकाई को या तो परिवार के खाने के काम में लायेगा या बीज के लिए। चौथी इकाई को परिवार के खाने के लिए, यदि तीसरी इकाई बीज के काम में लाया हो तो अन्यथा बीज के लिए जब कि तीसरी इकाई भी परिवार के खाने के उपयोग में लाया हो। इसी तरह यदि उसके पास कुल सात इकाइयाँ हैं तो वह चार इकाई परिवार के खाने के काम में लायेगा, दो इकाई बीज के लिए और

एक इकाई पशुओं के लिए। और यदि उसके पास दस इकाइयाँ हैं तो वह पाँच इकाई परिवार के खाने के लिए उपयोग करेगा, दो इकाइयों का पशुओं के लिए, दो का बीज के लिए और एक इकाई दान के लिए। सारांश यह है कि वह अन्य इकाइयों को विभिन्न उपयोगों में इस तरह बाँटेगा कि प्रत्येक उपयोग की जहाँ तक सम्भव हो सीमान्त उपयोगिता बराबर हो और यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक उपयोग की अन्तिम इकाई की उपयोगिता लगभग बराबर करने का प्रयत्न करेगा और तभी उसकी कुल उपयोगिता अधिक से अधिक होगी। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु के वर्तमान और भविष्य के प्रयोग में बँटवारा इस प्रकार करता है कि दोनों कालों में उसकी सीमान्त इकाई की उपयोगिता समान हो। इसी प्रकार हम पानी का उपयोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस रीति से करते हैं कि पानी की अन्तिम इकाई से प्रत्येक उपभोग में बराबर या लगभग बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। इसी तरह जब हम अपनी पूरी आय का कुछ भाग व्यय करते हैं और कुछ भाग बचाते हैं तो हम उस आय को इन दो भागों में इस रीति से बाँटते हैं कि बचत और व्यय की अन्तिम इकाइयों से बराबर या लगभग बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। अर्थात् समसीमान्त उपयोगिता का नियम यह कहता है कि हमें अपने उपभोग या व्यय में प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर करनी चाहिए क्योंकि तभी अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है।

इस नियम में एक अड़चन है। यदि प्रत्येक वस्तुओं का एक मूल्य हो तो नियम उक्त लिखित रीति से सत्य है परन्तु संसार में तो विभिन्न वस्तुओं का विभिन्न मूल्य है। एक मोटर दस हजार रुपये में आती है, एक कुर्सी पन्द्रह रुपये में, एक रोटी एक आने में और एक पेन्सिल तीन आने में। क्या हमें अपनी आय इस तरह व्यय करनी चाहिए कि इन प्रत्येक वस्तुओं की अन्तिम इकाइयों से बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। ऐसा करना न सम्भव ही है और न हमारे हित में। रोटी की चौथी या पाँचवीं इकाई से एक आना उपयोगिता प्राप्त हो सकती है परन्तु यदि आपके पास सौ मोटर हों तो भी अन्तिम मोटर की उपयोगिता एक आने से तो ज्यादा ही होगी। दूसरी ओर यह भी विचार कीजिये कि पहली रोटी से एक रुपये बराबर उपयोगिता प्राप्त होती हो तो क्या आप अपना अत्यधिक धन मोटरें खरीदने में ही व्यय कर देंगे? एक रुपये से अधिक बहुत-सी मोटरों की उपयोगिता होगी इस कारण आप कई मोटरें लेंगे जब तक मोटर की अन्तिम इकाई से एक रुपये के बराबर उपयोगिता प्राप्त हो और तभी एक रोटी खरीदेंगे। ऐसा करने में आपकी अधिक हानि

होगी ; क्योंकि मोटर का दाम दस हजार रुपया है और मोटर की प्रत्येक इकाई खरीदने से जिसकी उपयोगिता दस हजार रुपये से कम है आपको हानि होगी जब कि रोटी की पहली इकाई खरीदने से (जिसको आप स्थगित कर देते हैं क्योंकि मोटरों की इकाई से एक रुपये से अधिक उपयोगिता है) आपका पन्द्रह आने के बराबर उपयोगिता का लाभ है; क्योंकि रोटी की उपयोगिता एक रुपया है और मूल्य एक आना। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नियम की उक्त लिखित व्याख्या ठीक नहीं। यदि किसी एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु से दुगुना है तो इसकी सीमान्त उपयोगिता दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से दुगुनी होनी चाहिए, वरना इस वस्तु के खरीदने की अपेक्षा दूसरी वस्तु की ही और इकाइयाँ खरीदना अधिक लाभदायक है। इस कारण हम नियम की व्याख्या निम्न-लिखित रीति से कर सकते हैं :—

यदि कोई व्यक्ति विभिन्न वस्तुओं का उपभोग करे या अपनी आय या धन विभिन्न वस्तु या कार्यों पर विभाजित करे तो उस उपभोग, आय या धन से उस व्यक्ति को अधिक से अधिक उपयोगिता तभी प्राप्त होगी जब वह उपभोग या व्यय इस रीति से करे कि $\frac{\text{अ वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{अ वस्तु का मूल्य}}$

$$= \frac{\text{ब वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ब वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{ख वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ख वस्तु का मूल्य}} \text{ इत्यादि।}$$

इस व्याख्या में उक्त लिखित मात्राएँ जहाँ तक हो बराबर होनी चाहिए और जहाँ यह सम्भव न हो तो इन मात्राओं में कम से कम अन्तर होना चाहिए। व्यवहार में इन मात्राओं का बराबर करना सम्भव नहीं होता, इसलिए जहाँ तक सम्भव हो इन मात्राओं का अन्तर कम-से-कम होना चाहिए।

उक्त लिखित कठिनाई के कारण कुछ लेखक यह कहते हैं कि मनुष्य को अपनी आय इस तरह व्यय करनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय होने वाले रुपयों की सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर हो। परन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं क्योंकि जब आप एक मोटर दस हजार रुपये में खरीदते हैं और एक कुर्सी पन्द्रह रुपये में खरीदते हैं तो इस मोटर या कुर्सी पर व्यय होने वाले रुपयों की अलग-अलग कुछ भी उपयोगिता नहीं। वह मोटर जिसका मूल्य दस हजार है उस पर ९९९९ रुपये व्यय करने से कुछ भी उपयोगिता प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि इतने रुपयों से मोटर खरीदी नहीं जा सकती। इसी तरह साढ़े सात रुपये में आप आधी कुर्सी नहीं खरीद सकते। मोटर और कुर्सी विभाज्य वस्तुएँ नहीं। इसलिए इन वस्तुओं पर व्यय किये अन्य रुपयों की अलग अलग

उपयोगिता शून्य है; परन्तु इन वस्तुओं पर व्यय किये रुपयों को हम एक समूह के रूप में देखें तब ही उसकी कुछ उपयोगिता है अन्यथा कुछ भी उपयोगिता नहीं।

इस नियम का भी कोई अपवाद नहीं। परन्तु हो सकता है कि कुछ प्रतिगामी शक्तियों के कारण इस नियम के लागू होने में अड़चन आ जाय। प्रत्येक मनुष्य व्यय या उपभोग इसी नियम के अनुसार स्वभावतया करता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श अधिक से अधिक उपयोगिता और सुख प्राप्त करना है। हो सकता है कि कभी कभी अज्ञानवश या लापरवाही या भूल से इस नियम के अनुसार कोई व्यक्ति व्यय या उपभोग न करे।

समसीमान्त उपयोगिता और प्रतिस्थापन-नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रतिस्थापन नियम उत्पादन में भी लागू होता हैऔर 'राजस्व' में हम देखेंगे कि राज्य अपना व्यय एक ऐसे ही नियम के अनुसार करता है कि जो समसीमान्त उपयोगिता के नियम पर ही आधारित है।

अभ्यास के प्रश्न

१. समसीमान्त उपयोगिता का नियम समझाइये? जब वस्तुओं का मूल्य विभिन्न होता है तो यह नियम किस प्रकार लागू होता है?
२. प्रतिस्थापन के नियम का उपयोग में क्या महत्व है?

अध्याय १२

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

यह तो हम समझा चुके हैं कि जब एक व्यक्ति किसी वस्तु की अनेक इकाइयों को खरीदता या उनका उपभोग करता है तो उन विभिन्न इकाइयों से क्रमशः घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु प्रत्येक इकाई का मूल्य तो वह बराबर ही चुकाता है क्योंकि प्रत्येक इकाइयाँ समान हैं। एक ओर तो वस्तु की अन्य इकाइयों की उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है और दूसरी ओर उन विभिन्न इकाइयों का मूल्य एक ही होता है। ऐसी दशा में अन्तिम या सीमान्त इकाई की उपयोगिता उस इकाई के मूल्य से कम नहीं होती वरन् कुछ अधिक हो सकती है अन्यथा उस इकाई का उपयोग करने से हानि होगी। विभिन्न खरीदी हुई या उपयोग की गई इकाइयों में सीमान्त इकाई से प्रत्येक पहली इकाई की उपयोगिता सीमान्त इकाई की उपयोगिता से अधिक होती है और इसी कारण उन प्रत्येक इकाइयों की उपयोगिता अपने मूल्य से अधिक होती है। किसी वस्तु के मूल्य और उससे प्राप्त हुई उपयोगिता में जो अन्तर होता है उसी को प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल (Marshall) ने उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) का नाम दिया। जो मूल्य उपभोक्ता देता है उसकी उपयोगिता उस वस्तु की उपयोगिता की अपेक्षा उसके लिए कम होती है। यदि वस्तु का क्रय-विक्रय द्रव्य की अपेक्षा वस्तुओं की सहायता से ही हो, जैसे आप गेहूँ द्रव्य देकर नहीं बल्कि कपड़ा देकर मोल लें, तो जो उपयोगिता प्राप्त की गई वस्तु से आपको मिलती है वह जो वस्तु आप उसके बदले में देते है उसकी उपयोगिता से आपके लिए अधिक है अन्यथा आप यह अदल-बदल करने को तय्यार हो न होंगे। ऐसी दशा में हम कह सकते है कि उपभोक्ता की बचत से हमारा तात्पर्य उस उपयोगिता से होता है जो प्राप्त उपयोगिता और बदले में दी गई वस्तु की उपयोगिता का अन्तर है। जैसे यदि आप कुछ कपड़ा देकर कुछ गेहूँ लें और यदि आपके लिए गेहूँ की उपयोगिता एक रुपये के बराबर है और कपड़े की उपयोगिता बारह आने के बराबर, तो उपभोक्ता की बचत = १ रुपया – १२ आने = ४ आने। या हम इस प्रकार भी कह सकते है कि उपभोक्ता की बचत लागत और

प्राप्त उपयोगिता का अन्तर है। जब आप एक वस्तु को प्राप्त करने के लिए दूसरी वस्तु या द्रव्य देते है तो यह द्रव्य या दी गई वस्तु प्राप्त की गई वस्तु की लागत ही तो है।

उपभोक्ता की बचत का अनुभव वास्तव में तृप्ति या सन्तुष्टि में होता है। जिस प्रकार उपयोगिता का नाप हम द्रव्य मे करते है, उसी प्रकार उपभोक्ता की बचत जब द्रव्य में परिणत की जाती है तो वह उपभोक्ता की बचत की आर्थिक नाप होती है। उपभोक्ता की बचत की मात्रा प्राप्त की गई वस्तु की उपयोगिता और उसका मूल्य या उसके बदले मे दी गई वस्तु की उपयोगिता पर ही निर्भर है क्योकि—

उपभोक्ता की बचत = प्राप्त उपयोगिता — मूल्य

प्राप्त उपयोगिता की मात्रा मूल्य से जितनी अधिक होगी उतनी ही उपभोक्ता की बचत की मात्रा भी अधिक होगी। जब हम एक ही वस्तु की कई इकाइयाँ खरीदते या उपभोग करते है तो उक्त लिखित सूत्र निम्नलिखित रीति से लिखा जा सकता है :—

उपभोक्ता की बचत = कुल उपयोगिता–(मूल्य × वस्तु की प्राप्त इकाइयाँ)।

इसको स्पष्ट करने के लिए हम पृष्ठ ८८ में दिये उदाहरण को ही ले सकते है। आपको रोटियो की विभिन्न इकाइयों से क्रमानुसार ६, ४, २, १, ०, –१, –३. . . .आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि रोटियो का मूल्य एक आना है तो आप चार ही रोटियाँ खरीदेगे क्योकि पाँचवी रोटी खरीदने से आपको हानि होती है। प्रत्येक रोटी का मूल्य एक आना ही है क्योंकि वे समान है। परन्तु पहली रोटी से आपको छः आने के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है इस कारण पहली रोटी से प्राप्त हुई उपभोक्ता की बचत ६–१ = ५ आने के बराबर है, इसी प्रकार दूसरी से तीन आने के बराबर और तीसरी से एक आने के बराबर और चौथी से शून्य उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। तो कुल उपभोक्ता की बचत ५ + ३ + १ + ० = ९ आने के बराबर या

उपभोक्ता की बचत = कुल उपयोगिता (मूल्य × वस्तु की प्राप्त इकाइयाँ)

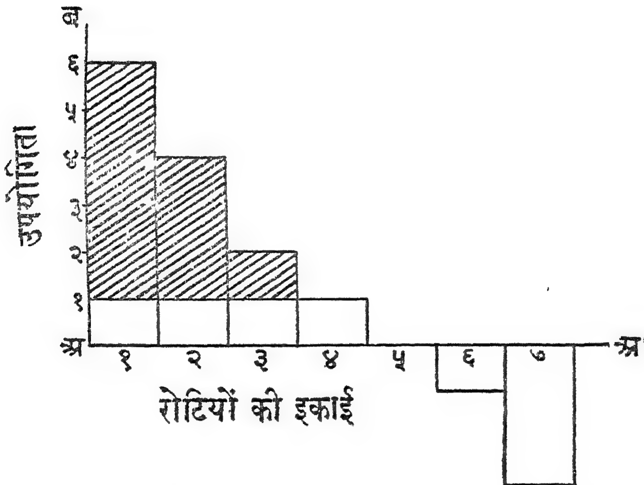
= ६ + ४ + २ + १–(१ × ४)

= १३–४

= ९ आने।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि किसी वस्तु की कुल उपयोगिता इस प्रकार तभी जोड़ी जा सकती है जब उस वस्तु की विभिन्न इकाइयों का उपभोग अविच्छिन्न हो। यदि उस वस्तु की कुछ इकाइयो का उपभोग अभी किया जाय और कुछ इकाइयो का किसी और समय तो यह आवश्यक नही कि इन दो समयों पर उपभोग की गई इकाइयों की उपयोगिता में

क्रमानुसार ह्रास हो। ऐसी स्थिति में तो केवल इतना होना ही आवश्यक है कि पहले समय में उपभोग की गई इकाइयों की उपयोगिता में क्रमानुसार ह्रास हो और इसी तरह दूसरे समय उपभोग की गई विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता में भी क्रमानुसार ह्रास हो। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन दो विभिन्न उपयोगिताओं के क्रम में कुछ पारस्परिक सम्बन्ध हो। उक्त लिखित उदाहरण का हम निम्न आयतों द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं :—



अ अ' पर रोटियों की इकाइयाँ नापी गई हैं और अ ब पर उनसे प्राप्त हुई उपयोगिता।

यदि आप रोटियों का उपभोग या क्रय न कर सकें तो यह द्रव्य आप किसी अन्य वस्तु पर व्यय करेंगे। इस अन्य वस्तु से आपको रोटियों की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होगी। यदि रोटियों की अपेक्षा उन वस्तुओं से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती तो आप उन्हीं को खरीदते; उनको न खरीद कर आप रोटियाँ मोल लेते हैं इससे यह स्पष्ट है कि रोटियों की उपयोगिता इन अन्य वस्तुओं की उपयोगिता से अधिक है। अर्थात् यदि आपको रोटियाँ खरीदने का अवसर न मिले या आप ऐसे वातावरण में हों जहाँ रोटियाँ न मिलती हों तो आपको जो उपभोक्ता की बचत रोटियाँ मोल लेने से प्राप्त होती है उसकी हानि होगी। इसी कारण मार्शल ने कहा है कि उपभोक्ता की बचत को हम अवसरों या वातावरण से प्राप्त हुआ लाभ कह सकते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब आपको किसी वस्तु की पहली

इकाई से उसकी अन्य इकाइयों की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है तो उस वस्तु का विक्रेता आपसे पहली वस्तु का अधिक मूल्य क्यों नही माँगता? उक्त उदाहरण में वह पहली रोटी का छः आना, दूसरी का चार आना, तीसरी की दो आना और चौथी का एक आना न माँग कर प्रत्येक रोटी का एक एक आना ही क्यों लेता है? इसका कारण यह है कि उसको यह ठीक ठीक मालूम नही कि उसके अन्य ग्राहकों को उस वस्तु की विभिन्न इकाइयो से कितनी कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, और यदि मालूम भी हो तो वह एक आने से अधिक मूल्य इसलिए नही माँगता कि दूसरे विक्रेता वैसी ही रोटियाँ एक एक आने में बेच रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि वह एक आने से अधिक मूल्य माँगेगा तो उसकी रोटियाँ नही बिकेंगी। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि विक्रेता को भी उपभोक्ता की बचत के समान एक लाभ होता है। विक्रेता रोटियाँ बेचता है और उसके बदले में द्रव्य लेता है। इसीको हम दूसरी दृष्टि से देख सकते हैं और कह सकते हैं कि वह भी एक खरीददार है। वह रोटियाँ नहीं बल्कि द्रव्य खरीदता है जिसका मूल्य वह रोटियों में चुकाता है। उसे भी इस द्रव्य के खरीदने में उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। इस द्रव्य की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता में भी क्रमानुसार ह्रास होता है, अर्थात् प्रारंभ की इकाइयों की उपयोगिता बाद की इकाइयों की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक होती है और अन्तिम इकाई की उपयोगिता सबसे कम। परन्तु द्रव्य की अन्तिम इकाई की उपयोगिता इस विक्रेता के लिए जो रोटी उस इकाई के बदले में वह देता है उसकी उपयोगिता से कम नहीं होती। इसलिए द्रव्य की अन्तिम से पहली इकाइयों की उपयोगिता रोटियों की इकाइयों की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक है। इसी बात को हम दूसरी रीति से भी समझा सकते हैं। इस विक्रेता के पास रोटियों का ढेर है जिसकी विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता उसके लिए क्रमानुसार घटती हुई उपयोगिता है। अर्थात् अन्तिम रोटी की उपयोगिता उसके लिए सबसे कम है और पहली रोटी की उपयोगिता अन्य रोटियों की अपेक्षा अधिक है। जब वह पहली रोटी भी एक आने में बेचने को तय्यार है तो यह स्पष्ट है कि पहली रोटी की उपयोगिता एक आने से अधिक नहीं है। दूसरी, तीसरी, चौथी व अन्तिम रोटी की उपयोगिता क्रमानुसार घटती जाती है और एक आने से कम है। परन्तु उन रोटियों को भी वह एक आने की दर से बेचता है। सारांश यह है कि दूसरी, तीसरी, चौथी व अन्तिम रोटी के बेचने से उसको उपयोगिता का लाभ होता है और यह लाभ अन्तिम रोटी (जिसको है वह सबसे पहले बेचेगा) पर सबसे अधिक।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने उपभोक्ता की बचत की आलोचना की है। जीवित रहने की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं की उपयोगिता तो असीमित होती है। इस कारण इन वस्तुओं से प्राप्त हुई उपभोक्ता की बचत तो असीमित होगी। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब हम यह कहते हैं कि गेहूँ की रोटी से हमारी जीवित रहने की आवश्यकता की पूर्ति होती है तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम गेहूँ की पहली इकाइयों के खरीदने के लिए बहुत-सा द्रव्य देने को तय्यार होंगे। यदि गेहूँ का मूल्य बहुत बढ़ जाता है तो हम गेहूँ की अपेक्षा चने की रोटी या चावल का उपभोग करेंगे। यह तो सच है कि जीवित रहने के लिए हम कुछ भी त्याग या श्रम करने को प्रस्तुत रहते हैं। हम खाना या पानी प्राप्त करने के लिए परिश्रम करते हैं परन्तु यदि इन वस्तुओं को परिश्रम से प्राप्त न कर सकें तो भिक्षा माँगेंगे, चोरी करेंगे, डाका डालेंगे और किसी न किसी रीति से जीवित रहने का प्रयत्न करेंगे। कोई बहुत पहुँचे हुए महात्मा या बहुत नीचे गिरे हुए व्यक्ति ही अनुचित कार्य या संघर्ष करने की अपेक्षा भूखे मर जायेंगे। सन् १९४२ के बंगाल के अकाल में जो लोग भूखों मरे, वह इतने नीचे गिर गये थे कि उनमें इतनी भी शक्ति नहीं थी कि वह जीवित रहने को अनाज के लिए संघर्ष करते।

उपभोक्ता की बचत के विचार से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की उपयोगिता उसके मूल्य के बराबर ही नहीं होती वरन् साधारणतया उससे कुछ अधिक होती है। इस विचार का राजस्व में बड़ा महत्व है। जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो उसकी माँग या उपभोग में कमी होती है जिससे कि अनेक व्यक्तियों को उपभोक्ता की बचत की हानि होती है। इस कारण अर्थमन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ तक हो ऐसे ही कर लगाये जाँय कि जिससे जनता को उपभोक्ता की बचत में कम से कम हानि हो। इस विचार से ही हम यह पता लगा सकते हैं कि किसी व्यक्ति को विभिन्न अवसरों पर या विभिन्न स्थानों पर कितनी उपभोक्ता की बचत होती है और इसका भी अनुमान लगा सकते हैं कि दो व्यक्तियों को अलग अलग स्थानों पर रहने से कितनी उपभोक्ता की बचत होती है। यदि अन्य बातें समान हों तो हम कह सकते है कि जिस व्यक्ति या जिस स्थिति में उपभोक्ता की बचत अधिक है उस स्थिति में सुख भी अधिक होगा। उपभोक्ता की बचत के विचार से ही हम यह भी अनुमान लगा सकते है कि कोई वस्तु या सेवा जन-साधारण की उन्नति या भलाई में कितना महत्व रखती है।

जिस वस्तु से उपभोक्ता की बचत अधिक प्राप्त होती है उसका प्रभाव उपभोक्ता के सुख या उन्नति पर उतना ही अधिक होता है* ।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'उपभोक्ता की बचत' का अर्थ समझाइये और उसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये ।

२. उपभोक्ता की बचत पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और इसका महत्व बताइये ।

---

* यदि चाय पीने वालों को चाय और काफी दोनों ही न मिलें तो उनको अधिक कष्ट होगा और ऐसी स्थिति की अपेक्षा जब इनमें से एक ही वस्तु नहीं मिलती है उपभोक्ता की बचत की अधिक हानि होगी । इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए मार्शल ने यह सुझाव रखा कि स्थानापन्न या प्रतिद्वन्द्वी वस्तुओं को समूहबद्ध करके एक वस्तु मानना चाहिए ।

अध्याय १३

माँग

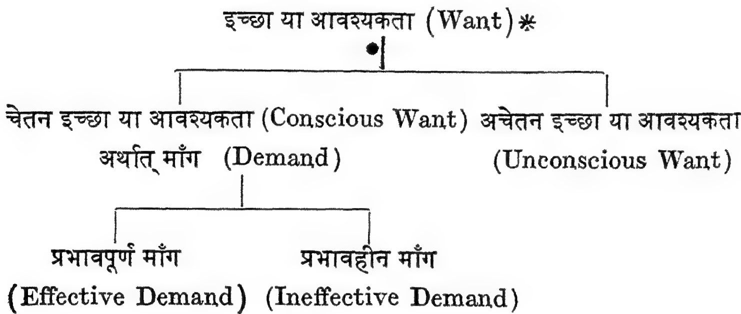
इच्छा (Desire), आवश्यकता (Want) और माँग (Demand) का साधारण बोलचाल में और अर्थशास्त्र में भिन्न भिन्न अर्थ है। यहाँ हम इन शब्दों का जो अर्थशास्त्र में अर्थ होता है वह समझायेंगे। कुछ लेखकों का कथन है कि यदि किसी वस्तु के प्राप्त या उपभोग करने से किसी व्यक्ति को सुख का अनुभव होता हो तो उस व्यक्ति को उस वस्तु की इच्छा होती है, जैसे यदि एक व्यक्ति को एक मोटर प्राप्त होने से सुख होता है चाहे उसके पास मोटर खरीदने के साधन हों या न हों तो कहा जा सकता है कि उस व्यक्ति को एक मोटर प्राप्त करने की इच्छा है। इन्हीं लेखकों के अनुसार माँग उस इच्छा को कहते हैं कि जिसकी पूर्ति करने के लिए उस व्यक्ति के पास उस वस्तु को प्राप्त करने के पर्याप्त साधन हों और साथ ही साथ उन साधनों को देकर उस वस्तु को प्राप्त करने की तत्परता भी हो। एक मोटर प्राप्त होने से निर्धन मनुष्य को भी सुख होगा परन्तु उसके पास उस मोटर खरीदने के पर्याप्त साधन नहीं। इसी कारण उस व्यक्ति को मोटर की इच्छा है, माँग नहीं। ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति को मोटर प्राप्त करने से सुख हो और उसके पास उस मोटर को खरीदने के पर्याप्त साधन भी हों; परन्तु यदि वह उन साधनों का प्रयोग करने को तत्पर न हो तो उसको भी मोटर की इच्छा है, माँग नहीं; क्योंकि उसकी इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकती। इसी कारण वह माँग नहीं कही जा सकती। माँग तो केवल उन्हीं इच्छाओं को कहा जाता है कि जिनकी पूर्ति हो सकती हो। कुछ लेखक आवश्यकता और माँग में कुछ अन्तर नहीं करते और कुछ इच्छा और आवश्यकता में।

इच्छा, आवश्यकता और माँग के अन्तर की उपरोक्त व्याख्या से हम सहमत नहीं। इसका कारण यह है कि उक्त लिखित माँग का अर्थ मानने से तो माँग और प्रभावपूर्ण माँग में कोई अन्तर नहीं रहता। जिन इच्छाओं की पूर्ति के लिए एक व्यक्ति के पास पर्याप्त साधन हों और वह उन साधनों का प्रयोग करने के लिए तत्पर भी हो तो वह उसकी प्रभावपूर्ण माँग (Effective Demand) कहलायेगी। यदि माँग का

उक्त लिखित अर्थ मान लिया जाय तो अनेक वस्तुओं की माँग शून्य होगी जब कि उनका मूल्य बहुत अधिक होगा। यदि एक पेन्सिल का मूल्य दस रुपये हो तो प्रायः कोई भी व्यक्ति जिसकी स्थिति दस रुपये दे सकने के योग्य हो तो भी उसे खरीदने को तय्यार न होगा, तब हमें यह कहना पड़ेगा कि पेन्सिलों की माँग शून्य है। परन्तु सच यह है कि पेन्सिलों की माँग शून्य है जब मूल्य दस रुपये हैं और जैसे जैसे मूल्य घटता जाता है उसकी माँग बढ़ती जाती है। जितनी भी पेन्सिलें किसी भी विशेष मूल्य पर बिकती हैं वह पेन्सिलों की माँग नही बल्कि प्रभावपूर्ण माँग है। उस विशेष मूल्य में वृद्धि या कमी होने से पेन्सिलों की बिक्री कम या अधिक होती है अर्थात् हम कह सकते हैं कि यदि विशेष मूल्य से मूल्य अधिक हो जाता है तो पेन्सिलों की माँग बढ़ जायेगी और उस स्थिति में जितनी पेन्सिलें वास्तव में बिकेंगी वही पेन्सिलों की प्रभावपूर्ण माँग की मात्रा होगी।

यदि किसी वस्तु के उपभोग या प्राप्त करने से किसी व्यक्ति को सुख मिलता हो तो हम कह सकते हैं कि उस व्यक्ति को उस वस्तु की इच्छा है। यदि उस इच्छा की पूर्ति न हो तो उसको दुःख होता है; परन्तु अनेक बार ऐसा भी होता है कि एक विशेष वस्तु के प्राप्त होने से तो सुख हो और यदि प्राप्त न हो तो कोई दुख न हो। जैसे आप अपने मित्र से मिलने जाँय, और आपको न कोई इच्छा हो और न कोई आशा हो कि वह आपको जलपान करायेगा, परन्तु जब आप उसके घर पहुँचते हैं तो वह चाय पीता मिलता है और आपको भी एक प्याला चाय पिला देता है। यदि वह चाय पीता न होता तो आपको भी चाय न पिलाता और उस स्थिति में चाय न पीने से आपको कुछ भी दुःख न होता। परन्तु जब वह आपको चाय पिला देता है तो आपको उससे सुख होता है अन्यथा आप चाय का सेवन कदापि न करते। इससे यह स्पष्ट है कि आपको चाय की इच्छा या आवश्यकता तो थी, (अन्यथा उसके सेवन से सुख कैसे होता) परन्तु यह इच्छा चेतन न थी और इसी कारण चाय न पीने से कोई दुःख नहीं होता। अर्थात् हम मानसिक इच्छाओं को दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) चेतन इच्छाएँ और (२) अचेतन इच्छाएँ। चेतन इच्छाएँ वे होती हैं जिनकी पूर्ति से सुख प्राप्त होता है और यदि उनकी पूर्ति न हो सके तो दुःख होता है। और अचेतन इच्छाएँ वे होती हैं जिनकी पूर्ति से सुख प्राप्त होता है और जिनकी पूर्ति न होने से दुःख नहीं होता; क्योंकि ऐसी इच्छाओं का तो अनुभव ही नही होता और दुःख तो केवल अनुभव की हुई इच्छाओं (चेतन इच्छाओं) की पूर्ति न होने से ही होता है। मनुष्य प्रत्येक चेतन इच्छा की पूर्ति करना चाहता है, क्योंकि तभी उसका दुःख

शून्य हो सकता है। इस कारण वह प्रयत्न करता है कि अपनी समस्त चेतन इच्छाओं की पूर्ति करे; परन्तु सीमित साधनों से असीमित चेतन इच्छाओं की पूर्ति सम्भव नहीं। जब उसकी आय में वृद्धि होती है या वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं तो वह अधिक इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। चेतन इच्छाओं को ही हम माँग कहेंगे और चेतन इच्छाओं की पूर्ति प्रभावपूर्ण माँग। ऐसा करने से माँग और प्रभावपूर्ण माँग में अन्तर रहता है। हम इसको माँग के कोष्ठक में वर्णन करके भी समझाएँगे। इच्छा और माँग का अन्तर नीचे दिये चार्ट से स्पष्ट है:—



प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न मूल्य पर विभिन्न माँग होगी, अर्थात् माँग यह बतलाती है कि विभिन्न मूल्यों पर कोई व्यक्ति उस वस्तु को किस मात्रा में खरीदने को तय्यार है। इसके विरुद्ध प्रभावपूर्ण माँग का तात्पर्य एक विशेष समय पर, बाजार मूल्य पर, एक निश्चित माँग की मात्रा से ही होता है। यह वस्तु की माँग की वह मात्रा है जो सन्तुलन की स्थिति में, जब माँग और पूर्ति बराबर होती हैं, माँगी जाती है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि माँग शब्द दो विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है—(१) किसी व्यक्ति की चेतन आवश्यकता के अर्थ में, जैसे, अमुक व्यक्ति को अमुक वस्तु की चेतन आवश्यकता या माँग है। (२) किसी वस्तु की वह मात्रा जो एक निश्चित मूल्य पर खरीदी जाय; जैसे, यदि नारंगियों का मूल्य दो आना है तो एक व्यक्ति की माँग तीन नारंगियाँ है और यदि मूल्य एक आना है तो माँग चार नारंगियाँ है।

---

* हम इच्छा या आवश्यकता में कोई अन्तर नहीं करते क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं है।

माँग का नियम (Law of Demand)

सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम हमको यह बतलाता है कि जैसे जैसे किसी वस्तु के उपभोग या प्राप्त मात्रा में वृद्धि होती है वैसे वैसे उस वस्तु की अनेक इकाइयों की उपयोगिता घटती जाती है। यह पृष्ठ ८८ के उदाहरण से हमने समझाया था। उस उदाहरण से स्पष्ट है कि यदि रोटियों का मूल्य छः आने प्रति इकाई हो तो वह व्यक्ति एक ही रोटी खरीदेगा। यदि मूल्य घट कर चार आने रह जाता है तो वह दूसरी रोटी भी खरीद लेगा क्योंकि उसकी उपयोगिता चार आने के बराबर है। यदि मूल्य दो आने ही रह जाता है तो वह तीन रोटियाँ खरीदेगा और जब मूल्य एक ही आना हो जाता है तो वह चार रोटियाँ खरीदेगा। जैसे जैसे मूल्य घटता है वह अधिक रोटियाँ खरीदता है अर्थात् हम कह सकते हैं कि अधिक मूल्य होने पर उसकी माँग कम है और मूल्य घटने पर उसकी माँग अधिक है। यदि मूल्य छः आने से अधिक है तो वह एक भी रोटी नहीं खरीदेगा। इस कारण नहीं कि उसको रोटियों की इच्छा नहीं है; परन्तु वह रोटियाँ इस कारण नहीं खरीदता क्योंकि जो उपयोगिता उसको रोटी से प्राप्त होती है वह मूल्य से कम है। ऐसी स्थिति में वह अपनी रोटियों की चेतन आवश्यकता या माँग को प्रभावपूर्ण माँग का रूप नहीं दे सकता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्य बढ़ने से उस व्यक्ति की माँग कम हो जाती है। इसका कारण अनेक इकाइयों से प्राप्त हुई उपयोगिता में क्रमशः ह्रास होना है। यही बात प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य है और हम कह सकते हैं कि जैसे जैसे मूल्य बढ़ता है अनेक व्यक्ति उस वस्तु को कम मात्रा में खरीदते हैं और जैसे जैसे मूल्य घटता है अनेक व्यक्ति उस वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदते हैं, क्योंकि अनेक इकाइयों से प्राप्त हुई उपयोगिता में क्रमशः ह्रास होता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम से निकला है। माँग का नियम यह कहता है कि मूल्य बढ़ने पर माँग कम होती है और मूल्य घटने पर अधिक। इससे स्पष्ट है कि माँग और मूल्य में परस्पर विपरीत सम्बन्ध होता है। यदि एक की वृद्धि होती है तो दूसरे का ह्रास। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वृद्धि और ह्रास समान अनुपात में ही हों। अर्थात् यदि मूल्य दुगुना हो जाय तो माँग अवश्य घट जायेगी, यह आवश्यक नहीं कि उसकी मात्रा आधी हो जाय।

माँग का कोष्ठक (Demand Schedule)

जिस उदाहरण* का ऊपर वर्णन किया गया है उसको निम्न कोष्ठक द्वारा दर्शाया गया है :—

मूल्य	रोटियों की माँग
६ आना	१
४ ,,	२
२ ,,	३
१ ,,	४

इसी कोष्ठक को एक व्यक्ति की माँग का कोष्ठक कहते हैं। इस कोष्ठक में एक ओर मूल्य दिया होता है और दूसरी ओर प्रत्येक मूल्य के सामने वस्तुओं की वह मात्रा जो उस मूल्य पर वह व्यक्ति खरीदने को तय्यार है। यह कोष्ठक† बतलाता है कि एक निश्चित समय और स्थान पर एक विशेष व्यक्ति रोटियों की कितनी इकाइयाँ विभिन्न मूल्यों पर खरीदने को तय्यार है। किसी और समय या स्थान पर यह आवश्यक नहीं कि वही व्यक्ति उक्त लिखित मूल्यों पर उक्त लिखित मात्राएँ ही खरीदे क्योंकि उस समय यह सम्भव है कि उसकी उपयोगिता का कोष्ठक भिन्न हो।

उक्त कोष्ठक एक व्यक्ति की माँग बतलाता है। यदि एक बाजार में जितने भी व्यक्ति उस वस्तु के खरीददार हैं उन सबकी माँगों का योग निकाल लें तो हम बाजार की माँग मालूम कर सकते हैं। यदि इस योग को एक कोष्ठक का रूप दे दें तो वह कोष्ठक बाजार की एक विशेष समय की माँग का कोष्ठक कहलायेगा। इसका उदाहरण नीचे दिया गया है :—

बाजार की माँग का कोष्ठक

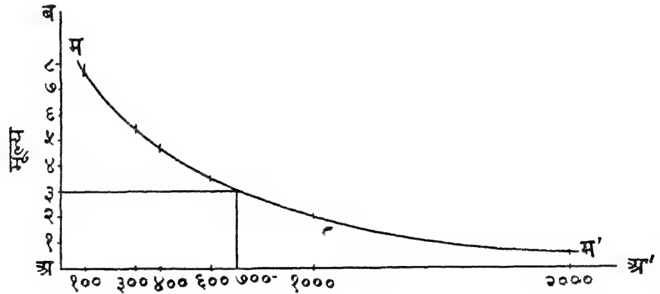
मूल्य आनों में	रोटियों की माँग
८	१००
६	३००
५	४००
४	६००
३	७००
२	१,०००
१	२,०००

---

* इस उदाहरण का पृष्ठ ८८ पर भी वर्णन है।

† माँग के कोष्ठक में बहुत ऊँचे या बहुत नीचे मूल्य न दिखाकर (जैसे मोटर के लिए ५ लाख रुपये या १० रुपये) परिचित मूल्यों के आसपास के मूल्य ही दिखाये जाते हैं।

एक व्यक्ति की माँग का कोष्ठक या बाजार की माँग के कोष्ठक को हम वक्ररेखा द्वारा भी दर्शा सकते हैं। निम्न ग्राफ उक्त लिखित बाजार की माँग के कोष्ठक को स्पष्ट करता है :—



अ अ' पर रोटियों की इकाई नापी गई है और अ ब पर मूल्य। म म' माँग की वक्ररेखा (Demand Curve) कहलाती है। यदि बाजार में रोटियों का मल्य तीन आना हो तो प्रभावपूर्ण माँग ७०० रोटियाँ है। यदि हम माँग का अर्थ जो इस अध्याय के प्रारंभ में दिया गया है मान लें तो केवल उक्त कोष्ठक में ७०० रोटियों की मात्रा तो माँग कहलायेगी; क्योंकि जब मूल्य तीन आना है तो केवल ७०० रोटियों के ही लिए अनेक व्यक्ति मूल्य देने को तत्पर हैं; चाहे इससे अधिक रोटियाँ खरीदने के साधन उनके पास हों, परन्तु इस मूल्य पर तो वह केवल ७०० रोटियाँ प्राप्त करने के साधनों को ही प्रयोग में लाने को तत्पर है। इस कारण उक्त लिखित कोष्ठक माँग का कोष्ठक नहीं परन्तु पूर्व लेखकों के मत के अनुसार तो इच्छा का कोष्ठक होना चाहिए। परन्तु यही लेखक इस कोष्ठक को इच्छा का कोष्ठक न कह कर माँग का कोष्ठक ही कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो अर्थ हमने इच्छा या आवश्यकता, माँग और प्रभावपूर्ण माँग को दिया है वह अधिक उचित है। उसके अनुसार यह माँग का कोष्ठक है जिसमें जब मूल्य तीन आना है तो प्रभावपूर्ण माँग की मात्रा ७०० है।

उक्त कोष्ठक के अनुसार जब मूल्य आठ आना है तो माँग १०० रोटियाँ है और जब मूल्य छः आना है तो मॉग ब्रढ़कर ३०० रोटियाँ हो जाती है। अर्थात् आठ आना, छः आना, पाँच आना, चार आना इत्यादि विभिन्न माँग के मूल्य (Demand Prices) है और १००, ३००, ४००, ६०० इत्यादि मॉग की मात्राएँ।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि मॉग की वृद्धि (Increase of Demand) और माँग की तीव्रता (Intensification of Demand) में

अन्तर है। माँग का नियम तो माँग की वृद्धि से ही सम्बन्ध रखता है। उसके अनुसार यदि मूल्य घटता है तो माँग की वृद्धि होती है और यदि मूल्य बढ़ता है तो माँग कम हो जाती है। माँग के नियम का माँग की तीव्रता से कोई संबंध नहीं। माँग की वृद्धि से हम यह समझते हैं कि मूल्य के घटने से वस्तु की माँग की मात्रा बढ़ जाती है। जब मूल्य बढ़ने से माँग की मात्रा घट जाती है तो उसको माँग का कम होना (Decrease of Demand) कहते हैं। परन्तु जब उसी मूल्य पर माँग अधिक हो जाती है या मूल्य बढ़ने पर भी माँग कम नहीं होती तो यह माँग की तीव्रता कहलाती है*। किसी व्यक्ति की आय में वृद्धि होने से या उस वस्तु का अधिक प्रचलन हो जाने से हो सकता है कि उसी मूल्य पर उस वस्तु की माँग की मात्रा में वृद्धि हो जाय या मूल्य बढ़ने पर भी माँग की मात्रा स्थिर रहे। इसी तरह जब मूल्य के स्थिर रहने पर या मूल्य के घटने पर भी माँग घट जाती है तो वह माँग की कमी नहीं परन्तु माँग की शिथिलता (Demand becomes less intense) कहलाती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. आवश्यकता, माँग और प्रभावपूर्ण माँग में अन्तर समझाइये।

२. माँग का नियम उदाहरण सहित समझाइये और बतलाइये कि इस नियम का सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम से क्या सम्बन्ध है?

---

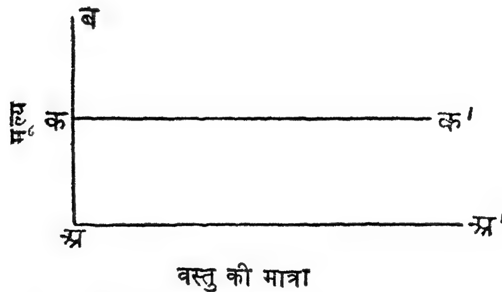
* किसी वस्तु की माँग अधिक तीव्र होने के निम्न मुख्य कारण हैं :—

(१) नये स्थानों में उसका विक्रय होना। (२) क्रेताओं के धन या आय में वृद्धि (३) उस वस्तु के नये प्रयोगों की खोज। (४) व्यापक आन्दोलन जैसे डाक्टरों या नेताओं द्वारा किसी वस्तु के प्रयोग की सराहना करना। ब्रिटेन में द्वितीय महायुद्ध के समय राज्य ने "गाजर अधिक खाओ" का आन्दोलन करके गाजर का प्रयोग बढ़ा दिया। (५) वस्तु के गुणों में उन्नति।

अध्याय १४

माँग की लचक (Elasticity of Demand)

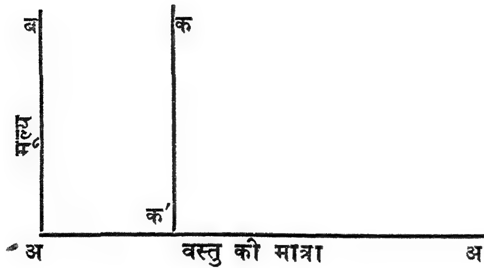
पिछले अध्याय में यह समझाया गया है कि मूल्य में परिवर्त्तन होने से माँग की मात्रा में भी परिवर्त्तन होता है। मूल्य के परिवर्त्तन के साथ साथ जो माँग में परिवर्त्तन होने की प्रवृत्ति होती है उसीको माँग की लचक कहते हैं। यदि किसी वस्तु के मूल्य के थोड़े से घट या बढ़ जाने से माँग की मात्रा में अधिक परिवर्त्तन होता है तो उस वस्तु की माँग अधिक लचकदार होती है और यदि मूल्य के परिवर्त्तन से माँग की मात्रा में बहुत कम परिवर्त्तन होता है तो उस वस्तु की माँग कम लचकदार कहलायेगी। जब किसी वस्तु के मूल्य में थोड़ी सी भी वृद्धि होने से माँग शून्य हो जाती है तो उस वस्तु की माँग पूर्णतया लचकदार (Perfectly Elastic) कहलाती है। निम्न वक्ररेखा जो अ अ' के समानान्तर है पूर्णतया लचकदार माँग की वक्ररेखा है :—



वस्तु की मात्रा

इससे स्पष्ट है कि यदि मूल्य अ क या इससे कम है तो बाजार में उस वस्तु की जितनी भी मात्रा होगी सब बिक जायेगी और यदि अ क से अधिक है तो उस वस्तु की एक इकाई भी नहीं बिकेगी। व्यावहारिक जीवन में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती कि जिसकी माँग पूर्णतया लचकदार हो।

जब किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्त्तन होने से माँग की मात्रा स्थिर रहती है तो उस वस्तु की माँग पूर्णतया बे-लचकदार कहलाती है। निम्न वक्ररेखा जो अ अ' पर लम्ब है और अ ब के समानान्तर है पूर्णतया बे-लचकदार (Perfectly inelastic) माँग की वक्ररेखा है :—



उक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि मूल्य कितना ही हो माँग की मात्रा अ क' ही रहती है। व्यावहारिक जीवन में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती कि जिसकी माँग पूर्णतया बे-लचकदार हो। वे वस्तुएँ जो जीवित रहने की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं उनकी माँग की लचक बहुत कुछ बे-लचकदार होती है। जैसे नमक और गेहूँ का मूल्य बढ़ने पर भी इनका उपभोग बन्द नहीं किया जा सकता। यह हो सकता है कि यदि मूल्य में थोड़ी सी वृद्धि हो तो माँग स्थिर रहे परन्तु जब इन वस्तुओं का भी मूल्य बहुत अधिक बढ़ जायगा तो माँग की मात्रा में अवश्य कमी होगी क्योंकि लोग नमक का उपयोग कम कर देंगे और गेहूँ की अपेक्षा अन्य नाजों का सेवन करने लगेंगे। परन्तु जब हम केवल गेहूँ ही नहीं बल्कि जितनी भी वस्तुएँ भूख की तृप्ति के काम में आ सकती हैं उनका एक गिरोह मान लें और उसका विचार करें तो कह सकते हैं कि मूल्य कितना ही अधिक क्यों न हो प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहने के लिए इस गिरोह की वस्तुएँ खरीदेगा। ऐसी स्थिति में भी माँग पूर्णतया बे-लचकदार न होगी क्योंकि मूल्य में अधिक वृद्धि होने से निर्धन व्यक्तियों के पास इतने साधन ही न होंगे कि वह अपनी भूख की माँग की पूरी तृप्ति कर सकें। धनी लोग भी इस गिरोह की वस्तुओं के उपयोग में कंजूसी करेंगे, उसकी कुछ भी मात्रा नष्ट न होने देंगे और आवश्यकता से अधिक नहीं खायेंगे चाहे भोजन कितना ही स्वादिष्ट हो। साथ ही साथ जैसे जैसे मूल्य बढ़ता जायगा ऐसे व्यक्तियों की मात्रा बढ़ जायेगी जो भरपेट इस गिरोह की वस्तुओं को न खा सकें। सारांश इस गिरोह की वस्तुओं की माँग में मूल्य के बढ़ने से कुछ न कुछ कमी अवश्य होगी और इसी कारण माँग पूर्णतया बे-लचकदार नहीं होगी। जब किसी वस्तु का मूल्य बहुत अधिक या बहुत कम हो तो उस मूल्य में थोड़ा सा परिवर्त्तन होने से माँग की मात्रा में अधिक परिवर्त्तन नहीं होता। जब टमाटर या मटर इत्यादि चार या पाँच रुपये सेर हों तो इन्हें वही व्यक्ति खरीदेंगे जो बहुत धनवान् हों।

जब इनका मूल्य बढ़ कर पाँच रुपये आठ आने या छः रुपये सेर हो जाय तो ऐसे गिने-चुने व्यक्तियों की माँग लगभग स्थिर होगी। और जब मूल्य घटकर चार रुपये आठ आने या चार रुपये सेर हो जाय तब ऐसे व्यक्ति तो कुछ अधिक मात्रा में खरीदेंगे ही नहीं क्योंकि उनके लिए पाँच या चार रुपये सेर में कुछ विशेष अन्तर नहीं और अन्य व्यक्तियों के लिए चार रुपये सेर पर ये वस्तुएँ उतनी ही महँगी हैं जितनी पाँच रुपये सेर की दर से। इस कारण उस वस्तु की माँग में इतने अधिक मूल्य पर बहुत कम लचक होगी। इसी तरह जब किसी वस्तु का मूल्य बहुत कम होता है तब भी मूल्य में कुछ कमी या वृद्धि होने से माँग में अधिक परिवर्त्तन नहीं होता। जब मटर एक पैसे सेर हों तो यदि मूल्य घटकर पौन पैसे सेर भी हो जाय (२५% गिर जाय) तो भी लोग बहुत अधिक मात्रा में नहीं खरीदेंगे क्योंकि एक पैसे प्रति सेर की दर से ही वे पर्याप्त मात्रा में खरीद रहे थे और जब मूल्य बढ़कर डेढ़ पैसे सेर (५०% बढ़ जाय) हो जाय तो भी उसकी माँग बहुत कम न होगी क्योंकि अब भी वह वस्तु काफी सस्ती है। इसी कारण बहुत कम मूल्यों पर भी माँग की लचक बहुत कम होती है।

उक्त रेखाचित्रों से स्पष्ट है कि जब माँग की रेखा बिल्कुल लेटी हुई या चपटी हो (Horizontal) तो माँग पूर्णतया लचकदार होती है और जब बिल्कुल खड़ी हो (Vertical) तो पूर्णतया बे-लचकदार होती है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि जिस वस्तु की माँग की वक्ररेखा जितनी अधिक लेटी होगी उस वस्तु की माँग की लचक उतनी ही अधिक होगी और जिस वस्तु की माँग की वक्ररेखा जितनी खड़ी होगी उस वस्तु की माँग उतनी ही बे-लचकदार होगी। जैसा कि ऊपर समझाया गया है व्यावहारिक संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती जिसकी माँग पूर्णतया लचकदार या पूर्णतया बे-लचकदार हो। प्रत्येक वस्तु या सेवाओं की माँग की लचक इन दो सीमाओं के अन्तर्गत ही होती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु की माँग की लचक प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न होगी। यह उस व्यक्ति की आय, आदत रुचि इत्यादि पर निर्भर है। यदि किसी व्यक्ति को चाय की आदत है तो वह मूल्य बढ़ने पर भी उसका सेवन करेगा। इसी तरह यदि उसकी आय अधिक है तो वह गेहूँ का मूल्य बढ़ने पर भी गेहूँ की ही रोटी खायेगा। परन्तु एक मजदूर गेहूँ का मूल्य बढ़ने पर मोटे नाज का सेवन अधिक कर देगा। एक ही वस्तु की माँग की लचक विभिन्न मूल्यों पर विभिन्न होती है जैसा कि आगे के उदाहरण से स्पष्ट होगा।

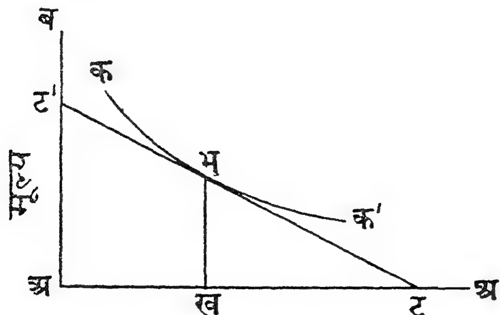
माँग की लचक का नाप

जब किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्त्तन होने से उस वस्तु पर किये गये कुल व्यय में कोई परिवर्त्तन नहीं होता तो माँग की लचक एक के बराबर (Unity) होती है और जब मूल्य के घटने से उस वस्तु पर किये गये कुल व्यय में कमी आ जाय तो माँग की लचक एक से कम होती है और जब मूल्य के घटने से उस वस्तु पर किये गये कुल व्यय की वृद्धि हो तो माँग की लचक एक से अधिक होती है। यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। निम्न कोष्ठक एक बाजार की एक विशेष समय पर माँग बतलाता है :—

टमाटरों की (बाजार की) माँग का कोष्ठक

मूल्य प्रति सेर	माँग की मात्रा सेरों में	कुल व्यय	माँग की लचक का नाप
४)	१०	४०) या ६४० आने	एक से कम
२)	११	२२) या ३५२ ,,	
१)	१४	१४) या २२४ ,,	
८ आना	२५	२०० ,,	
६ ,,	१००	६०० ,,	एक से अधिक
४ ,,	३००	१२०० ,,	
३ ,,	६००	१८०० ,,	एक
२ ,,	९००	१८०० ,,	एक से कम
१ ,,	१६००	१६०० ,,	
२ पैसा	२०००	१००० ,,	
१ ,,	२५००	६२५ ,,	

मॉग की लचक को एक दूसरी रीति से भी नाप सकते हैं। पहले उस वस्तु की माँग की वक्ररेखा क क' खींच लीजिये जैसा कि निम्न ग्राफ में दर्शाया गया है :—



अब क क' पर कोई बिन्दु भ ले लीजिये। उस बिन्दु से क क' वक्ररेखा पर एक स्पर्शरेखा (Tangent) खीचिये जो अ अ' को ट पर और अ ब को ट' पर काटती है तो,

$$\text{माँग की लचक} = \frac{\text{ट भ}}{\text{भ ट}'}$$

इसी तरह इस वक्ररेखा में अन्य बिन्दुओं पर माँग की लचक नापी जा सकती है। यह लचक विभिन्न बिन्दुओं पर विभिन्न होगी। विभिन्न बिन्दु विभिन्न मूल्यों पर खरीदी हुई वस्तु की मात्रा बतलाते हैं। भ बिन्दु पर मूल्य भ ख है, माँग अ ख और माँग की लचक $= \frac{\text{ट भ}}{\text{भ ट}'}$ है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि विभिन्न मूल्यों पर एक ही वस्तु की माँग की लचक विभिन्न होती है।

अब हम उन कारणों का वर्णन करेंगे जिन पर माँग की लचक निर्भर है।

किसी वस्तु की माँग की लचक इस पर निर्भर होती है कि वह वस्तु कौन-सी आवश्यकता की पूर्ति करती है। यदि वह आवश्यक आवश्यकता की पूर्ति करती है तो उस वस्तु की माँग की लचक कम होगी। जन-साधारण के लिए नमक या बंगाल में रहनेवालो के लिए चावल या पंजाब में रहनेवालों के लिए गेहूँ आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इसी कारण उनकी माँग की लचक कम होती है। साधारणतः आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली वस्तुओं की माँग की लचक कम होती है; क्योंकि मूल्य बढ़ने पर भी उनकी उपभोग की मात्रा में अधिक कमी नही हो सकती और मूल्य घटने पर उनका उपभोग बहुत अधिक नहीं किया जा सकता। जो वस्तुएँ सुखदायक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं उनकी माँग में लचक होती है; क्योंकि मूल्य कम होने पर जो लोग उनका सेवन नहीं करते थे वे भी उनको खरीदने लगते हैं और जो लोग खरीदते थे वे अब अधिक मात्रा में खरीदते हैं। जब इन वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है तो फल इसके विपरीत होता है। जो वस्तुएँ विलासिता की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं उनकी माँग की लचक अधिक होती है क्योंकि मूल्य घटने पर बहुत से लोग उनको खरीद सकते है।

जिन वस्तुओं के स्थान में दूसरी वस्तुओं का उपभोग किया जा सकता है उनकी माँग की लचक अधिक होती है। यदि चने का मूल्य बढ़ जाय तो लोग चने का सेवन कम करके जौ का सेवन बढ़ा देंगे और यदि गुड़ महँगा हो जाय तो चीनी का सेवन अधिक हो जायेगा। लड़ाई के

समय और उसके उपरांत भी चीनी राशन से नियन्त्रित मूल्य पर मिलती है और गुड़ चोर-बाजार में। इसी कारण अत्यधिक व्यक्ति गुड़ की अपेक्षा चीनी का सेवन करने लगे। इसी तरह जब ताँगों का भाड़ा अधिक हो जाय तो लोग रिक्शा अधिक काम में लायेंगे और इसके विपरीत होगा यदि ताँगों का भाड़ा कम हो जाय। यदि एक वस्तु के अनेक उपयोग हैं तो उसकी माँग की लचक अधिक होगी ; क्योंकि मूल्य बढ़ने पर कम आवश्यक उपयोगों में उस वस्तु का उपयोग नहीं किया जायेगा और मूल्य घटने पर उस वस्तु का सेवन अनेक उपयोगों में किया जायेगा; जैसे नमक का मूल्य बढ़ने पर पशुओं को नमक देना कम कर दिया जायेगा। इसी तरह मिट्टी के तेल का मूल्य कम होने पर वह रोशनी के काम में भी लाया जायगा और नाले, नालियों में भी छिड़का जायेगा जिससे मच्छर न पैदा हों और आग जलाने के काम में भी लाया जायगा। परन्तु जब मूल्य बढ़ जायेगा तो केवल रोशनी के लिए ही उसका प्रयोग किया जायेगा।

माँग की लचक इस पर भी निर्भर है कि कुल व्यय का कौन-सा भाग उस वस्तु पर व्यय किया जाता है। यदि व्यय का अधिक भाग उस वस्तु पर ही खर्च होता है तो मूल्य बढ़ने पर उस वस्तु की माँग काफी कम हो जायेगी। और यदि कुल व्यय का एक बहुत थोड़ा-सा भाग उस वस्तु पर खर्च होता है तो उस वस्तु का मूल्य बढ़ने पर भी उसकी माँग में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होगा। जैसे यदि माचिस का मूल्य बढ़ जाय तो भी उसकी माँग लगभग उतनी ही रहती है क्योंकि यह एक आवश्यक वस्तु है और इस पर कुल व्यय बहुत कम होता है। जो व्यक्ति माचिस बीड़ी या सिगरेट जलाने के काम में भी लाते हैं वह मूल्य बढ़ने पर उसका उपयोग कुछ कम कर देंगे और अनेक बार बीड़ी या सिगरेट चूल्हे में से अंगारा निकाल कर जला लेंगे।

वस्तु के मूल्य पर भी माँग की लचक निर्भर है। बहुत कम और बहुत अधिक मूल्यों पर माँग की लचक कम होती है। टमाटरों की माँग के कोष्ठक से स्पष्ट है कि जब मूल्य चार रुपये सेर से घटकर दो रुपये सेर हो जाता है, (अर्थात् ५० % घट जाता है) तो माँग की वृद्धि दस से ग्यारह सेर ही होती है (अर्थात् १० % बढ़ती है) और इसी प्रकार जब मूल्य दो पैसे सेर से एक आने सेर तक बढ़ जाता है (१०० % बढ़ता है) तो माँग २,००० सेर से घटकर १,६०० सेर ही होती है (२० % घटती है)।

यदि कोई वस्तु फैशन, आदत या रुचि की वस्तु होती है तो वह आवश्यक वस्तु का रूप ले लेती है और उसकी माँग की लचक कम होती है।

यदि किसी व्यक्ति को रेशमी कपड़े ही पहनने की आदत हो या मेज पर फूल सजाने की आदत पड़ जाय तो वह मूल्य बढ़ने पर भी इन वस्तुओं को खरीदेगा। कुछ लोगों को एक विशेष प्रकार की सिगरेट पीने की आदत हो जाती है और उसका मूल्य बढ़ने पर भी वह उसी का सेवन करते हैं। युद्ध के समय में क्रैवन ए (Craven A) सिगरेट कठिनाई से मिलती थी और उसका मूल्य आठ, दस रुपया होने पर भी कुछ व्यक्ति वही सिगरेट पीते रहे। इसी तरह मूल्य अधिक होने पर भी कुछ व्यक्ति एटकिन्सन का (Atkinson's) बालों का तेल और पौंडस् (Pond's) क्रीम का ही सेवन करते रहे।

माँग की लचक लोगों की आय पर भी निर्भर है। धनी व्यक्तियों के लिए आवश्यक वस्तुओं की माँग लगभग बे-लचक होती है जब तक उनका मूल्य बहुत ही अधिक न बढ़ जाय। इन्हीं वस्तुओं की माँग निर्धनों के लिए काफी लचकदार होती है। ऐसे व्यक्तियों की आय इतनी कम होती है कि आवश्यक वस्तुओं का मूल्य बढ़ने पर उनको उन वस्तुओं का उपभोग कम कर देना पड़ता है। यदि लोगों की आय लगभग स्थिर रहती हो तो उनकी माँग भी स्थिर ही होगी; परन्तु जब आय में अधिक परिवर्त्तन होता हो तो माँग भी घटती बढ़ती रहेगी, चाहे मूल्य स्थिर ही रहे। माँग के इस घटने-बढ़ने को माँग की शिथिलता या माँग की तीव्रता कहेंगे, माँग की कमी या वृद्धि नहीं।

यदि किसी वस्तु की माँग कुछ समय के लिए स्थगित की जा सकती है तो माँग की लचक अधिक होती है। जैसे युद्ध के समय रेडियो, मोटर, सीने की मशीन, साइकिल इत्यादि के दाम अधिक बढ़ गये थे, इस कारण अनेक व्यक्तियों ने इन वस्तुओं को यह सोचकर नहीं खरीदा कि दाम कम होने पर ही मोल लेंगे।

किसी समाज में आय और सम्पत्ति का वितरण जितना समान होगा उतनी ही माँग की लचक ऐसे समाज की अपेक्षा अधिक होगी जहाँ धन, सम्पत्ति का वितरण असमान हो। इसका कारण यह है कि अधिकतर व्यक्तियों की समान आय होने के कारण मूल्य के घटने से लगभग सभी व्यक्तियों की माँग बढ़ जाती है और मूल्य के बढ़ने से लगभग सभी व्यक्तियों की माँग कम हो जाती है। परन्तु जब वितरण असमान है तो मूल्य घटने से कुछ ही व्यक्ति उस वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदेंगे और मूल्य बढ़ने पर कुछ ही लोग उस वस्तु को कम मात्रा में खरीदेंगे; क्योंकि कुछ लोगों की आय इतनी अधिक है कि वह वस्तु के महँगे होने की परवाह ही नहीं करते और कुछ लोगों की आय इतनी कम है कि मूल्य कम होने पर भी उस वस्तु को खरीदने के साधन उनके पास नहीं होते।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक वस्तु की माँग एक उपयोग के लिए लचकदार होती है और उसी वस्तु के दूसरे उपयोग के लिए माँग की लचक कम होती है। जैसे, कोयले की माँग भोजन बनाने के लिए शीत ऋतु में कमरा गरम रखने की अपेक्षा कम लचकदार है।

अभ्यास के प्रश्न

१. माँग की लचक से आप क्या समझते हैं? उसको नापने की रीति समझाइये।
२. किसी वस्तु की माँग की लचक किन कारणों पर निर्भर होती है ? उदाहरण देकर समझाइये।

अध्याय १५

पारिवारिक बजट (Family Budget)

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह अन्य वस्तुओं या सेवाओं का उपभोग करता है। इन वस्तुओं या सेवाओं का या तो वह स्वयं उत्पादन करता है या दूसरे व्यक्तियों से खरीदता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ वस्तु या सेवाएँ अपने उपभोग के लिए स्वयं ही उत्पन्न करता है। वह अपना भोजन स्वयं बनाता है या उसकी स्त्री, बहन इत्यादि सारे परिवार का भोजन बनाती हैं। कुछ व्यक्ति भोजन बनाने के लिए नौकर रख लेते हैं और कुछ बना बनाया भोजन होटल में खाते हैं। अनेक स्त्रियाँ अपने परिवार के लिए ऊनी मोजे, स्वेटर, ब्लाउज इत्यादि स्वयं ही बुन लेती हैं और अनेक व्यक्ति यही वस्तुएँ बनी-बनाई बाजार से खरीदते हैं। बड़े-बड़े नगरों में साधारणतः लोग साग-सब्जी बाजार से खरीदते हैं; परन्तु कुछ व्यक्ति जिनके घरों के चारों ओर कुछ खाली जमीन होती है वहाँ अपने उपभोग के लिए साग-सब्जी पैदा कर लेते हैं। इसी तरह कुछ परिवारों में कुछ वस्त्र घर पर ही सी लिये जाते हैं जब कि कुछ अन्य वस्त्र बाजार में दर्जी से सिलवाये जाते हैं। सारांश यह है कि प्रत्येक मनुष्य अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति या तो वस्तुएँ स्वयं उत्पादन करके करता है या अपनी आय का कुछ भाग व्यय करके उन वस्तुओं को खरीदता है। तब भी उसकी सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आवश्यकताएँ असीमित हैं। वह अपनी कितनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है यह इस पर निर्भर है कि उनमें से कितनी आवश्यकताएँ तो वह स्वयं अपने परिश्रम से सन्तुष्ट कर लेता है और कितनी धन का व्यय करके। धन के व्यय से कितनी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है यह व्यय की मात्रा और वस्तुओं के मूल्य पर निर्भर है। अधिक व्यय करने से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है और वस्तुओं के मूल्य जितने ही कम होंगे उतनी ही अधिक आवश्यकताएँ एक निश्चित व्यय की मात्रा से सन्तुष्ट की जा सकती हैं। यदि वह कुछ दान देता हो या अपने अन्य सम्बन्धियों की आर्थिक सहायता करता हो तो वह भी उसके व्यय में ही सम्मिलित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी आय को व्यय नहीं करता, परन्तु उसका कुछ भाग राज्य

को कर के रूप में देता है और कुछ भाग यदि सम्भव हो तो बचाता भी है। बचत वास्तव में भविष्य में किया जानेवाला व्यय है अर्थात् कर देने के उपरांत जितनी आय बचती है प्रत्येक व्यक्ति या तो वर्तमान में व्यय कर देता है या भविष्य में व्यय करने के लिए बचाता है। वह अपनी आय का कितना भाग वर्तमान में व्यय करता है और कितना बचाता है यह समसीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार निश्चित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय की विभिन्न इकाइयाँ व्यय और बचत में इस प्रकार बाँटता है कि व्यय की अन्तिम इकाई और बचत की अन्तिम इकाई-- जब कि दोनों इकाइयों की मात्रा बराबर है--की उपयोगिता समान हो।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय-व्यय का बजट बना लेना चाहिए कि जिससे वह अपनी आय व्यय और बचत पर समसीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार विभाजित कर सके और अपना व्यय अनेक वस्तुओं पर उसी नियम के अनुसार कर सके। इसके अतिरिक्त ऐसा बजट बना लेने से उसको यह भी लाभ होगा कि वह ऐसी वस्तुओं पर अधिक व्यय करे कि जिनके प्रयोग से उसकी शक्ति, स्वास्थ्य और कार्यक्षमता में वृद्धि हो और जिससे वह अपनी आय बढ़ा सके। ऐसे बजट से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति का ठीक ठीक अनुमान लगा सकता है जिससे वह केवल फिज़ूल खर्ची से ही नहीं, बल्कि ऐसी वस्तुओं पर व्यय करने से भी बच सकता है कि जो कुछ समय सुख तो अवश्य देती हों पर वास्तव में हानिकारक हों। अनेक व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में आय-व्यय का बजट नहीं बनाते जिसके कारण वह व्यय करते चले जाते हैं और बाद में पछताते हैं कि इस माह में तो बहुत खर्च हो गया या व्यय का काफी भाग व्यर्थ की वस्तुओं पर ही हुआ और कभी कभी पछताते हैं कि वह इतना व्यय करते चले आये कि बुढ़ापे या संकटकाल के लिए कुछ बचा कर नहीं रखा।

पारिवारिक बजटों का अध्ययन अधिक लाभदायक है। इनकी जाँच से हम यह पता लगा सकते हैं कि उस वर्ग के व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति कैसी है और उनका रहन-सहन का दर्जा कितना ऊँचा या नीचा है। यदि उनके रहन-सहन का दर्जा नीचा है तो राज्य या समाज उसको ऊँचा करने का प्रयत्न कर सकते हैं। यदि उस वर्ग के लोग उचित रीति से व्यय न करते हों तो उनको ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जा सकता है। यदि उस वर्ग में मादक या अन्य हानिकारक वस्तुओं का उपयोग है तो उसको रोकने के लिए प्रचार किया जा सकता है या राज्य कानून बना सकता है। ऐसी हानिकारक वस्तुओं का उपयोग उन वस्तुओं पर कर लगाने से भी रोका या कम किया जा सकता है। कर लगाने से वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है और जैसा कि हम 'माँग' के अध्याय में बता

चुके हैं मूल्य बढ़ने से उस वस्तु का क्रय या उपयोग कम हो जाता है। इन बजटों के अध्ययन से हम यह भी पता लगा सकते हैं कि उस वर्ग के लोगों पर कर का कितना भार है और यदि वह भार उनकी सामर्थ्य के अनुपात से अधिक या कम है तो उसमें उचित परिवर्त्तन किया जा सकता है। इनकी जाँच से यह भी पता चल सकता है कि कौन-सी वस्तुओं पर परोक्ष कर लगाये जाँय कि जिससे थोड़ी-सी ही वस्तुओं पर कर लगाने से राज्य की काफी आय हो जाय। इनकी परीक्षा करने से हम उस वर्ग के लोगों का Cost of Living Index बना सकते हैं। इन अंकों के घटने-बढ़ने से हमको यह पता चल जायेगा कि उस वर्ग के लोगों पर विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्त्तन होने का क्या प्रभाव पड़ता है और बढ़ते हुए मूल्यों के समय उस वर्ग के लोगों को कितनी महँगाई दी जाय जिससे उनके रहन-सहन के दर्जे में कोई कमी न हो।

पारिवारिक बजटों के अध्ययन से हमको यह भी पता चलता है कि भिन्न भिन्न आय के वर्ग के लोग अपनी आय का कौन-सा भाग वस्तुओं के अनेक समूहों पर व्यय करते हैं। सन् १८५७ में जर्मनी के अर्थशास्त्री डा० ऐंजिल ने जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त में अन्य व्यक्तियों के पारिवारिक बजट एकत्रित किये। इन व्यक्तियों को उन्होंने तीन वर्गों में बाँटा :—(१) मजदूरों के परिवार, (२) मध्यम श्रेणी के परिवार और (३) धनी परिवार। विभिन्न वस्तुओं को भी उन्होंने पाँच समूहों में बाँटा :—(१) भोजन, (२) वस्त्र, (३) मकान का किराया, (४) प्रकाश, कोयला, लकड़ी इत्यादि, (५) शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि। उसके उपरांत उन्होंने ऐसे आँकड़े बनाये कि जिससे यह पता चले कि प्रति वर्ग के व्यक्ति विभिन्न समूहों पर अपनी आय का कौन-सा भाग व्यय करते हैं। ऐसे अध्ययन से जो आँकड़े उन्होंने बनाये वे निम्न तालिका में दिये हुए हैं :—

वस्तुओं के समूह	व्यय की प्रतिशत मात्रा		
	मजदूरों के परिवार	मध्यम श्रेणी के परिवार	धनी परिवार
(१) भोजन	६०	५५	५०
(२) वस्त्र	१८	१८	१८
(३) मकान का किराया	१२	१२	१२
(४) प्रकाश, कोयला, लकड़ी इत्यादि	५	५	५
(५) शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि	५	१०	१५

उक्त आँकड़ों के अध्ययन से डा० ऐंजिल निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचे :—

(१) जिन वर्गों की आय कम होती है उनका अधिकतर भाग भोजन पर व्यय होता है।

(२) वस्त्र, मकान का किराया, प्रकाश, लकड़ी या कोयले पर व्यय का भाग प्रत्येक वर्ग के लिए लगभग बराबर होता है।

(३) जिन वर्गों की आय कम होती है उनका शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि पर व्यय का भाग कम होता है।

इन्हीं परिणामों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने एक नियम बनाया कि जैसे जैसे आय में वृद्धि होती है तो भोजन पर किये गये व्यय का प्रतिशत कम होता जाता है। वस्त्र, मकान किराया, प्रकाश, लकड़ी व कोयले इत्यादि पर व्यय का प्रतिशत लगभग स्थिर रहता है और शिक्षा, स्वास्थ्य और नौकर इत्यादि पर व्यय के प्रतिशत में वृद्धि होती जाती है। इस नियम को **'डा० ऐंजिल का उपभोग का नियम'** (Engel's law of Consumption) कहते हैं। इस नियम से पता लगता है कि आय में वृद्धि होने से ही मनुष्य अपनी सुखदायक और भोग-विलास की आवश्यकताओं की अधिक मात्रा में पूर्ति कर सकता है ।

पारिवारिक बजट एकत्रित करना कोई आसान काम नहीं। साधारणतः कोई व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति दूसरों को बताना नहीं चाहता। यदि वह लोगों की संभावना से अधिक धनी है तो उसके विरुद्ध उन्हें ईर्ष्या होगी और यदि उनकी संभावना से कम धनी या निर्धन है तो घृणा होगी। जब किसी व्यक्ति से उसकी आय-व्यय के प्रश्न पूछे जाते हैं तो उसको यह शंका होती है कि कहीं आप उसपर कर लगाने के लिए या उसके अहित के लिए उसका उपयोग तो नहीं करेंगे। इस कारण जो सूचना वह आपको देगा या तो वह उसे बहुत बढ़ा कर देगा या बहुत घटा कर। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि हमारे अधिकांश किसान और मजदूर भाई अनपढ़ हैं, वह आय-व्यय का कोई हिसाब नहीं रखते और न इस बात का प्रयत्न करते हैं कि विभिन्न वस्तुओं पर किये गये व्यय को ठीक ठीक स्मरण रखें। इसी कारण उन्हें स्वयं यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं होता है कि कुछ समय पहले उन्होंने किस वस्तु पर कितना व्यय किया था और यदि पता भी होता है तो ठीक ठीक बताने में वे हिचकिचाते हैं। उक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि किसी वर्ग के लिए पारिवारिक बजट बनाने में बड़ी सावधानी से काम करना चाहिए। जिस वर्ग के बजट एकत्रित करने हों पहले उस वर्ग के लोगों से परिचय बढ़ाना चाहिए। उनको अपना बड़प्पन न दिखाकर उनकी भाषा, उनकी रीति-रिवाज, उनकी रुचि, कुरुचि, उनकी कमियाँ समझनी चाहिए जिससे

कि आप यह पता लगा सकें कि उनसे कोई भी बात किस रीति से पूछी जाय कि जिससे उस विषय में ठीक ठीक सूचना प्राप्त हो। साधारणतः यह प्रयत्न करना चाहिए कि साधारण बातचीत में ही आपके काम की बातों का पता लग जाय। सूचक के सामने ही प्रश्न और उत्तरों को लिखना न चाहिये; क्योंकि इससे उसके हृदय में शंका उत्पन्न हो जायेगी और वह आपको ठीक ठीक बातें बताने में हिचकिचायेगा। इस कारण उचित यह होगा कि आप उसके सामने कुछ लिखें नहीं और केवल मित्र-भाव से ही बातचीत करते रहें और फिर घर जाकर उस वार्तालाप में से उपयोगी बातें छाँट लें और उनको लिख लें। यदि सम्भव हो तो आप उसे आय-व्यय का हिसाब रखने के लाभ समझाइये और यदि वह सहमत हो तो आप ही उसका हिसाब प्रतिदिन या दूसरे तीसरे दिन जाकर लिख दीजिये। अपना कार्य आरंभ करने से पहले यह आवश्यक है कि आप यह निश्चित कर लें कि इन सूचनाओं को एकत्रित करने में आपका उद्देश्य क्या है। ऐसा निश्चित करने से आप अनावश्यक बातों के एकत्रित करने में अपना समय व्यर्थ व्यतीत न करेंगे। यह भी आवश्यक है कि आप ठीक निश्चित कर लें कि आप किस वर्ग के लोगों के पारिवारिक बजट एकत्रित करना चाहते हैं। यदि आप मजदूरों के बजट एकत्रित करना चाहते हैं तो आपको यह निश्चित कर लेना चाहिए कि मजदूर से आपका ठीक ठीक क्या मतलब है। क्या आप उन व्यक्तियों के ही बजट एकत्रित करेंगे कि जिनकी आय निश्चित सीमाओं के अन्दर हो या उन व्यक्तियों के जो बड़े-बड़े कारखानों में काम करते हों या उनके जो केवल कपड़े या पटसन या चमड़े के कारखानों में से किसी एक में ही काम करते हों? अर्थात् यदि आप कपड़े के कारखाने के मजदूरों के बजट एकत्रित करना चाहते हों तो आपको दूसरे मजदूरों के बजट इकट्ठे नहीं करने चाहिए और इसी तरह यदि आप इलाहाबाद के विद्यार्थी-वर्ग के बजट एकत्रित करना चाहते हों तो आपके लिए अध्यापकों के बजट व्यर्थ होंगे। जब आप अपने वर्ग को ठीक ठीक निश्चित कर लें तो यह असम्भव है कि उस वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति का बजट आप इकट्ठा कर सकें। इस कारण उस वर्ग के कुछ ही व्यक्तियों के बजट एकत्रित करने होंगे। इस वर्ग के जो व्यक्ति आप छाँटें वह उस वर्ग के सच्चे और ठीक ठीक प्रतिनिधि होने चाहिए। जो प्रश्न आप उनसे पूछना चाहते हों उनको पहले से ही निश्चय कर लिख लीजिये जिससे आप जब उनसे बातचीत करें तो आप गड़बड़ाएँ नहीं और कोई प्रश्न भी न भूलें। आपके प्रश्न सरल, सीधे और कम होने चाहिएं जिससे आपको ठीक ठीक उत्तर मिल सके और अधिक प्रश्न होने के कारण सूचक घबड़ा न जाय। इन प्रश्नों को सिलसिलेवार जमा लेना चाहिए और

यदि कोई प्रश्न ऐसे हों कि जिससे उस व्यक्ति के हृदय में शंका उत्पन्न हो तो उन्हें घुमा-फिराकर इस रीति से पूछना चाहिए कि शंका उत्पन्न होने का अवसर ही न आये। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अनेक प्रश्नों के उत्तर मिलने पर कुछ उत्तर एक दूसरे के विपरीत होते हैं। ऐसी अवस्था में आपको उस सम्बन्ध के ऐसे अन्य प्रश्न पूछने चाहिएँ कि जिससे सही उत्तर मिल सके। जिस वर्ग की आप जाँच करना चाहते हों, यदि वह शिक्षित हो तो आप एक प्रश्नावली बनाकर उस वर्ग के अनेक व्यक्तियों के पास भेज दीजिये और उनसे प्रार्थना कीजिये कि उनके उत्तर वे आपको भेज दें। ऐसी प्रश्नावली में ऐसे प्रश्न नहीं होने चाहिए कि जिनको ठीक ठीक समझा न जा सके और उत्तर देने में कठिनाई हो। आप ऐसा भी कर सकते हैं कि एक फार्म ऐसा बना लीजिये जिसमें सब बातें स्पष्ट हों और सूचक को केवल आँकड़े ही भरने हों। इससे यह लाभ होता है कि सूचक का समय कम लगता है और वह आँकड़े भर कर तुरन्त फार्म लौटा देता है।

जब आप यह सूचियाँ एकत्रित कर लें तो उन्हें क्रमानुसार रख लीजिये जिससे आपकी छानबीन का उद्देश्य पूरा हो सके। पारिवारिक बजट के अध्ययन में यह आवश्यक है कि आय-व्यय के समय की एक इकाई निश्चित कर लें। साधारणतः यह इकाई एक महिमा होती है। यदि आप माहवारी व्यय निकालना चाहते हों तो प्रत्येक वस्तु का माहवारी व्ययं निकाल लें, जैसे यदि सूचक ने एक जूता खरीदा जो एक साल चलेगा तो उस जूते के मूल्य का उस माह के व्यय में $\frac{1}{12}$ भाग ही जोड़िये और उन वस्तुओं पर किया गया व्यय न जोड़िये जिनका उपयोग उस माह में नहीं, बल्कि भविष्य में होगा। उन वस्तुओं का मूल्य जोड़ देना चाहिए कि जो पहले ही खरीद ली गई थीं परन्तु उनका उपयोग उस माह में हुआ। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल उपभोग पर ही किया गया व्यय जोड़ा जाय। यदि आप किसी व्यक्ति को दस रुपये उधार दे दें तो यह व्यय नहीं बचत कहलायेगी। इसी कारण इन दस रुपयों को व्यय के बजट में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। अब हम दो व्यक्तियों के पारिवारिक बजट देते हैं। पहिला बजट श्री सीताराम के परिवार का है। श्री सीताराम कानपुर में कपड़े के कारखाने में मजदूर हैं। दूसरा बजट श्री राधेश्याम का है जो इलाहाबाद में एक कालिज में अध्यापक हैं।

एक मजदूर का पारिवारिक बजट

(१) मजदूर का नाम — श्री सीताराम
(२) जाति व धर्म — अहीर, हिन्दू
(३) आयु — ३८ साल

(४) परिवार के सदस्यों की संख्या — स्वयं, स्त्री, अविवाहित बहिन (१४ साल), २ पुत्र (७ और ५ साल), पुत्री (२ साल), =कुल ६ व्यक्ति। माता, पिता जीवित हैं; परन्तु गाँव में रहते हैं और खेती की देखभाल करते हैं। बड़े भाई व उसका परिवार भी गाँव में ही रहता है। गाँव लगभग कानपुर से १४ मील की दूरी पर है।

(५) धन्धा — कपड़े के कारखाने में मजदूर।

(६) मासिक आय — ९०) रुपये महँगाई सहित।

(१) भोजन पर व्यय

भोजन के पदार्थ	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) चावल	८ सेर ७ छ:	१) रु० का २ सेर	४	३	६
(२) गेहूँ	३३ ,, १२ छ:	१) ,, २½ सेर	१३	८	—
(३) मोटा अनाज	८ ,, ७ छ:		२	४	—
(४) चीनी	२ ,,	।।।=) सेर	१	१२	—
(नं० १ से ४ राशन से नियंत्रित मूल्य पर मिलते हैं)।					
(५) चोर बाजार से मोटा नाज (राशन का पूरा नहीं पड़ता)	१८ सेर		७	—	—
(६) दाल अरहर	१० ,,	।।) सेर	५	—	—
(७) गुड़	२ ,,	।।) ,,	१	—	—
(८) नमक	२ ,,	=) ,,	—	४	—
(९) मसाले			१	—	—
(१०) साग			४	—	—
(११) घी			२	—	—
(१२) तेल			४	—	—
(१३) दूध			४	८	—
(१४) विविध			४	—	—
		कुल रु०	५४	७	६

(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय

वस्तु का नाम	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) लकड़ी व उपले ...			४	—	—
(२) मिट्टी का तेल ...	२ बोतल	।)	—	८	०
		कुल रु०	४	८	—

(३) मकान का किराया ५) प्रति मास

(४) वस्त्र पर व्यय

वस्त्रों के नाम	मात्रा	मूल्य			उपभोग का समय	कुल व्यय प्रति माह		
		रु.	आ.	पा		रु.	आ.	पा
श्री सीताराम के लिए :—								
(१) धोती ...	२	९	—	—	एक साल	—	१२	—
(२) कुरता व कमीज ...	३	९	—	—	,,	—	१२	—
(३) बन्डी ...	१	२	—	—	,,	—	२	८
(४) टोपी ...	१	—	६	—	,,	—	—	६
(५) ऊनी कोट ...	१	२०	—	—	४ साल	—	६	८
(६) ऊनी बन्डी रूई की ...	१	६	—	—	४ ,,	—	२	—
(७) अँगोछा ...	१	—	१२	—	६ महीने	—	२	—
(८) जूता ...	१ जोड़ी	६	—	—	१ साल	—	८	—
स्त्री और बहिन के लिए :—								
(१) धोती ...	६	२४	—	—	१ साल	२	—	—
(२) कुरती ...	४	४	—	—	,,	—	५	४
(३) चद्दर ...	१	२	८	—	,,	—	३	४
(४) ऊनी कुरती रूई की ...	२	८	—	—	४ ,,	—	२	८
बच्चों के लिये :—								
(१) कुरता ...	६	४	८	—	१ ,,	—	६	—
(२) ऊनी बन्डी रूई की ...	३	९	—	—	३ ,,	—	४	—
(३) अँगोछा ...	२	१	८	—	६ महीने	—	४	—
बिस्तर चारपाई इत्यादि						१	१२	—
					कुल रु०	८	३	२

(५) अन्य व्यय

सूची		कुल व्यय रु०	आ०	पा०
(१)	नाई ...	—	४	—
(२)	धोबी ...	१	—	—
(३)	भंगी ...	—	४	—
(४)	साबुन ...	१	—	—
(५)	पान, बीड़ी इत्यादि ...	१	८	—
(६)	शिक्षा ...	१	८	—
(७)	औषधि ...	१	—	—
(८)	लौरी किराया (गाँव जाने को) ...	२	—	—
(९)	चूड़ियाँ ...	—	४	—
(१०)	मनोरंजन ...	२	—	—
(११)	विविध ...	३	१२	—
	कुल रु० ...	१४	८	—

मासिक आय का संक्षिप्त विवरण

सूची	रु०	आ०	पा०	कुल आय का प्रतिशत
(१) भोजन पर व्यय	५४	७	६	६०.५
(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय	४	८	—	५.०
(३) मकान का किराया	५	—	—	५.६
(४) वस्त्र पर व्यय	८	३	२	९.१
(५) अन्य व्यय	१४	८	—	१६.१
(६) बचत	३	५	४	३.७
कुल आय रु० ...	९०	—	—	१००.०

एक अध्यापक का पारिवारिक बजट

(१) नाम ... श्री राधेश्याम

(२) जाति व धर्म ... अग्रवाल, हिन्दू

(३) आयु ... ४५ साल

(४) परिवार के सदस्यों की संख्या ... स्वयं, स्त्री, माता, २ पुत्र (१४ और ७ साल) २ पुत्री (११ और ३ लास) और एक नौकर = कुल ८ व्यक्ति। पिता का देहान्त हो चुका है।

(५) धन्धा ... इलाहाबाद के एक कालिज में अध्यापक
(६) मासिक आय ... वेतन महँगाई सहित ३७५) रुपये
परीक्षक-फीस इत्यादि २५) रुपये
कुल आय ४००) रुपये

(१) भोजन पर व्यय

भोजन के पदार्थ	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) चावल ...	५ सेर	१) सेर	५	—	—
	८ सेर २ छः	॥) ,,	४	१	—
(२) गेहूँ ...	१ मन १२ सेर ८ छः	१) के २½ सेर	२१	—	—
(३) मोटा नाज ...	१३ सेर २ छः		४	—	—
(४) चीनी ...	८ सेर	॥।=) सेर	७	—	—
(नं० १ से ४ राशन से नियंत्रित मूल्य पर मिलते हैं।)					
(५) दाल अरहर ...	६ सेर	॥)॥ सेर	३	३	—
मूँग ...	३ ,,	॥≡) ,,	२	१	—
उड़द	३ ,,	॥।) ,,	२	४	—
(६) गुड़ ...	१ ,,		—	१२	—
(७) नमक और मसाले ...			३	—	—
(८) साग और फल ...		१।) प्रति दिन	३७	८	—
(९) घी ...	८ सेर	६) सेर	४८	—	—
(१०) तेल ...	१ ,,	३) ,,	३	—	—
(११) दूध	२ ,, प्रति दिन	॥=) सेर	३७	८	—
(१२) मिठाई			६	—	—
(१३) चाय ...			२	—	—
(१४) विविध ...			१५	—	—
		कुल रु०	२०१	५	—

(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय

वस्तु का नाम	वजन	दर	कुल व्यय		
			रु०	आ०	पा०
(१) पत्थर का कोयला	३ मन	२≡) मन	६	६	—
(२) लकड़ी ,,	१५ सेर	६) ,,	२	४	—
(३) लकड़ी			१	३	—
(४) मिट्टी का तेल	१ बोतल		—	४	—
(५) बिजली का बिल			६	८	—
		कुल रु०	१६	१२	—

(३) मकान का किराया ३०) प्रति मास

(४) वस्त्र पर व्यय

वस्त्रों के नाम	मात्रा	मूल्य			उपभोग का समय	कुल व्यय प्रति माह		
		रु०	आ०	पा०		रु०	आ०	पा.
श्री राधेश्याम के लिए :—								
(१) धोती ...	४	२४	—	—	१ साल	२	—	—
(२) पजामा ...	४	१६	—	—	,,	—	५	४
(३) मोजा जोड़ी ...	३	३	—	—	,,	—	४	—
(४) कोट ...	२	२४	—	—	,,	२	—	—
(५) पतलून ...	३	१८	—	—	,,	१	८	—
(६) कमीज ...	६	३३	—	—	,,	२	१२	—
(७) बनियाइन ...	४	६	—	—	,,	—	८	—
(८) रूमाल ...	४	१	८	—	,,	—	२	—
(९) टोपी ...	१	२	४	—	,,	—	३	—
(१०) जूता जोड़ी ...	१	१५	—	—	,,	१	४	—
(११) पेशावरी जूता जोड़ी ...	१	१२	—	—	,,	१	—	—
(१२) खड़ाऊँ जोड़ी ...	१	—	१०	—	,,	—	—	१०
(१३) ऊनी कोट ...	१	३२	—	—	४ साल	—	१०	८
(१४) ,, पतलून ...	१	२४	—	—	,,	—	८	—
(१५) ,, स्वेटर ...	१	८	—	—	,,	—	२	८
(१६) जवाहर बन्डी ...	१	९	—	—	,,	—	३	—
माता और स्त्री के लिए:—								
(१) धोती ...	८	४०	—	—	१ ,,	३	५	४
(२) ब्लाउज़ ...	८	२०	—	—	,,	१	१०	८
(३) पेटीकोट ...	४	६	—	—	,,	—	८	—
(४) साड़ी ...	१	३५	—	—	प्रति वर्ष	२	१४	८
(५) चप्पल जोड़ी ...	२	९	—	—	१ साल	—	१२	—
(६) ऊनी ब्लाउज़ ...	२	२१	—	—	४ ,,	—	७	—
बच्चों के लिए :—								
(१) धोती ...	२	८	—	—	१ ,,	—	१०	८
(२) पजामा, शलवार व जाँघिया	१२	१८	—	—	१ ,,	१	८	—
(३) कमीज़ व फ्राक ...	१६	४२	—	—	,,	३	८	—
(४) जूते जोड़ी ...	४	२४	—	—	,,	२	—	—
(५) तौलिया ...	६	९	—	—	प्रति वर्ष	—	१२	—
(६) चादर, दरी, गद्दा, लिहाफ इत्यादि		३६	—	—	प्रति वर्ष	३	—	—
(७) विविध ...		६०	—	—	,,	५	—	—
					कुल रु०	३९	७	१०

(५) अन्य व्यय

सूची	कुल व्यय		
	रु०	आ०	पा०
(१) नाई	१	—	—
(२) धोबी	६	—	—
(३) भंगी	१	—	—
(४) साबुन और तेल	४	—	—
(५) पान सुपारी व सिगरेट इत्यादि	५	—	—
(६) शिक्षा	२४	—	—
(७) औषधि	५	—	—
(८) यात्रा	५	—	—
(९) चूड़ियाँ	—	१०	—
(१०) सिनेमा इत्यादि	८	—	—
(११) नौकर	१५	—	—
(१२) ताँगा व रिक्शा	७	—	—
(१३) चारपाई, बरतन इत्यादि	३	—	—
(१४) विविध	१०	—	—
कुल रु०	९४	१०	—

मासिक आय का संक्षिप्त विवरण

सूची	रु०	आ०	पा०	कुल आय का प्रतिशत
(१) भोजन पर व्यय	२०१	५	—	५०.४
(२) ईंधन और रोशनी पर व्यय	१६	१२	—	४.२
(३) मकान का किराया	३०	—	—	७.५
(४) वस्त्र पर व्यय	३९	७	१०	१०.०
(५) अन्य व्यय	९४	१०	—	२३.७
(६) बचत	७	१०	११	१.९
(७) आय-कर	९	२	३	२.३
कुल आय रु०	४००	—	—	१००.०

उक्त पारिवारिक बजटों को नीचे आयत द्वारा दर्शाया गया है :—

मजदूर की आय का प्रतिशत व्यय :—	कालिज के अध्यापक की आय का प्रतिशत व्यय :—
बचत ३.७%	आय-कर २.३%
	बचत १.९%
अन्य व्यय १६.१%	अन्य व्यय २३.७%
वस्त्र ९.१%	वस्त्र १०%
मकान किराया ५.६%	मकान किराया ७.५%
ईंधन और रोशनी ५%	ईंधन और रोशनी ४.२%
भोजन ६०.५%	भोजन ५०.४%

टिप्पणी :—कालिज के अध्यापक की आय ४००) प्रति माह है; परन्तु बचत की मात्रा केवल ७ रु० १० आ० ११ पा० प्रति माह है। इसका कारण यह है कि वस्तुओं के मूल्य अधिक बढ़ने से बचत अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

अभ्यास के प्रश्न

१. पारिवारिक बजटों के अध्ययन के लाभ समझाइये।
२. ऐंजिल के उपभोग का नियम विस्तारपूर्वक समझाइये।
३. पारिवारिक बजट एकत्रित करने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए और उन्हें कैसे इकट्ठा करना चाहिए ?
४. किसी व्यक्ति को अपना बजट बनाने से क्या लाभ है ? एक मजदूर का पारिवारिक बजट बनाइये।

अध्याय १६

विनिमय (Exchange)

जब एक वस्तु या सेवा को देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु, सेवा या द्रव्य प्राप्त किया जाय तो इसको विनिमय कहते हैं । अर्थात् विनिमय के दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष अपनी वस्तु दूसरे पक्ष को देता है और उसके बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त करता है। जब मनुष्य पूर्णतया स्वावलम्बी नहीं होता तो उसको विनिमय की आवश्यकता होती है क्योंकि इसी प्रकार वह उन वस्तुओं या सेवाओं का उपभोग कर सकता है जिनका उत्पादन वह स्वयं नहीं करता है। विनिमय के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु या सेवा एक से दूसरे व्यक्ति को दी जा सके और दूसरा व्यक्ति उसको अपना सके। कोई व्यक्ति अपने ज्ञान का विनिमय नहीं कर सकता है क्योंकि वह आन्तरिक है, बाह्य नहीं। एक अध्यापक अपनी विद्या का विनिमय नहीं कर सकता परन्तु उसके प्रयोग द्वारा उत्पादित व्याख्यान या पुस्तक का विनिमय कर सकता है । विनिमय के लिए यह भी आवश्यक है कि जिस वस्तु या सेवा का आप विनिमय करना चाहें उसकी दूसरों के लिए कुछ उपयोगिता हो अन्यथा कोई व्यक्ति उसके बदले में आपको कुछ देने को तय्यार न होगा। यदि एक वस्तु की आपके लिए कुछ उपयोगिता है और अन्य व्यक्तियों के लिए कुछ नहीं तो ऐसी वस्तु का विनिमय नहीं हो सकता।

जब विनिमय दोनों पक्षों की स्वतन्त्र इच्छा से होता है तो उससे दोनों पक्षों को लाभ होता है। दोनों पक्षों को लाभ न हो तो विनिमय सम्भव ही न होगा। यदि एक पक्ष को लाभ हो और दूसरे को हानि तो दूसरा पक्ष विनिमय करने को तय्यार न होगा। एक उदाहरण से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा । मान लीजिये राम और कृष्ण दो व्यक्ति हैं। राम के पास गेहूँ है और कृष्ण के पास कपड़ा और वे एक सेर गेहूँ का विनिमय एक गज कपड़े की दर से करते हैं। राम और कृष्ण को गेहूँ और कपड़े की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता नीचे के कोष्ठक में दी गई है जिसमें गेहूँ और कपड़े की इकाइयाँ क्रमश : १ सेर और १ गज हैं :—

राम के लिए विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता			कृष्ण के लिए विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता		
विभिन्न इकाइयाँ	गेहूँ	कपड़ा	विभिन्न इकाइयाँ	गेहूँ	कपड़ा
(१)	१२	९	(१)	१३	९
(२)	१०	७	(२)	१०	६
(३)	८	६	(३)	८	५
(४)	६	४	(४)	५	४
(५)	५	३	(५)	४	३
(६)	३	२	(७)	३	२
(७)	२	१	(७)	१	१

सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार गेहूँ और कपड़े की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता दोनों के लिए क्रमानुसार घटती जाती है। सातवें सेर गेहूँ से राम को २ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और पहले गज कपड़े से ९ इकाई। कृष्ण को अन्तिम गज कपड़े से १ इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है और पहले सेर गेहूँ से १३ इकाई। इस कारण जब वह आपस में एक सेर गेहूँ व एक गज कपड़े का विनिमय करते हैं तो राम को ७ इकाई और कृष्ण को १२ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। इस प्रकार यदि एक गज कपड़े का विनिमय एक सेर गेहूँ से होता है तो राम तीन सेर गेहूँ देकर कृष्ण से तीन गज कपड़ा ले लेगा। इसके उपरान्त राम एक सेर गेहूँ का विनिमय एक गज कपड़े से करने को तय्यार न होगा; क्योंकि चौथे सेर गेहूँ की उपयोगिता ६ है और चौथे गज कपड़े की ४। इससे उसको २ इकाई उपयोगिता की हानि होती है। यह सत्य है कि कृष्ण एक सेर गेहूँ एक गज कपड़ा देकर लेने को अब भी तय्यार है; क्योंकि इस प्रकार उसको १ इकाई उपयोगिता का लाभ होता है। परन्तु यह विनिमय नहीं होगा क्योंकि राम को इससे हानि है और इस कारण वह विनिमय करने से इन्कार करेगा। अर्थात् विनिमय उस सीमा तक होता है जहाँ तक दोनों पक्षों को लाभ होता है। उक्त उदाहरण में राम का लाभ = ३ गज कपड़े की उपयोगिता—तीन सेर गेहूँ की उपयोगिता = ९ + ७ + ६ — (२ + ३ + ५) = १२ इकाई और कृष्ण का लाभ = ३ सेर गेहूँ की उपयोगिता — ३ गज कपड़े की उपयोगिता = १३ + १० + ८ — (१ + २ + ३) = २५ इकाई। जब विनिमय द्रव्य के प्रयोग से होता है अर्थात् एक पक्ष द्रव्य देता है और दूसरा पक्ष वस्तु या सेवा तो भी

दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। जो पक्ष द्रव्य देता है और वस्तु मोल लेता है वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसको द्रव्य की अपेक्षा वस्तु की उपयोगिता अधिक है। दूसरे पक्ष को वस्तु की अपेक्षा द्रव्य की उपयोगिता अधिक है वरन् वह वस्तु को देकर द्रव्य प्राप्त करना पसन्द न करता। अर्थात् विनिमय से दोनों पक्षों की उपयोगिता में वृद्धि होती है। इस कारण विनिमय भी उत्पादन है और उससे प्रत्येक व्यक्ति और देश का लाभ होता है।

विनिमय के लाभ

आधुनिक जीवन में विनिमय का बहुत महत्व है। आजकल जिन वस्तुओं का उपभोग एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है उनका उत्पादन विभिन्न व्यक्तियों द्वारा होता है। बहुत-सी ऐसी वस्तुओं का उत्पादन दूसरे देशों में होता है। इन वस्तुओं को हम विनिमय द्वारा प्राप्त करते हैं। इस कारण विनिमय का महत्व उत्पादन से कम नहीं है। विनिमय द्वारा यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करे जिसका वह विशेषज्ञ है। वह उन वस्तुओं का स्वयं उत्पादन नहीं करता जिनकी उसको आवश्यकता है वरन् उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिसके उत्पादन में वह चतुर है। अर्थात् वह अपने समय व साधनों का अपने अधिकतम लाभ के लिए प्रयोग कर सकता है। एक लोहार या खाती अपने काम में चतुर होता है। वह नाज भी उत्पन्न कर सकता है परन्तु जो समय व साधन वह नाज के उत्पादन में लगायेगा उनका प्रयोग अपने धन्धे में करने से वह अधिक उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार वह अपनी आय बढ़ा सकता है। विभिन्न व्यक्तियों का एक ही कार्य में विशेषता प्राप्त करना विनिमय द्वारा ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिसमें वह विशेषज्ञ होता है, चाहे उन वस्तुओं की आवश्यकता उसको स्वयं न हो वरन् उनको बेचकर वह उन वस्तुओं को मोल लेता है जिनकी उसको आवश्यकता होती है। विनिमय द्वारा ही श्रम-विभाजन और ऐसे कार्य सम्भव हैं जो एक व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता है। एक व्यक्ति मोटर, जहाज इत्यादि अकेला नहीं बना सकता; परन्तु ऐसी वस्तुओं का उत्पादन कई व्यक्ति मिलकर करते हैं और उन्हें बेचकर अपना अपना भाग बाँट लेते हैं। अपने भाग से वे उन वस्तुओं को मोल ले लेते हैं जिनकी उनको आवश्यकता होती है। उपभोग के विभिन्न प्रकार विनिमय द्वारा ही सम्भव होते हैं। विनिमय द्वारा ही हम उन वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं जिनका हम स्वयं उत्पादन नहीं कर सकते। जैसे एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ

और नर्तक के गीत और नृत्य का हम आनन्द उठा सकते हैं जब कि हम स्वयं इन कलाओं में दक्ष नहीं। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विनिमय से प्रत्येक व्यक्ति और समाज को लाभ होता है।

अर्घ (Value) और मूल्य (Price)

किसी वस्तु के अर्घ से अर्थशास्त्र में हमारा तात्पर्य उस वस्तु की दूसरी वस्तुओं को मोल लेने की शक्ति से होता है। एक वस्तु का अर्घ दूसरी वस्तु से तुलना करके ही बताया जाता है। किसी वस्तु का अर्घ उस वस्तु-विशेष पर निर्भर नहीं होता है वरन् दूसरे व्यक्तियों को उस वस्तु की कितनी आवश्यकता है और उसके बदले में वह दूसरी कौन-सी और कितनी वस्तु देने को तय्यार हैं इसी पर निर्भर होता है। अर्थात् जब हम किसी वस्तु के अर्घ का विवेचन करते हैं तो हम उस वस्तु की किसी दूसरी वस्तु से तुलना करते हैं। यदि एक सेर गेहूँ के बदले में हमें एक गज कपड़ा या आध सेर चावल या एक सेर दूध मिल सके तो गेहूँ का अर्घ इन विभिन्न वस्तुओं के बराबर है। वस्तु का अर्घ उसकी उपयोगिता पर ही निर्भर है। यदि एक वस्तु की उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति के लिए शून्य है तो उसके बदले में कोई भी व्यक्ति कुछ भी वस्तु देने को तय्यार न होगा। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि केवल उपयोगिता होने से ही उस वस्तु का विनिमय में अर्घ होना आवश्यक नहीं। जैसे साँस लेने के लिए हवा की बहुत उपयोगिता है परन्तु साधारणतः इस वस्तु का विनिमय में अर्घ शून्य होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को साँस लेने के लिए स्वयं हवा प्राप्त करनी पड़ती है। वह उसे किसी दूसरे से मोल नहीं लेता है। गंगाजल का अर्घ गंगा के पास कम होता है और वहाँ से सैकड़ों मील दूर (जिन लोगों को उसकी आवश्यकता है) अधिक। अर्थात् जो वस्तु जितनी दुर्लभ होती है उसका अर्घ उतना ही अधिक होता है और अर्घ उसी वस्तु का अधिक होगा जिसमें अधिक उपयोगिता हो। अर्थात् अर्घ उपयोगिता और दुर्लभता पर निर्भर है।

जब एक वस्तु का अर्घ द्रव्य में नापा जाता है तब उसको मूल्य कहते हैं। एक सेर गेहूँ का अर्घ एक गज कपड़े के बराबर हो सकता है; परन्तु उसका मूल्य आठ आना या छः आना होगा। मूल्य द्रव्य में नापा जाता है। यह सम्भव है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ़ जाय। इस स्थिति में द्रव्य का मूल्य घट जायेगा; क्योंकि एक निश्चित द्रव्य की मात्रा के बदले में अब कम वस्तुएँ मिलेंगी। सन् १९३९ के युद्ध के उपरान्त ऐसा ही हुआ है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु

का अर्घ नहीं बढ़ सकता। जब एक सेर गेहूँ के बदले एक गज की अपेक्षा दो गज कपड़ा मिलता है तो ऐसी स्थिति में गेहूँ का अर्घ जितना बढा है उतना ही कपड़े का अर्घ घट गया है।

अदल-बदल (Barter)

जब मनुष्य का आर्थिक जीवन वर्तमान काल की तरह जटिल न था तब उसकी आवश्यकताएँ भी कम होती थीं और वह अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ बहुत कुछ स्वयं उत्पन्न करता था। श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता के आरंभ होते ही मनुष्य स्वावलम्बी न रहा और कुछ वस्तुएँ उसको अपनी उत्पादित वस्तुओं के बदले में दूसरों से मोल लेनी पड़ीं। जब एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से ही होता है तो उसको अदल-बदल कहते हैं। अदल-बदल में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनमें से प्रथम यह है कि जब हम एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु प्राप्त करना चाहते हों तो हमको ऐसा व्यक्ति ढूँढ़ना पड़ेगा जिसके पास हमारी इच्छित वस्तु हो और उसके बदले में वह हमारी वस्तु लेने को तय्यार हो। एक व्यक्ति के पास गेहूँ है और वह उसको कपड़े से अदल-बदल करना चाहता हो तो उसको एक ऐसा व्यक्ति ढूँढ़ना पड़ेगा जिसके पास कपड़ा हो और वह कपड़े के बदले में गेहूँ लेना चाहता हो। अर्थात् अदल-बदल तभी सम्भव है जब इस प्रकार का दुहरा संयोग हो। यदि आपको ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलता जो कपड़ा देकर गेहूँ लेना चाहता हो, बल्कि जिस व्यक्ति के पास कपड़ा है वह दूध लेना चाहता है तो अब आपको ऐसे व्यक्ति की खोज करनी होगी जिसके पास दूध हो। यदि दूध वाला गेहूँ की अपेक्षा चावल चाहता हो तो ऐसे व्यक्ति की खोज करनी होगी जिसके पास चावल हो। यदि आपको ऐसा व्यक्ति मिल जाता है जो चावल देकर गेहूँ लेना चाहता हो तो आप पहले गेहूँ देकर चावल लीजिये फिर उनकी अदल-बदल दूध से कीजिये और तब दूध के बदले में आप कपड़ा प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार अदल-बदल में बहुत समय और परिश्रम व्यय होता है। यदि आपको ऐसा व्यक्ति मिल भी जाय जो कपड़ा देकर गेहूँ लेना चाहता हो तो यह सम्भव है कि जिस मात्रा में आप कपड़े और गेहूँ की अदल-बदल करना चाहते हैं उस पर वह सहमत न हो। यदि आप एक सेर गेहूँ के बदले में कम से कम एक गज कपड़ा लेना चाहते हों और दूसरा व्यक्ति एक गज कपड़े के बदले डढ़ सेर गेहूँ चाहता हो तो भी अदल-बदल सम्भव न होगी। अर्थात् अदल-बदल की दूसरी कठिनाई यह है कि दोनों पक्षों में दुहरा संयोग ही न हो वरन् अदल-बदल की जानेवाली वस्तुओं की दर में भी समझौता हो।

जब किसी वस्तु का उप-विभाजन करने से उसका अर्घ कम हो जाता है जैसे गाय, मेज, कुर्सी, घड़ी इत्यादि, तब अदल-बदल में एक और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यदि आपके पास एक घड़ी है और आप उसके बदले में गेहूँ, कपड़ा और आलू लेना चाहते हैं तो आपको ऐसा व्यक्ति ढूँढ़ना होगा जिसके पास ये तीनों वस्तुएँ हों और जिस मात्रा में आप घड़ी की अदल-बदल इन वस्तुओं से करना चाहते हों वह कम से कम उसी मात्रा में उन वस्तुओं को देकर घड़ी लेने को तय्यार हो। अन्यथा आप घड़ी के बदले में गेहूँ, कपड़ा और आलू नहीं ले सकते। यदि ये वस्तुएँ तीन विभिन्न आदमियों के पास हैं तो यह सम्भव नहीं कि आप घड़ी का कुछ भाग आलूवाले को दे दें, कुछ कपड़े वाले को, और कुछ गेहूँवाले को। अर्थात् कुछ वस्तुओं का उप-विभाजन न होने के कारण अदल-बदल में बड़ी कठिनाई पड़ती है। द्रव्य का प्रचलन हो तो आप घड़ी बेचकर द्रव्य प्राप्त कर लें और फिर जिस मात्रा में चाहें गेहूँ, कपड़ा इत्यादि खरीद सकते हैं।

अदल-बदल की एक यह कठिनाई भी है कि हर बार विनिमय की दर तय करनी पड़ती है। यदि द्रव्य का प्रचलन हो तो प्रत्येक वस्तु का मूल्य द्रव्य में प्रकट किया जाता है जिसे आसानी से स्मरण रखा जा सकता है। यदि द्रव्य का प्रचलन न हो तो एक ही वस्तु का विनिमय अनेक वस्तुओं से होता है और जो विभिन्न वस्तुएँ उसके बदले में आप प्राप्त करते हैं उनकी मात्रा समान नहीं होती। जैसे एक घड़ी के बदले में आप गेहूँ एक मन चाहते हों तो चावल, चना, कपड़े इत्यादि की मात्रा विभिन्न होगी।

उक्त कठिनाइयों के कारण ही अदल-बदल की प्रथा ऐसी स्थिति में ही पाई जाती है जहाँ मनुष्य की आवश्यकताएँ कम हों और श्रम-विभाजन तथा विशेषज्ञता का अधिक प्रसार न हुआ हो। यह भी आवश्यक है कि अदल-बदल करनेवाले व्यक्ति आसपास ही रहते हों और आपस में उनका परिचय हो जिससे वह एक दूसरे की आवश्यकता को जानते हों। तभी यह सम्भव है कि दो व्यक्तियों में दुहरा-संयोग स्थापित होने में अधिक समय न लगे। ऐसा समाज वर्तमान सभ्यता की दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ होगा।

उक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए द्रव्य का निर्माण हुआ। द्रव्य विनिमय का सामान्य माध्यम है और सर्वमान्य साधन भी है। द्रव्य के प्रचलन में प्रत्येक वस्तु का मूल्य द्रव्य में ही होता है और प्रत्येक विनिमय के कार्य द्रव्य द्वारा ही होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास एक वस्तु है जिसकी उसको आवश्यकता नहीं है, बल्कि कुछ अन्य वस्तुओं की आवश्यकता है, तो वह अपनी वस्तु का द्रव्य द्वारा विक्रय कर सकता है और इस द्रव्य से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ क्रय कर सकता है।

इस प्रकार एक विनिमय की क्रिया दो भागों में बँट जाती है :—(१) वस्तु का विनिमय द्रव्य से। इसको विक्रय (Sale) कहते हैं । (२) द्रव्य का विनिमय वस्तु से । इसको क्रय (Purchase) कहते हैं ।

साधारणतः वर्तमान काल में विनिमय की क्रियाएँ द्रव्य द्वारा ही होती हैं। परन्तु कभी कभी एक वस्तु का विनिमय दूसरी वस्तु से भी होता है। जैसे गाँवों में अब भी दर्जी या खाती या अन्य दस्तकारों को कुछ लोग उनके श्रम के बदले नाज देते हैं। भारत सरकार ने भी रूस, चीन इत्यादि देशों से व्यापार-सन्धियाँ की हैं जिनके अनुसार वह पटसन देकर उन देशों से नाज लेगी। उक्त क्रियाएँ पूर्ण रूप से अदल-बदल नहीं हैं ; क्योंकि आजकल जब अदल-बदल की भी जाती है तो वास्तव में विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य का अनुमान द्रव्य में लगा लिया जाता है और द्रव्य का लेन-देन सहूलियत के कारण नहीं किया जाता ।

अभ्यास के प्रश्न

१. विनिमय का अर्थ और उसके लाभ समझाइये ।

२. "अर्घ और मूल्य" में और "अदल-बदल और क्रय-विक्रय" में अन्तर समझाइये ।

३. 'अदल-बदल' की कठिनाइयाँ उदाहरण देकर समझाइये ।

अध्याय १७

बाजार (Market)

साधारण बोलचाल में बाजार से हमारा तात्पर्य एक ऐसे स्थान से होता है जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। प्रत्येक नगर व बड़े-बड़े गाँवों में बाजार होते हैं। बड़े-बड़े नगरों में अनेक बाजार होते हैं। इनमें से कुछ बाजार ऐसे होते हैं जिनमें केवल एक प्रकार की वस्तु का क्रय-विक्रय होता है, जैसे कपड़े का बाजार या नाज का बाजार। कुछ बाजार ऐसे भी होते हैं जहाँ अनेक प्रकार की वस्तुएँ मिलती हैं और लोग वहाँ जाकर अपनी आवश्यकताओं की अनेक वस्तुएँ खरीदते हैं। अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ एक ऐसे संगठित स्थान से नहीं होता जहाँ एक या अनेक प्रकार की वस्तुएँ बेची या खरीदी जाती हों। इस दृष्टि से तो अर्थशास्त्र में बाजार बहुत फैला हुआ होता है। चाँदी या सोने का बाजार आर्थिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय होता है तो भी इन वस्तुओं के क्रेता-विक्रेता किसी एक विशेष स्थान पर एकत्रित नहीं होते वरन् सारे संसार में फैले होते हैं। अर्थशास्त्र में बाजार से हमारा तात्पर्य किसी एक वस्तु के बाजार से होता है और हमारा ध्यान उस वस्तु की ओर, जिसका क्रय-विक्रय होता है, तथा उसके क्रेता-विक्रेताओं की ओर आकर्षित होता है। हमारा अर्थ किसी एक विशेष दूकान, गोदाम इत्यादि से नहीं होता जहाँ बेचनेवाली वस्तुएँ रखी या दिखाई जाती हैं। आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु का अलग बाजार होता है अर्थात् जब हम बाजार कहते हैं तो हमारा तात्पर्य एक ही वस्तु के बाजार से होता है। यदि हमारा ध्यान एक से अधिक वस्तुओं की ओर है तो हम एक से अधिक बाजारों का विचार करते हैं। जितनी वस्तुओं का हम ध्यान करेंगे उतने ही बाजारों का विचार करना होगा; क्योंकि जैसा हम बता चुके हैं अर्थशास्त्र में एक बाजार एक ही वस्तु का होता है। ऐसे बाजार में क्रेता और विक्रेताओं में प्रतिस्पर्धा होती है। यदि उनमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा है तो उस वस्तु के सारे बाजार में किसी एक निश्चित समय पर उस वस्तु का एक ही मूल्य होगा। परन्तु ऐसा बाजार केवल काल्पनिक होता है और व्यावहारिक जीवन में कहीं नहीं पाया जाता। किसी भी बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा न होने के कई कारण हैं, जैसे वस्तु को बाजार के एक भाग से दूसरे भाग में ले जाने से कुछ

व्यय (यातायात इत्यादि पर) करना होता है। विभिन्न भागों में उस वस्तु पर कर भी एक समान नहीं होता और क्रेता-विक्रेताओं को उसके प्रत्येक भाग की पूर्ण जानकारी भी नहीं होती है। इस कारण उसका मूल्य सारे बाजार में समान नहीं होता। परन्तु उस वस्तु के जो मूल्य उस बाजार के विभिन्न भागों में होते हैं उनमें किसी न किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। किसी एक भाग में मूल्य बढ़ने या घटने से अन्य भागों में भी उस वस्तु के मूल्य घटने या बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। यदि कोई भाग ऐसे हैं जिनमें उस वस्तु के मूल्य का दूसरे भागों से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है तो वह भाग अर्थशास्त्र की दृष्टि से उस वस्तु का एक अलग बाजार कहलायेगा। इस विवेचन से हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं :—(१) पूर्ण प्रतिस्पर्धा तो किसी वस्तु के किसी भी बाजार में सम्भव नहीं और (२) यदि किसी वस्तु के बाजार के किसी भाग में प्रतिस्पर्धा का लेशमात्र भी नहीं है तो वह भाग उस वस्तु का दूसरा बाजार कहलायेगा। इससे स्पष्ट है कि किसी वस्तु के बाजार में क्रेता-विक्रेताओं में न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा ही होती है और न ऐसा ही होता है कि उनमें प्रतिस्पर्धा का लेशमात्र भी न हो; वरन् उनमें कुछ प्रतिस्पर्धा होती है जिसके कारण उस वस्तु के बाजार के सारे क्षेत्र में उस वस्तु के मूल्य यदि वह समान नहीं हैं तो भी उनमें पारस्परिक सम्बन्ध होता है। यदि पालक या मूली के मूल्य में दो स्थानों में कोई सम्बन्ध न हो अर्थात् इस वस्तु के दो स्थानों के क्रेता-विक्रेताओं में प्रतिस्पर्धा लेशमात्र भी न हो, तो यह दो स्थान मूली या पालक के एक बाजार नहीं हो सकते।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस अर्थ में बाजार का प्रयोग हम अर्थशास्त्र में करते हैं उसके अनुसार हम कोई स्थान, सामग्री या पदार्थ को दिखाकर यह नहीं कह सकते हैं कि यह बाजार है। हमारा 'बाजार' तो केवल एक ऐसी अवस्था है जिसमें एक वस्तु की माँग व पूर्ति होती है और जब हम यह कहते हैं कि एक विशेष वस्तु का बाजार है तो हमारा यही अर्थ होता है कि उस वस्तु की माँग है और कुछ लोग उसको बेचने को भी तय्यार हैं। फलस्वरूप एक वस्तु के बाजार की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि वह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ उस वस्तु के क्रेता और विक्रेताओं में पारस्परिक सम्बन्ध है, जिसके कारण उनको उन शक्तियों की जानकारी है जिनका उस वस्तु के मूल्य पर प्रभाव है, और जिस क्षेत्र में उस वस्तु के मूल्य असमान होने पर भी उनमें ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है जिससे उस क्षेत्र के किसी भाग में वस्तु के मूल्य के परिवर्त्तन का अन्य भागों पर प्रभाव पड़ता है।

वर्तमान काल में ऐसे कुछ कारण हैं जिनसे वस्तुओं के बाजार के क्षेत्रों के विस्तार में सहायता मिली है। यातायात और सन्देश-वाहन के साधनों की उन्नति से यह सम्भव हो गया है कि वस्तुएँ दूर-दूर भेजी जा सकें और उनके भेजने में यातायात पर व्यय अधिक नहीं होता है। साथ ही साथ वस्तुओं के मूल्य दूसरे स्थानों व देशों में क्या हैं इनका परिचय भी शीघ्र और सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण क्रेता-विक्रेताओं में प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र बढ़ जाता है। द्रव्य और साख के प्रचलन से भी दूर-दूर के स्थानों में विनिमय सम्भव है और सुगमता से हो सकता है। अच्छी बैंकिंग प्रणाली भी इसमें सहायक है। इसके लिए द्रव्य का मूल्य स्थिर रहना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ यह प्रयत्न करती हैं कि प्रत्येक राज्य के द्रव्य का मूल्य अर्थात् उसकी विनिमय-शक्ति स्थिर रहे और उनकी बैंकिंग प्रणाली कुशल और विश्वसनीय हो। यदि वस्तुओं के यातायात में चोरी या डकैती का डर हो तो उनके बाजार का क्षेत्र संकुचित हो जायेगा। इसी प्रकार यदि किसी देश में राजनैतिक या आर्थिक उथल-पुथल हो तो उस देश से व्यापार करने में लोग हिचकिचायेंगे। इससे स्पष्ट है कि शांति, व्यवस्था और विश्वास की स्थापना ने भी वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र बढ़ाने में सहायता दी है।

जब हम किसी वस्तु के बाजार की चर्चा करते हैं तो हम उस बाजार को दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। या तो हम उस वस्तु के बाजार का अध्ययन उसके क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से करें अर्थात् यह पता लगायें कि उनका क्षेत्र कितना बड़ा या कहाँ तक फैला हुआ है। ऐसे बाजार को उस वस्तु का स्थान-बाजार (Place Market) कहते हैं। एक वस्तु के बाजार का हम समय की दृष्टि से भी अध्ययन कर सकते हैं और उसको विभिन्न समयों के अनुसार समय सम्बन्धी बाजारों (Time Markets) में बाँट सकते हैं*। और इस बात का अध्ययन कर सकते हैं कि उस समय के अन्दर माँग और पूर्ति में सन्तुलन किस प्रकार स्थापित होता है।

किसी वस्तु का बाजार कितना विस्तृत है यह विभिन्न कारणों पर निर्भर होता है। एक वस्तु के विस्तृत बाजार के लिए उस वस्तु में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—

उस वस्तु का प्रयोग साधारणतया अधिक और विस्तृत होना चाहिए। उसका उपभोग विश्वव्यापक होना चाहिए, जैसे रूई, गेहूँ, पटसन इत्यादि

---

* पृष्ठ १८३ देखिये।

का, अन्यथा उसकी माँग दूर-दूर न होगी। यदि उसका उपभोग भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाता है तब भी उसका बाजार विस्तृत होगा। उस वस्तु की आवश्यकता लोगों को सदा और स्थिर रूप से होनी चाहिए और ऐसा नहीं कि कभी तो उसकी आवश्यकता उनको हो और अकस्मात् ही उनको उसकी आवश्यकता न रहे। ऐसा होने से उस वस्तु के उत्पादक दूर के स्थानों के लिए उसका उत्पादन करने में घबड़ायेंगे ; क्योंकि वस्तु के उत्पादन और यातायात में कुछ समय लगता है और इस बीच में यदि उसकी माँग बहुत घट गई तो उनको अधिक हानि होगी।

वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका वर्गीकरण हो सके। अर्थात् उसके ग्रेड (Grade) बनाये जा सकें और ग्रेड के बताने से ही उस वस्तु का पूर्ण परिचय हो जाय जिससे दूर-दूर के खरीददारों को उस वस्तु के सम्पूर्ण ढेर को देखने की आवश्यकता न हो। यह गुण गेहूँ, शक्कर, कपास इत्यादि में पाये जाते हैं और उनकी ग्रेड या श्रेणी बतलाने से ही दूर-दूर के लोग उसकी विशेषताएँ समझ सकते हैं। या वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका नमूना लिया जा सके और नमूने को देखकर ही लोग उसका क्रय-विक्रय करने को तय्यार हो जायँ। या वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसकी जानकारी उसका वर्णन पढ़कर किया जा सके। या जिसकी पूर्ण जानकारी दृष्टान्त-चित्र या सचित्र सूचीपत्र द्वारा की जा सके जैसे अन्य मशीनें, रेल के इन्जन, हवाई जहाज, मोटर इत्यादि। दूर-दूर के देशों के लोग उनके सचित्र सूचीपत्र पढ़कर ही क्रय-विक्रय कर लेते हैं।

वस्तु ऐसी भी होनी चाहिए जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता से ले जाई जा सके और इसमें उसको कुछ हानि न पहुँचे। दूध, दही, पालक, मूली इत्यादि अधिक समय तक अच्छी दशा में नहीं रह सकते और दूर के स्थानों में ले जाने से खराब हो जाते हैं। इस कारण उनका बाजार विस्तृत नहीं हो सकता। बर्फ की पेटियों में ले जाने की सुविधा से ऐसी वस्तुएँ अधिक समय तक टिक सकती हैं, परन्तु उनका मूल्य बढ़ जाता है। यह भी आवश्यक है कि उस वस्तु के यातायात पर व्यय उसके मूल्य का एक छोटा-सा भाग होना चाहिए अन्यथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से उसका मूल्य बहुत बढ़ जायेगा। कुछ वस्तुएँ बहुत फैली हुई होती हैं और यातायात में बहुत स्थान घेरती हैं, जिस कारण यातायात का व्यय बहुत अधिक हो जाता है। ऐसी वस्तुएँ घास, भूसा, कड़वी, कन्डे इत्यादि हैं। यह भी आवश्यक है कि वह वस्तु हल्की हो। यदि वह बहुत भारी हुई और उसका मूल्य कम है तो यातायात में व्यय अधिक होगा जिससे मूल्य दुगुना-तिगुना हो

जायेगा। ईंट और पत्थर का मूल्य तो इतना कम होता है और वजन इतना अधिक होता है कि वह दूर दूर नहीं ले जाये जाते।

यह भी आवश्यक है कि वस्तु की पूर्ति अधिक मात्रा में होनी चाहिए अन्यथा दूर-दूर के स्थानों में उसकी माँग पूरी न की जा सकेगी।

किसी वस्तु का विस्तृत बाजार होने से यह लाभ होता है कि उसकी माँग अधिक स्थिर होती है; क्योंकि यदि किसी एक भाग में माँग कम भी हो जाती है तो हो सकता है कि दूसरे भाग में बढ़ जाय और यदि किसी भाग में माँग बढ़ जाती है तो दूसरे भागों में घट जाती है। इस प्रकार एक भाग के माँग की बढ़ती दूसरे भाग की घटती माँग को कुछ सीमा तक पूरी कर देती है। माँग की कुल वृद्धि या ह्रास अधिक नहीं होती और यदि माँग में वृद्धि या ह्रास अधिक हो तब भी वह सारी माँग का छोटा भाग होता है जिस कारण उसका प्रभाव कम पड़ता है। इससे उत्पादकों को माँग की अधिक निश्चितता रहती है और वह वस्तु का उत्पादन अधिक स्थिरता से कर सकते हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जिन गुणों का हमने ऊपर वर्णन किया है उनके होने से किसी वस्तु का बाजार फैला हुआ और अधिक होता है, अर्थात् उसकी माँग व पूर्ति की मात्रा अधिक होती है और दूर-दूर फैली होती है। परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि उनमें उक्त लिखित सब गुण नहीं होते जिससे उनका बाजार फैला हुआ तो होता है परन्तु माँग और पूर्ति की मात्रा कम होती है। जैसे हीरे और जवाहरात के खरीददार संसार भर में फैले होते हैं, परन्तु इन वस्तुओं की न तो पूर्ति अधिक होती है और न माँग ही। इस कारण इनके क्रय-विक्रय की मात्रा कम होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. "बाजार" की परिभाषा दीजिये और बतलाइये कि यह साधारण बोलचाल के अर्थ से किस प्रकार भिन्न है?
२. सोना, चाँदी, रूई और गेहूँ का विस्तृत बाजार क्यों होता है? पूर्ण रूप से समझाइये।

अध्याय १८

माँग और पूर्ति (Demand & Supply)

माँग, माँग का नियम, माँग का कोष्ठक, माँग की वक्ररेखा और माँग की लचक का वर्णन हम अध्याय १३ और १४ में कर चुके हैं। यहाँ हम पूर्ति, पूर्ति के नियम इत्यादि का अध्ययन करेंगे।

पूर्ति (Supply) :—पूर्ति से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु की उस मात्रा से है जो एक निश्चित समय व निश्चित मूल्य पर बेचने के लिए प्रस्तुत की जाय। इस स्थिति में एक विक्रेता द्वारा उस वस्तु की जो मात्रा बेचने के लिए लाई जाती है वह एक व्यक्ति की पूर्ति कहलाती है और कुल विक्रेता उस वस्तु की जितनी मात्रा बेचने को तय्यार होते हैं वह बाजार की पूर्ति कहलाती है। किसी वस्तु की पूर्ति उन व्यक्तियों के द्वारा होती है जो उस वस्तु का उत्पादन करें या जिनके पास उसका स्टॉक (Stock) या भंडार हो। विक्रेता उस वस्तु को किसी दूसरी वस्तु या द्रव्य से विनिमय करने को तय्यार होता है अर्थात् उस वस्तु की पूर्ति करनेवाला उस वस्तु का तो विक्रेता होता है और कोई दूसरी वस्तु या द्रव्य का क्रेता। किसी वस्तु की पूर्ति करनेवाले के पास उस वस्तु की अनेक इकाइयाँ होती हैं। इन विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए क्रमानुसार घटती जाती है। मान लीजिये कि किसी व्यक्ति के पास पाँच पेन्सिल हैं जिनको वह बेचना चाहता है। सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार इन विभिन्न पेन्सिलों की उपयोगिता उसके लिए क्रमानुसार घटती जायेगी।

मान लीजिये कि उसको विभिन्न पेन्सिलों से निम्न उपयोगिता प्राप्त होती है :—

पहली	पेन्सिल	से	प्राप्त	उपयोगिता	४	आने
दूसरी	,,	,,	,,	,,	३	,,
तीसरी	,,	,,	,,	,,	२	,,
चौथी	,,	,,	,,	,,	१॥	,,
पाँचवीं	,,	,,	,,	,,	१	,,

इससे स्पष्ट है कि यदि पेन्सिलों का मूल्य एक आना है तो वह केवल पाँचवीं पेन्सिल बेचने को तैयार होगा*। यदि मूल्य बढ़कर डेढ़ आना हो जाता है तो वह दो पेन्सिलें बेचने को तय्यार हो जायेगा। इस प्रकार जब मूल्य चार आने या उससे अधिक हो जाता है तो वह पाँचों पेन्सिलें बेचने को तय्यार हो जायेगा। सारांश यह है कि जैसे-जैसे मूल्य बढ़ता है वह अधिक पेन्सिलें बेचने को तय्यार होता है। इससे स्पष्ट है कि किसी वस्तु की पूर्ति उसके मूल्य पर निर्भर होती है। मूल्य में परिवर्त्तन होने से उस वस्तु की पूर्ति में भी परिवर्त्तन होता है। अर्थात् किसी वस्तु की पूर्ति के वर्णन का बिना उसके मूल्य के कुछ अर्थ नहीं होता। जब हम कहते हैं कि पेन्सिलों की पूर्ति १० है तो इसका यही अर्थ है कि एक निश्चित मूल्य पर ही पूर्ति १० है। मूल्य घटने से पूर्ति भी घट जायेगी और मूल्य बढ़ने से पूर्ति को बढ़ने की प्रवृत्ति होगी।

पूर्ति का नियम

पेन्सिलों के उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मूल्य बढ़ने से वह विक्रेता अधिक पेन्सिलें बेचने को तय्यार है। मूल्य घटने पर वह पैन्सिलों की पूर्ति कम कर देता है। प्रत्येक विक्रेता की यही प्रवृत्ति होती है जिस कारण मूल्य बढ़ने से बाजार में पूर्ति की मात्रा बढ़ जाती है और मूल्य घटने से पूर्ति की मात्रा भी घट जाती है। मूल्य बढ़ने से जो स्टॉक उस समय है उसमें से अधिक मात्रा बेचने के लिए आती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न उत्पादक उत्पादन में वृद्धि भी करते हैं, क्योंकि बढ़े मूल्य में उनको अधिक लाभ होता है। परन्तु जब मूल्य घट जाता है तो उनको हानि होती है

---

* पृष्ठ १०० देखिये। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जब हम बेची जानेवाली वस्तु की उपयोगिता का नाप द्रव्य में करते हैं और कहते हैं कि अमुक विक्रेता के लिए एक पेन्सिल की उपयोगिता दो आने के बराबर है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह विक्रेता उस पेन्सिल को दो आने में बेचने को तय्यार है। अर्थात् जब उस विक्रेता के सामने यह निर्वाचन समस्या है कि या तो दो आने ले या पेन्सिल, तो वह दो आने ही प्राप्त करना चाहेगा।

पृष्ठ १०० में उपयोगिता की द्रव्य में नाप के सम्बन्ध में जो वर्णन किया है वह उपभोग या खरीदी जानेवाली वस्तुओं पर ही लागू होता है। यह सम्बन्ध बेची जानेवाली वस्तुओं के लिए, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, विपरीत होता है। प्रत्येक अर्थशास्त्र की पुस्तक में यह मान्यता मानी जाती है।

और वे उत्पादन घटा देते हैं। इससे स्पष्ट है कि मूल्य बढ़ने पर पूर्ति की मात्रा में वृद्धि होती है और मूल्य घटने पर पूर्ति की मात्रा भी घट जाती है। इसी को पूर्ति का नियम कहते हैं। पूर्ति और मूल्य में सीधा सम्बन्ध है जब कि माँग और मूल्य में विपरीत सम्बन्ध होता है।

पूर्ति, स्टॉक और प्रभावपूर्ण पूर्ति:—किसी वस्तु के स्टॉक से हमारा तात्पर्य वस्तु की उस मात्रा से होता है जो एक निश्चित समय पर विक्रेताओं के पास या बाजार में विद्यमान हो। किसी वस्तु की बनी बनाई और तय्यार मात्रा जो एक निश्चित समय में विद्यमान हो वही उस वस्तु का स्टॉक कहलाता है। उक्त उदाहरण में उस विक्रेता के पास पेन्सिलों का स्टॉक पाँच है। पूर्ति स्टॉक पर निर्भर होती है और एक निश्चित समय स्टॉक से अधिक नहीं हो सकती। पूर्ति वह मात्रा है जो विक्रेता विभिन्न मूल्यों पर एक निश्चित समय में बेचने को तय्यार है। उक्त उदाहरण में यदि मूल्य एक आना है तो पूर्ति एक पेन्सिल होगी और मूल्य १।। आना है तो पूर्ति २ पेन्सिल होगी। जब मूल्य बढ़कर तीन आना हो जाता है तो पूर्ति चार पेन्सिल है। एक निश्चित समय में पूर्ति की मात्रा बढ़ने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उत्पादन में भी वृद्धि हो; क्योंकि मूल्य बढ़ने से जिन व्यक्तियों के पास उस वस्तु का स्टॉक होता है वह स्टॉक का अधिक भाग बेचने को तय्यार हो जाते हैं। परन्तु दीर्घकाल में स्टॉक स्वयं पूर्ति पर निर्भर होता है। पूर्ति बेचने की इच्छा पर निर्भर होती है और बेचने की इच्छा उत्पादन पर। यदि आपको एक वस्तु की अधिक मात्रा बेचने की इच्छा है तो आपको उत्पादन भी अधिक करना होगा। जब उत्पादन अधिक होगा तो स्टॉक में वृद्धि होगी और तभी पूर्ति की मात्रा बढ़ सकेगी। इस प्रकार स्टॉक भी पूर्ति पर निर्भर है।

प्रभावपूर्ण पूर्ति से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु की उस मात्रा से होता है जो बाजार के प्रचलित मूल्य पर बेची जाय। उक्त उदाहरण में जब बाजार में मूल्य तीन आना है तब प्रभावपूर्ण पूर्ति चार पेन्सिल है। इस स्थिति में स्टॉक पाँच पेन्सिल है। विभिन्न मूल्यों पर पूर्ति विभिन्न है और प्रभावपूर्ण पूर्ति चार है। जो मूल्य बाजार में एक निश्चित समय प्रचलित होता है वह सन्तुलन मूल्य (Equilibrium price) कहलाता है, क्योंकि उस मूल्य पर उस समय प्रभावपूर्ण माँग और प्रभावपूर्ण पूर्ति बराबर होती है। जिस प्रकार सन्तुलन मूल्य पर प्रभावपूर्ण माँग निर्भर है, उसी प्रकार प्रभावपूर्ण पूर्ति भी उसी पर निर्भर है। जिस व्यक्ति में बेचने की इच्छा होती है वह उस वस्तु की पूर्ति कर सकता है; परन्तु वह पूर्ति प्रभावपूर्ण होती है या नहीं, या किस मात्रा में प्रभावपूर्ण होती है और किस मात्रा में नहीं, यह उस वस्तु के मूल्य पर निर्भर है।

पूर्ति का कोष्ठक

जिस उदाहरण का ऊपर वर्णन किया गया है उसको निम्न कोष्ठक द्वारा दर्शाया गया है :—

मूल्य	पेन्सिलों की पूर्ति
१ आना	१
१½ ,,	२
२ ,,	३
३ ,,	४
४ ,,	५

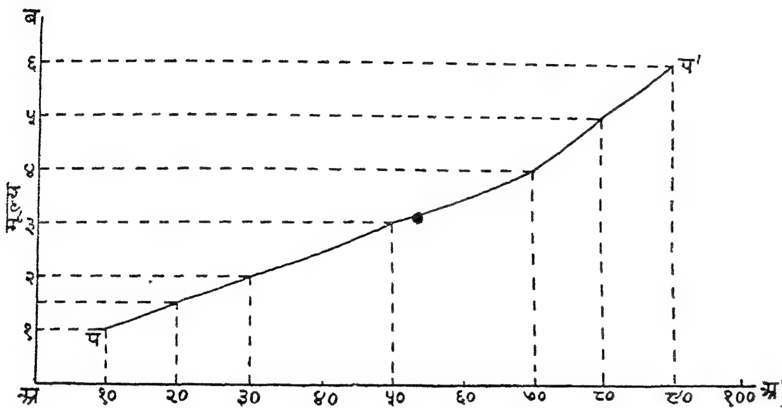
इसी कोष्ठक को एक व्यक्ति की पूर्ति का कोष्ठक कहते हैं। इस कोष्ठक में एक ओर मूल्य दिया होता है और दूसरी ओर प्रत्येक मूल्य के सामने वस्तुओं की वह मात्रा जो उस मूल्य पर वह व्यक्ति बेचने को तय्यार है। यह कोष्ठक यह बतलाता है कि एक निश्चित समय और स्थान पर एक विशेष व्यक्ति पेन्सिलों की कितनी इकाइयाँ विभिन्न मूल्यों पर बेचने को तय्यार है। किसी और समय या स्थान पर यह आवश्यक नहीं कि वही व्यक्ति उक्त लिखित मूल्यों पर उक्त लिखित मात्राएँ ही बेचे; क्योंकि उस समय यह सम्भव है कि अनेक परिवर्त्तनों के कारण वह पूर्त्ति की मात्रा भी बदल दे।

उक्त कोष्ठक एक व्यक्ति की पूर्ति बतलाता है। यदि एक बाजार में जितने भी व्यक्ति उस वस्तु के विक्रेता हैं, उन सबकी पूर्ति का योग निकाल लें तो हम बाजार की पूर्ति मालूम कर सकते हैं। यदि इस योग को एक कोष्ठक का रूप दे दें तो वह कोष्ठक बाजार की एक विशेष समय की पूर्ति का कोष्ठक कहलायेगा। इसका उदाहरण नीचे दिया गया है—

बाजार की पूर्ति का कोष्ठक

मूल्य आनों में	पेन्सिलों की पूर्ति
६	९०
५	८०
४	७०
३	५०
२	३०
१½	२०
१	१०

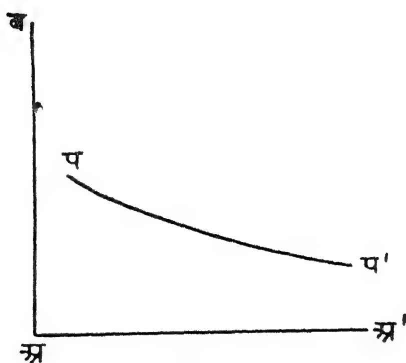
एक व्यक्ति की पूर्ति का कोष्ठक या बाजार की पूर्ति के कोष्ठक को हम वक्ररेखा द्वारा भी दर्शा सकते हैं। निम्न ग्राफ उक्त लिखित बाजार की पूर्ति के कोष्ठक को स्पष्ट करता है।



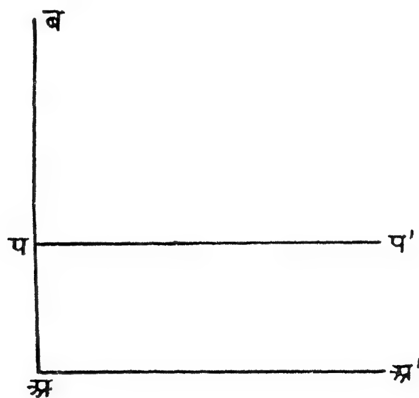
पेन्सिलों की इकाई

अ अ' पर पेन्सिलों की इकाई नापी गई है। और अ ब पर मूल्य। प प' पूर्ति की वक्ररेखा (Supply Curve) कहलाती है। यदि बाजार में पेन्सिलों का मूल्य ३ आना है तो प्रभावपूर्ण पूर्ति ५० पेन्सिलें हैं। उक्त कोष्ठक के अनुसार जब मूल्य ६ आना है, तो पूर्ति ९० पेन्सिलें हैं और जब मूल्य ४ आना है तो पूर्ति घट कर ७० पेन्सिलें हो जाती हैं। अर्थात् ६ आना, ५ आना ४ आना, ३ आना इत्यादि विभिन्न पूर्ति के मूल्य (Supply prices) हैं, और ९०, ८०, ७०, ५० इत्यादि पूर्ति की मात्राएँ हैं।

साधारणतः पूर्ति की वक्ररेखा औसत लागत की वक्ररेखा होती है। उक्त [illegible]हरण में यह वक्ररेखा बाईं ओर से दाहिनी ओर को चढ़ती जाती है। इ[illegible] आकार माँग की वक्ररेखा (जो बाईं ओर से दाहिनी ओर झुकती ज[illegible] है) से भिन्न है। उक्त वक्ररेखा ऐसी वस्तु की पूर्ति की वक्ररेखा है जि[illegible]ा उत्पादन औसत लागत की वृद्धि के नियम के अधीन होता है। यदि उत्प[illegible] औसत लागत के ह्रास के नियम के अनुसार हो तो पूर्ति की वक्र[illegible] माँग की वक्ररेखा के समान बाईं ओर से दाहिनी ओर झुकती जायेगी [illegible]ैसा नीचे दर्शाया गया है।



यदि उत्पादन औसत लागत की स्थिरता के नियम के अनुसार हो तो पूर्ति की वक्ररेखा लेटी हुई होगी और मात्रा की अक्षरेखा के समानान्तर और मूल्य की वक्ररेखा पर लम्ब होगी जैसा नीचे दर्शाया गया है—



पूर्ति की लचक (Elasticity of Supply)

माँग की लचक के समान हम पूर्ति की लचक का भी वर्णन कर ते हैं। अर्थात् इस बात का अध्ययन कर सकते हैं कि मूल्य में पि र्तन होने से पूर्ति की मात्रा में कितनी वृद्धि या कमी होती है। पूर्ति की चक का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि मूल्य में परिव होने से पूर्ति की मात्रा में कितना परिवर्त्तन होता है। यह ध्यान रखना

आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु की पूर्ति की लचक समान नहीं होती और न ऐसा ही है कि एक वस्तु की पूर्ति की लचक विभिन्न समयों पर और उत्पादन की विभिन्न स्थितियों में समान ही रहे। यदि मूल्य घटने पर पूर्ति शून्य रह जाती है तो ऐसी वस्तु की पूर्ति पूर्णतया लचकदार (Perfectly elastic) होती है। और यदि मूल्य में परिवर्त्तन होने से पूर्ति की मात्रा में कोई परिवर्त्तन नहीं होता अर्थात् विभिन्न मूल्यों पर पूर्ति की मात्रा स्थिर रहती है तो उस वस्तु की पूर्ति पूर्णतया बे-लचकदार (Perfectly inelastic) कहलाती है। व्यावहारिक जीवन में ऐसी वस्तुएँ बहुत कम होती हैं जिनकी पूर्ति की लचक पूर्णतया लचकदार या पूर्णतया बे-लचकदार हो। अधिकतर वस्तुओं की पूर्ति की लचक इन दो सीमाओं के बीच में ही होती है।

यदि कोई वस्तु अधिक समय तक नहीं रखी जा सकती तो उसकी पूर्ति की लचक कम होगी, क्योंकि मूल्य कम होने पर भी उसको बेचना ही पड़ेगा अन्यथा वह खराब हो जायेगी। दूध व हरे साग इत्यादि की पूर्ति की लचक एक निश्चित समय में कम होती है, क्योंकि उत्पादन के बाद उनके स्टॉक और पूर्ति में अधिक अन्तर नहीं हो सकता।

यदि कोई वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जायी जा सकती है और उसकी पूर्ति के अनेक स्रोत हैं तो उसकी माँग अधिक लचकदार होगी। एक स्थान पर मूल्य बढ़ने से उसकी पूर्ति की मात्रा दूसरे स्थानों से उस वस्तु को मँगाकर आसानी से बढ़ा दी जायेगी और एक स्थान पर मूल्य घटने से उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा उस स्थान पर कम कर दी जायेगी, क्योंकि ऐसी स्थिति में दूसरे स्थानों में उसकी पूर्ति बढ़ा दी जायेगी।

यदि किसी वस्तु का उत्पादन सरलता से घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता तो उसकी पूर्ति की लचक कम होगी, क्योंकि ऐसी स्थिति में मूल्य में परिवर्त्तन होने से उत्पादन में परिवर्त्तन करने में कठिनाई पड़ती है। किसी वस्तु की पूर्ति की लचक इस पर भी निर्भर है कि उस वस्तु के उत्पादनों के साधनों को बढ़ाने या घटाने में कुछ कठिनाइयाँ पड़ती हैं [illegible] नहीं। यदि उनकी मात्रा आसानी से बढ़ाई-घटाई जा सकती है तो पू[illegible] की लचक अधिक होगी, अन्यथा नहीं। लड़ाई के उपरांत बड़े-बड़े श[illegible] में मकानों की माँग बहुत बढ़ गई, परन्तु पूर्ति में इतनी वृद्धि न हुइ[illegible] जिसका कारण यह है कि मकानों को बनाने के साधन लोहा, ईंट, चून[illegible] सीमेंट इत्यादि आसानी से नहीं बढ़ाये जा सकते।

[illegible]त की लचक इस पर भी निर्भर है कि पूर्ति में परिवर्त्तन होने के लिए [illegible]तना समय मिलता है। यदि अधिक समय है तो पूर्ति में वृद्धि

या कमी आसानी से हो सकेगी, क्योंकि उत्पादन के साधनों में वृद्धि या कमी करने का अवकाश मिल जाता है। यदि समय थोड़ा है तो पूर्ति की लचक भी कम होगी, क्योंकि उतने समय में उस वस्तु के उत्पादन में अधिक परिवर्त्तन सम्भव न होगा और पूर्ति की मात्रा उस वस्तु के स्टॉक पर ही निर्भर होगी। यदि भविष्य में मूल्य में वृद्धि होने की संभावना है और उत्पादकों में उसका स्टॉक जमा रखने की शक्ति है तो वर्तमान में पूर्ति की मात्रा में कमी हो जायेगी। जब भविष्य में मूल्य में ह्रास होने की संभावना है तो वर्तमान में पूर्ति की मात्रा अधिक हो जायेगी। इन कारणों से किसी वस्तु की पूर्ति में अधिक लचक आ जाती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. पूर्ति, स्टॉक और प्रभावपूर्ण पूर्ति में अन्तर समझाइये।

२. पूर्ति का नियम समझाइये और बतलाइये कि किसी वस्तु की पूर्ति की लचक किन कारणों पर निर्भर होती है।

अध्याय १९

अर्घ का सिद्धान्त (Theory of Value)

अर्घ का सिद्धान्त समझाने से पहले कुछ प्रारम्भिक विचारों पर ध्यान देना आवश्यक है। सबसे प्रथम प्रश्न यह उठता है कि किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक क्रेता मूल्य देने को क्यों तय्यार होता है और उसको वह मूल्य क्यों देना पड़ता है? व्यावहारिक संसार में वस्तुएँ मुफ्त नहीं मिलती। परन्तु उनमें मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की शक्ति होती है। वस्तुओं में जो उपयोगिता होती है उसी के कारण मनुष्य या तो परिश्रम करके उनका उत्पादन स्वयं करता है या दूसरे उत्पादकों से उनको मोल लेता है। हम किसी वस्तु का जो मूल्य देते हैं वह उसकी उपयोगिता से अधिक नहीं हो सकता। अनेक वस्तुओं में उपयोगिता तो अधिक होती है परन्तु वह इतनी दुर्लभ नहीं होतीं, जैसे हवा। हम साँस लेने के लिए साधारणतः हवा किसी से मोल नहीं लेते। उसके उपभोग के लिए हमको स्वयं परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि हमारी ओर से दूसरा व्यक्ति साँस नहीं ले सकता है। परन्तु निमोनिया होने से जब फेफड़े कमजोर हो जाते हैं तो साधारण हवा से साँस कठिनाई से लिया जाता है और ऐसे व्यक्ति को औक्सीजन दिया जाता है। औक्सीजन साधारण हवा से अधिक दुर्लभ होता है और उसका उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति कर भी नहीं सकता। एक निमोनिया के रोगी के लिए उसमें अधिक उपयोगिता होती है और ऐसे रोगी को उसे मोल लेना पड़ता है। वस्तुओं की उपयोगिता और दुर्लभता के ही कारण उनके उत्पादक या स्वामी उन वस्तुओं को बिना मूल्य लिए दूसरे व्यक्ति को नहीं देते। यदि वस्तुएँ असीमित मात्रा में हों तो हमें उनको मोल लेने की आवश्यकता नहीं होती, [illegible] हवा या नदी के किनारे पानी*। इन वस्तुओं को प्राप्त करने के

---

* ये वस्तुएँ केवल इसी अर्थ में असीमित है कि प्रकृति इनका मूल्य मनुष्य से [illegible] माँगती और प्रत्येक मनुष्य इन वस्तुओं का चाहे जिस मात्रा में उपभोग कर [illegible]ता है। परन्तु इनके अपनाने और उपभोग में भी परिश्रम करना पड़[illegible] और इसी कारण यह भी सीमित है। ये वस्तुएँ भी इस अर्थ में असीमित नहीं [illegible] इनके उपभोग या अपनाने में कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता।

लिए हमें स्वयं परिश्रम करना पड़ता है परन्तु हमें प्रकृति को इनका मूल्य नहीं देना पड़ता है। एक गहरी खान के अन्दर हवा या रेगिस्तान में पानी यदि प्रकृति न दे तो किसी दूसरे व्यक्ति से मोल लेना होगा। जो व्यक्ति वस्तुएँ उत्पादन करता है या उनका स्वामी होता है उसको उन वस्तुओं के प्राप्त करने में कुछ परिश्रम या धन का व्यय करना होता है और इस कारण वह उन्हें मुफ्त नहीं देता है। जो वस्तुएँ एक उत्पादक उत्पन्न करता है उसकी उसके लिए भी कुछ उपयोगिता होती है। यदि उत्पादन के बाद उसका मूल्य लागत से कम हो जाता है तो भी वह इस उपयोगिता से कम पर उस वस्तु का विक्रय न करेगा। यदि उस वस्तु का मूल्य इस उपयोगिता से अधिक है और लागत से कम, तो वह उस उत्पादित वस्तु को तो बेच देगा परन्तु उस वस्तु की और इकाइयों का उत्पादन न करेगा, क्योंकि मूल्य उसकी लागत से कम है और इस कारण उसको इस वस्तु के उत्पादन से हानि होती है।

लागत (Cost)

किसी वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के अनेक साधनों को कुछ कष्ट सहना पडता है या कुछ त्याग करना पड़ता है। किसी वस्तु के उत्पादन में शारीरिक या मानसिक परिश्रम करना पड़ता है अर्थात् शारीरिक या मानसिक विश्राम का त्याग करना पड़ता है, पूँजीपति को अपने धन का उपभोग त्यागना पड़ता है, इत्यादि। किसी वस्तु के उत्पादन में जो वास्तविक श्रम और त्याग लगाना पड़ता है वही उस वस्तु की वास्तविक लागत (Real Cost) कहलाती हैं। जब इस वास्तविक लागत को द्रव्य में नापा जाता है तो वह उसकी द्राव्यिक लागत (Money Cost) कहलाती है। उत्पादन की लागत (Cost of Production) में उस वस्तु के उत्पादन में जितना भी व्यय किया जाता है सब सम्मिलित होता है। अर्थात् जो वेतन या पुरस्कार उत्पादन के विभिन्न साधनों को दिया जाता है उसका योग ही उस वस्तु के उत्पादन की लागत कहा जाता है। कच्चे माल का मूल्य, मानसिक और शारीरिक परिश्रम का प्रतिफल, पूँजी पर व्याज, साहस करने का पुरस्कार, मकान, मशीन व फर्निचर इत्यादि की टूट-फूट और प्रयोग से हटने (Obsolescence) का घाटा, कच्चे [illegible]ल, मशीन, उत्पादित माल के बीमे पर व्यय व कर इत्यादि उत्पादन की [illegible]गत में सम्मिलित होते हैं। इसमें जो परिश्रम या त्याग उत्पादक स्वयं [illegible]रता है उसका पुरस्कार भी सम्मिलित होता है।

कुल लागत (Total Cost) :—कुल इकाइयों के उत्पादन [illegible] [illegible]जतना व्यय होता है उसको कुल इकाइयों की कुल लागत कहते हैं। [illegible]में जो

परिश्रम, साहस या पूँजी उत्पादक स्वयं लगाता है उसका पुरस्कार भी सम्मिलित होता है। उत्पादन के विभिन्न साधन (चाहे उत्पादक उनमें से कुछ स्वयं लगाये और कुछ दूसरों को वेतन देकर लगवाये) जो वस्तु के उत्पादन में सहायक होते है उनको पर्याप्त वेतन मिलना आवश्यक है अन्यथा उनसे प्राप्त हुई सहायता की पूर्ति बंद हो जायेगी जिससे उत्पादन में बाधा पड़ेगी। अर्थात् कुल लागत में उत्पादन के विभिन्न साधनों का उचित वेतन सम्मिलित होता है।

कुल लागत को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) स्थिर लागत (Supplementary or Fixed Cost) और

(२) परिवर्त्तित लागत (Prime or Variable Cost)।

स्थिर लागत कुल लागत का वह भाग होता है जो उत्पादन की मात्रा में परिवर्त्तन होने पर भी स्थिर रहता है। अर्थात् जब उत्पादन की मात्रा शून्य होती है तो स्थिर लागत कुल लागत के बराबर होती है। यह लागत उत्पादन में कमी करने पर कम नहीं होती। इसमें कुल लागत के ऐसे भाग शामिल होते है, जैसे कारखाने का किराया, कारखाने के मैनेजर व अन्य उच्च अधिकारियों का वेतन, लगाई हुई पूँजी का व्याज इत्यादि। व्यय के इस भाग में वस्तु की उत्पादित मात्रा में कुछ वृद्धि या कमी होने से कुछ परिवर्त्तन नहीं होता है। परन्तु जब उत्पादन इतना बढ़ा दिया जाय जिससे वर्तमान कारखाने की जगह, उच्च अधिकारियों की संख्या और पूँजी इत्यादि से काम न चले तो कुल लागत के इस भाग में भी वृद्धि होती है। सारांश यह है कि स्थिर लागत अल्पकाल में स्थिर होती है परन्तु दीर्घकाल में इसमें भी परिवर्त्तन हो सकता है।

परिवर्त्तित लागत उत्पादित वस्तु की मात्रा पर निर्भर होती है। यदि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हो तो लागत के इस भाग में भी वृद्धि होती है और जब उत्पादन की मात्रा मे कमी हो तो परिवर्त्तित लागत भी कम हो जाती है। जब उत्पादन शून्य होता है तो परिवर्त्तित लागत भी शून्य होती है। इस लागत में कच्चे माल का मूल्य, साधारण कर्मचारी और मजूरों का वेतन और वस्तु के बेचने का व्यय इत्यादि सम्मिलित होते हैं। अल्पकाल में वस्तु का मूल्य कम से कम इस लागत के बराबर होना चाहिए अन्यथा उत्पादन कम या बिल्कुल बन्द कर दिया जायेगा। अर्थात् अल्पकाल में मूल्य परिवर्तित लागत से कम नहीं हो सकता। दीर्घकाल में मूल्य परिवर्त्तित लागत और स्थिर लागत के योग अर्थात् कुल लागत से कम नहीं होना चाहिए अन्यथा उत्पादन बन्द कर दिया जायेगा।

औसत लागत (Average Cost) :—यदि कुल लागत में उत्पादित वस्तु की इकाई का भाग दे दिया जाय तो उस वस्तु की एक इकाई की

औसत लागत निकल आयेगी। अर्थात्

$$\text{औसत लागत} = \frac{\text{कुल लागत}}{\text{उत्पादित वस्तु की कुल इकाइयाँ}}$$

सीमान्त लागत (Marginal Cost) :—किसी वस्तु की सीमान्त या अन्तिम इकाई के उत्पादन करने की लागत को सीमान्त लागत कहते हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में एक वस्तु के अनेक उत्पादक और विक्रेता होते हैं इनमें से कुछ अधिक कार्यक्षम होते हैं और कुछ कम; परन्तु इन सबके उत्पादन की मात्रा की आवश्यकता बाजार की कुल पूर्ति को माँग के बराबर करने के लिए होती है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में प्रत्येक फर्म औसत लागत की वृद्धि के नियम के अनुसार उत्पादन करती है *। इस कारण प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत जैसे-जैसे उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है बढ़ती जाती है। प्रत्येक फर्म जिनकी कार्यक्षमता विभिन्न है उस वस्तु का उत्पादन उस इकाई तक करती चली जाती है जब तक सीमान्त लागत मूल्य से कम होती है और उत्पादन उसी इकाई पर रोकती है जब सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जाती है। इसके बाद उत्पादन करने से फर्म को हानि होगी, क्योकि सीमान्त लागत में वृद्धि होगी और मूल्य इससे कम होगा। अर्थात् सीमान्त लागत सबसे कम कार्यक्षमता वाली फर्म की अन्तिम इकाई की लागत के बराबर होती है और मूल्य इस लागत के बराबर। अन्यथा यह फर्म उत्पादन कम कर देगी जिससे उस मूल्य पर पूर्ति की मात्रा माँग से कम होगी। यह सीमान्त लागत प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत के भी बराबर होती है, क्योंकि अधिक कार्यक्षमता वाली फर्म कम कार्यक्षमता वाली फर्म से सस्ती लागत पर उत्पादन तो अवश्य करती हैं, परन्तु ये फर्में भी अपने उत्पादन में वृद्धि करती जाती हैं, जब तक एक इकाई अधिक उत्पादन करने की लागत मूल्य से कम होती है। अर्थात् यह फर्में भी उत्पादन तभी रोकती हैं जब इनकी सीमान्त लागत सबसे कम कार्यक्षमता वाली फर्म की सीमान्त लागत के बराबर आ जाती है। इस कारण सन्तुलन की स्थिति में (Position of equilibrium) प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत बराबर होती है और वह मूल्य के बराबर भी होती है। यदि किसी फर्म की सीमान्त लागत इससे अधिक है तो वह उन इकाइयों का उत्पादन बन्द कर देगी जिनकी सीमान्त लागत मूल्य से अधिक है और यदि किसी फर्म की सीमान्त लागत इससे कम है तो वह उत्पादन बढ़ा देगी जिससे उस फर्म की सीमान्त लागत में वृद्धि होगी और वह फर्म उत्पादन उस समय रोक देगी जब उसकी सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जावेगी।

---

* पृष्ठ १७० देखिये।

पूर्ति का मूल्य (Supply Price) :—पूर्ति का मूल्य वह मूल्य होता है जिस पर विक्रेता अपने उत्पादित माल को बेचने को तय्यार हो। पूर्ति का मूल्य माँग पर निर्भर होता है। अधिक माँग होने से इस मूल्य में वृद्धि होती है और माँग घटने से पूर्ति का मूल्य भी घट जाता है। दीर्घ-काल में यह मूल्य उत्पादन की लागत के बराबर होता है। यदि उत्पा-दन की लागत से यह मूल्य अधिक होता है तो उत्पादकों को अधिक मुनाफा होता है जिससे वह उत्पादन बढ़ा देते हैं और नई फर्में भी इस वस्तु का उत्पादन आरंभ कर देती हैं। इससे पूर्ति में वृद्धि होती है और मूल्य घट जाता है। यदि मूल्य उत्पादन की लागत से कम होता है तो उत्पादकों को हानि होती है जिससे वे उत्पादन कम कर देते हैं और पूर्ति की मात्रा कम होने से मूल्य में वृद्धि होती है। अर्थात् दीर्घकाल में पूर्ति का मूल्य उत्पादन की लागत के बराबर होता है। ऐसा पूर्ण प्रति-स्पर्धा की स्थिति में ही होता है। पूर्ति का मूल्य वही मूल्य होता है जिस पर विक्रेता अपना माल अपनी इच्छा और प्रसन्नता से बेचने को तय्यार होते हैं। यह कम से कम वह मूल्य होता है जिससे कम पर उत्पादक अपना माल बेचने को तय्यार नहीं होते।

कुल आय (Total Revenue) :—जब एक विक्रेता एक वस्तु की अनेक इकाइयों को बेचता है तो उन वस्तुओं का कुल मूल्य जो वह प्राप्त करता है वही कुल आय कहलाती है। यदि एक किसान दस मन गेहूँ १५ रु० प्रति मन की दर से बेचे तो कुल आय १५० रु० हुई। अर्थात् कुल आय = मूल्य × वस्तु की कुल बेची गई इकाइयाँ।

औसत आय (Average Revenue) :—यदि कुल आय को बेची हुई वस्तु की कुल इकाइयों से भाग दे दिया जाय तो औसत आय प्राप्त होती है। अर्थात्,

$$\text{औसत आय} = \frac{\text{कुल आय}}{\text{वस्तु की बेची गई कुल इकाइयाँ}}$$

इससे स्पष्ट है कि औसत आय मूल्य के बराबर होती है जब प्रत्येक इकाई का मूल्य समान हो। साधारणतः माँग की वक्ररेखा औसत आय की वक्ररेखा होती है; क्योंकि उस वक्ररेखा से हमको यह पता चलता है कि वस्तु की विभिन्न मात्राएँ किस मूल्य या औसत आय पर बेची जा सकती हैं। पृष्ठ ११८ के उदाहरण में जब माँग ६०० रोटियाँ है तो मूल्य या औसत आय ४ आना है और कुल आय ६०० × ४ = २४०० आने। जब माँग ७०० रोटियाँ है और यदि विक्रेता ७०० रोटियाँ बेचना चाहे तो मूल्य या औसत आय ३ आना होगी और कुल आय ७०० × ३ = २१०० आने होगी। अर्थात् जैसे जैसे वस्तु की बिक्री की मात्रा में वृद्धि होती है

वैसे-वैसे मूल्य या औसत आय कम होती जाती है। यह पृष्ठ १२४ के कोष्ठक से भी स्पष्ट है। यदि विक्रेता ६०० सेर टमाटर बेचना चाहते हैं तो वह ३ आने सेर की दर से बिक सकते हैं। यदि वह ६०० सेर टमाटर बेचना चाहते हैं तो उन्हें मूल्य घटाकर २ आना प्रति सेर करना होगा और उस स्थिति में औसत आय भी २ आना होगी। उसी कोष्ठक में क्रेताओं द्वारा किया गया कुल व्यय विक्रेताओं की कुल आय है। कुल आय उस उदाहरण में पहले घटती है और फिर बढ़ने लगती है और मूल्य बहुत कम होने पर फिर घटने लगती है। अर्थात् कुल आय के लिए औसत आय की तरह एक समान नियम नहीं। अधिक मात्रा में वस्तु तभी बिक सकती है जब मूल्य या औसत आय में कमी हो। परन्तु वस्तु की अधिक मात्रा बेचने से यह आवश्यक नहीं कि कुल आय में वृद्धि ही हो। जब वस्तु की माँग की लचक एक से कम होती है तब वस्तु की अधिक मात्रा बेचने से कुल आय में कमी होती है और जब वस्तु की माँग की लचक एक से अधिक होती है तो वस्तु की अधिक मात्रा बेचने से कुल आय में वृद्धि होती है। जब माँग की लचक एक के बराबर होती है तो वस्तु की बेची गई मात्रा में परिवर्तन होने से कुल आय में परिवर्तन नहीं होता। यह पृष्ठ १२४ के उदाहरण से स्पष्ट है।

सीमान्त आय (Marginal Revenue) :—कुल आय में अन्तिम या सीमान्त इकाई बेचने से जो वृद्धि होती है उसको सीमान्त आय कहते हैं। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा—

कुल बिक्री की इकाइयाँ	मूल्य (या औसत आय)	कुल आय	सीमान्त आय
१	१५ रु०	१५ रु०	१५ रु०
२	१४ रु०	२८ रु०	२८–१५ = १३ रु०
३	१३ रु०	३९ रु०	३९–२८ = ११ ०
४	१२ रु०	४८ रु०	४८–३९ = ९ रु०
५	११ रु०	५५ रु०	५५–४८ = ७ रु०
६	१० रु०	६० रु०	६०–५५ = ५ रु०

जव बिक्री २ इकाई है तो कुल आय २८ रु० है। यदि एक इकाई अधिक बेचनी है तो मूल्य घटाना होगा और इस कारण [illegible] इकाइयाँ १[illegible] रु० प्रति इकाई की दर से ही बिकेंगी। तो कुल आय ३९ रु० हुई [illegible] २८ रु० थी जब वेची गई इकाइयाँ २ थीं। अर्थात् एक इकाई अधिक [illegible]ने से कुल आय में ११ रु० की वृद्धि होती है। सारांश यह है कि [illegible]ब कुल

बिक्री ३ इकाइयाँ है तो सीमान्त आय ११ रु० ही है। इसी प्रकार जब कुल बिक्री ५ इकाइयाँ है तो सीमान्त आय ७ रु० है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition), एकाधिकार (Monopoly) और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition)

प्रत्येक विक्रेता अपनी वस्तुएँ बेचकर अधिकतम नफा उठाना चाहता है। इस कारण वह दूसरे विक्रेताओं के ग्राहकों को तोड़कर अपना ग्राहक बनाना चाहता है। दूसरे के ग्राहकों को अपनी ओर खींचने का जो प्रयत्न विक्रेता करते हैं उसीको प्रतिस्पर्धा कहते है। एक विक्रेता दूसरे के ग्राहकों को तभी तोड़ सकता है जब वह वस्तु का मूल्य सस्ता कर दे या उन ग्राहकों को ऐसी सुविधाएँ दे जो दूसरे विक्रेता नही देते है। जैसे वह उनको वस्तुएँ उधार देने लगे या वस्तुएँ उनके घर पर ही स्वयं पहुँचा दे। ऐसी सुविधाएँ एक प्रकार से वस्तु का मूल्य घटाने के समान ही है; क्योंकि समान मूल्य होने पर ग्राहक ऐसे विक्रेता से ही वस्तुएँ लेना पसन्द करेंगे जो अधिक सुविधाएँ देता हो। पूर्ण प्रतिस्पर्धा ऐसी स्थिति को कहते है जब एक विक्रेता मूल्य में थोड़ी सी ही कमी करने से दूसरे विक्रेताओं के कुल ग्राहकों को तोड़ सकता है अर्थात् पूर्ण प्रतिस्पर्धा में जो विक्रेता अधिक मूल्य माँगते हैं उनकी बिक्री शून्य होती है ; क्योंकि प्रत्येक ग्राहक सबसे सस्ते विक्रेता से ही वस्तु मोल लेता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में निम्न बातें आवश्यक होती हैं :—

(१) क्रेता और विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक होती है जिस कारण माँग और पूर्ति की मात्रा शीघ्र ही बराबर हो जाती है। यदि मूल्य में वृद्धि होती है तो इन विभिन्न विक्रेताओं के प्रयत्न द्वारा पूर्ति शीघ्र ही अधिक हो जाती है और जब मूल्य में कमी होती है तो उन्हीं के प्रयत्नों द्वारा पूर्ति भी शीघ्र ही कम हो जाती है। इसी तरह मूल्य कम होने से क्रेताओं की माँग बढ़ जाती है। सारांश यह है कि मूल्य में परिवर्त्तन होने से पूर्ति और माँग की मात्रा में शीघ्र परिवर्त्तन हो जाता है और परिवर्त्तन की प्रवृत्ति तभी रुकती है जब किसी मूल्य पर माँग और पूर्ति की मात्रा बराबर हो जाय।

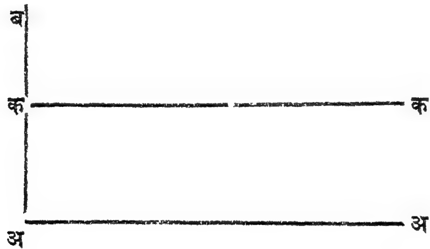
(२) क्रेता या विक्रेताओं में परस्पर वस्तु के मूल्य या उसकी मात्रा के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं होता, जिस कारण एक या अधिक विक्रेताओं का मूल्य पर कुछ नियन्त्रण नहीं होता। इसीसे प्रत्येक क्रेता-विक्रेता वस्तु एक ही मूल्य पर खरीदते-बेचते हैं। यदि किसी विक्रेता का

मूल्य इससे थोड़ा भी अधिक है तो उसकी विक्री शून्य होगी ; क्योंकि कोई भी क्रेता अधिक मूल्य देने को तय्यार न होगा ।

(३) प्रत्येक क्रेता और विक्रेता को माँग और पूर्ति का पूर्ण ज्ञान होता है अर्थात् उनको मालूम होता है कि माँग और पूर्ति में किन कारणों से कब और कितनी वृद्धि या कमी हो सकती है। इस ज्ञान द्वारा वह अपने क्रय-विक्रय में परिवर्त्तन कर सकते हैं।

(४) एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास ग्राहक स्वतन्त्रता और आसानी से चले जाते हैं, अर्थात् कोई ग्राहक किसी विक्रेता से किसी प्रकार बँधा हुआ नहीं होता और न उस पर किसी प्रकार का दबाव ही होता है। एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास जाने में प्रत्येक क्रेता को किसी रुकावट का सामना नहीं करना पड़ता है।

(५) जब पूर्ण प्रतिस्पर्धा में वस्तु का मूल्य समान होता है तो प्रत्येक विक्रेता के लिए माँग की वक्ररेखा लेटी हुई होती है जैसा कि नीचे दर्शाया गया है —



जब बाजार में मूल्य अ क है तो प्रत्येक विक्रेता के लिए माँग की वक्ररेखा क क' है, अर्थात् जब किसी विक्रेता का मूल्य अ क से अधिक है तो उसकी विक्री शून्य होगी । जब उस विक्रेता का मूल्य अ क के बराबर है तो वह वस्तु की जितनी चाहे उतनी मात्रा बेच सकता है ; क्योंकि उसका उत्पादन बाजार की कुल पूर्ति का एक छोटा भाग है। इसी प्रकार यदि वह मूल्य अ क से घटा दे तो सब ग्राहक उसी से वस्तु खरीदेंगे और दूसरे सारे विक्रताओं की विक्री शून्य होगी। परन्तु वह ऐसा नहीं करता है क्योंकि इस विक्रेता का उत्पादन उसकी लागत पर निर्भर है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में प्रत्येक फर्म की सीमान्त और औसत लागत कुछ उत्पादन के पश्चात् बढ़ती जाती है। जब सीमान्त लागत अ क के बराबर होगी तो वह अधिक उत्पादन बन्द कर देगा; क्योंकि ऐसा करने से उसकी लागत तो अ क से अधिक होगी परन्तु उसका मूल्य अ क से अधिक नहीं मिल सकता ।

(६) पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में उदासीनता का नियम (Law of Indifference) क्रेता और विक्रेताओं पर लागू होता है, अर्थात् वह चाहे जिसको और चाहे जिससे वस्तु बेचते और खरीदते है; कोई क्रेता या विक्रेता किसी दूसरे का पक्ष नहीं लेता।

(७) प्रत्येक विक्रेता की वस्तु एक समान होनी चाहिए जिसमें उदासीनता के नियम का प्रचलन हो और विभिन्न क्रेता किसी भी विक्रेता से वह वस्तु लेने को तय्यार हों।

(८) प्रत्येक फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम (Law of increasing cost or diminishing returns) लागू होता है। जब उस वस्तु का उत्पादन अनेक फर्म करती हैं तो उनकी कार्यक्षमता विभिन्न होगी। यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू होता है तो जैसे जैसे वह उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करती है उस फर्म की औसत और सीमान्त लागत में कमी होती जाती है। इस कारण जो सबसे कार्यक्षम फर्म होगी वह उत्पादन की मात्रा इतनी बढा देगी कि सारे बाजार की माँग स्वयं पूरी कर सके। इस स्थिति में उसकी औसत लागत अन्य फर्मो से कम होगी और वह उनसे सस्ते मूल्य पर भी बेच सकेगी जिससे सारे क्रेता इसी फर्म से वस्तु मोल लेंगे और दूसरी फर्मो की बिक्री शून्य होगी अर्थात् कुल बाजार में एक ही विक्रेता रह जायेगा। परन्तु यह पूर्ण प्रतिस्पर्धा नहीं वरन् एकाधिकार (Monopoly) होगा। इसी तरह यदि उत्पादन औसत लागत की स्थिरता के नियम के अनुसार होता हो तो जो फर्म सबसे अधिक कार्यक्षम होगी उसकी औसत लागत सबसे कम होगी और वह उस औसत लागत पर सारे बाजार की माँग की मात्रा के बराबर उत्पादन कर सकती है, जिस कारण प्रत्येक क्रेता उसीसे वस्तु खरीदेंगे और दूसरे विक्रेताओं की बिक्री शून्य होगी। प्रत्येक फर्म का उत्पादन औसत लागत की स्थिरता के नियम के अनुसार तभी हो सकता है जब सब फर्मो की कार्यक्षमता समान हो। सारांश यह है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में विक्रेताओं की मात्रा अधिक तभी हो सकती है जब प्रत्येक फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम लागू हो। ऐसी स्थिति में कोई भी विक्रेता बाजार की कुल माँग पूरी नहीं कर सकता। जब सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जाती है तो उससे अधिक उत्पादन वह नहीं करता है। एक भी इकाई अधिक उत्पादन करने में उसे हानि होती है क्योंकि इस इकाई की लागत मूल्य से अधिक होगी। प्रत्येक फर्म की कुछ स्थिर लागत होती है जिससे प्रत्येक फर्म का उत्पादन प्रारम्भ में औसत लागत के ह्रास के नियम के अनुसार होता है परन्तु कुछ मात्रा का उत्पादन करने के उपरांत औसत लागत में वृद्धि

होने लगती है। वह फर्म उत्पादन उस सीमा तक करती जाती है जब तक उसकी सीमान्त लागत मूल्य से अधिक नहीं होती।

व्यावहारिक जीवन में हम देखते हैं कि दो दूकानें बराबर होने पर भी उन दूकानदारों की प्रत्येक वस्तु का मूल्य समान नहीं होता। अर्थात् एक ही वस्तु दो बराबर के दूकानदार एक ही मूल्य पर नहीं बेचते। कभी कभी उनके मूल्य समान होते हैं और कभी कभी उनमें कुछ अन्तर होता है। यदि एक दूकानदार अपना मूल्य दूसरों की अपेक्षा कुछ कम कर दे तो वह दूसरे दूकानदारों के कुल ग्राहकों को नहीं तोड़ सकता; परन्तु कुछ ग्राहकों को अवश्य तोड़ लेता है। सारांश यह है कि व्यावहारिक जीवन में प्रतिस्पर्धा तो अवश्य होती है परन्तु पूर्ण नहीं होती। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के वही कारण है कि जिन कारणों के वशीभूत होकर ग्राहक एक ही दूकानदार से वस्तुएँ खरीदते रहते हैं चाहे वह उनसे दूसरों की अपेक्षा अधिक मूल्य लेता हो। पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अभाव के निम्न कारण हैं :—

(१) क्रेता-विक्रेताओं में पूर्ण ज्ञान का अभाव। उनको यह पता नहीं होता कि सबसे सस्ता विक्रेता कौन है और सबसे अधिक मूल्य देनेवाला क्रेता कौन है अर्थात् बाजार की स्थिति से उनका पूर्ण परिचय नहीं होता।

(२) क्रेता विभिन्न विक्रेताओं से बँधे हुए होते हैं। इस कारण मूल्य अधिक होने पर भी वे वस्तु उन्हीं विक्रेताओं से मोल लेना पसन्द करते हैं। इसके अतिरिक्त एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास जाने में कुछ व्यय या कष्ट सहन करना पड़ता है। यदि एक विक्रेता उनके घर से अधिक दूरी पर है तो वे उसके पास जाना पसन्द नहीं करेंगे चाहे वह मूल्य कम ही लेता हो। कुछ व्यक्तियों को अपने दूकानदार बदलने में मानसिक कष्ट भी होता है, क्योंकि वे एक नये अनजान दूकानदार से वस्तुएँ खरीदना पसन्द नहीं करते।

(३) एक दूकानदार से वस्तुएँ खरीदते खरीदते उसी से खरीदने की आदत पड़ जाती है। यह आदत दूसरे दूकानदार से वस्तुएँ खरीदने में बाधा डालती है। कभी कभी आलस्य के कारण भी लोग एक दूकान से दूसरे दूकान पर जाना पसन्द नहीं करते।

(४) विक्रेता भी कुछ क्रेताओं से बँधे होते हैं और वह वस्तुएँ उन्हींको बेचना पसन्द करते हैं चाहे दूसरे क्रेता उन्हें अधिक मूल्य देने को तय्यार हों। इसका कारण यह होता है कि वह क्रेता उनके मित्र, सम्बन्धी या पुराने ग्राहक होते हैं या उन क्रेताओं का उन पर कुछ दबाव होता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक विक्रेता कुछ सीमा तक एकाधिकारी होता है। परन्तु विभिन्न विक्रेता समान मूल्य

रखने के लिए जितने अधिक विवश होते हैं उनमें उतनी ही अधिक प्रतिस्पर्धा होती है।

पूर्ण एकाधिकार :—पूर्ण एकाधिकार में विक्रेताओं का मूल्य पर पूर्ण नियन्त्रण होना है अर्थात् वे चाहें जिस मूल्य पर वस्तु बेचें क्रेताओं को उनसे वस्तु मोल लेनी ही होगी। यदि प्रतिस्पर्धा का पूर्ण अभाव हो तो एकाधिकार की स्थिति होती है। इस स्थिति के लिए यह आवश्यक नहीं कि विक्रेताओं की संख्या एक ही हो; परन्तु यह आवश्यक है कि विक्रेताओं का मूल्य पर नियन्त्रण हो और वह जो चाहें वह मूल्य क्रेताओं से वसूल करें। अर्थात् क्रेताओं या माँग का मूल्य पर कुछ प्रभाव नहीं होता है। व्यावहारिक जीवन में पूर्ण एकाधिकार कहीं भी नहीं पाया जाता जिसके निम्न कारण हैं :—

(१) कोई भी वस्तु इतनी आवश्यक नहीं होती कि क्रेता उसको लेने के लिए अधिक मूल्य होने पर भी विवश हों अर्थात् यदि मूल्य बहुत बढ़ जाता है तो क्रेता उस वस्तु को मोल लेना बन्द कर देते हैं जिस कारण एकाधिकारी मूल्य कुछ सीमा तक ही बढ़ सकता है; क्योंकि मूल्य बढ़ने से माँग की मात्रा में ह्रास होता है और यदि मूल्य बहुत बढ़ जाय तो माँग शून्य भी हो सकती है। यदि फाउन्टेन पेन का मूल्य ५० हजार रुपये हो जाय तो कदाचित् कोई भी व्यक्ति उसको मोल लेने को तय्यार न होगा। प्रत्येक व्यक्ति के साधन सीमित हैं, इस कारण वह किसी वस्तु का भी असीमित मूल्य नहीं दे सकता।

(२) प्रत्येक वस्तु के बदले में कुछ न कुछ दूसरी वस्तु काम में लाई जा सकती है। इस कारण जब एकाधिकारी किसी वस्तु का मूल्य बढ़ाते हैं तो लोग उस वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु खरीदने लगते हैं, जैसे यदि रेल का किराया बहुत बढ़ जाय तो लोग मोटर या बैलगाड़ी से यात्रा करने लग जायेंगे। जब पटसन के बोरों का मूल्य बहुत बढ़ जाता है तो सीमेंट जैसी भारी वस्तु भी मोटे कागज के बोरों में भरी जाती है।

व्यावहारिक जीवन में पूर्ण एकाधिकार कहीं नही पाया जाता, क्योंकि किसी भी विक्रेता का मूल्य पर पूर्ण अधिकार नहीं होता। अर्थात् व्यावहारिक जीवन में आंशिक एकाधिकार (Partial Monopoly) ही सम्भव है। किसी विक्रेता की एकाधिकार की शक्ति का नाप हम इस बात से लगा सकते हैं कि माँग में बिना कमी आये वह वस्तु का मूल्य किस सीमा तक बढ़ा सकता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक वस्तु का विनिमय ऐसी स्थिति में होता है जिसमें कुछ प्रतिस्पर्धा और कुछ एकाधिकार का अंश होता है। प्रत्येक विक्रेता अपना मूल्य चाहे तो दूसरों

की अपेक्षा कुछ सीमा तक अधिक रख सकता है। परन्तु वह मूल्य जिस सीमा तक चाहे नही बढ़ा सकता; क्योंकि उस स्थिति मे लोग दूसरे विक्रेताओं से वह वस्तु मोल लेंगे या उस वस्तु के बदले में कोई दूसरी वस्तु मोल लेंगे। अर्थात् विक्रेताओं में कुछ प्रतिस्पर्धा होती है और कुछ एकाधिकार की शक्ति। साराश यह है कि प्रत्येक विक्रेता मूल्य को कुछ सीमा तक अपने अधिकतम नफे के लिए बढा सकता है। इस स्थिति को एकाधिकारी प्रतिस्पर्धा (Monopolistic Competition) या अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition) कहते हैं। इस स्थिति में विक्रेता अपना मूल्य कुछ बढ़ाने पर भी अपने सारे क्रेताओ को दूसरे विक्रेताओं के हाथ नहीं खोता। दो विक्रेताओं के मूल्य में जितना अन्तर होता है उतना ही उनमें एकाधिकार का अंश होता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अर्घ का सिद्धान्त

प्रत्येक विनिमय कार्य के दो पक्ष होते है:—क्रेता और विक्रेता। विक्रेता का उद्देश्य यह होता है कि वह अधिक से अधिक नफा कमावे। इस कारण वह मूल्य बढने पर वस्तु अधिक मात्रा में बेचने को तय्यार होता है और मूल्य घटने पर कम मात्रा में*। वस्तु के उत्पादन में उसको कुछ व्यय करना होता है और वह अपनी लागत से कम पर वस्तु बेचने को तय्यार न होगा; क्योकि वस्तु को लागत से कम मूल्य पर बेचने से उसको हानि होती है। वह वस्तु की एक अधिक इकाई का उत्पादन तभी करेगा जब उस वस्तु का मूल्य उस इकाई की लागत से कम न हो। अर्थात् वह सीमान्त लागत से कम में वस्तु बेचने को तय्यार न होगा। निम्न उदाहरण मे यह स्पष्ट हो जायेगा:—

उत्पादित इकाइयाँ	कुल लागत	औसत लागत	सीमान्त लागत
	रु०	रु०	रु०
१	२०	२०	२०
२	३५	१७½	३५–२० = १५
३	४२	१४	४२–३५ = ७
४	५२	१३	५२–४२ = १०
५	६४	१२⅘	६४–५२ = १२
६	७७	१२⅚	७७–६४ = १३
७	९१	१३	९१–७७ = १४
८	१०६	१३¼	१०६–९१ = १५

* पृष्ठ १५५ भी देखिये।

यदि मूल्य १३ रु० है तो वह ६ इकाइयों का उत्पादन करेगा ; क्योंकि छठी इकाई के बाद एक और अधिक इकाई का उत्पादन करने से उसकी लागत में १४ रु० की वृद्धि होती है; परन्तु उसको मूल्य १३ रु० ही मिलेगा। सातवीं इकाई का उत्पादन करने व बेचने से उसको १ रु० की हानि होती है। वह सातवीं इकाई का तभी उत्पादन करेगा जब मूल्य कम से कम १४ रु० हो। सात इकाइयों की औसत लागत तो अवश्य १३ रु० ही है परन्तु एक उत्पादक कितनी इकाइयाँ उत्पादित करता है यह उस वस्तु की सीमान्त लागत पर निर्भर होता है, औसत लागत पर नहीं। यदि वह ६ इकाइयों का उत्पादन करे तो उसकी कुल लागत ७७ रु० होती है और कुल आय १३ × ६ = ७८ रु०। अर्थात् उसको १ रु० का नफा होता है। सातवीं इकाई का उत्पादन करने से उसकी कुल लागत ९१ रु० होती है और कुल आय भी १३ × ७ = ९१ रु० होती है जिससे उसको नफा शून्य होता है। अर्थात् सातवीं इकाई का उत्पादन करने से उसको एक रुपये की हानि होती है और वह सातवीं इकाई का उत्पादन तभी करेगा जब मूल्य कम से कम १४ रु० हो। या हम यह कह सकते हैं कि यदि यह विक्रेता सात इकाइयों का उत्पादन करता है तो वह सातवीं इकाई को १४ रु० से कम में नहीं बेचेगा। यदि मूल्य इससे कम होने की सम्भावना है तो सातवीं इकाई का उत्पादन ही नहीं करेगा। सारांश में हम यह कह सकते हैं कि विक्रेता की दृष्टि से मूल्य कम से कम सीमान्त लागत के बराबर होना चाहिए अन्यथा सीमान्त इकाई का उत्पादन न होगा। अर्थात् सीमान्त लागत ही वस्तु के मूल्य की न्यूनतम सीमा होती है।

क्रेताओं की दृष्टि से मूल्य वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से अधिक नहीं हो सकता*। जो उपयोगिता किसी वस्तु में होती है उससे अधिक मूल्य देने से क्रेताओं को हानि होती है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता ही वस्तु के मूल्य की अधिकतम सीमा होती है; क्योंकि कोई भी क्रेता वस्तु की उपयोगिता का जो द्रव्य में नाप होता है उससे अधिक मूल्य नहीं देगा।

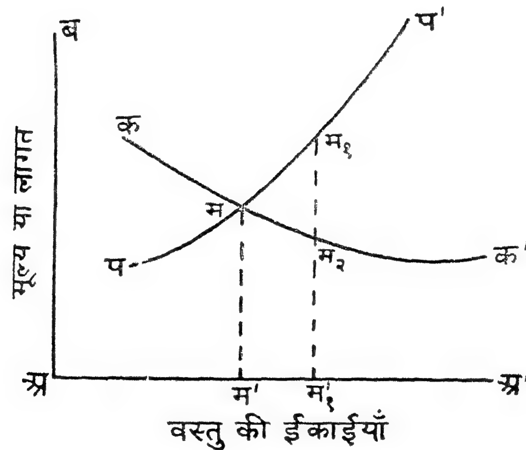
उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कोई विक्रेता सीमान्त लागत से कम मूल्य पर वस्तु का उत्पादन नहीं करेगा। अर्थात् वह उत्पादन उसी सीमा तक करेगा जहाँ तक सीमान्त लागत मूल्य से कम है। प्रत्येक विक्रेता का प्रयत्न यही होगा कि मूल्य सीमान्त लागत से अधिक हो जिससे उसको अधिकतम नफा हो। दूसरी ओर कोई क्रेता वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने को तय्यार न होगा और यही प्रयत्न करेगा कि जहाँ

---

* पृष्ठ ९३ भी देखिये।

नक हो मूल्य सीमान्त उपयोगिता से कम हो जिससे वह अधिकतम उपभोक्ता की बचत प्राप्त कर सके। साराश यह है कि वस्तु का मूल्य इन दो सीमाओ के बीच मे ही होता है। इन दोनो सीमाओ के बीच मूल्य किस स्थान पर तय होता है यह क्रेता और विक्रेताओ की पारस्परिक आवश्यकता और उनके भाव तय करने की चतुरता पर निर्भर है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे अनेक क्रेता और विक्रेता होते है जिस कारण सीमान्त लागत और सीमान्त उपयोगिता में कोई अन्तर नही रहता और मूल्य इन दोनो के बराबर होता है। यदि मूल्य सीमान्त लागत से अधिक है तो पूर्ति के बढने की प्रवृत्ति होगी, जिससे मूल्य मे कमी होगी; क्योकि वस्तु की अधिक मात्रा कम मूल्य पर ही बिक सकेगी। यह निम्न ग्राफ से भी स्पष्ट है :—



क क' माँग की वक्ररेखा है और प प' पूर्ति की या सीमान्त लागत की। जब मूल्य म म' है तो पूर्ति अ म' है और सीमान्त लागत म म'। यदि मूल्य सीमान्त लागत से अधिक म$'_1$ म$_1$ है तो पूर्ति बढकर अ म$'_1$ हो जायेगी। वस्तु की यह मात्रा म$_2$ म$'_1$ मूल्य पर ही बिक सकती है अर्थात् जब पूर्ति अ म$'_1$ है तो मूल्य म$_2$ म$'_1$ होगा। इसमे उत्पादको को हानि होगी और उनको पूर्ति की मात्रा घटा कर अ म' करनी होगी। इसी तरह मूल्य सीमान्त लागत मे कम भी नही हो सकता अन्यथा सीमान्त इकाइयो का उत्पादन बन्द कर दिया जायेगा।

मूल्य सीमान्त उपयोगिता के बराबर भी होता है। यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से अधिक है तो माँग घट जायेगी और माँग के घटने से मूल्य कम हो जायेगा। यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से कम है तो वस्तु की माँग अधिक होगी। माँग के बढ़ने से मूल्य में वृद्धि होगी और जब वह सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जायेगा तो उसमें घटने व बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं रहेगी। सारांश यह है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में सन्तुलन की स्थिति में—

मूल्य = सीमान्त उपयोगिता = सीमान्त लागत।

इस स्थिति को सन्तुलन की स्थिति कहते हैं; क्योंकि इस स्थिति में माँग या पूर्ति में परिवर्त्तन की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि पूर्ति बढ़ती है तो क्रेता इस अधिक मात्रा को कम मूल्य पर ही लेने को तय्यार हैं जिसपर विक्रेता वेचने को तय्यार नहीं। यदि पूर्ति कम होती है तो मूल्य बढ़ जाता है जिससे विक्रेता उत्पादन बढ़ा देते हैं। अर्थात् जब मूल्य म म′ है तो पूर्ति और माँग की मात्रा बराबर है और इस कारण पूर्ति और माँग में बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति नहीं होती। म म′ को इस कारण सन्तुलन मूल्य (Equilibrium price) कहते हैं।

इस स्थिति में सीमान्त लागत किसी एक विशेष फर्म की ही सीमान्त लागत नहीं होती, वरन् प्रत्येक फर्म उत्पादन सीमान्त लागत की सीमा तक ही करती है जिससे प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत बराबर होती है। परन्तु उनके उत्पादन की मात्रा विभिन्न होगी और उनकी कार्यक्षमता पर निर्भर होगी। इसी तरह सीमान्त उपयोगिता भी किसी एक विशेष क्रेता की ही सीमान्त उपयोगिता नहीं होती, वरन् प्रत्येक क्रेता वस्तु की मात्रा उस सीमा तक खरीदता है जहाँ वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्य निश्चित करने में माँग और पूर्ति दोनों का प्रभाव होता है। उक्त ग्राफ से यह भी स्पष्ट है कि माँग, पूर्ति और मूल्य में पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है और वे एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। जब माँग और पूर्ति अ म′ है तो मूल्य म म′ ही होगा। विभिन्न माँग और पूर्ति की मात्रा में मूल्य भी विभिन्न होगा। जिस तरह ताली दोनों ही हाथों से बजाई जाती है उसी प्रकार मूल्य भी पूर्ति और माँग दोनों पर निर्भर होता है। यदि आप अपना एक हाथ स्थिर रखें और दूसरे हाथ को ही हिलाकर ताली बजायें तो यह कहना गलत होगा कि ताली केवल हिलनेवाले हाथ से ही बजती है। इसी तरह जब पूर्ति की मात्रा स्थिर हो तो यह कहना गलत होगा कि मूल्य माँग पर ही निर्भर है। इसी विचार को मार्शल ने सुहावने शब्दों में कहा है कि पूर्ति और माँग

एक कैंची के दो फलों के समान है। यदि एक फल स्थिर भी रहे और दूसरे फल को चलाकर ही कोई कागज काटा जाय तो भी हम यह नहीं कह सकते कि केवल चलनेवाले फल से ही कागज कटता है।

प्रतिनिधि फर्म

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में यदि प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता समान हो तो उन सब का आकार बराबर होगा। प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत की वक्र-रेखा भी समान होगी और जब प्रत्येक फर्म उस सीमा तक उत्पादन करेगी कि उसकी सीमान्त लागत और मूल्य बराबर हों तो उनकी उत्पादन की मात्रा भी बराबर होगी। इस स्थिति में प्रत्येक फर्म की सन्तुलन मूल्य पर सीमान्त और औसत लागत बराबर होगी जिससे किसी फर्म को न नफा होगा, न हानि। यदि औसत लागत और सीमान्त लागत में कुछ अन्तर होगा तो कुछ फर्में बन्द होने की या कुछ फर्में खुलने की प्रवृत्ति होगी और इस परिवर्त्तन से फर्मों के आकार-प्रकार में परिवर्त्तन होगा और उन फर्मों का सन्तुलन की स्थिति में आकार इस प्रकार का हो जायेगा कि जिससे सन्तुलन मूल्य पर उनकी सीमान्त और औसत लागत बराबर होगी और तभी उनमें बढ़ने घटने की प्रवृत्ति नहीं होगी।

जब प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता विभिन्न होती है तो सन्तुलन मूल्य पर कुछ फर्मों की सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी और कुछ फर्मों की सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक होगी। पृष्ठ······के उदाहरण में जब सन्तुलन मूल्य १३ रु० है तो इस फर्म की सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक है। जिससे जब वह फर्म छः इकाइयों का उत्पादन करती है तो १ रु० का नफा होता है। यदि सन्तुलन मूल्य १२ रु० है तो इसी फर्म की सीमान्त लागत औसत लागत से कम है जिस कारण ५ इकाइयों के उत्पादन से इस फर्म को ४ रु० की हानि होती है; क्योंकि कुल लागत ६४ रु० है और कुल आय ६० रु० *। सारांश यह है कि जिन फर्मों की औसत लागत सीमान्त लागत से अधिक होगी उनको कुछ हानि होगी और जिन फर्मों की औसत लागत सीमान्त लागत से कम होगी उनको कुछ नफा होगा। जिन फर्मों को हानि होगी वह या तो उत्पादन बन्द कर देंगी या उत्पादन को इस आशा में चालू रखेंगी कि अच्छा समय आने पर उनको हानि होना बन्द हो जायेगा। कुछ फर्म ऐसी भी होंगी जिनकी औसत लागत और सीमान्त लागत बराबर हो और जिससे

---

* जैसा कि हम ऊपर समझा चुके हैं प्रत्येक फर्म उत्पादन उस सीमा तक करती है जहाँ उसकी सीमान्त लागत मूल्य के बराबर होती है।

उन्हें हानि या नफा नहीं होता है। विभिन्न फर्मों की विभिन्न कार्यक्षमता होने की स्थिति के ही लिए मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म के विचार का निर्माण किया। इस फर्म की सीमान्त लागत और औसत लागत सन्तुलन की स्थिति में सन्तुलन-मूल्य के बराबर होती हैं। इस कारण इस फर्म की लागत का अधिक महत्व है और हम कह सकते हैं कि इस फर्म की औसत लागत ही सन्तुलन-मूल्य को निर्धारित करती है। अर्थात् मूल्य बढ़ता और घटता है परन्तु सन्तुलन की स्थिति में वह प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर होती है। इस स्थिति में मूल्य प्रतिनिधि-फर्म वह अन्य फर्मों की सीमान्त लागत के बराबर भी होता है। सारांश यह है कि:—

सन्तुलन मूल्य = सीमान्त उपयोगिता = सीमान्त लागत (प्रत्येक फर्म की)
= औसत लागत (केवल प्रतिनिधि-फर्म की)।

जब प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर मूल्य होता है तो इस फर्म में बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति नहीं होती।

मार्शल के विचार में प्रत्येक धन्धे में एक या अधिक प्रतिनिधि-फर्म वास्तव में होती है*। यह फर्म ऐसी है जिसको उस धन्धे की आन्तरिक और बाह्य सुविधाएँ औसत मात्रा मे प्राप्त हैं। अन्य फर्मों की अपेक्षा

---

* पूर्ण प्रतिस्पर्धा एक काल्पनिक स्थिति है और व्यावहारिक जीवन में कहीं नहीं पायी जाती। इस कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में प्रतिनिधि फर्म भी काल्पनिक ही होती है। व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक उद्योग में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा होती है और प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता भी विभिन्न होती है। यदि हम किसी एक उद्योग के विभिन्न फर्मों की, जो वास्तव में उत्पादन कर रही है, जाँच करें तो हम देखेंगे कि कुछ फर्मों को नफा हो रहा है; क्योंकि उनकी कुल आय (जो = मूल्य × विक्रय की गई इकाइयाँ) कुल लागत (जो = औसत लागत × विक्रय की गई इकाइयाँ) से अधिक होती है। कुछ फर्में ऐसी होंगी जिनको हानि हो रही है; क्योंकि उनकी कुल लागत कुल आय से अधिक है और कुछ फर्में ऐसी होंगी जिन्हे न नफा होता है और न हानि, क्योंकि उनका मूल्य उनकी औसत लागत के बराबर होता है। ऐसी फर्म ही उस उद्योग की प्रतिनिधि फर्म होती है। यह सम्भव है कि ऐसी फर्म एक या अधिक उद्योगों में वास्तव मे न हो क्योंकिउस उद्योग में प्रत्येक फर्म को या तो नफा होता हो या हानि। ऐसी प्रतिनिधि फर्म का पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अधिक महत्व है क्योकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे ऐसी फर्म की औसत लागत प्रत्येक फर्म के मूल्य के बराबर होती है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु विभिन्न मूल्य पर बेचती है; क्योंकि प्रत्येक फर्म के लिए माँग का कोष्ठक भिन्न होता है और प्रत्येक फर्म मूल्य उस स्तर पर रखती है जहाँ उसकी सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर हो।

इस फर्म को कोई विशेष सुविधाएँ नही है। यह फर्म बिल्कुल नई भी नही है जिससे वह अब भी विशेष उन्नति कर रही हो और न बहुत ही पुरानी है जिस कारण उसका पतन आरंभ हो गया हो। इस फर्म का प्रबन्ध भी औसत योग्यता के साथ होता है। परन्तु हमारे विचार मे प्रतिनिधि-फर्म केवल काल्पनिक भी हो सकती है ; क्योंकि पूर्ण-प्रतिस्पर्धा की उस स्थिति मे जिसमे विभिन्न फर्मों की कार्यक्षमता विभिन्न है इस फर्म की लागत का अधिक महत्व है। इसी फर्म की औसत लागत सन्तुलन मूल्य के बराबर होती है और इस फर्म को न नफा और न हानि होती है। इसकी कुल आय कुल लागत (जिसमें उत्पादन के प्रत्येक साधन का पुरस्कार सम्मिलित है) के बराबर होती है ।

समय का मूल्य पर प्रभाव

यह तो ऊपर समझाया जा चुका है कि मूल्य निर्धारित करने में माँग और पूर्ति दोनों का प्रभाव पड़ता है। कभी माँग का अधिक प्रभाव होता है और कभी पूर्ति का। मूल्य में परिवर्त्तन होने से माँग तुरन्त घट बढ़ जाती है परन्तु पूर्ति के बढ़ने घटने में कुछ समय लगता है; क्योंकि पूर्ति स्टॉक और उत्पादन पर निर्भर होती है। उत्पादन के घटाने और बढ़ाने में समय लगता है। इस कारण अल्पकाल में मूल्य-निर्धारण में माँग का अधिक महत्व होता है और दीर्घ काल में पूर्ति का।

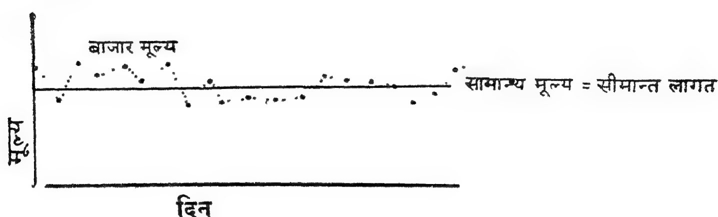
उक्त अर्थ के सिद्धान्त में यह समझाया गया है कि माँग और पूर्ति की मात्रा समान होने के लिए जब पर्याप्त समय मिल जाता है तो मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। अब हम यह समझायेंगे कि बाजार में प्रतिदिन मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है।

बाजार मूल्य (Market Price) :—बाजार मूल्य उस वास्तविक मूल्य को कहते हैं जिस मूल्य पर बाजार में किसी समय या दिन वस्तु बेची या खरीदी जाती है। यदि आज बाजार में टमाटर दो आने सेर बेचे व खरीदे जाते है तो दो आने बाजार मूल्य कहलायेगा । जब टमाटर चार आने सेर बेचे व खरीदे जाते है तो बाजार मूल्य चार आने होगा। अर्थात् बाजार मूल्य वह मूल्य है जिस पर वस्तुऐं वास्तव में खरीदी व बेची जाती है। बाजार मूल्य के निर्धारण में माँग का अधिक महत्व होता है क्योंकि मूल्य के परिवर्त्तन से माँग तुरन्त घट बढ़ जाती है। पूर्ति के घटने बढ़ने में समय लगता है और अल्पकाल में एक निश्चित समय पूर्ति की मात्रा बहुत घट बढ नही सकती। इतने समय में पूर्ति की अधिकतम मात्रा उसके स्टॉक के बराबर हो सकती है। पूर्ति की

मात्रा इससे अधिक बढाने में समय लगेगा और चाहे मूल्य कितना ही बढ़ जाय पूर्ति की मात्रा लगभग स्थिर रहेगी ; क्योंकि उत्पादन की मात्रा एक चुटकी बजाने से नही बढ़ जाती। उत्पादन में समय लगता है। एक निश्चित समय में पूर्ति की मात्रा लगभग स्थिर होती है और यदि वस्तु खराब होनेवाली है, जैसे हरे साग, दूध इत्यादि तो स्टॉक, पूर्ति और प्रभावपूर्ण पूर्ति लगभग बराबर होंगे। यदि वस्तु टिकाऊ है जैसे कपड़ा, घड़ी, साइकिल इत्यादि तो मूल्य घटने पर उनकी पूर्ति कम हो जायेगी; क्योंकि विक्रेता अपना स्टॉक बेचना पसन्द न करेंगे, यदि उनको यह आशा हो कि भविष्य में मूल्य बढ़ जायेगा। यदि उनको यह आशा है कि भविष्य में मूल्य और कम हो जायेगा तो वह लगभग अपना सारा स्टॉक बेचने को तय्यार होंगे। प्रत्येक दिन के बाजार मूल्य में माँग का ही अधिक महत्व होता है और यदि वस्तु खराब होनेवाली है तो केवल वर्तमान माँग का। टिकाऊ वस्तुओं के लिए विक्रेता भविष्य की माँग का भी अनुमान लगाते हैं और उसी अनुमान के अनुसार वर्तमान में पूर्ति की मात्रा बदलते रहते हैं। बाजार मूल्य लागत से काफी अधिक भी हो सकता है क्योंकि इतने थोड़े समय में पूर्ति की वृद्धि सम्भव नही होती। यह मूल्य लागत से कम भी हो सकता है क्योंकि पूर्ति अचानक नहीं घटाई जा सकती और विक्रेता हानि पर भी अपनी वस्तु बेचने को तय्यार होगा यदि वस्तु टिकाऊ नहीं है या भविष्य में मूल्य और गिरने की सम्भावना है। बाजार मूल्य पर प्रभावपूर्ण पूर्ति और प्रभावपूर्ण माँग बराबर तो होते हैं परन्तु यह अस्थाई-सन्तुलन की स्थिति होती है और पूर्ति में घटने की प्रवृत्ति होती है यदि बाजार मूल्य सीमान्त लागत से कम है और पूर्ति में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है जब बाजार मूल्य सीमान्त लागत से अधिक होता है। ऐसी प्रवृत्ति इस कारण होती है क्योंकि प्रभावपूर्ण पूर्ति को इतना अवसर नहीं मिलता है कि वह, ऐसे मूल्य पर जो सीमान्त लागत के बराबर हो, प्रभावपूर्ण माँग के बराबर हो सके।

सामान्य मूल्य (Normal Price) :—सामान्य मूल्य वह मूल्य है जो दीर्घ काल में निर्धारित होता है। यही मूल्य सन्तुलन मूल्य (Equilibrium price) कहलाता है और सीमान्त लागत के बराबर होता है। जब तक मूल्य सीमान्त लागत से अधिक होता है तो उत्पादकों को नफा होता है और वे पूर्ति बढ़ाने का प्रयत्न करते है। जब मूल्य सीमान्त लागत से कम होता है तो वह इकाइयाँ जिनकी लागत मूल्य से अधिक है उत्पादित नहीं की जायेंगी; अर्थात् सीमान्त इकाइयों का उत्पादन न होगा जिससे पूर्ति की मात्रा माँग से कम होगी और विक्रेताओं में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण मूल्य के बढ़ने की प्रवृत्ति

होगी। वह मूल्य जिस पर पूर्ति सन्तुलन-स्थिति पर आ जाती है सीमान्त लागत के बराबर होता है; क्योंकि उसी स्थिति में पूर्ति के घटाने और बढ़ाने की प्रवृत्ति नहीं होती। यह आवश्यक नहीं कि सामान्य मूल्य वह वास्तविक मूल्य हो जिस पर बाजार में वस्तुएँ खरीदी व बेची जाती हों। इस दृष्टि से तो बाजार मूल्य ही ऐसा वास्तविक मूल्य है जो बाजार में वास्तव में प्रचलित होता है। सामान्य मूल्य केवल ऐसा सैद्धान्तिक मूल्य है जिसके पास बाजार मूल्य के जाने की प्रवृत्ति होती है और ऐसा हो सकता है कि व्यावहारिक जीवन में सामान्य मूल्य बाजार मूल्य के समान किसी दिन भी न हो। सामान्य मूल्य केवल काल्पनिक मूल्य है जिसके चारों ओर बाजार मूल्य घूमता रहता है। बाजार मूल्य प्रतिदिन या एक ही दिन में कई बार बदल सकता है; परन्तु प्रत्येक बार इसकी प्रवृत्ति सामान्य मूल्य के पास जाने की होती है। सामान्य मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होता है; परन्तु बाजार मूल्य में केवल सीमान्त लागत के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है। व्यावहारिक जीवन में हो सकता है कि कभी कभी या अनेक बार बाजार मूल्य भी सीमान्त लागत के बराबर हो जाय, परन्तु यह आवश्यक नहीं। अनेक बार बाजार मूल्य सामान्य मूल्य से बहुत कम और बहुत अधिक हो जाता है। परन्तु वह बहुत समय तक इस स्तर पर नहीं रहता। यदि वह बहुत समय तक उस स्तर पर रहने की प्रवृत्ति दिखलाता है तो पूर्ति बढ़ और घट जाती है और बाजार मूल्य भी घट या बढ़ कर सामान्य मूल्य के आसपास आ जाता है। अर्थात् पूर्ति का प्रभाव धीरे-धीरे बाजार मूल्य को सामान्य मूल्य के बराबर लाने का प्रयत्न करता रहता है । इसी को नीचे के ग्राफ में दर्शाया गया है—



बार-बार बाजार-मूल्य बढ़ता और घटता है, परन्तु हर बार बढ़ने के बाद घट कर सामान्य मूल्य के पास आता है और घटने के बाद फिर बढ़कर सामान्य मूल्य के पास जाता है।

यदि माँग या मूल्य में परिवर्त्तन होने पर पूर्ति की मात्रा भी तुरन्त ही बढ़ा या घटा दी जा सकती तो बाजार मूल्य में चाहे प्रतिदिन परिवर्त्तन

हो, परन्तु हर समय वह सीमान्त लागत और सामान्य मूल्य के बराबर होता। क्योंकि पूर्ति में शीघ्र परिवर्त्तन नहीं हो सकता, उसमें समय लगता है, इसी कारण बाजार मूल्य सामान्य मूल्य या सीमान्त लागत से विभिन्न हो सकता है।

अल्प काल और दीर्घ काल का सामान्य मूल्य (Short Period and Long Period Normal Price) :—अल्पकाल सामान्य मूल्य वह सामान्य मूल्य होता है जिसको निर्धारित करने में अल्पकाल में बदलती हुई प्रवृत्तियों का प्रभाव होता है। जब भी माँग बढ़ती या घटती है तो पूर्ति में भी बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति होती है; परन्तु अल्पकाल में उत्पादन के प्रत्येक साधन घटाये व बढ़ाये नहीं जा सकते। मशीनों की मात्रा, व्यवस्थापक व अन्य प्रबन्ध करनेवाले कर्मचारी, फर्म की बिल्डिंग इत्यादि के बढ़ाने घटाने में काफी समय लगता है परन्तु कच्चे माल की मात्रा और मामूली मजदूरों की संख्या शीघ्र बढ़ाई घटाई जा सकती है। इस कारण अल्पकाल में पूर्ति की मात्रा में परिवर्त्तन तो हो सकता है परन्तु माँग के बहुत अधिक बढ़ने व घटने से पूर्ति में उतना ही परिवर्त्तन नहीं हो सकता है। इस कारण यदि अल्प काल में माँग की मात्रा में अधिक वृद्धि होने से मूल्य सीमान्त लागत से अधिक है तो पूर्ति बढ़ तो अवश्य जायेगी, परन्तु तब भी मूल्य सीमान्त लागत से अधिक हो सकता है और उत्पादकों को नफा होगा। जब माँग की मात्रा में अधिक कमी होने से मूल्य सीमान्त लागत से कम है तो पूर्ति घट तो जायेगी, परन्तु उत्पादक उत्पादन उस सीमा तक करेगा जब तक मूल्य परिवर्त्तित लागत से अधिक है; क्योंकि इस प्रकार वह अपनी स्थिर लागत को पूरा करने के लिए कुछ कमा सकेगा। दीर्घ काल में मूल्य इतना होना चाहिए कि वह अपनी कुल लागत वसूल कर सके, अर्थात् मूल्य स्थिर लागत और परिवर्त्तित लागत दोनों के योग के बराबर होना चाहिए, अन्यथा विक्रेता की हानि होगी और वह उत्पादन बन्द कर देगा।

पूर्ति या माँग में से किसका मूल्य पर अधिक प्रभाव होता है यह इस पर निर्भर है कि दोनों में से किसकी मात्रा कितनी सुगमता और शीघ्रता से घटाई बढ़ाई जा सकती है। अल्पकाल में माँग तुरन्त और सुगमता से घटाई और बढ़ाई जा सकती है। इस कारण अल्पकाल में मूल्य निर्धारण करने में माँग का ही अधिक महत्व होता है। परन्तु दीर्घ काल में पूर्ति का अधिक प्रभाव होता है, क्योंकि मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होना है। अर्थात् अल्पकाल में सीमान्त उपयोगिता का अधिक प्रभाव होता है और दीर्घ काल में सीमान्त लागत का निश्चित प्रभाव होता है।

समय सम्बन्धी बाजार (Time Market)

बाजार का हम समय की दृष्टि से भी अध्ययन कर सकते है और उसको विभिन्न समयों के अनुसार निम्नलिखित समय सम्बन्धी बाजारों में बाँट सकते हैं। यह वर्गीकरण इस आधार पर किया गया है कि माँग और पूर्ति मे पारस्परिक सन्तुलन स्थापित करने मे कितना समय लगता है :—

(१) **दैनिक बाजार** (Daily Market) :—हम यह अध्ययन कर सकते है कि प्रत्येक वस्तु का प्रतिदिन मूल्य किस प्रकार तय होता है। दैनिक बाजार में पूर्ति लगभग स्थिर होती है। खराब होनेवाली वस्तुओ की पूर्ति स्टॉक के बराबर होती है। टिकाऊ वस्तुओ की पूर्ति स्टॉक से अधिक नही हो सकती और विभिन्न विक्रेताओ की पूर्ति उनके स्टॉक का कौन-सा भाग होगी यह इस पर निर्भर होता है कि भविष्य मे उनको मूल्य के बढ़ने या घटने की आशा है। यदि मूल्य घटने की आशा है तो वह स्टॉक का अधिकतम भाग बेचना चाहेंगे और यदि मूल्य बढ़ने की आशा है तो वह स्टॉक का अधिकांश भाग भविष्य में बेचने के लिए रोक लेंगे। इसी तरह यदि भविष्य मे मूल्य घटने की सम्भावना है तो क्रेता अपनी माँग स्थगित कर देंगे।

(२) **सामान्य अल्पकालीन बाजार** (Normal short period Market) :—इस समय में माँग बढ़ने या घटने से उत्पादन की मात्रा बढ़ या घट तो सकती है, परन्तु समय इतना कम होता है कि उत्पादन के कुछ साधन बढ़ाये घटाये नही जा सकते। विद्यमान कार-खानों पर ही पूर्ति निर्भर होती है, क्योंकि नये कारखाने स्थापित करने का समय नहीं होता। परन्तु माँग बढ़ने से विद्यमान कारखानों में अधिक उत्पादन किया जायेगा, जैसे आठ घण्टे की अपेक्षा तीन शिफ्ट लगाकर कारखाने चौबीसों घण्टे चलाने की प्रवृत्ति होगी। कम कार्यक्षमता वाले मजदूरो को भी रख लिया जायेगा। इन्ही प्रयत्नों से उत्पादन बढ़ाया जायेगा। माँग कम होने से मजदूर घटा दिये जायेंगे और कारखानों के चलाने का समय कम कर दिया जायेगा।

(३) **सामान्य दीर्घकालीन बाजार** (Normal long period Market) :—इसमे समय इतना दीर्घ होता है कि माँग के परिवर्त्तन के अनुसार उत्पादन के साधनों में भी परिवर्त्तन किया जा सकता है। अर्थात् नये कारखाने स्थापित किये जा सकते है और विद्यमान कारखानों मे नई मशीनें, नई बिल्डिगें इत्यादि लगाई जा सकती है। माँग कम होने से कुछ कारखाने जिनकी कार्यक्षमता कम है बन्द

कर दिये जायेंगे और दूसरे कारखानों में भी मजदूरों की संख्या घटा दी जायेगी ।

(४) **सामान्य अत्यन्त दीर्घकालीन बाजार** (The Secular or very-long period Market) :—ऐसे बाजार में इतना ही समय नहीं होता कि केवल उत्पादन के साधनों में परिवर्त्तन किया जा सके, वरन् बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो सकते हैं, जैसे जनसंख्या की घटती-बढ़ती, वैज्ञानिक आविष्कार, यातायात के साधनों में उन्नति इत्यादि। इतने समय में पूर्ति में पूर्ण रूप से परिवर्त्तन हो सकता है और इस कारण मूल्य-निर्धारण में पूर्ति का अधिक प्रभाव होता है।

एकाधिकार में अर्घ का सिद्धान्त

पूर्ण एकाधिकार में मूल्य असीमित होगा क्योंकि क्रेतागण एकाधिकारी से ही उस वस्तु को मोल लेने के लिए विवश हैं*। मूल्य कम करने में एकाधिकारी की हानि है, क्योंकि अधिक मूल्य पर भी क्रेतागण वस्तु उसी से मोल लेते हैं और कम होने पर भी वह वस्तु उस एकाधिकारी से ही मोल लेते हैं। क्रेताओं का माँग पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता। इसी कारण एकाधिकारी वस्तु का असीमित मूल्य माँगेगा। जैसा कि हम पहले समझा चुके हैं व्यावहारिक जीवन में पूर्ण एकाधिकार असम्भव है ।

व्यावहारिक जीवन में आंशिक एकाधिकार सम्भव होता है। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी का पूर्ति पर अधिकार होता है और वह उत्पादन की मात्रा में परिवर्त्तन करने से मूल्य पर प्रभाव डाल सकता है। जब उत्पादन कम होगा तब पूर्ति भी कम होगी और पूर्ति कम होने पर मूल्य बढ़ जायेगा। उत्पादन में वृद्धि करने से पूर्ति की मात्रा भी बढ़ जायेगी जिससे मूल्य घट जायेगा। उत्पादन में परिवर्त्तन करने से लागत में भी परिवर्त्तन होता है। यदि उत्पादन औसत लागत की वृद्धि के नियम के अनुसार होता है तो उत्पादन की मात्रा बढ़ाने से सीमान्त लागत में वृद्धि होगी और उत्पादन घटाने से सीमान्त लागत कम हो जायेगी। यदि उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू होता है तो उत्पादन की मात्रा बढ़ाने से सीमान्त लागत कम हो जायेगी और उत्पादन की मात्रा घटाने से सीमान्त लागत बढ़ जायेगी। इस प्रकार उत्पादन की मात्रा घटाने व बढ़ाने से एकाधिकारी अपनी सीमान्त लागत को बढ़ा व घटा

---

*पृष्ठ १७२ देखिये ।

सकता है। साथ ही साथ उत्पादन की मात्रा में परिवर्त्तन करने से वस्तु का मूल्य भी बढ़ता घटता है। सारांश यह है कि आंशिक एकाधिकारी का (१) लागत और (२) मूल्य पर अधिकार होता है। परन्तु वह माँग की मात्रा निश्चित नहीं कर सकता। जब वह मूल्य बढ़ाता है तो माँग कम हो जाती है और जब वह मूल्य घटाता है तो माँग बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में वह उत्पादन उस मात्रा में करेगा जब उसका नफा अधिकतम (Maximum net monopoly revenue) हो। अधिकतम नफे के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अधिकतम मूल्य पर ही वस्तु बेचे या अधिकतम मात्रा में वस्तु बेचने का प्रयत्न करे। मूल्य घटाने-बढ़ाने के परीक्षण के द्वारा वह यह पता लगा सकता है कि वह मूल्य और उत्पादन किस स्तर पर रखे कि उसको अधिकतम नफा हो। यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिये कि एक एकाधिकारी को अपनी वस्तु का उत्पादन बढ़ाने घटाने के लिए निम्नलिखित लागत लगानी पड़ती है और उत्पादित वस्तु की विभिन्न मात्राएँ निम्नलिखित मूल्यों पर बिक सकती हैं—

बिक्री या उत्पादन की संख्या	कुल लागत (रुपयों में)	मूल्य (रुपयों में)
१	१४	२०
२	२४	१९
३	३३	१८
४	४०	१७
५	४५	१६
६	५१	१५
७	५९	१४
८	७२	१३½
९	९०	१३

उक्त कोष्ठक से हम कुल आय, सीमान्त आय, सीमान्त लागत और कुल नफे का पता लगा सकते हैं। यह निम्न कोष्ठक में दी गई हैं:—

१	२	३	४	५	६	७
बिक्री या उत्पादन की संख्या	मूल्य (रुपयों में)	कुल आय (रुपयों में) = १ × २.	सीमान्त आय (रुपयों में)	कुल लागत (रुपयों में)	सीमान्त लागत (रुपयों में)	कुल नफा (रुपयों में) = ३ — ५.
१	२०	२०	२०	१४	१४	६
२	१९	३८	१८	२४	१०	१४
३	१८	५४	१६	३३	९	२१
४	१७	६८	१४	४०	७	२८
५	१६	८०	१२	४५	५	३५
६	१५	९०	१०	५१	६	३९
७	१४	९८	८	५९	८	३९
८	१३½	१०८	१०	७२	१३	३६
९	१३	११७	९	९०	१८	२७

उक्त कोष्ठक से स्पष्ट है कि इस एकाधिकारी को अधिकतम नफा ३९ रु० हो सकता है। इस कारण वह सात वस्तुओं का उत्पादन करेगा और उनको १४ रु० प्रति वस्तु की दर से बेचेगा जिससे उसकी कुल आय ९८ रु० होगी, कुल लागत ५९ रु० और नफा ३९ रु०।

उक्त कोष्ठक से स्पष्ट है कि एकाधिकारी का कुल नफा अधिकतम उस स्थिति में होता है जब सीमान्त आय = सीमान्त लागत। जब वह पाँचवीं इकाई का उत्पादन करता है तो उसकी कुल लागत ५ रु० से बढ़ जाती है और मूल्य १७ रु० से घटकर १६ रु० ही रह जाता है, जिससे कुल आय १२ रु० बढ़ती है; जिस कारण पाँचवीं इकाई का उत्पादन करने से उसका नफा ७ रु० से बढ़ जाता है। इसी प्रकार छठी इकाई का उत्पादन करने से मूल्य घटने पर भी कुल आय १० रु० से बढ़ती है और कुल लागत ६ रु० से जिससे उसका कुल नफा ४ रु० से और बढ़ जाता है। सातवीं इकाई का उत्पादन करने से कुल आय ८ रु० बढ़ती है और कुल लागत भी ८ रु० बढ़ जाती है। इसके उपरान्त यदि वह उत्पादन की मात्रा बढ़ाता है तो कुल लागत में कुल आय की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है, जिससे उसके कुल नफे की मात्रा भी कम हो जाती है। इस कारण वह उत्पादन की मात्रा उस सीमा तक ही बढ़ाता जाता है जहाँ कुल आय में वृद्धि कुल लागत की वृद्धि से अधिक होती है अर्थात् जहाँ तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होती है। जब सीमान्त आय

और सीमान्त लागत बराबर हो जाती है तो वह उत्पादन की मात्रा में वृद्धि बन्द कर देता है क्योंकि उसके उपरान्त सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक होती है जिससे कुल नफे की मात्रा घट जाती है।

सारांश यह है कि आंशिक एकाधिकार की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर होता है जहाँ एकाधिकारी को अधिकतम नफा हो। मूल्य का यह स्तर तब होता है जब सीमान्त आय=सीमान्त लागत। अर्थात् आंशिक एकाधिकार में मूल्य उस स्तर पर निर्धारित होता है जहाँ सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर होती हैं।

प्रतिस्पर्धा की स्थिति में प्रत्येक उत्पादक उत्पादन के नये-नये ढंगों का आविष्कार करने का प्रयत्न करता है जिससे वह अपनी लागत कम करे और मूल्य घटाकर दूसरे उत्पादकों के ग्राहकों को तोड़ ले। एकाधिकार में उत्पादक का उद्देश्य अधिकतम नफा होता है और साधारणतः मूल्य पूर्ण प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा अधिक होता है। इस कारण एकाधिकार की स्थिति समाज के लिए तभी हानिकारक नहीं होती जब एकाधिकार के कारण लागत कम हो जाती है जिससे मूल्य कम होता है या जब एकाधिकार का नफा किसी एक व्यक्ति को प्राप्त न होकर सम्पूर्ण समाज के हित के लिये काम में आता है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में अर्घ का सिद्धान्त

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में प्रत्येक विक्रेता विभिन्न मूल्य ले सकता है और तब भी उसके सब क्रेता सस्ते विक्रेताओं के पास नहीं जाते। अर्थात् वह मूल्य कुछ सीमा तक बढ़ा सकता है, परन्तु अधिक बढ़ाने से उसके ग्राहक टूटकर दूसरे विक्रेताओं के पास जाने लगते हैं। इस कारण प्रत्येक विक्रेताओं की माँग की वक्ररेखा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समान लेटी हुई नहीं होती, वरन् प्रत्येक विक्रेता के लिए माँग का कोष्ठक और माँग की वक्ररेखा विभिन्न होती है

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समान प्रत्येक विक्रेता के लिए मूल्य स्थिर नहीं होता है। परन्तु पूर्ति के परिवर्त्तन के अनुसार मूल्य में परिवर्त्तन होता है। यदि एक विक्रेता अपनी वस्तु अधिक मात्रा में बेचना चाहता है तो उसको मूल्य घटाना होगा। यदि वह मूल्य बढ़ा देता है तो उसके कुछ ग्राहक टूट जाते हैं परन्तु पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समान सब ग्राहक नहीं टूटते। इस कारण वह वस्तु का उत्पादन और बिक्री उस मात्रा में करता है या मूल्य उस स्तर पर रखता है जहाँ उसको अधिकतम नफा होता है। उसको

अधिकतम नफा तभी होता है जब अन्तिम इकाई को बेचने से जो कुल आय में वृद्धि होती है वह सीमान्त लागत से अधिक हो। अर्थात् वह मूल्य उस स्तर पर रखेगा जहाँ सीमान्त आय = सीमान्त लागत। यह पृष्ठ १८६ के उदाहरण से स्पष्ट है। यदि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में किसी उत्पादक की लागत व आय का ढाँचा इस कोष्ठक के समान हो तो वह ७ इकाइयों का उत्पादन करेगा और मूल्य १४ रु० रखेगा, क्योंकि इस स्थिति में ही उसकी सीमान्त आय = सीमान्त लागत। यदि वह इससे कम मात्रा में वस्तु बेचता है तो उसको प्रति वस्तु का मूल्य अवश्य अधिक मिलेगा परन्तु उसकी सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक है। इस कारण बिक्री की मात्रा बढ़ाने से कुल नफे में वृद्धि की सम्भावना है। यदि वह ७ इकाइयों से अधिक उत्पादन करता है तो उसकी सीमान्त आय उन इकाइयों पर सीमान्त लागत से कम है जिससे उन इकाइयों का उत्पादन करने से उसको हानि होती है और उसका कुल नफा कम हो जाता है। उक्त कोष्ठक में जब वह ६ इकाइयों का उत्पादन करता है तो उसकी सीमान्त आय १० रु० है और सीमान्त लागत ६ रु० जिससे उस इकाई के उत्पादन से उसके नफे में ४ रु० की वृद्धि होती है। इस कारण वह एक और इकाई का उत्पादन करता है। परन्तु जब वह ७ वीं इकाई का उत्पादन करता है तो उसकी सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है और इसके उपरान्त वह उत्पादन की मात्रा नहीं बढ़ाता क्योंकि सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम होती जाती है जिससे उन इकाइयों का उत्पादन करने से उसको हानि होती है और उसके कुल नफे की मात्रा घट जाती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा, आंशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

ऊपर हमने बताया है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा, आंशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। उस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थिति में मूल्य पर माँग और पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव होता है और मूल्य को निर्धारित करने में माँग और पूर्ति दोनों का भाग होता है और प्रत्येक स्थिति में मूल्य उस स्तर पर ही होता है जहाँ सीमान्त आय = सीमान्त लागत। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य (अर्थात् औसत आय) और सीमान्त आय प्रत्येक उत्पादक के लिए बराबर होते हैं क्योंकि माँग की वक्ररेखा लेटी होती है जिससे प्रत्येक इकाई बेचने से कुल आय में वृद्धि मूल्य के बराबर ही होती है। यदि मूल्य ५ रु० है तो इस मूल्य पर प्रत्येक उत्पादक चाहे जितनी इकाइयाँ

बेच सकता है और प्रत्येक इकाई बेचने से उसकी आय ५ रु० से बढ़ती है। यदि कोई विक्रेता मूल्य ५ रु० की अपेक्षा ५ रु० १ आ० रखता है तो उसकी बिक्री शून्य होती है। यदि वह मूल्य ५ रु० से कम करता है तो उसको कुछ नफा नहीं होता क्योंकि जितना वह उत्पादन करता है वह सारा ५ रु०. पर ही बिक जाता है। प्रत्येक फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम लागू होता है और प्रत्येक फर्म उत्पादन उसी सीमा तक करती है जहाँ उसकी सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जाती है। इस कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा में—

मूल्य (या औसत आय) = सीमान्त लागत (प्रत्येक फर्म की) = सीमान्त आय (प्रत्येक फर्म की) = औसत लागत (केवल प्रतिनिधि फर्म की जो सन्तुलन की स्थिति पर है।)

आंशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा* की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर निर्धारित होता है जहाँ सीमान्त लागत = सीमान्त आय, क्योंकि उसी स्थिति में उत्पादक को अधिकतम नफा होता है। इन स्थितियों मे प्रत्येक फर्म का मूल्य समान नही होता और उनकी सीमान्त आय और सीमान्त लागत भी विभिन्न होती है। प्रतिनिधि फर्म की सीमान्त लागत उसकी औसत लागत के भी बराबर होती है क्योंकि उस फर्म को न कुछ लाभ होता है, न हानि; परन्तु यह आवश्यक नही कि इस फर्म की सीमान्त या औसत लागत अन्य फर्मों की सीमान्त या औसत लागत के बराबर हों। साधारणतः वे भिन्न होती है। इन स्थितियों में लागत, मूल्य और उत्पादन की मात्रा प्रत्येक फर्म के लिए परिवर्त्तनशील है, जब कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में प्रत्येक फर्म के लिए मूल्य स्थिर होता है और बाजार की स्थिति से निर्धारित होता है और प्रत्येक फर्म के लिए उसकी लागत और उत्पादन की मात्रा ही परिवर्त्तनशील होती है।

---

* आशिक एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा समान स्थितियाँ है क्योकि दोनो में ही कुछ प्रतिस्पर्धा होती है और कुछ एकाधिकार का अश होता है।

जब एक समान वस्तु के बाजार मे विभिन्न मूल्य होते हुए भी प्रत्येक क्रेता कुछ मात्रा मे उस वस्तु को बेच सकता है तो उस स्थिति को औलीगोपोली (Oligopoly) कहते हैं। जैसे, कीवी पौलिश कुछ दूकानदार दस आने मे बेचते है और कुछ ग्यारह आने में तो भी कुछ क्रेता ग्यारह आने में ही खरीदते है।

व्यावहारिक जीवन मे या तो औलीगोपोली की स्थिति होती है या अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (जो आंशिक एकाधिकार है) की।

जिन वस्तुओं की पूर्ति स्थिर (जिनका और उत्पादन नहीं किया जा सकता) या सीमित होती है उनके विक्रेता आंशिक एकाधिकारी होते है। उनका मूल्य उसी स्तर पर निर्धारित होगा जहाँ उनके विक्रेता को अधिकतम नफा हो। ऐसी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में माँग का अधिक प्रभाव होता है; क्योंकि पूर्ति की मात्रा में अधिक परिवर्त्तन नहीं हो सकता। इस कारण माँग बढ़ने से मूल्य बढ़ जाता है और माँग घटने से मूल्य घट जाता है।

मूल्य और उत्पत्ति के नियम

यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की स्थिरता का नियम लागू होता है तो उस फर्म की औसत और सीमान्त लागत बराबर होगी। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में औसत लागत की स्थिरता का नियम किसी फर्म पर तभी लागू हो सकता है जब प्रत्येक फर्म की कार्यक्षमता समान हो और उनका आकार भी समान हो। उस स्थिति में—

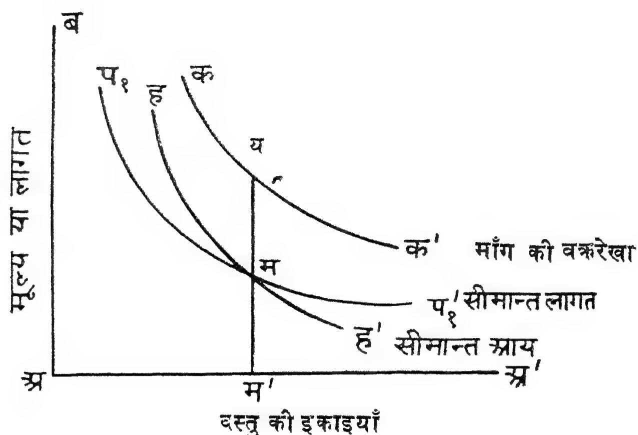
मूल्य = सीमान्त आय = सीमान्त लागत = औसत लागत (प्रत्येक फर्म की) होगा। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर होता है जहाँ उस फर्म की सीमान्त आय = सीमान्त लागत। औसत लागत स्थिर होने से सीमान्त लागत भी स्थिर होती है। इसलिए प्रत्येक फर्म का मूल्य उस स्तर पर होगा, जहाँ उसकी सीमान्त लागत = उसकी सीमान्त आय = उसकी औसत लागत।

माँग बढ़ने से पूर्ति बढ़ जायेगी परन्तु औसत या सीमान्त लागत में कोई परिवर्त्तन न होगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य स्थिर रहेगा और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर होगा जहाँ नई माँग का अनुमान लगाने के बाद सीमान्त आय = सीमान्त या औसत लागत।

औसत लागत की वृद्धि का नियम:—यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत की वृद्धि का नियम लागू होता है तो उत्पादन में वृद्धि करने से सीमान्त लागत बढ़ जायेगी और उत्पादन कम मात्रा में करने से सीमान्त लागत घट जायेगी। इस कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में माँग बढ़ने से मूल्य बढ़ जायेगा और माँग घटने से मूल्य घट जायेगा। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य उस स्तर पर होगा जहाँ नई माँग का अनुमान लगाने के बाद सीमान्त आय = सीमान्त लागत।

औसत लागत के ह्रास का नियम:—यदि किसी फर्म के उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू होता है तो उत्पादन में वृद्धि करने से सीमान्त लागत घट जायेगी और उत्पादन कम करने से सीमान्त लागत बढ़ जायेगी।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में यह नियम किसी फर्म के उत्पादन पर लागू नहीं हो सकता है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में माँग बढ़ने पर मूल्य उस स्तर पर होता है जहाँ बढ़ी माँग का अनुमान लगाने के बाद सीमान्त आय=सीमान्त लागत।



उक्त ग्राफ* में सीमान्त आय और सीमान्त लागत की वक्ररेखा दर्शायी गयी है जो 'म' बिन्दु पर एक दूसरे को काटती है। इस कारण 'म' बिन्दु पर सीमान्त आय=सीमान्त लागत=म म', और मूल्य य म' के बराबर होगा; क्योंकि जब मूल्य य म' है तभी सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर होती हैं। यदि यह फर्म अ म' से एक इकाई अधिक उत्पादन करती है तो उसकी सीमान्त लागत घट जाती है परन्तु सीमान्त आय में इसकी अपेक्षा अधिक कमी होती है जिससे इस इकाई और उत्पादन करने से उस फर्म को हानि होती है। इससे स्पष्ट है कि यदि उत्पादन पर औसत लागत के ह्रास का नियम लागू हो तो उत्पादन उसी सीमा तक किया जायेगा जहाँ सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर होती है।

उक्त ग्राफ में सीमान्त लागत की वक्ररेखा बाईं ओर से दाहिनी ओर को झुकती है क्योंकि जैसे जैसे उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है औसत और सीमान्त लागत घटती जाती है।

नियन्त्रित मूल्य और राशनिंग †

(Price Control And Rationing)

अब तक हमने मूल्य के निर्धारण की समस्या का अध्ययन उन स्थितियों में किया है जहाँ माँग और पूर्ति की शक्तियों की स्वतन्त्र गति से ही मूल्य निर्धारित होता है। अब हम उस स्थिति का अध्ययन करेंगे जहाँ मूल्य को निर्धारित करने में राज्य को हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो जाता है। यह प्रत्येक देश का अनुभव है कि लड़ाई के समय में अनेक वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने की प्रवृत्ति होती है। इसका कारण यह है कि उन वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है परन्तु पूर्ति में उतनी वृद्धि नहीं होती और कभी कभी पूर्ति कम भी हो जाती है। माँग में वृद्धि होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) राज्य अनेक वस्तुएं स्वयं खरीदने लगता है। यह वस्तुएं उसे अपनी सेना के लिए या अपने मित्रराष्ट्रों को देने के लिए चाहिएं। लड़ाई के कारण अनेक वस्तुओं का विनाश होता है और सैनिक व अन्य सरकारी कर्मचारी वस्तुएँ लापरवाही से काम में लाते हैं जिससे वे व्यर्थ नष्ट हो जाती हैं। इन कारणों से राज्य को वस्तुएँ अधिक मात्रा में खरीदनी पड़ती हैं। राज्य का व्यय भी बढ़ जाता है जिससे मुद्रा की संख्या बढ़ जाती है और लोगों के पास अधिक मुद्रा होने से वे अधिक व्यय करते हैं जिससे माँग अधिक बढ़ जाती है।

(२) लड़ाई के कारण रोजगार में वृद्धि होती है क्योंकि बहुत से व्यक्ति सेना में भर्ती कर लिये जाते हैं और बहुत से लड़ाई के उद्योगों में। ये लोग जब अपनी आय को व्यय करते हैं तो वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है।

(३) लोग यह विचार करते हैं कि भविष्य में माग और बढ़ जायेगी जिससे मूल्य और बढ़ जायेगा और भविष्य में पूर्ति पर्याप्त मात्रा में न होने की आशंका रहती है। इन कारणों से लोग वस्तुएँ इकट्ठी करने लगते हैं जिससे माँग बढ़ जाती है।

(४) विदेशी राज्य जो स्वयं लड़ाई में फँसे हैं वह भी अधिक मात्रा में दूसरे देशों से वस्तुएँ खरीदना चाहते हैं जिससे माँग बढ़ जाती है।

---

† इस विषय पर पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये श्री आर. एन. भार्गव की पुस्तक "Price Control & Rationing" (Published by Kitabistan, Allahabad) पढ़िये।

(५) नाज की समस्या शोचनीय हो जाती है क्योंकि हमारे जैसे देश में लड़ाई के पूर्व बहुत-से लोगों को पेट भर भोजन भी प्राप्त नही होता था। ये लोग जब सेना में भर्ती हो जाते है तो इन्हें पूरा भोजन मिलता है और कुछ भोजन नष्ट भी होता है जिससे नाज की माँग बढ़ जाती है। हमारे देश में पूर्व के दस, बारह वर्षो में जनसंख्या भी कई करोड़ बढ़ गई है जिसके कारण नाज की अधिक मात्रा में आवश्यकता है।

एक ओर माँग तो बढ़ जाती है परन्तु दूसरी ओर पूर्ति में कमी होने की प्रवृत्ति होती है जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित है—

(१) शत्रु-राष्ट्र और वह राष्ट्र जो शत्रु द्वारा जीत लिए गये है उनसे व्यापार बन्द हो जाता है। इस कारण इन राष्ट्रों से वस्तुओं का आयात नही होता। लड़ाई के पूर्व हम बर्मा से लगभग दस लाख टन चावल प्रतिवर्ष मँगाते थे; परन्तु लड़ाई में बर्मा पर जापानियों का अधिकार हो गया जिससे यह आयात बन्द हो गया। लड़ाई के कारण उस देश के खेत भी नष्ट हो गये जिससे उत्पादन को हानि पहुँची और बर्मा से चावल का निर्यात अब भी युद्ध-पूर्व के स्तर के बराबर नहीं पहुँच सका है।

(२) शत्रु के विनाशी प्रयत्नों द्वारा कारखाने और खेत नष्ट हो जाते है जिससे उत्पादन में कमी हो जाती है। जो माल समुद्री मार्ग से आता है उसको शत्रु-राष्ट्र नष्ट करने का पूरा प्रयत्न करते हैं। कभी कभी यह प्रयत्न सफल भी हो जाते हैं जिससे आयात कम हो जाता है।

(३) युद्ध में यातायात के साधनों की भी कमी हो जाती है क्योंकि बहुत-सी रेलगाड़ी व जहाज इत्यादि सेना व लड़ाई का सामान लाने और ले जाने में लग जाते है। इटली के लड़ाई में आने के उपरान्त भूमध्य-सागर का मार्ग बन्द हो गया और यूरोप से माल केप ऑफ़ गुड होप के मार्ग से ही आता था। इस कारण एक जहाज, जो भूमध्यसागर के मार्ग द्वारा साल में सात-आठ फेरे करता था, केवल दो ही फेरे कर सकता था। इससे यह हुआ कि जितना माल शान्ति के समय एक जहाज एक वर्ष में ला सकता था लड़ाई के समय में वह केवल उसका $\frac{1}{4}$ ही ला सका।

(४) लड़ाई में फँसे होने के कारण विदेशी राष्ट्रों के पास निर्यात के लिए वस्तुओं की कमी हो जाती है। दूसरी ओर हमारे पास विदेशी सिक्कों (Foreign Exchange) की भी कमी होती है क्योंकि लड़ाई में हमारी स्वयं माँग बढ़ जाने से हमारा निर्यात कम हो जाता है। इन कारणों से विदेशी देशों से कम माल आता है।

(५) आवश्यक कच्चा माल, मशीनें व मजदूर इत्यादि शान्तिकालीन उद्योगों से हटाकर लड़ाई के सामानों के उत्पादन में लगा दिये जाते हैं जिससे जनता की आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन घट जाता

हैं। इन कारणों से नये कारखानों की स्थापना भी कठिन हो जाती है। वर्तमान कारखानों में उत्पादन कुछ सीमा तक बढ़ाया जा सकता है और उन कारखानों को दिन-रात चलाया जा सकता है। परन्तु या तो कच्चे माल की कमी के कारण ऐसा नहीं हो सकता या कुछ समय के उपरान्त मशीनें घिस व टूट-फूट जाती हैं और नई नई मशीनों का आयात नहीं होता।

(६) जिन विक्रेताओं के पास माल होता है वह उस माल को इस आशा में रोक लेते हैं कि भविष्य में मूल्य बढ़ेगा। इससे विक्रेताओं में माल इकट्ठा करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती हैजिससे पूर्ति की मात्रा घट जाती है।

(७) हमारे देश में नाज की पूर्ति की भी कमी अनुभव हुई है। लड़ाई के पूर्व ही कुछ प्रान्तों में नाज की अपेक्षा गन्ना, रूई व पटसन बोया जाने लगा। नाज का मूल्य अधिक बढ़ जाने से किसानों की आर्थिक उन्नति हुई जिससे उन्होंने अपने उपभोग की मात्रा बढ़ा दी। लड़ाई के पूर्व नाज का भाव इतना सस्ता था कि उनको अधिक मात्रा में नाज बेचना पड़ता था और तभी वह लगान इत्यादि चुका सकते थे और अन्य वस्तुएँ खरीद सकते थे। अब थोड़ा-सा नाज बेचने से ही उनकी द्रव्य की आवश्यकता पूरी हो जाती है और वह अपने उपभोग के लिए अधिक नाज काम में ला सकते हैं। लड़ाई के पूर्व अनेक गरीब किसान भरपेट भोजन प्राप्त नहीं करता था। अब वे भरपेट भोजन करते हैं जिससे बाजार में पूर्ति की मात्रा घट गई।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक ओर माँग बढ़ जाती है और दूसरी ओर पूर्ति घट जाती है और उसके बढ़ाने में अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं, जिससे पूर्ति की लचक बहुत घट जाती है। इन कारणों से अनेक वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और अनेक फर्मों को अत्यधिक नफा होने लगता है। यह स्थिति बहुत समय तक रहती है क्योंकि इन वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि में अनेक बाधाएँ पड़ती हैं। यदि इस स्थिति में राज्य का हस्तक्षेप न हो तो आवश्यक वस्तुओं के मूल्य इतने बढ़ जायेंगे कि कुछ लोगों के पास जीवित रहने की वस्तुओं को मोल लेने के भी साधन न होंगे और वे भूखों मर जायेंगे। बंगाल में १९४२ में ऐसा ही हुआ और लाखों लोग भूखों मर गये। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब देश की रक्षा के लिए कुछ लोग लड़ाई के मैदान पर अपने जीवन का त्याग करने के लिए तय्यार हैं तो कुछ अन्य लोगों को जनता के कष्टों की वृद्धि कराके अधिक नफा कमाने की छूट नहीं दी जा सकती है। राज्य के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि जनता को आवश्यक वस्तुएँ उचित मूल्य पर प्राप्त कराये, अन्यथा देश में अशान्ति और क्रान्ति का डर होगा जिससे युद्ध संचालन और विजय में बाधा पड़ेगी। इस कारण कम-से-कम आवश्यक वस्तुओं के मूल्य को

निर्धारित करने के लिए माँग और पूर्ति की शक्तियों की स्वतन्त्र गति पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता, वरन् राज्य को कानून द्वारा मूल्य नियन्त्रित करना होता है, जिससे मूल्य लागत से बहुत अधिक न हो। नियन्त्रित मूल्य से अधिक मूल्य लेना अपराध समझा जाता है और अपराधी को कानून द्वारा दण्ड दिया जाता है। परन्तु जब मूल्य इस प्रकार नियन्त्रित कर दिया जाता है तो इस मूल्य पर माँग की मात्रा पूर्ति से कहीं अधिक होती है जिससे कुछ लोग अपना स्टॉक छिपाकर रखते हैं और नियन्त्रित मूल्य से ऊँचे मूल्य पर बेचने का प्रयत्न करते हैं। बहुत मे लोग जिनकी आवश्यकता या आय अधिक है अधिक मूल्य देने को तय्यार भी होते हैं, क्योंकि नियन्त्रित मूल्य पर उनको वह वस्तु आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल सकती। माँग को घटाने और जनता को नियन्त्रित मूल्य पर वस्तु प्राप्त कराने की सुविधा देने के लिए ही कुछ वस्तुओं को राशन द्वारा बाँटा जाता है। राशनिंग माँग को कम करने की एक रीति है क्योंकि वह प्रत्येक क्रेता के क्रय की मात्रा निश्चित कर देता है। प्रत्येक व्यक्ति का भाग उसकी व्यय करने की शक्ति पर निर्भर नहीं होता है वरन् पूर्ति की मात्रा पर निर्भर होता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका न्यायोचित भाग मिल जाता है। इस प्रकार राशन द्वारा अनेक लोगों को उनकी आवश्यकता से कम मात्रा में कुछ वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, परन्तु यह राशनिंग की त्रुटि नहीं है बल्कि सीमित पूर्ति के कारण ही ऐसा होता है। यदि पूर्ति की मात्रा सीमित होने से जनता को कष्ट होता है तो यह उचित है कि राशनिंग द्वारा इस कष्ट को सब लोग बराबर सहें। जिन लोगों को राशनिंग द्वारा निश्चित की हुई मात्रा पूरी नहीं पड़ती और उनके पास अधिक मात्रा में खरीदने के साधन हैं तो वह उस वस्तु को राशन के बाहर अधिक मूल्य पर खरीदने का प्रयत्न करते हैं। कुछ विक्रेता भी चोरी से उन्हें अधिक मूल्य पर वस्तु बेचने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि इससे उनको अधिक नफा होता है। इससे चोर बाजार (**Black Market**) पनपता है।

मूल्य नियन्त्रित करने और राशनिंग से चोर बाजार पनपते हैं जिससे शासन में भी भ्रष्टाचार बढ़ता है। जो विक्रेता अधिक मूल्य पर राशनिंग के बाहर वस्तुएँ बेचते हैं वे राज्य के कानूनों को तोड़ते हैं। इस कारण कानून के दण्ड से बचने के लिए वह अफसरों को घूस देते हैं। राशनिंग और मूल्य नियन्त्रण के विभाग के कर्मचारी अपनी अस्थाई नियुक्ति के कारण इस स्थिति से लाभ उठाते हैं। घूस और बेइमानी का बाजार गर्म रहता है जिससे राष्ट्र का नैतिक पतन होता है। यदि राशनिंग और मूल्य नियन्त्रण की योजनाएँ हटा ली जाती हैं तो जनता को भुखमरी

का सामना करना पड़ता है, क्योंकि नाज का मूल्य विशेष रूप से बहुत बढ़ जाता है। नाज की माँग स्थगित नहीं की जा सकती क्योंकि मनुष्य को भूख प्रतिदिन सताती है। परन्तु नाज के विक्रेता अपने स्टॉक को मूल्य बढने की आशा में रोक सकते हैं। विक्रेताओं की वस्तुएँ इकट्ठा करने व उन्हें रोकने की शक्ति क्रेताओं मे कहीं अधिक होती है। यह प्रत्येक आवश्यक वस्तु जैसे कपड़ा, चीनी, गुड़, नमक इत्यादि के लिए सत्य है। १६४७ के अंत में भारत सरकार ने नियन्त्रण और राशनिंग हटाने की नीति अपनाई और चीनी, नाज, कपड़े इत्यादि पर से कन्ट्रोल हटा लिया। परन्तु यह नीति असफल रही और इन वस्तुओं के मूल्य अधिक बढ़ गये जिससे देश में हाहाकार मचा और सरकार के लिए विवश होकर कन्ट्रोल लगाने के अतिरिक्त और कोई चारा न रहा।

सट्टा (Speculation)

उस व्यापारिक लेन-देन या क्रय-विक्रय को जो इस आशा से किया जाता है कि मूल्य में परिवर्त्तन होने से कुछ नफा उठाया जाय सट्टा कहते हैं। जब एक व्यक्ति कोई वस्तु अभी इस आशा में बेचता है कि भविष्य में उसका मूल्य घट जायेगा जिससे उसको नफा होगा या अभी इस आशा में खरीदता है कि भविष्य में मूल्य बढ़ जायेगा और तब उसके बेचने से उसको नफा होगा तो दोनों परिस्थितियों में हम यही कहेंगे कि वह व्यक्ति वस्तुओं का क्रय-विक्रय सट्टे के लिए कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आज इस आशा में खरीदता है कि भविष्य में मूल्य बढ़ जायेगा और तब वह बेचेगा, वह वास्तव में भविष्य का विक्रेता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति आज इस आशा में बेचता है कि भविष्य में मूल्य घट जायेगा वह वास्तव में भविष्य का क्रेता है। दोनों स्थितियों में वस्तुओं का लेन-देन नहीं होता है वरन् मूल्य के अन्तर का लेन-देन ही होता है। सारांश यह है कि सट्टेबाजी को भविष्य का क्रय-विक्रय कहा जा सकता है। सट्टा इसलिए सम्भव है क्योंकि वस्तुओं के मूल्य विभिन्न समयों पर विभिन्न होते हैं और इन विभिन्न मूल्यों का ठीक अनुमान नहीं लग सकता। सट्टेबाज भविष्य के मूल्य का ठीक ठीक अनुमान अपने ज्ञान और विचार से लगाता है और यह पता लगाने का प्रयत्न करता है कि भविष्य में माँग और पूर्ति कितनी होगी और उस स्थिति में मूल्य कितना होगा। सट्टा जुए से भिन्न है। जुए में लोग आँख मींच कर खरीदते और बेचते हैं परन्तु सट्टेबाज भविष्य की माँग और पूर्ति का ठीक ठीक अनुमान लगाकर खरीदते और बेचते हैं। इससे

समाज और उत्पादन को लाभ होता है क्योंकि इनके कार्यो से मूल्य के स्थिर होने में सहायता मिलती है और उसमें परिवर्त्तन की मात्रा कम हो जाती है। यदि अभी मूल्य कम है तो सट्टेबाज खरीदता है जिससे वर्तमान मे पूर्ति कमी हो जाती है और माँग बढ़ जाती है। इससे वर्तमान में मूल्य बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। वह वर्तमान में तभी खरीदता है जब उसको भविष्य में मूल्य बढ़ने की आशा हो। जब वह वर्तमान में खरीदी मात्रा को भविष्य में बेचता है तो भविष्य की पूर्ति बढ़ जाती है जिससे मूल्य अधिक नहीं बढ़ पाता। इस प्रकार सट्टेबाज के कार्य से वर्तमान में मूल्य कम गिरता है और भविष्य में कम बढ़ता है। इसी तरह जब वह यह अनुमान लगाता है कि भविष्य में मूल्य घट जायेगा तो वह वर्तमान में बेचता है और भविष्य में खरीदता है जिससे वर्तमान में पूर्ति बढ़ जाती है और मूल्य घटता है और भविष्य में माँग बढ़ जाती है जिससे घटनेवाला मूल्य अधिक नहीं घटता है। सट्टेबाजों के कार्यो से उत्पादकों को भविष्य में किसी वस्तु की कमी या अधिकता की पहले से ही सूचना मिल जाती है जिससे वह अपने नफे के लिए उत्पादन में परिवर्त्तन कर सकते हैं और उत्पादन की अनिश्चयता को घटा सकते हैं। सट्टेबाज वस्तु को सस्ते स्थानों से खरीद कर ऐसे स्थानों में बेचते हैं जहाँ उनका मूल्य अधिक होता है, जिससे उन स्थानों पर जहाँ उस वस्तु की कमी होती है उसकी पूर्ति बढ़ा देते हैं। इस प्रकार सट्टेबाज वस्तुओं का विभिन्न समय और स्थानों पर वितरण समान करने में सहायक होते हैं। परन्तु कभी कभी वह झूठे समाचार फैलाकर लोगों को डरा देते हैं और उनकी अज्ञानता का लाभ उठाते हैं जिससे जनता और समाज को हानि पहुंचती है। कभी कभी उनमें से कुछ व्यक्ति वस्तु का अधिकतम स्टॉक खरीद लेते हैं और फिर मनमाने भाव बेचते हैं। यदि वह इन कार्यो में असफल होते हैं तो उन्हें इन कार्यो में अधिक हानि भी उठानी पड़ती है। ऐसी सट्टेबाजी जो वास्तव में जुआ है समाज के लिए और कभी कभी स्वयं उन्हीं के लिए हानिकारक होती है और ऐसे बहुत से धनिक सट्टेबाज रात भर में ही भिखारी हो जाते हैं। इन लोगों के हानिकारक कार्यों को रोकने के लिए राज्य को सट्टेबाजी पर नियन्त्रण रखना पड़ता है और ऐसे नियम बनाने पड़ते हैं जिससे उनके कार्यों द्वारा समाज को हानि की सम्भावना कम रहे।

अभ्यास के प्रश्न

१. कुल आय, औसत आय और सीमान्त आय में उदाहरण देकर अन्तर समझाइये।

२. पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में क्या अन्तर होता है?

३. पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

४. प्रतिनिधि फर्म से आप क्या समझते है? इसके महत्व पर प्रकाश डालिये।

५. बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य का अर्थ समझाइये। इनमें अन्तर क्यो होता है, कारण देकर समझाइये।

६. "बाजार मूल्य परिवर्तित लागत से कम नहीं हो सकता; परन्तु सामान्य मूल्य परिवर्तित और स्थिर लागत के बराबर होना चाहिए।" इस कथन को समझाइये।

७. अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मूल्य किस प्रकार निश्चित होता है?

८. मूल्य नियन्त्रण और राशनिग की आवश्यकता तथा इनके लाभ समझाइये।

९. सट्टे से आप क्या समझते है? इस पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

अध्याय २०

द्रव्य (Money)

अदल-बदल की असुविधाओं को दूर करने के लिए एक ऐसी मध्य-वस्तु का निर्माण करना आवश्यक हो गया जिससे प्रत्येक अन्य वस्तु का क्रय-विक्रय सुगमता से हो सके। इसी से द्रव्य का चलन हुआ। आर्थिक इतिहास से पता चलता है कि समय समय पर अनेक वस्तुओं ने द्रव्य का रूप धारण किया। प्रारम्भ में जानवरो की खाल, कौड़ी, पशु, नाज इत्यादि द्रव्य के काम में लाये गये परन्तु उनकी असुविधाओं के कारण द्रव्य के लिए धातु का प्रयोग किया गया। आधुनिक काल में कागज भी द्रव्य के काम मे लाया गया है और हम देखते है कि प्रत्येक सभ्य देश में कागजी-द्रव्य अधिक मात्रा मे प्रचलित है। द्रव्य हम उसी को कहते है जिसको विनिमय मे किसी वस्तु के बदले में दिया जाता है और उस वस्तु को देनेवाला उसको स्वीकार करता है ।

द्रव्य के कार्य :—द्रव्य का पहला कार्य यह है कि वह विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) होता है। प्रत्येक विनिमय के कार्य के एक ओर द्रव्य होता है और दूसरी ओर वस्तु। जब एक व्यक्ति कोई वस्तु बेचता है तब वह वस्तु देकर द्रव्य प्राप्त करता है और जब वह कोई वस्तु खरीदता है तो वह वस्तु लेकर द्रव्य देता है। इस प्रकार जब द्रव्य विनिमय का माध्यम होता है तो वह प्रत्येक वस्तु की विनिमय शक्ति का माप (Measure of Value) भी होता है। विभिन्न वस्तुओं के पारस्परिक अर्घ का अनुमान हम द्रव्य द्वारा ही लगाते है। यदि एक मेज २० रुपये में आती है और एक पुस्तक १० रुपये मे, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक मेज दो पुस्तकों के अर्घ के बराबर है। अर्थात् हम कह सकते है कि द्रव्य दो वस्तुओ के अर्घो का तुलनात्मक अध्ययन करने में सहायता देता है। द्रव्य का तीसरा कार्य यह है कि वह विनिमय शक्ति के संचय (Store of Value) का साधन है। यदि किसी व्यक्ति को धन जमा करना है तो वह उसे वस्तुओं के रूप में जमा न करके द्रव्य के रूप में ही करता है। यदि वह वस्तुओ के रूप मे धन जमा करे तो उसे हानि की सम्भावना है; क्योंकि कुछ वस्तुएँ जैसे फल, नाज इत्यादि कुछ समय के उपरान्त खराब हो जाते है; उनका मूल्य भी बहुत

घट-बढ़ जाता है और उनके रखने के लिए अधिक स्थान की भी आवश्यकता होती है। कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनको रखने से उनका वजन छीजन के कारण कम हो जाता है। द्रव्य का अन्तिम मुख्य कार्य यह है कि वह भविष्य के लेन-देन व भुगतान का मान है (Standard of Deferred Payments)। जब एक व्यक्ति किसी से ऋण लेता है तो इस लेन-देन के लिए यह आवश्यक है कि ऋण ऐसी वस्तु में चुकाया जाय जिसका अर्घ स्थिर रहे। यदि उसे ऋण ऐसी वस्तुओं में चुकाना हो जैसे टमाटर या पशु तो उसको अधिक अनिश्चयता रहेगी; क्योंकि टमाटर कभी १ आना सेर होते हैं और कभी १ रुपये सेर। इसी प्रकार एक दूध देनेवाली गाय का मूल्य ऐसी गाय की अपेक्षा अधिक होता है जो बीमार हो या दूध नहीं देती हो। यह तो सत्य है कि द्रव्य का अर्घ भी बिल्कुल स्थिर नहीं रहता, क्योंकि वस्तुओं के मूल्य घटने-बढ़ने से द्रव्य का अर्घ भी बढ़-घट जाता है। जब वस्तुएँ सस्ती होती हैं तो एक निश्चित द्रव्य की मात्रा से अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं और जब वस्तुएँ महँगी होती हैं तो उसी द्रव्य की मात्रा से कम वस्तुएँ खरीदी जायेंगी अर्थात् इस अवस्था में द्रव्य का अर्घ पूर्व अवस्था की अपेक्षा कम हो जाता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि साधारणतः द्रव्य के अर्घ में वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम परिवर्त्तन होता है। द्रव्य के उक्त लिखित कार्यों को निम्नलिखित अंग्रेजी के दोहे में भली प्रकार समझाया गया है—

"Money's a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store."

द्रव्य से लाभ :—द्रव्य के निर्माण से समाज को अधिक लाभ हुआ है। द्रव्य ही अर्थशास्त्री का मापदण्ड है। हम लागत, मूल्य, आय-व्यय, उपयोगिता इत्यादि इत्यादि द्रव्य में ही नापते हैं। द्रव्य से अदल-बदल की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और विनिमय सरलता और सुगमता से किया जा सकता है। द्रव्य द्वारा बचत भी आसानी से सम्भव है जिसमें मनुष्य अपना वर्तमान का उपभोग घटाकर दूरदर्शिता के कारण बचत बढ़ा देता है। द्रव्य द्वारा ही ऋण लेने-देने में सुगमता होती है और जो व्यक्ति अपनी पूँजी स्वयं कारखानों व अन्य उद्योगों में नहीं लगा सकते हैं वे उसे ऐसे व्यक्तियों को उधार दे सकते हैं जो उसका अधिक उपयोग करते हैं जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है। द्रव्य द्वारा ही श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता ने अधिक उन्नति की है और अब प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करता है जिसमें वह अधिक चतुर होता है और अपनी आय से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद लेता है। राज्य के अन्य कार्य द्रव्य

की सहायता से अधिक सुगम हो गये हैं और द्रव्य के निर्माण से ही राज्य के कार्यों की संख्या में वृद्धि सम्भव हो सकी है। द्रव्य से व्यापार को भी अधिक लाभ पहुँचा है और व्यापार का क्षेत्र बहुत बढ़ गया है जिससे सबको लाभ है।

द्रव्य-पदार्थ के आवश्यक गुण :—किसी पदार्थ को द्रव्य बनाने से पहले यह आवश्यक है कि उसमें ऐसे गुण हों जिनसे वह द्रव्य का कार्य ठीक-ठीक कर सके। किसी पदार्थ को द्रव्य के कार्य में लाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें निम्नलिखित गुण हों :—

(१) **मान्यता** (Acceptability) :—वह पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे स्वीकार करने में कोई व्यक्ति आनाकानी न करे। अर्थात् उसमें कुछ ऐसा गुण होना चाहिए जिससे उस पदार्थ का कुछ वास्तविक मूल्य हो और प्रत्येक व्यक्ति उसको प्राप्त करने को उत्सुक हो। मांस अनेक व्यक्तियों के लिए घृणित होगा और पशु भी वह व्यक्ति नहीं लेगा जिसके पास उसके लिए चारे का प्रबन्ध न हो। इस कारण ये वस्तुएँ द्रव्य के लिए उचित नहीं हैं।

(२) **परिचयता** (Cognisibility):—पदार्थ ऐसा होना चाहिए जो सुगमता से पहचाना जा सके और प्रत्येक बार उसे प्राप्त करने पर उसकी जाँच या तौल करने की आवश्यकता न हो और न किसी विशेषज्ञ से उसकी परीक्षा करानी पड़े। चावल अनेक प्रकार के होते हैं जिनके मूल्य में अधिक अन्तर होता है और उनके विभिन्न प्रकारों से प्रत्येक व्यक्ति परिचित नहीं होता है; परन्तु सोने, चाँदी के रंग से सब परिचित होते हैं, उनमें एक विशेष ध्वनि भी होती है जिससे इन धातुओं के सिक्के प्रत्येक व्यक्ति पहिचान सकता है।

(३) **उपयोगिता** (Utility) :—उस पदार्थ में प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ उपयोगिता होनी चाहिए अन्यथा वह उसे स्वीकार न करेगा। सोना, चाँदी आभूषण और दिखावट के लिए सबको अच्छे लगते हैं।

(४) **वहनीयता** (Portability) :—पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसका थोड़े से वजन और छोटे आकार में अधिक अर्घ हो और वह सुगमता और कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। घास और मिट्टी के बर्तनों में यह गुण नहीं होते जिस कारण वे द्रव्य के उपयोग में नहीं लाये जाते।

(५) **विभाजकीयता और ढलाई की योग्यता** (Divisibility and Malleability) :—पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसको आसानी से टुकड़ों में बाँटा जा सके और इस प्रकार बाँटने से उसके अर्घ में कमी न हो; हीरे के समान नहीं जिसके टुकड़े करने से अर्घ बहुत कम हो जाता है;

और न पशु व मोटर के ही समान जिनके टुकड़े करने से उनकी उपयोगिता अत्यन्त न्यून हो जाती है। पदार्थ ऐसा भी होना चाहिए जो आसानी से गलाया और ढाला जा सके जिससे उसको उचित रूप दिया जा सके और जो चिह्न उस पर लगाने हों वे सरलता से लगाये जा सकें। वह बहुत सख्त भी नहीं होना चाहिए जिससे उसके सिक्के न बन सकें और न इतना मुलायम होना चाहिए कि जिससे सिक्के बनने के उपरांत उनका रूप आसानी से बिगड़ जाय या वे टूट जायँ।

(६) **अक्षयशीलता** (Indestructibility) :—पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि जो चलन या प्रयोग से शीघ्र घिस या छीज न जायँ, क्योंकि द्रव्य बारबार काम में आता है और कभी कभी इकट्ठा करके अधिक काल तक रखा भी रहता है। नाज में शीघ्र घुन लग जाता है, पशु बीमार पड़ जाते हैं, मुल्तानी घिस जाती है; परन्तु यह अनुमान लगाया गया है कि सोने के सिक्के को बिल्कुल घिस जाने में लगभग ८००० वर्ष लगेंगे।

(७) **स्थिरता** (Stability) :—पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसका मूल्य या अर्घ स्थिर रहे और तुरन्त उसमें घटती-बढ़ती न हो, अन्यथा उत्पादकों और ऋण लेने देनेवालों में शंका रहेगी। कोई व्यक्ति उसको विनिमय में लेते समय भी घबड़ायेगा, क्योंकि उसको यह डर रहेगा कि कहीं इसका अर्घ शीघ्र घट न जाय।

(८) **समानता** (Homogeneity)* :—पदार्थ की विभिन्न इकाइयाँ समान होनी चाहिएँ। उनमें कोई अन्तर न होना चाहिए। अन्यथा उनका मूल्य भिन्न होगा और उनको स्वीकार करने के पहले उनकी परीक्षा करानी होगी। उसमें यह भी गुण होना चाहिए कि समान इकाइयो का समान अर्घ हो।

पूर्वकाल में कौड़ी, पशु, तम्बाकू, नाज इत्यादि अनेक वस्तुएं द्रव्य के काम में लाई गई; परन्तु उनमें उक्त लिखित प्रत्येक गुण न होने के कारण समाज को अनेक कष्ट उठाने पड़े जिससे उन पदार्थो का द्रव्य के लिए प्रयोग बन्द कर दिया गया और अन्त में सोना और चाँदी ही द्रव्य के प्रयोग में लाये गये, क्योंकि इन धातुओं में ही अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उक्त लिखित गुण अधिक मात्रा में पाये जाते है। कुछ शताब्दियों से कागजी-द्रव्य का प्रयोग भी चल गया है। कागजी-द्रव्य में उक्त

---

* उक्त गुणों को सरल रीति से याद करने के लिए A Cup Dish (एक प्याला तश्तरी) याद रखना चाहिए, क्योकि उक्त गुण क्रमानुसार इन अक्षरों से प्रारंभ होते है।

लिखित प्रत्येक गुण तो नहीं होते, परन्तु वह विनिमय के माध्यम का इतना सुगम और सस्ता साधन है कि कानून द्वारा उसमें उपयोगिता और मान्यता पैदा कर दी गई है जिससे प्रत्येक व्यक्ति उनको स्वीकार कर लेता है, क्योंकि उसको इस बात का विश्वास होता है कि उनके द्वारा वह अन्य वस्तुएँ खरीद सकता है।

द्रव्य का वर्गीकरण और कुछ टैकनिकल शब्द

धात्विक और कागजी-द्रव्य :—(Metallic and Paper Money):— वह मुद्रा जो किसी धातु की बनी होती है धात्विक द्रव्य या धातु के सिक्के कहलाती है। पूर्वकाल में ऐसी मुद्रा सिक्के के रूप में नहीं होती थी वरन् धातु के टुकड़े ही द्रव्य के काम में लाये जाते थे। कभी कभी उन टुकड़ों पर उनका वजन इत्यादि अंकित कर दिया जाता था। आजकल धातु के सिक्के टकसाल (Mint) में बनते हैं और इनके बनाने के कार्य को सिक्का ढलाई (Coinage) कहते हैं। इन सिक्कों पर उनका अर्घ अंकित होता है और राज्य की मुहर इत्यादि भी अंकित रहती है। कुछ सिक्कों का द्राव्यिक अर्घ उनके वास्तविक अर्घ के बराबर होता है और ऐसे भी सिक्के होते हैं जिनका द्राव्यिक अर्घ उनके वास्तविक अर्घ से अधिक होता है। परन्तु प्रत्येक सिक्के का कुछ न कुछ वास्तविक अर्घ होता है। कागजी-द्रव्य का वास्तविक अर्घ शून्य होता है, क्योंकि एक ही कागज पर हजार, दस हजार इत्यादि का नोट छप सकता है। कागजी-द्रव्य की उपयोगिता उसके द्राव्यिक अर्घ के कारण ही होती है। राज्य या केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रसारित नोट कागजी-द्रव्य कहलाता है। चेक, हुंडी इत्यादि कागजी-द्रव्य नहीं कहलाते।

प्रामाणिक (Standard) **और सांकेतिक** (Token) **द्रव्य** :— जिस मुद्रा का द्राव्यिक अर्घ और वास्तविक अर्घ समान होता है उसको प्रामाणिक द्रव्य कहते हैं। ऐसा द्रव्य असीमित मात्रा में कानूनी ग्राह्य होता है और उस देश का मुख्य द्रव्य कहलाता है; क्योंकि अन्य सिक्को का अर्घ ऐसे द्रव्य में ही निश्चित होता है। प्रामाणिक द्रव्य के सिक्कों को पूर्णकाय सिक्का (Full Bodied Coin) भी कहते हैं। सांकेतिक द्रव्य का वास्तविक अर्घ उनके द्राव्यिक अर्घ से कम होता है। उनका द्राव्यिक अर्घ कानून द्वारा स्थिर किया जाता है और इस कारण ऐसे सिक्कों को कानूनी सिक्के (Fiat Coin) भी कहते हैं। यह सिक्के सीमित मात्रा में ही कानूनी ग्राह्य होते हैं। हमारा रुपया न तो पूर्ण रीति से प्रामाणिक द्रव्य है और न सांकेतिक ही। परन्तु उसमें

दोनों के कुछ लक्षण हैं। प्रामाणिक द्रव्य के समान वह देश का मुख्य सिक्का है और असीमित मात्रा में कानूनी ग्राह्य हैं; परन्तु उसका वास्तविक अर्घ सांकेतिक सिक्के के समान उसके द्राव्यिक अर्घ से कम है। इस कारण राज्य को रुपये ढालने से नफा होता है। एक रुपये का मूल्य तो एक रुपया या सोलह आने होता है, परन्तु जो धातु उसमें लगती है उसका मूल्य और उसके ढालने का व्यय मिलाकर सोलह आने से कहीं कम होता है।

कानूनी ग्राह्य द्रव्य (Legal Tender Money) :—यदि कोई मुद्रा एक निश्चित सीमा तक ही कानूनी ग्राह्य होती है तो उस मुद्रा को **सीमित-कानूनी ग्राह्य** (Limited Legal Tender) कहते हैं। साधारणतः ऐसी मुद्रा देश का मुख्य सिक्का न होकर छोटे सिक्कों व रेजगारी (Change) के काम आती है। हमारे देश में पैसे और पाइयाँ एक रुपये तक कानूनी ग्राह्य हैं। इसी प्रकार अधन्ना, इकन्नी, दुवन्नी और चवन्नी सीमित-कानूनी ग्राह्य हैं। जब कोई मुद्रा अपरिमित मात्रा में कानूनी ग्राह्य होती है तो उसको **असीमित कानूनी ग्राह्य** (Unlimited Legal Tender) कहते हैं। ऐसी मुद्रा देश की मुख्य द्रव्य होती है और उसीमें प्रत्येक वस्तु व अन्य द्रव्यों का मूल्य नापा जाता है। इसी मुद्रा में ऋण चुकाया जाता है और लेन-देन होता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह द्रव्य विनिमय में स्वीकार करना पड़ता है। इसको स्वीकार न करना कानूनी अपराध होता है और अपराधी को कानून द्वारा दण्ड दिया जाता है। भारतवर्ष में चाँदी का रुपया असीमित-कानूनी ग्राह्य है। लड़ाई में भारत सरकार ने एक रुपये के कागजी नोट भी चलाये और यह भी असीमित-कानूनी ग्राह्य है।

स्वतन्त्र और सीमित मुद्रा ढलाई (Free and Limited Coinage):—जब प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह टकसाल में धातु ले जाये और कानून द्वारा उसके सिक्के ढलवा सके तो उसको स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई कहते हैं। भारतवर्ष में सन् १८९३ तक स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई थी। जब जनता को धातु देकर सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं होता है वरन् सिक्के ढलवाने का अधिकार राज्य अपने लिए सुरक्षित कर लेता है तो उस स्थिति को सीमित मुद्रा-ढलाई कहते हैं। साधारणतः सांकेतिक सिक्कों की (जिनका वास्तविक अर्घ उनके द्राव्यिक अर्घ से कम होता है) सीमित ढलाई होती है। हमारे रुपये की सीमित-ढलाई है और राज्य को ही उसको ढलाने का अधिकार है। स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई में यह आवश्यक नहीं कि राज्य मुफ्त में सिक्के ढाल के दे। परन्तु जब मुद्रा-ढलाई मुफ्त होती है तो उसको **स्वतन्त्र और मुफ्त मुद्रा-ढलाई** (Free and Gratuitous Coinage) कहते हैं। ब्रिटेन में १९१४ के युद्ध के पहले स्वतन्त्र और मुफ्त मुद्रा-ढलाई थी। जब राज्य ढलाई का वास्तविक

व्यय मुद्रा ढलाने वाले से वसूल करता है तो इसको टाँका या **ढलाई-व्यय** (Brassage) कहते हैं। कभी कभी इसकी दर वास्तविक व्यय से बहुत थोड़ी अधिक रख दी जाती है, जिससे यदि व्यय में कुछ परिवर्त्तन हो तो ढलाई-व्यय स्थिर रहे। जब राज्य ढलाई व्यय की अपेक्षा कुछ रकम और वसूल करता है तो इस रकम को **ढलाई-लाभ** (Seigniorage) कहते हैं। उदाहरणतः यदि एक देश में स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई है और एक तोला चाँदी देकर एक तोले का सिक्का मुफ्त ढलवा सकते हैं तो उसे स्वतन्त्र और मुफ्त मुद्रा-ढलाई कहेंगे। यदि राज्य का एक सिक्का ढालने मे दो रत्ती चॉदी के मूल्य के बराबर व्यय होता है और वह एक तोला छः रत्ती चॉदी लेकर एक तोले का सिक्का ढाल कर देता है तो दो रत्ती चॉदी ढलाई-व्यय कहलायेगा और चार रत्ती चाँदी ढलाई-लाभ।

जब राज्य कानून द्वारा किसी सिक्के में धातु की तोल या शुद्धता घटा देता है तो उसको **निकृष्टता** (Debasement) कहते हैं। जैसे, भारत सरकार ने चाँदी की कमी और उसका मूल्य बढ़ने के कारण रुपये मे चॉदी की मात्रा $\frac{११}{१२}$ तोले से घटाकर $\frac{६}{१२}$ कर दी है। परन्तु जब लोग सिक्के के किनारे काट कर उसकी तौल घटा देते हैं तो उसको **कटाई** (Clipping) कहते है। इस प्रथा को रोकने के लिए आजकल **सिक्कों के किनारे किटकिटी-दार** (Milled Edges) होते है। जब सिक्कों का वजन तेजाब या अन्य तीव्र रसायन में डालकर कम कर दिया जाता है तो उसको **जलाई** (Sweating) कहते है। जलाई द्वारा सिक्कों में से कुछ वजन घटाकर धातु अलग निकाल ली जाती है और इस प्रकार लोग नफा उठाते है। जब सिक्कों को एक थैली इत्यादि में भरकर हिलाया जाता है तो उनके कुछ कण अलग हो जाते हैं और इस प्रथा को **घिसाई** (Abrasion) कहते है।

कागजी-द्रव्य (Paper Money) :—जब कागजी-द्रव्य धातु के सिक्कों में बदला जाना कानूनी रूप से अनिवार्य होता है तो उसको **परिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य** (Convertible Paper Money) कहते है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार होता है कि वह केन्द्रीय बैंक या टकसाल में जाकर कागजी-द्रव्य के बदले धातु के सिक्के प्राप्त कर सकता है। जब कागजी द्रव्य को धातु के सिक्कों में नहीं बदला जा सकता तो उसको **अपरिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य** (Inconvertible Paper Money) कहते है। भारतवर्ष मे रिजर्व बैंक के नोट परिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य हैं। परन्तु एक रुपये के नोट, जो भारत सरकार प्रचारित करती है, अपरिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य हैं। जब कागजी द्रव्य परिवर्त्तनशील होता है तब भी यह अनुभव किया गया है कि सारे नोट एक ही समय में सिक्कों में बदलने के लिए उपस्थित नही किये जाते हैं। इस कारण राज्य या केन्द्रीय

बैंक जिस मात्रा में नोटों का प्रचार करता है उतने ही द्रव्य के सिक्के अपने कोष में नहीं रखता, वरन् प्रचारित नोटों की मात्रा का एक भाग ही सिक्कों में रखा जाता है। प्रचारित नोटों की मात्रा के इस भाग को **रक्षित भाग** (Covered Issue) कहते हैं और बाकी भाग को **अरक्षित भाग** (Fiduciary Issue) कहते हैं। उदाहरणतः यदि राज्य सौ करोड़ रुपये के नोट प्रचारित करता है और उसके कोष में चालीस प्रतिशत सिक्के हैं तो चालीस करोड़ रक्षित भाग और साठ करोड़ अरक्षित भाग कहलायेगा। इस स्थिति में हम किसी एक विशेष नोट को रक्षित या अरक्षित नहीं कह सकते। जब कागजी-द्रव्य अपरिवर्त्तनशील होता है तो अधिक मात्रा में नोट प्रचलित करने का डर रहता है जिससे उनका अर्घ गिर जाता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा राज्य के पास वापस नहीं लौट सकती वरन् समाज में चलती रहेगी। यदि उसकी मात्रा व्यवस्थित हो तो उक्त डर नहीं रहता। यदि नोटों के प्रचार की संख्या सावधानी से व्यवस्थित की जाय तो कोष में सिक्के रखने की कुछ आवश्यकता नहीं; क्योंकि द्रव्य तो विनिमय का माध्यम है और इस कारण सबसे सस्ता माध्यम ही उपयोगी होगा। परन्तु एक दुर्बल सरकार को नोट छापने का अधिक लालच होता है क्योंकि इस प्रकार वह अपने राजस्व सम्बन्धी कष्ट का सामना कर सकती है।

कागजी-द्रव्य के लाभ व हानि :—कागजी-द्रव्य का निर्माण आर्थिक विज्ञान की उन्नति का चिह्न है। ऐसा द्रव्य वह सब कार्य कर सकता है जो धातु का द्रव्य कर सकता है; परन्तु धातु के द्रव्य की अपेक्षा यह बहुत सस्ता होता है। इसके बनाने का व्यय भी बहुत कम होता है। धातु का द्रव्य घिस जाता है, परन्तु कागजी-द्रव्य की घिसाई व टूट-फूट की लागत कुछ नहीं होती। यदि धातु का द्रव्य खो जाता है तो यह एक व्यक्तिगत हानि है और देश की भी हानि है क्योंकि देश में धातु की मात्रा उतनी कम हो गई। परन्तु यदि एक नोट खो जाय तो यह व्यक्तिगत हानि है परन्तु राज्य या केन्द्रीय बैंक का उतना ही लाभ होता है और इससे समाज या देश को कोई हानि नहीं होती है। जब धातु का प्रामाणिक द्रव्य चलन में होता ह तो देश में द्रव्य की मात्रा धातु की पूर्ति पर निर्भर होती है जो स्वयं उस देश की धातु खरीदने की शक्ति पर निर्भर होती है। यदि उस देश में ही उस धातु की खानें हैं तो उन खानों का उत्पादन लागत पर निर्भर होता है। परन्तु कागजी-द्रव्य की मात्रा सुगमता से बढ़ाई व घटाई जा सकती है और देश की आवश्यकता के अनुसार उसकी मात्रा व्यवस्थित की जा सकती है। परन्तु मात्रा बढ़ने की सुगमता ही एक हानि हो जाती

है जब कागजी-द्रव्य अधिक मात्रा में प्रचलित कर दिया जाता है। इससे द्रव्य का अर्घ घट जाता है और वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। कागजी-द्रव्य से यह भी लाभ है कि उसके प्रचलन से जो धातु की बचत होती है वह उद्योग-धन्धों के काम में लाई जा सकती है या उसका निर्यात करके विदेशी देशों से उत्पादन के साधन मँगाये जा सकते हैं जिससे देश के उत्पादन में वृद्धि होती है। इसी कारण केन्स (Keynes) ने सोने को द्रव्य के प्रयोग में लाने की प्रथा को एक असभ्य युग की निशानी कहा है। कागजी-द्रव्य बहुत सुविधाजनक होता है। वह वजन में हल्का होता है और सुविधा से रखा जा सकता है। उसको लेने, ले जाने या दूसरे स्थान पर भेजने या संचय करने में सुविधा रहती है। यदि प्रत्येक देश धातु के द्रव्य का ही चलन रखता तो आधुनिक काल में द्रव्य की माँग इतनी बढ़ गई है कि सारे संसार के धातु का स्टॉक दुनिया की द्रव्य की आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकता। इस कारण भी कागजी-द्रव्य का प्रयोग अनिवार्य हो गया है। कागजी-द्रव्य में यह कमी अवश्य होती है कि जब राज्य पर राजस्व सम्बन्धी या राजनैतिक संकट पड़ता है तो जनता का भरोसा कागजी नोटों पर से हट जाता है और लोग नोटों की अपेक्षा सिक्के या धातु इत्यादि इकट्ठे करने लगते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. किसी पदार्थ में उसे द्रव्य बनाने के लिए किन गुणों की आवश्यकता है ?

२. द्रव्य के लाभ समझाइये और द्रव्य के मुख्य कार्यों पर प्रकाश डालिये।

३. कागजी-द्रव्य से आप क्या समझते हैं ? कागजी-द्रव्य के लाभ और हानि समझाइये।

अध्याय २१

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law)

जब विलायत में एलिजाबेथ का राज्य था, तब उस मलका ने यह अनुभव किया कि वहाँ के सिक्के चलते-चलते घिस गये थे और कटाई, जलाई, गलाई इत्यादि के कारण उनका वजन कम हो गया था। हैनरी अष्टम के राज्य में मुद्रा निकृष्ट (debased) की गई थी। इस कारण एलिजाबेथ ने सर टॉमस ग्रेशम को मुद्रा सुधार के लिए नियुक्त किया। सर टॉमस ग्रेशम ने नये सिक्के चलाये परन्तु यह अनुभव किया कि नये सिक्के चलन से हट गये और केवल पुराने सिक्के ही चलन में रह गये। यह स्वाभाविक है कि आपके पास दो सिक्के या नोट हों तो पहले आप घिसा हुआ सिक्का या गन्दा नोट खर्च करेंगे। अच्छे और बुरे सिक्कों का द्राव्यिक मूल्य तो समान होता है परन्तु इनके वास्तविक मूल्य (जो धातु की तौल पर निर्भर होता है) विभिन्न होते हैं। इस कारण जब उन सिक्कों को द्रव्य के काम में लाया जाता है तो पहले बुरे सिक्के ही चलाये जायेंगे और प्रत्येक व्यक्ति अच्छे सिक्के ही जमा करेगा। इसी तरह यदि किसी व्यक्ति को विदेशी भुगतान करना है तो वह अच्छे सिक्के ही भेजेगा, क्योंकि विदेशी देशों में हमारे सिक्के द्राव्यिक मूल्य पर नहीं वरन् उनके वजन के अनुसार ही स्वीकृत किये जायेंगे। यदि उसे सिक्के गलाने हैं या उनका जेवर बनवाना है तो भी वह इन कार्यों के लिए अच्छे सिक्के ही काम में लायेगा। इन कारणों से चलन में केवल बुरे सिक्के ही रह जायेंगे। ग्रेशम का नियम सत्य है कि बुरे सिक्के अच्छे सिक्कों को चलन से हटा देते हैं। यह तभी होगा जब अच्छे और बुरे सिक्कों का द्राव्यिक मूल्य समान हो और बुरे सिक्के इतने खराब न हो जायँ कि वे कानूनी ग्राह्य न रहें। द्रव्य की मात्रा भी इतनी होनी चाहिए कि समाज की द्रव्य के चलन की आवश्यकता बुरे सिक्कों से ही पूरी हो जाय, अन्यथा अच्छे सिक्के भी चलन में रहेंगे यदि उनका द्राव्यिक मूल्य उनके वास्तविक मूल्य से अधिक हो। यह भी आवश्यक है कि अच्छे और बुरे सिक्के एक ही प्रकार के द्रव्य हों अर्थात् या तो दोनों प्रामाणिक द्रव्य हों या सांकेतिक। यदि अच्छे सिक्के सांकेतिक द्रव्य हैं और बुरे सिक्के प्रामाणिक द्रव्य हैं तो उस स्थिति में अच्छे सिक्के चलन में रहेंगे। अच्छे सिक्के

जो सांकेतिक द्रव्य है, वह गलाये नहीं जायेंगे और यदि किसी व्यक्ति को उन सिक्कों का ही संचय करना है तो वह उनमें से अच्छे सिक्कों का ही संचय करेगा।

ग्रेशम ने अपना नियम एक धातु के सिक्कों के चलन की स्थिति में अनुभव किया; परन्तु यह नियम तब ही लागू होता है जब दो धातु के सिक्के होते हैं और दोनों प्रामाणिक सिक्के होते हैं और असीमित-क़ानूनी ग्राह्य भी हों। इस दशा में कोई भी व्यक्ति दोनों धातु टकसाल में ले जा सकता है और उसके सिक्के ढलवा सकता है। अर्थात् दोनों सिक्कों की ढलाई के लिए टकसाल खुली होती है। इन दो सिक्कों का आपसी मूल्य कानून द्वारा नियन्त्रित होता है। परन्तु धातु का मूल्य बाजार में परिवर्तन होता रहता है। इस कारण जब भी उन दो सिक्कों के पारस्परिक कानूनी व बाजारी मूल्य में अन्तर होगा तो ग्रेशम का नियम लागू हो जायगा और चलन में सिक्के उसी धातु के रह जायेंगे जिसका कानूनी मूल्य अधिक है और बाजार-मूल्य कम है। उदाहरणतः मान लीजिये एक देश में सोने और चाँदी के दो सिक्के हैं और कानून द्वारा एक सोने का सिक्का =१५ चाँदी के सिक्के। अब यदि बाजार में चाँदी का भाव गिर जाता है (अर्थात् सोने का भाव बढ़ जाता है) तो मान लीजिये कि बाजार में एक सोने के सिक्के के वजन से १६ चाँदी के सिक्कों के वजन के बराबर चाँदी मिल सकती है अर्थात् एक सोने का सिक्का=१६ चाँदी के सिक्के। इस स्थिति में सोने के सिक्के का बाजार-मूल्य द्राव्यिक मूल्य से अधिक है। इस कारण लोग सोने का सिक्का बाजार में बेचेंगे। उसकी चाँदी मोल लेकर (जो १६ चाँदी के सिक्कों के बराबर होगी) सरकार को देकर सोने के सिक्के लेंगे; क्योंकि इस चाँदी से उनको १$\frac{१}{१५}$ सोने के सिक्के मिलेंगे। इसी तरह यदि उनको सिक्के गलाने हैं तो वे सोने के सिक्के ही गलायेंगे, उन्हीं का संचय करेंगे और उन्हीं को विदेशी भुगतान के काम में लायेंगे; क्योंकि सोने के सिक्के के द्राव्यिक मूल्य में ह्रास हुआ है और उसके वास्तविक मूल्य में वृद्धि। दूसरी ओर चाँदी के सिक्के का वास्तविक मूल्य घट गया है और उसका द्राव्यिक मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक है। इस कारण चाँदी के सिक्के ही चलन में रह जायेंगे और सोने के सिक्के चलन से हट जायेंगे।

यदि प्रत्येक देश में इन दोनों धातुओं का चलन हो तो प्रत्येक देश में सिक्के बनाने के लिए चाँदी की माँग काफी बढ़ जायेगी और बाजार में सोने के सिक्के गलाने के कारण सोने की पूर्ति में भी काफी वृद्धि हो जायेगी। इन दोनों कारणों से चाँदी के मूल्य में वृद्धि और सोने के मूल्य में ह्रास होगा। यह प्रवृत्ति तब तक जारी रहेगी जब तक सोने और चाँदी

का द्राव्यिक और वास्तविक मूल्य समान न हो जाय। इसको क्षति-पूर्ति का नियम कहते हैं। परन्तु जब एक ही देश में दो धातु के सिक्के होते हैं तो उक्त लिखित उदाहरण के अनुसार उस देश से सोना बाहर भेजा जायेगा और चाँदी बाहर से मँगाई जायेगी। एक देश की सोने की पूर्ति और चाँदी की माँग सारे दुनिया की पूर्ति और माँग का छोटा-सा अंश होता है। इस कारण सोने चाँदी के धातु के मूल्य पर एक देश की माँग और पूर्ति का कम प्रभाव पड़ता है और इसीसे **क्षति-पूर्ति का नियम** (Law of Compensatory Action) लागू नहीं होता।

ग्रेशम का नियम तब ही लागू होता है जब एक देश में धातु के सिक्के और अपरिवर्त्तनशील कागजी नोट भी चालू होते हैं। उस स्थिति में यदि कागजी नोट वास्तविक आवश्यकता से अधिक मात्रा में प्रसारित कर दिये जाते हैं तो उनका अर्घ घटने लगता है जिससे वह बुरा द्रव्य हो जाता है और जनता धातु के सिक्कों का संचय करने लगती है। इससे धातु के सिक्के (जो अच्छा द्रव्य है) चलन में से हट जाते हैं और केवल अपरिवर्त्तनशील कागजी नोट ही चलन में रह जाते हैं। यदि धातु के सिक्के सांकेतिक सिक्के हैं तो हो सकता है वह भी चलन में रहें; परन्तु जब किसी व्यक्ति को द्रव्य का संचय करना है तो वह नोटों की अपेक्षा सिक्कों का ही संचय करेगा। यदि नोटों का अर्घ इतना नहीं गिरा है कि उन पर से जनता का विश्वास घट गया हो तो यह सम्भव है कि सुविधा के कारण लोग नोटों का भी संचय करें।

अभ्यास के प्रश्न

१. ग्रेशम के नियम का कथन कीजिये और उसे उदाहरण सहित समझाइये तथा इसकी सीमाओं का वर्णन कीजिये।
२. ग्रेशम के नियम के विभिन्न स्वरूपों को समझाइये।

अध्याय २२

द्रव्य के मान

एकधातु चलन (Monometallism) :—जब किसी देश में एक ही धातु के प्रामाणिक सिक्के बनते हैं जो असीमित मात्रा में कानूनी ग्राह्य होते हैं और उनकी ढलाई स्वतन्त्र होती है तो उस देश में एक धातु का चलन होता है। राज्य या केन्द्रीय बैंक धातु के बदले सिक्के या सिक्कों के बदले धातु स्वतन्त्रतापूर्वक देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह धातु देकर सिक्के ले सकता है या सिक्के देकर राज्य से धातु प्राप्त कर सकता है। उस देश में कागजी-द्रव्य का चलन भी हो सकता है परन्तु यह प्रामाणिक सिक्कों में परिवर्त्तन-शील होता है। सस्ती धातुओं के सांकेतिक सिक्के भी होते हैं जो एक सीमित मात्रा में ही कानूनी ग्राह्य होते हैं। कागजी-द्रव्य या सांकेतिक सिक्के या अन्य मुद्राओं की विनिमय-शक्ति प्रामाणिक सिक्कों में ही नापी जाती है। जब प्रामाणिक सिक्कों की धातु चाँदी होती है तो उस देश के चलन को रजत-मान (Silver Standard) कहते हैं। भारतवर्ष और चीन में १९ वीं शताब्दी में रजत-मान ही था। जब प्रामाणिक सिक्कों की धातु सोना होती है तो उस देश के चलन को स्वर्ण-मान (Gold Standard) कहते हैं। १९ वीं शताब्दी में यूरोप और अमरीका के अन्य देशों में स्वर्णमान था।

द्विधातु चलन (Bimetallism) :— जब किसी देश में प्रामाणिक सिक्के बनाने के लिए दो धातुएँ काम में ली जाती हैं और दोनों धातुओं के सिक्कों की स्वतन्त्र ढलाई होती है और दोनों ही धातुओं के सिक्के असीमित मात्रा में कानूनी ग्राह्य होते हैं तो उस देश में द्विधातु चलन होता है। इन दोनों धातुओं के सिक्कों का पारस्परिक सम्बन्ध कानून द्वारा निश्चित किया जाता है। अर्थात् एक धातु के सिक्कों के बदले में दूसरी धातु के सिक्के एक स्थिर और निश्चित दर पर राज्य या केन्द्रीय बैंक से प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। साधारणतः ये दो धातुएँ सोना और चाँदी होती हैं। इन दो धातुओं के सिक्कों का पारस्परिक सम्बन्ध कानून द्वारा निश्चित किया जाता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन दो धातुओं के बाजार-मूल्य का सम्बन्ध

कानूनी सम्बन्ध के बराबर ही हो। हो सकता है कि अनेक बार यह सम्बन्ध विभिन्न हों; क्योंकि सिक्कों का पारस्परिक सम्बन्ध तो कानून द्वारा निश्चित होता है और धातुओं का मूल्य संसार की माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है। यदि एक सोने के सिक्के का मूल्य १५ चाँदी के सिक्कों के बराबर कानून के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है तो हो सकता है कि बाजार में सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य से पन्द्रह गुने से ज्यादा या कम हो। जब बाजार में सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य से १५ गुने से कम है तो सोने के सिक्के का द्राव्यिक मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक है। इस कारण ग्रेशम के नियम* के अनुसार सोने के सिक्के (जो खराब मुद्रा है क्योंकि उसका वास्तविक मूल्य कम है) ही चलन में रह जायेंगे और चाँदी के सिक्के चलन से हट जायेंगे। इसी प्रकार जब बाजार में सोने का मूल्य चाँदी के मूल्य से १५ गुने से अधिक है अर्थात् एक तोला सोना = १६ तोले चाँदी, तो सोने के सिक्के का द्राव्यिक मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से कम है और चाँदी के सिक्कों का द्राव्यिक मूल्य उनके वास्तविक मूल्य से अधिक है। इस कारण ग्रेशम के नियम के अनुसार केवल चाँदी के सिक्के ही चलन में रह जायेंगे। सारांश यह है कि उस देश में द्विधातु चलन तभी होगा जब उन दो धातुओं के सिक्कों का कानूनी सम्बन्ध उनके बाजार मूल्य के बराबर हो, अन्यथा उस देश में कभी केवल स्वर्ण-मान होगा और कभी केवल रजत-मान। फ्रान्स में द्विधातु मान १८०३ से १८७० तक था। परन्तु व्यवहार में लगभग ५० वर्ष तक रजत-मान रहा और उसके बाद स्वर्ण-मान।

१९ वीं शताब्दी के अन्त में **अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मान** (International Bimetallism) स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किये गये परन्तु वे असफल रहे। जैसा कि हम पहले बतला चुके है यदि द्विधातु मान प्रत्येक देश में स्थापित कर दिया जाय तो क्षति-पूर्ति के नियम के अनुसार ग्रेशम का नियम स्थगित हो जाता है।

जब दोनों धातुओं के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते है, परन्तु एक ही धातु (जो साधारणतः सोना होता है) की स्वतन्त्र ढलाई होती है तो उसे **वैकल्पिक मान** (Limping Standard) कहते हैं।

जब दो धातुओं से अधिक के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते है तो उसे **अनेक धातु मान** (Symmetallism) कहते हैं। ऐसे मान से यह लाभ होता है कि विनिमय के माध्यम की कमी नही होती। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी सुविधा मिलती है, क्योंकि प्रत्येक देश से चाहे वह स्वर्ण

---

* पृष्ठ २०८ देखिये

या रजत-मान पर हो अपने और उस देश के सिक्कों में विनिमय-शक्ति स्थापित की जा सकती है। यह मान एकधातु मान से अधिक स्थिर हो सकता है, क्योंकि सोने और चाँदी का स्टॉक और उत्पादन कम होने से उनके मूल्य में अधिक परिवर्त्तन हो सकता है और उनसे प्रत्येक देशों की द्राव्यिक आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती। परन्तु जब कई धातुएँ द्रव्य के काम आती हैं तो कुल धातुओं की पूर्ति अधिक हो जाती है। ऐसे मान की सफलता की संभावना तभी हो सकती है जब यह प्रत्येक देश में अपनाया जाय; अन्यथा ग्रेशम का नियम लागू होने से यह बदलता हुआ मान हो जायेगा।

कागजी मान (Paper Standard) :—जो देश इस मान को अपनाते हैं उन देशों में कागजी नोट असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। इन नोटों को राज्य या केन्द्रीय बैंक ही प्रसारित कर सकते हैं। यह नोट सोने, चाँदी या अन्य धातु में बदले नहीं जा सकते; परन्तु इनके बदले में केवल सांकेतिक सिक्के ही प्राप्त किये जा सकते हैं। ऐसे मान में यह शंका रहती है कि नोटों की मात्रा बढ़ने से उनकी विनिमय-शक्ति गिर जाती है और जनता का उस पर से विश्वास हटने लगता है। जब देश में किसी धातु का मान होता है तो राज्य को मुद्रा की मात्रा बढ़ाने के लिए उस धातु को प्राप्त करना पड़ता है और यह आवश्यकता मुद्रा की वृद्धि पर नियन्त्रण रखती है। यदि द्रव्य की मात्रा बहुत बढ़ भी जाती है तो द्रव्य राज्य के पास लौट जाता है और लोग धातु ले लेते हैं जिससे द्रव्य का अर्घ नहीं गिरता। कागजी मान में राज्य का उत्तर-दायित्व बढ़ जाता है। इस कारण राज्य को नोट प्रचारित करने की संख्या पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य हो जाता है। यदि यह नियन्त्रण वैज्ञानिक आधार पर किया जाय तो कागजी मान अन्य मानों से सस्ता और सुगम होता है। इस मान में द्रव्य का अर्घ अधिक स्थिर रह सकता है, क्योंकि धातुओं के मान के समान वह धातुओं की माँग व पूर्ति पर निर्भर नहीं रहता। कागजी मान में द्रव्य का चलन देश की आवश्यकता के अनुसार सुगमता से बढ़ाया और घटाया जा सकता है।

स्वर्ण-मान

(Gold Standard)

जब किसी देश में सोने के सिक्कों का चलन होता है और सोने के सिक्कों की ढलाई पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है होतीतो उस देश में **स्वर्ण-मुद्रा-**

मान (Gold Currency Standard) होता है। इस मान के अनुसार सोने के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। कोई भी व्यक्ति सोना ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता है और सिक्के देकर टकसाल या केन्द्रीय बैंक से सोना प्राप्त कर सकता है। सोने के सिक्के प्रामाणिक द्रव्य होते हैं। सोने और इन सिक्कों के आयात-निर्यात पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। स्वर्ण-मुद्रा-मान में देश के अन्दर सोने के सिक्के वास्तव में चलन में होते हैं।

प्रथम महायुद्ध के उपरांत एक नये प्रकार के स्वर्ण-मान का निर्माण हुआ जिसके अन्तर्गत सोने के सिक्के चलन में नहीं होते, परन्तु कागजी नोट व अन्य मुद्रा सोने के पाटों (Gold Bullion) में परिवर्त्तित की जा सकती है। अर्थात् सोना विनिमय का माध्यम तो नहीं रहता परन्तु द्रव्य की विनिमय-शक्ति का नाप सोने में ही होता है। राज्य या केन्द्रीय बैंक एक निश्चित दर पर सोना खरीदते और बेचते हैं जिस कारण सोने का कोष रखना आवश्यक होता है। जब इंगलैण्ड ने स्वर्ण-मान प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १९२५ में अपनाया तो उसने यह नवीन प्रकार का स्वर्ण-मान (जिसको **स्वर्ण-पाट-मान** Gold Bullion Standard कहते हैं) ही स्वीकार किया। भारतवर्ष में भी स्वर्ण-पाट-मान १९२७ में अपनाया गया। इसके अन्तर्गत आन्तरिक और बाह्य कार्यों के लिए राज्य कम से कम एक हजार तोले की मात्रा में सोना बेचता था। सोने के आयात-निर्यात पर कोई रोक नहीं होती। इस मान के अन्तर्गत केवल कागजी नोट और सांकेतिक सिक्के चलन में रहते हैं। इस कारण सोने के सिक्कों की ढलाई और उनके घिसने का व्यय बच जाता है। सोने की धातु की बचत भी हो जाती है क्योंकि देश में सोने के सिक्कों का चलन नहीं होता। इसी कारण हिल्टन यंग कमीशन (जिसकी सम्मति के अनुसार भारतवर्ष में यह मान अपनाया गया) ने यह दावा किया कि इस मान में स्वर्ण-मुद्रा-मान के सब गुण हैं और साथ ही साथ उससे सस्ता भी है।

स्वर्णमान के एक और नये रूप का निर्माण भी लगभग २५ वर्ष पूर्व हुआ, जिससे सोने का व्यवहार और भी कम हो गया। इस रूप को स्वर्ण-विनिमय-मान कहते हैं। इस मान के अन्तर्गत देश के चलन की मुद्रा किसी सस्ती धातु, जैसे चाँदी, की होती है। देश में कागजी नोटों का भी चलन होता है जो इस सस्ती धातु के सिक्कों में ही परिवर्त्तित हो सकते हैं। जहाँ तक देश के निवासियों का सम्बन्ध है उनके लिए यह सस्ती धातु का सिक्का ही मुख्य सिक्का होता है; परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए यह सिक्के सोने में (या ऐसी मुद्रा में जो सोने में परिवर्तित हो

सकती हैं) परिवर्तित हो सकते हैं। अर्थात् विदेशों को उनका ऋण चुकाने या माल के दाम देने के लिए सोना एक निश्चित दर पर दिया जाता है। अर्थात् केवल विदेशी विनिमय के लिए ही स्वर्ण मिल सकता है और इसी कारण इस मान को **स्वर्ण-विनिमय-मान** (Gold Exchange Standard) कहते हैं। इस मान के अन्तर्गत सोने का कोष विदेशी लेन-देन के लिए रखना होता है। यह कोष या तो देश में ही हो सकता है या सुगमता के लिए दूसरे देश में रखा जाता है क्योंकि वहीं भुगतान के लिए सोने की आवश्यकता होती है। देश के अन्दर सस्ती धातु के सिक्कों का कोष रखना होता है क्योंकि कागजी नोट उसी में परिणत किये जा सकते हैं। इस मान के अनुसार राज्य या केन्द्रीय बैंक को सोने या आन्तरिक मुद्रा (Internal currency) को विदेशी सिक्कों (Foreign currency) में कानून के अन्तर्गत परिणत करना पड़ता है। साथ ही साथ कानून के अन्तर्गत ही विदेशी सिक्के आन्तरिक मुद्रा में परिणत करने पड़ते हैं। इस मान में आन्तरिक मुद्रा का सोने से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु परोक्ष सम्बन्ध होता है। भारतवर्ष में स्वर्ण-विनिमय-मान १९०७ में अपनाया गया। इस मान के अन्तर्गत आन्तरिक मुद्रा की बाह्य विनिमय-शक्ति अधिक स्थिर रहती है। परन्तु हमारे देश के लिए जहाँ अन्तर्देशीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कई गुना अधिक है द्रव्य की विनिमय-शक्ति की आन्तरिक स्थिरता अधिक महत्वपूर्ण है।

स्वर्णमान में निम्नलिखित गुण बताये जाते है :—

(१) इस मान के अन्तर्गत द्रव्य की मात्रा आप से आप घट-बढ़ जाती है और राज्य की नीति पर निर्भर नहीं रहती। द्रव्य का चलन बढ़ने से उसका द्राव्यिक मूल्य गिरने लगता है। इस कारण लोग द्रव्य ले जाकर सोना ले लेते हैं जिससे द्रव्य की मात्रा घट जाती है। जब द्रव्य की मात्रा कम होती है तो उसका द्राव्यिक मूल्य बढ़ जाता है जिससे लोग सोना ले जाकर सिक्के बनवा लेते हैं और द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है।

(२) मुद्रा की विनिमय-शक्ति अधिक समय तक स्थिर रहती है ; क्योंकि उसके चलन पर सरकार की ओर से कोई नियन्त्रण नहीं होता और वह सोने के मूल्य पर ही निर्भर रहती है।

(३) देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय-शक्ति स्थिर होती है, जिससे विदेशी और देशी सिक्कों के मूल्य में स्थिर सम्बन्ध होता है। सोने के स्वतन्त्र आयात-निर्यात के कारण उक्त सम्बन्ध स्थिर रहता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अधिक लाभ पहुँचता है; क्योंकि आयात-निर्यात की वस्तुओं का मूल्य, देशी-विदेशी सिक्कों के परिवर्तित सम्बन्ध के अन्तर्गत

जिस प्रकार बदल सकता है, स्वर्ण-मान में इसके कारण उनके मूल्यों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

(४) विदेशी भुगतान का अन्तर (Balance of Payments) आपसे आप व्यवस्थित हो जाता है। यदि यह अन्तर देश के प्रतिकूल है तो देश से सोने का निर्यात होगा, जिससे देश में मुद्रा की मात्रा घट जायेगी और वस्तुओं के मूल्य गिर जायेंगे। ऐसा होने से वस्तुओं का निर्यात बढ़ जायेगा और आयात घट जायेगा, जिससे विदेशी भुगतान का अन्तर प्रतिकूल नहीं रहेगा। यदि विदेशी भुगतान का अन्तर अनुकूल है तो सोने का आयात होगा जिससे मुद्रा की मात्रा बढ़ेगी और देश के अन्दर वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ेंगे। इससे निर्यात कम होगा और आयात अधिक होगा और विदेशी भुगतान का अन्तर अनुकूल नहीं रहेगा।

(५) इस मान से जनता में विश्वास होता है और राष्ट्रीय गौरव बढ़ता है।

(६) व्यवहार, प्रबन्ध और समझने में यह सरल है।

स्वर्णमान के निम्नलिखित अवगुण हैं :—

(१) यह बहुत महँगा मान है और इसकी लागत व्यर्थ है। समाज को एक विनिमय का माध्यम चाहिए। स्वर्ण जैसे महँगे माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं। यदि सोने के सिक्के चलन में न हों तो भी सोना कोष में बेकार रखना पड़ता है।

(२) यह अनुभव किया गया है कि सोने का मूल्य भी बहुत समय तक बिल्कुल स्थिर नहीं रहता। वह भी घटता-बढ़ता रहता है। इस कारण मुद्रा की विनिमय-शक्ति भी स्थिर नहीं रहती।

(३) मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की पूर्ति पर निर्भर होती है। इस कारण व्यापार की आवश्यकता के अनुसार बढ़ाई नहीं जा सकती। योजना के अनुसार प्रसारित होती हुई आर्थिक व्यवस्था (Planned expansionist Economy) के लिए बढ़ती हुई मुद्रा की आवश्यकता होती है; परन्तु यह स्वर्णमान के अन्तर्गत सम्भव नहीं।

(४) इस मान के अन्तर्गत द्रव्य की विनिमय-शक्ति की बाह्य स्थिरता को आन्तरिक स्थिरता की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। यह ऐसे देशों के लिए, जिनका अन्तर्देशीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत अधिक होता है, हानिकारक है।

(५) जो देश इस मान को अपनाता है वह स्वतन्त्र द्राव्यिक नीति (Independent Monetary Policy) पर नहीं चल सकता।

(६) आजकल संसार का अधिकतम सोने का स्टॉक अमरीका के

संयुक्त राष्ट्र (U.S.A.) के पास है। इस कारण दूसरे देश जहाँ सोने का अकाल है इस मान को नहीं अपना सकते ।

२१ सितम्बर सन् १९३१ को ब्रिटेन ने स्वर्णमान छोड़ कर कागजी-मान अपनाया। भारतवर्ष भी ब्रिटेन के कदमों पर चला और स्वर्णमान का इस देश से त्याग हुआ। उसके उपरान्त देश के अन्दर चाँदी के रुपयों और कागज के नोटों का ही चलन रहा। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान और व्यापार के लिए स्टर्लिंग (अर्थात् विलायती पौंड जो स्वर्ण में परिणत नहीं हो सकता था) मिल सकता था। कानून के अन्तर्गत भारत सरकार (और रिजर्व बैंक की स्थापना होने के बाद वह बैंक) स्टर्लिंग एक रुपया=१ शिलिंग ६ पेन्स की दर से खरीदती और बेचती थी। स्टर्लिंग खरीदने और बेचने की दर साधारणतः उक्त दर से कुछ अधिक या कम होती थी। इस मान को **स्टर्लिंग-विनिमय-मान** कहते हैं। यदि स्टर्लिंग की अपेक्षा देश की मुद्रा डौलर में परिणत की जा सकती हो तो उसको **डौलर-विनिमय-मान** (Dollar Exchange Standard) कहते हैं। यह मान भी सस्ता मान है और यदि उचित प्रबन्ध किया जाय तो मुद्रा का अर्घ स्थिर रह सकता है। परन्तु इस मान के अन्तर्गत भी मुद्रा की विदेशी विनिमय-शक्ति के स्थिर रखने के कारण आन्तरिक विनिमय-शक्ति का बलिदान करना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत स्टर्लिंग दूसरी विदेशी मुद्राएँ, विशेषकर डौलर, में स्वतन्त्र रूप से परिणत नहीं हो सकता है। इस कारण स्टर्लिंग-विनिमय-मान के अन्तर्गत डौलर अपनाने वाले देशों को भुगतान करने में कठिनाइयाँ पड़ती हैं। यह अड़चन डौलर-विनिमय-मान में नहीं पड़ती; क्योंकि जब किसी देश का कोष डौलर में है तो आजकल वह लगभग प्रत्येक देश की मुद्रा डौलर देकर खरीद सकता है।

हम अध्याय में बतलायेंगे कि वर्तमान मुद्रा-प्रसार में स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) का विशेष हाथ है।

अभ्यास के प्रश्न

१. स्वर्ण-मान से आप क्या समझते हैं? उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालिये।
२. स्वर्णमान के गुण और अवगुणों का वर्णन कीजिये।
३. स्वर्ण-मुद्रा-मान, स्वर्ण-पाट-मान, स्वर्ण-विनिमय-मान का अन्तर स्पष्ट रूप से समझाइये। इनमें से कौन-सा मान अधिक श्रेष्ठ है?
४. "स्वर्ण असभ्य युग का निशान है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

अध्याय २३

द्रव्य का अर्घ और द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

(Value of Money & Quantity Theory of Money)

किसी वस्तु का अर्घ हम दूसरी वस्तु में नापते हैं। जब उसका अर्घ द्रव्य में नापते हैं तो उसको मूल्य कहते हैं। इसी प्रकार द्रव्य का अर्घ हम वस्तुओं और सेवाओं में नाप सकते हैं। 'द्रव्य का अर्घ' से तात्पर्य वस्तुओं व सेवाओं की उस मात्रा से होता है जो द्रव्य द्वारा खरीदी जा सकती हैं। यही द्रव्य की क्रयशक्ति (Purchasing Power) कहलाती है। यदि एक रुपये से ढाई सेर गेहूँ, सवा सेर चावल या दो गज कपड़ा खरीदा जा सकता है तो एक रुपये का अर्घ इन वस्तुओं के बराबर हुआ। द्रव्य से अनेक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। इस कारण द्रव्य का अर्घ साधारणतः वस्तुओं के प्रतिनिधि-संयोग* में नापा जाता है। वस्तुओं के प्रतिनिधि-संयोग से हमारा तात्पर्य वस्तुओं और सेवाओं के उस जुटाव से है जो कुल वस्तुओं और सेवाओं को प्रतिनिधित्व करता हो। वस्तुओं के प्रतिनिधि-संयोग की एक इकाई का अर्घ जब द्रव्य में नापा जाता है तो उसको सामान्य मूल्य का स्तर (General Price Level) कहते हैं। यदि द्रव्य का अर्घ बढ़ जाता है अर्थात् द्रव्य की एक इकाई से अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं तो सामान्य मूल्य का स्तर घट जाता है और जब वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं तो सामान्य मूल्य का स्तर भी बढ़ जाता है जिससे द्रव्य का अर्घ घट जाता है; क्योंकि द्रव्य की एक इकाई से अब कम वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। सारांश यह है कि द्रव्य के अर्घ और सामान्य मूल्य के स्तर में विपरीत सम्बन्ध है। सामान्य मूल्य का स्तर एक काल्पनिक विचार है; क्योंकि यह एक विशेष वस्तु या सेवा से सम्बन्धित नहीं होता है वरन् इसमें वे वस्तुएँ और सेवाएँ सम्मिलित होती हैं जो उस देश या वर्ग के लिए प्रतिनिधि कही जा सकें। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति इसमें से समस्त वस्तुएँ

---

* इसमें विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की इकाइयाँ विभिन्न मात्रा में सम्मिलित होती हैं। किन वस्तुओं और सेवाओं को इसमें सम्मिलित किया जाय यह उस देश, समाज या वर्ग के उपयोग की रुचि, उत्पादन इत्यादि पर निर्भर होता है।

नहीं खरीदता है और यदि खरीदता भी है तो विभिन्न मात्रा में। वह इस प्रतिनिधि-संयोग के अतिरिक्त भी अनेक वस्तुएँ खरीदता है इस कारण उसकी आय या व्यय के अर्घ का ठीक ठीक अनुमान इस प्रतिनिधि-संयोग के मूल्य से ही नहीं लगाया जा सकता है; परन्तु उसकी आय या व्यय (या द्रव्य के अर्घ) का यह एक अनुमानित माप है।

द्रव्य का अर्घ घटता-बढ़ता रहता है और वह उसकी क्रयशक्ति पर ही निर्भर है। जब द्रव्य का अर्घ बढ़ जाता है अर्थात् द्रव्य से वस्तुएँ अधिक मात्रा में खरीदी जा सकती हैं तो उसे द्रव्य के अर्घ में वृद्धि (Appreciation) कहते हैं। जब द्रव्य का अर्घ घट जाता है अर्थात् द्रव्य से वस्तुएँ कम मात्रा में खरीदी जा सकती हैं तो उसे द्रव्य के अर्घ में ह्रास (Depreciation) कहते हैं।

एक निश्चित समय अन्य वस्तुओं के समान द्रव्य का अर्घ भी माँग और पूर्ति की शक्तियों पर निर्भर होता है। द्रव्य की माँग उसके कार्य करने पर निर्भर है। द्रव्य का यह कार्य है कि उसके द्वारा वस्तुएँ खरीदी व बेची जाँय। जब एक व्यक्ति वस्तु बेचता है तो वह द्रव्य की माँग करता है और वस्तु की पूर्ति। इस कारण द्रव्य की माँग वस्तुओं के क्रय और विनिमय पर निर्भर है। यदि अधिक वस्तुएँ बेचनी हैं तो द्रव्य की माँग भी अधिक होगी। द्रव्य की पूर्ति द्रव्य के चलन की मात्रा पर निर्भर है। इस प्रकार एक ओर वस्तुएँ और सेवाएँ हैं जिनका क्रय करने के लिए लोगों को द्रव्य की आवश्यकता है। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास द्रव्य है जिसका विनिमय वे वस्तुओं या सेवाओं से करना चाहते हैं। यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक विनिमय कार्य द्रव्य द्वारा ही होता है, प्रत्येक सिक्का एक ही बार चलता है, प्रत्येक विनिमय की गई वस्तुएँ और सेवाओं के मूल्य समान हैं और प्रत्येक वस्तु का विनिमय एक ही बार होता है तो यह स्पष्ट है कि वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्राओं का विनिमय द्रव्य की कुल मात्रा से होगा। जैसे, यदि दस हजार वस्तुओं का क्रय होता है और चलन में पचास हजार रुपये हैं तो इन वस्तुओं का विनिमय द्रव्य की इस मात्रा से होगा। अर्थात् दस हजार बस्तुएँ पचास हजार रुपये में खरीदी या बेची जायेंगी। इस स्थिति में एक वस्तु का मूल्य,

$$= \frac{\text{द्रव्य की मात्रा}}{\text{वस्तुओं की इकाइयाँ}}$$

$$= \frac{\text{५०००० रुपये}}{\text{१००००}}$$

$$= \text{५ रुपये}$$

और एक रुपये का अर्घ $= \frac{१}{५}$ वस्तु।

यदि द्रव्य की मात्रा बढ़ कर साठ हजार रुपये हो जाती है तो एक वस्तु का मूल्य ६ रुपये होगा और रुपये का अर्घ घटकर $\frac{1}{6}$ वस्तु रह जायेगा और जब द्रव्य की मात्रा घटकर चालीस हजार रुपये रह जाती है तो एक वस्तु का मूल्य चार रुपये होगा और एक रुपये का अर्घ बढ़कर $\frac{1}{4}$ वस्तु हो जायेगा। सारांश यह है कि यदि द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है तो उसका अर्घ घट जाता है और यदि द्रव्य की मात्रा घट जाती है तो द्रव्य का अर्घ बढ़ जाता है। अर्थात् द्रव्य का अर्घ उसकी चलन की मात्रा पर निर्भर है और इसी कारण इस सिद्धान्त को द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) कहते हैं। उक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि यदि द्रव्य की मात्रा स्थिर रहे और वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाय तो, वस्तुओं के मूल्य घट जायेंगे और द्रव्य का अर्घ बढ़ जायेगा। इसी प्रकार जब वस्तुओं की मात्रा घट जायेगी तो वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायेंगे और द्रव्य का अर्घ घट जायेगा।

व्यावहारिक जीवन में कुछ वस्तुएँ द्रव्य से खरीदी जाती हैं और कुछ वस्तुएँ उधार। इस कारण द्रव्य की पूर्ति में द्रव्य के चलन की मात्रा के अतिरिक्त साख (Credit) की मात्रा भी सम्मिलित करनी चाहिए; क्योंकि जो व्यक्ति वस्तु का मूल्य साख में देता है वह भी द्रव्य की पूर्ति करता है। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कुछ द्रव्य चलन के काम में आता है और कुछ द्रव्य लोग जमा करते हैं। इस कारण द्रव्य की पूर्ति में केवल उस द्रव्य का ही अनुमान लगाना चाहिए जो वास्तव में वस्तुओं के क्रय के काम में लाया जाय। कुछ द्रव्य कई बार प्रयोग में लाया जाता है, जैसे एक रुपया एक ही दिन में पाँच, सात बार काम में आ जाता है। उदाहरणतः मैं एक रुपये के गेहूँ खरीदता हूँ, गेहूँ बेचने वाला उसी रुपये से कपड़ा खरीदता है, कपड़ा बेचने वाला उसी रुपये से फल खरीदता है, फल बेचने वाला उसी रुपये से दूध खरीदता है इत्यादि। अर्थात् यह रुपया, उस समय में जब दूसरे रुपये एक बार चलन में आते हैं, चार बार चलन में आने के कारण चार रुपयों का काम करता है। इस कारण इस रुपये को एक रुपया न गिनकर चार रुपये के बराबर गिनना चाहिए। अर्थात् द्रव्य की प्रभावपूर्ण मात्रा का अनुमान लगाने के लिए हमें केवल द्रव्य और साख की उस मात्रा (जो वास्तव में चलन में हैं) के अतिरिक्त यह भी अनुमान लगाना चाहिए कि वह द्रव्य या साख किस वेग के साथ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाता है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि यदि एक निश्चित समय में एक वस्तु चार बार खरीदी और बेची जाती है तो वह चार वस्तुओं का कार्य करती है।

इस कारण हमें वस्तुओं के इस वेग को भी ध्यान में रखना चाहिए और उन वस्तुओं का, जिनका संचय किया जाता है और क्रय-विक्रय के काम में नहीं आती हैं, अनुमान नहीं लगाना चाहिए। उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए प्रो० इर्विंग फिशर (Irving Fisher) ने द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त को निम्न सूत्र में समझाया है :—

$$मू = \frac{(द \times वे) + (द' \times वे^1)}{व \times वे^2}$$

इस सूत्र में मू = मूल्यों के स्तर।

द = चलन में आनेवाले द्रव्य का परिमाण।

वे = द्रव्य के चलन का वेग (Velocity of circulation of money)

द' = चलन में आनेवाले साख द्रव्य का परिमाण।

$वे^1$ = साख द्रव्य के चलन का वेग।

व = क्रय-विक्रय की गई वस्तुओं की संख्या।

$वे^2$ = वस्तुओं के चलन का वेग।

(१) उक्त सूत्र से स्पष्ट है यदि व या $वे^2$ की मात्रा बढ़ती है तो मूल्य गिर जायेंगे और द्रव्य का अर्घ बढ़ जायेगा।

(२) यदि व या $वे^2$ की मात्रा घट जाती है तो मूल्य बढ़ जायेंगे और द्रव्य का अर्घ घट जायेगा।

(३) यदि द, वे, द' या $वे^1$ की मात्रा बढ़ती है तो मूल्य बढ जायेंगे और द्रव्य का अर्घ घट जायेगा।

(४) यदि द, वे, द' या $वे^1$ की मात्रा घटती है तो मूल्य घट जायेंगे और द्रव्य का अर्घ बढ़ जायगा।

अर्थात् वस्तुओं के मूल्य बढ़ने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) द्रव्य या साख के चलन की मात्रा या उनके चलन के वेग में वृद्धि।

(२) वस्तुओं की मात्रा या उनके चलन के वेग में ह्रास।

इसी प्रकार वस्तुओं के मूल्य घटने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) द्रव्य या साख के चलन की मात्रा या उनके चलन के वेग में ह्रास।

(२) वस्तुओं की मात्रा या उनके चलन के वेग में वृद्धि।

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त द्रव्य की मात्रा और वस्तुओं के मूल्य (या द्रव्य के अर्घ) में पारस्परिक सम्बन्ध बतलाता है और इस ओर

ध्यान आकर्षित करता है कि द्रव्य या वस्तुओं की मात्रा में परिवर्त्तन होने से द्रव्य के अर्घ या वस्तुओं के मूल्य में परिवर्त्तन की प्रवृत्ति होती है। इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि सामान्य वस्तुओं के मूल्य के स्तर और द्रव्य की क्रयशक्ति में विपरीत सम्बन्ध है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि द्रव्य के अर्घ में वृद्धि या ह्रास हो तो यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य भी घटे या बढ़े या उनकी घटती-बढ़ती उसी अनुपात में हो। इसी विचार को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जब सामान्य मूल्य का स्तर बढ़ता या घटता है तो यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उस स्तर के बढ़ने पर बढ़े या उस स्तर के घटने पर घटे या प्रत्येक वस्तु के मूल्य में परिवर्त्तन सामान्य मूल्य के परिवर्त्तन के अनुपात में हो। किसी एक विशेष वस्तु के मूल्य में परिवर्त्तन उस वस्तु की माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है जब कि यह सत्य है कि द्रव्य की मात्रा बढ़ने (या उसका अर्घ घटने) से वस्तुओं के मूल्य बढ़ने की प्रवृत्ति होगी और द्रव्य की मात्रा घटने (या उसका अर्घ बढ़ने) से वस्तुओं के मूल्य घटने की प्रवृत्ति होगी। यह हो सकता है कि द्रव्य का अर्घ घटने पर भी कुछ विशेष वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि न हो क्योंकि इस वस्तु की पूर्ति बढ़ जाने से उक्त प्रवृत्ति का प्रभाव रुक जाय। इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि द्रव्य का अर्घ जिस अनुपात में घटे (अर्थात् सामान्य मूल्य का स्तर जिस अनुपात में बढ़े) कुछ विशेष वस्तुओं के मूल्य उस अनुपात से अधिक बढ़ जायँ; क्योंकि इस प्रभाव के अतिरिक्त, इस वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाती है और इसकी पूर्ति में ह्रास।

किसी देश में द्रव्य के चलन की मात्रा कितनी होनी चाहिए यह उस देश के चलन की माँग पर निर्भर है। यदि उस देश में वस्तुओं का क्रय-विक्रय, उत्पादन और व्यापार अधिक मात्रा में है तो वहाँ द्रव्य की आवश्यकता अधिक मात्रा में होगी, अन्यथा कम मात्रा में। जब देश में द्रव्य का चलन वास्तविक माँग से अधिक होता है तो द्रव्य का अर्घ गिर जाता है और सामान्य मूल्य का स्तर बढ़ जाता है। इस स्थिति को **मुद्रा-प्रसार** (Monetary Inflation) कहते हैं। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के समय में लगभग प्रत्येक देश में मुद्रा-प्रसार हुआ है। जब यह मुद्रा-प्रसार बहुत बढ़ जाता है और मुद्रा का मूल्य बहुत घट जाता है तो उस स्थिति को **अत्यधिक-मुद्रा-प्रसार** (Hyper-Inflation) कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी, रूस इत्यादि में अपरिवर्त्तनशील कागजी नोट इतनी अधिक मात्रा में प्रसारित किये गये कि उनका मूल्य बहुत घट गया और जब जर्मनी में मुद्रा का पुनःसंगठन हुआ तो १०,००,००० मार्क्स (जर्मनी का सिक्का) के नोटों के बदले में एक नया मार्क दिया गया।

जब प्रथम महायुद्ध के उपरान्त द्रव्य का अर्घ घट गया था तो प्रत्येक देश ने द्रव्य का अर्घ बढ़ाने का (या वस्तुओं के मूल्य घटाने का) प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में वह इतने अन्धे हो गये कि द्रव्य की पूर्ति वास्तविक माँग से कम हो गई और वस्तुओं के मूल्य बहुत घट गये। इस स्थिति को **मुद्रा संकुचन** (Deflation) कहते हैं। मूल्य बहुत घटने से उत्पादकों को हानि हुई जिससे उत्पादन में ह्रास हुआ और बेकारी फैली। संसार एक आर्थिक संकट में फँस गया और चारों ओर उस संकट से मुक्त होने के लिए विचार और उपाय किये गये। मुद्रा संकुचन की स्थिति को ठीक करने के लिए जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे **संकुचन सुधार** (Reflation) कहते हैं।

संकेतांक (Index Numbers)

द्रव्य की क्रयशक्ति का परिवर्त्तन संकेतांक द्वारा नापा जा सकता है। **सामान्य मूल्य के संकेतांक** (General Price Index) बनाने में वस्तुओं के प्रतिनिधि-संयोग के मूल्य पर विचार किया जाता है। इन संकेतांकों को बनाने में एक साधारण या औसत प्रकार का समय या वर्ष (Basic Period) चुन लिया जाता है। फिर जिस उद्देश्य के लिए हम संकेतांक बना रहे हों उस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर वस्तुओं और सेवाओं की एक प्रतिनिधि-सूची बना ली जाती है। यदि हम मजदूरों के रहन-सहन के व्यय के संकेतांक (Cost of Living Index) बनायें तो हमें ऐसी वस्तुएँ और सेवाएँ छाँटनी होंगी जिनका उपभोग उस वर्ग के लोग करते हों। फिर उन वस्तुओं का मूल्य प्रतिनिधि स्थानों से, जहाँ से उस वर्ग के लोग उन वस्तुओं को वास्तव में खरीदते हों, मालूम करेंगे। फिर साधारण या औसत समय के मूल्यों को १०० के बराबर मानकर जिस समय की तुलना हम साधारण समय से करेंगे उस समय के मूल्यों को १०० के भाग के रूप में लिख लेंगे। दोनों समयों के मूल्यों का योग लगाकर उसमें जितनी वस्तुएँ हैं उनका भाग देने से उस समय के संकेतांक निकल आयेंगे। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा*।

---

* इस उदाहरण में १–४–१९५० को संकेतांक ४११ है जब कि औसत समय (१–९–१९३९) को वह १०० है।

वस्तु	मूल्य Basic Period में १-९-१९३९		मूल्य* १-८-१९५० को	
(१) गेहूँ	५) मन	१००	१६) मन	३३८
(२) पैजामा	।।।)	१००	३)	८००
(३) चप्पल	१।)	१००	६।)	५००
.		३०० ÷ ३ -१००		१२३८ ÷ ३ =४११

संकेतांकों की प्रामाणिकता वस्तुओं की सूची और उनके मूल्यों के ठीक अनुमान पर निर्भर होती है। यह भी आवश्यक है कि दोनों समयो में एक ही प्रकार की वस्तुओं के मूल्य लिए जायं और उन वस्तुओं का महत्व दोनों समयों में समान हो। व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक वस्तु का महत्व अन्य वस्तु से विभिन्न होता है और यह महत्व इस बात पर निर्भर रहता है कि उस वस्तु का उपभोग में कितना महत्व है। इस कारण कुछ वस्तुओं को एक वस्तु न मानकर उनकी कई इकाइयो के मूल्यों का अनुमान किया जाता है। उक्त उदाहरण में यदि गेहूँ का इतना महत्व है कि उसकी दस इकाइयाँ ली जाँय जब पैजामें की दो और चप्पल की एक इकाई तो इस प्रथा को **'गुरुता की प्रथा'** (Weighting) कहते है और इस प्रकार प्राप्त किये संकेतांक को **'गुरुता के संकेतांक'** (Weighted Index Number) कहते हैं, जिनका उदाहरण नीचे दिया गया है :—

वस्तु	मूल्य Basic Period मे १-९-१९३९	१-९-१९३९ इकाई		मूल्य १-८-१९५० को	
(१) गेहूँ	५) मन	१०	१०००	१६) मन	३३४०
(२) पैजामा	।।।)	२	२००	३)	८००
(३) चप्पल	१।)	१	१००	६।)	५००
			१३०० ÷ १३ —१००		८६८० ÷ १३ =३५७

*यदि हम एक दिन की अपेक्षा एक महीने या सप्ताह का सकेतांक मालूम करना चाहें तो हमें इस महीने या सप्ताह के मूल्यों का औसत निकालकर उक्त मूल्यों के कोष्ठ में भरना चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

१. द्रव्य के अर्घ से आप क्या समझते है ? वह किन कारणो से घटता और बढ़ता है ?
२. द्रव्य का अर्घ किस प्रकार नापा जा सकता है ?
३. द्रव्य का प्रामाणिक सिद्धान्त समझाइये।

अध्याय २४

भारतीय मुद्रा प्रणाली

(Indian Currency System)

भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य के आरंभ के दिनों में अनेक प्रकार के चाँदी सोने इत्यादि के सिक्के चलन में थे। यह सिक्के यहाँ के भिन्न हिन्दू व मुसलमान राजाओं द्वारा चलाये गये थे। इन सिक्कों में अधिक अन्तर था जिससे व्यापार को हानि पहुँचती थी। इस कारण सन् १८३५ मे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने चाँदी का प्रामाणिक रुपया चलाया। इसका वजन १८० ग्रेन था और इसमें $\frac{११}{१२}$ भाग चाँदी थी और शेष अन्य सस्ती धातु। यह प्रामाणिक सिक्का था और इसकी स्वतन्त्र ढलाई थी अर्थात् कोई भी व्यक्ति चाँदी ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। उसी समय से हमारे रुपये को "प्रामाणिक चाँदी का रुपया" (Standard Silver Rupee) कहा जाने लगा। १८७३ के उपरान्त मैक्सिको और अमरिका की नई चाँदी की खानों के खुलने के कारण चाँदी का भाव गिरने लगा और रुपये का वास्तविक अर्घ उसके द्राव्यिक अर्घ से कम हो गया जिससे वह सांकेतिक सिक्का हो गया और सरकार को विवश होकर १८९३ में उसकी स्वतन्त्र ढलाई बन्द करनी पड़ी। १८३५ से १८९३ तक हमारे देश में रजत-मान था। १८९८ में यहाँ स्वर्ण-विनिमय-मान अपनाया गया और एक रुपये का बाह्य अर्घ एक शिलिंग चार पेन्स के बराबर रखा गया । सरकार ने इस अनुपात को रखने के लिए काउन्सिल बिल और रिवर्स काउन्सिल बिल जारी किये। जब रुपयों की अधिक माँग होती थी तो लन्दन में भारतवर्ष के सेक्रेटरी आफ स्टेट् पाउंड लेकर भारत सरकार पर काउन्सिल बिल लिखते थे। भारत सरकार उन काउन्सिल बिलों के अनुसार भारतवर्ष में पाउंडों की अपेक्षा रुपये (एक रुपया = १ शिलिंग ४ पेन्स की दर से) दे देती थी। इसी प्रकार जब पाउंडों की अधिक माँग होती थी तो भारत सरकार रुपये लेकर पाउंडों में रिवर्स काउन्सिल बिल लिखती थी जिनका भुगतान लण्डन मे सेक्रेटरी आफ स्टेट करता था। इस प्रकार एक रुपया = १ शिलिंग ४ पेन्स की दर स्थिर रखी गई। इस मान की भारतवर्ष में कड़ी आलोचना हुई , क्योंकि जनता 'स्वर्ण-मुद्रा-मान' चाहती थी। प्रथम महायुद्ध

के प्रारम्भ होने से भारतवर्ष का आयात कम हो गया और निर्यात उससे बहुत अधिक होता था। जिस कारण काउन्सिल बिलों की माँग बढ़ गई क्योंकि विदेशी व्यापारी रुपया भेजकर यहाँ माल खरीदते थे। भारत सरकार को इन काउन्सिल बिलों को रुपयों में चुकाने में कठिनाई हुई, क्योंकि लड़ाई के कारण चाँदी के आयात में बाधा पड़ी और चाँदी का भाव बढ़ने से जनता ने सिक्कों को गलाकर धातु के भाव बेचना आरम्भ कर दिया। इस कारण सरकार को एक रुपये और ढाई रुपये के नोट चलाने पड़े और सैक्रेटरी आफ स्टेट को भी काउन्सिल बिलों की मात्रा कम करनी पड़ी; जिससे रुपये की दर शिलिगों में बढ़ गई और १९१८ में एक रुपया २ शिलिंग ४ पेन्स के बराबर हो गया। इसके उपरान्त शान्ति स्थापित होने के कारण भारतवर्ष का आयात बढ़ गया। जिससे विदेशी भुगतान का अन्तर हमारे विरुद्ध हो गया और रिवर्स काउन्सिल बिलों की माँग बहुत बढ़ी। सरकार ने १९२२ में उनका निर्गम बन्द कर दिया। रुपये की दर शिलिंगों में घटने लगी और सरकार ने उसकी विनिमय की दर स्वतन्त्र छोड़ दी। यह दर गिरते गिरते सन् १९२४ में १ शिलिंग ६ पेन्स पर आकर रुकी। तब सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन बैठाया। जिसने 'स्वर्ण-पाट-मान' स्थापित करने की सम्मति दी और एक रुपये की दर १ शिलिंग ६ पेन्स पर ही रखने का विचार प्रकट किया। भारतीय राष्ट्रीय विचार-धारा इस दर के विरुद्ध थी और वह रुपये की दर १ शिलिंग ४ पेन्स पर ही रखना चाहती थी। परन्तु भारत सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन की राय मानी और रुपये की दर १ शिलिंग ६ पेन्स रखी। एक नियम भी निकाला गया जिसके अनुसार सरकार अपनी इच्छा पर सोना और स्टर्लिंग खरीद व बेच सकती थी। इस प्रकार हमारे देश में एक नये रूप में स्वर्ण-विनिमय और स्वर्ण-पाट-मान का मिश्रण स्थापित हो गया। २१ सितम्बर सन् १९३१ को ब्रिटेन ने स्वर्णमान का त्याग किया जिससे भारतवर्ष में स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित हो गया। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त **अन्तर्राष्ट्रीय-द्राव्यिक-कोष** (International Monetary Fund) मित्रराष्ट्रों ने स्थापित किया और प्रत्येक राष्ट्र ने अपने सिक्के की दर स्वर्ण में रखी। भारतवर्ष ने १८ दिसम्बर १९४६ को एक रुपये की दर ०·२६८६०१ ग्राम सोने (grams of fine gold) के बराबर रखी जिससे एक रुपया १ शि० ६ पे० या ०·३०२२५० डौलर के बराबर हुआ। ८ अप्रैल सन् १९४७ को भारतीय धारा सभा के निर्णय के अनुसार रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से तोड़ दिया गया और रुपये का अन्य विदेशी सिक्कों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया। इसको हम **अन्तर्राष्ट्रीय मान** (International Standard) कह सकते हैं। सितम्बर

१९४९ में रुपये का **अवमूल्यन** (Devaluation) किया गया जिससे रुपये की नई दर ०·१८६६२१ ग्राम सोने के बराबर रखी गई।

मुद्रा-प्रचलन

(Currency Circulation)

भारतवर्ष में सब सिक्के सरकार ही अपनी टकसालों में ढालती है। यह टकसालें कलकत्ता और बम्बई में हैं क्योंकि जो टकसाल लाहौर में थी वह पाकिस्तान के भाग में आई। हमारा मुख्य सिक्का रुपया है। यह प्रामाणिक सिक्के के समान असीमित-कानूनी ग्राह्य है ; परन्तु इसका वास्तविक अर्घ इसके द्राव्यिक अर्घ से कम है जिससे इसकी स्वतन्त्र ढलाई भी नहीं हो सकती। इस कारण इसमें कुछ गुण प्रामाणिक सिक्कों के हैं और कुछ गुण सांकेतिक सिक्कों के ; जिससे इसको **सांकेतिक-प्रामाणिक सिक्का** (Standard-Token Coin) कहा जा सकता है। इसका वजन १८० ग्रेन के बराबर है और १८३५ से ही इसमें ११/१२ भाग चाँदी होती है। अठन्नी, चवन्नी और दुवन्नी भी चलाई गई थीं जिनमें भी चाँदी का भाग ११/१२ था। परन्तु लगभग ३० वर्ष पूर्व चाँदी की दुवन्नी की ढलाई बन्द कर दी गई और वह आजकल चलन में नहीं दिखाई देती। इन सिक्कों पर विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम, जॉर्ज पंचम और जॉर्ज षष्ठ की तसवीर की मुहर होती है और निर्गम का वर्ष भी। द्वितीय महायुद्ध में चाँदी का मूल्य बहुत बढ़ा जिससे इन रुपयों का वास्तविक अर्घ इनके द्राव्यिक अर्घ से अधिक हो गया और लगभग चाँदी का भाव ११० रुपये की १०० तोले से अधिक होने पर इन सिक्कों के गलाने से जनता को लाभ होने लगा। इस कारण सरकार ने विक्टोरिया की मोहर के रुपये और अठन्नियाँ १ अप्रैल १९४१ से, एडवर्ड सप्तम की मुहर के रुपये और अठन्नियाँ ३१ मई १९४२ से, और जॉर्ज पंचम और जॉर्ज षष्ठ की मोहर के रुपये और अठन्नियाँ १ मई १९४३ से चलन में से वापस लेने आरम्भ कर दिये। ऐसा करने के पूर्व सरकार ने दिसम्बर १९४० में नया रुपया, अठन्नी और चवन्नी ढाली जिसमें चाँदी की मात्रा घटाकर १/२ कर दी। इन सिक्कों को **क्वाटरनरी** (Quaternary) सिक्के कहते हैं। १ नवम्बर १९४३ में विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम, जॉर्ज पंचम और षष्ठ की मुहर के चाँदी के रुपये और अठन्नियों की कानूनी ग्राह्यता को सरकार ने हटा लिया जिससे उनका गलाना अपराध नहीं रहा। परन्तु चवन्नी और दुवन्नी सीमित-कानूनी-ग्राह्य रहे। इसके उपरान्त भी चाँदी का मूल्य बढ़ना रहा और सरकार को सिक्के ढालने के लिए चाँदी

प्राप्त करने में कठिनाई हुई। इस कारण क्वाटरनरी सिक्कों का भी निर्गम मई १९४७ से बन्द कर दिया गया और एक नया कानून पास किया गया (The Indian Coinage Amendment Act, 1947), जिसके अन्तर्गत सरकार ने गिलट (Nickel) का रुपया ढालने का अधिकार लिया। सरकार ने गिलट का रुपया, अठन्नी और चवन्नी ढाली जिनका वजन पहले के बराबर ही था और यह सिक्के पहली बार २ जून १९४७ को रिजर्व बैंक द्वारा चालू किये गये। हमारे देश में रुपये के समान अठन्नी भी असीमित-कानूनी-ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त चवन्नी, दुवन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा, अधेला, पाई के भी सिक्के चलन में हैं; परन्तु वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से अधेला और पाई का चलन बहुत कम है। दुवन्नी, इकन्नी औऱ नये अधन्ने काँसे (Bronze) के बनाये जाते हैं और पुराने अधन्ने, पैसा, अधेला और पाई ताँबे (Copper) के। चवन्नी और उससे नीचे के सिक्के सीमित-कानूनी-ग्राह्य हैं। हमारे सब सिक्के (रुपये सहित) सांकेतिक सिक्के हैं, क्योंकि उनका द्राव्यिक अर्घ उनके वास्तविक अर्घ से अधिक है जिससे सरकार को उनकी ढलाई से लाभ होता है। यह लाभ आजकल लगभग २ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष है।

कागज के नोट :—हमारे देश में १०,०००, १०००, ५००, १००, ५०, १० और ५ रुपये के नोट साधारणतः चलन में रहते हैं। १०,००० रुपये के नोट अधिकतर बैंक अधिक परिमाण के लेन-देन के काम में लाते हैं। ५०० और ५० रुपये के नोट भी बहुत कम चलन में है और द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सारे देश में लगभग ५० लाख रुपये के ही यह नोट चलन में थे। यह सब नोट भारत सरकार द्वारा प्रसारित होते थे। परन्तु सन् १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद यह कार्य रिजर्व बैंक का कानूनी एकाधिकार बना दिया गया। चाँदी के रुपयों की कमी के कारण जुलाई १९४० में भारत सरकार ने स्वयं १ रुपये के नोटों का निर्गम किया और रिजर्व बैंक ने भी फरवरी १९४३ में दो रुपये के नोट इस कारण चालू किये जिससे एक रुपये के नोटों की माँग कम हो जाय। हमारे सब नोट कानूनी ग्राह्य हैं और १ रुपये के नोट के अतिरिक्त सब परिवर्त्तनशील भी हैं। वास्तव में सब नोटों पर यह प्रतिज्ञा लिखी होती है कि उस नोट को रिजर्व बैंक (या इम्पीरियल बैंक) के दफ्तर में पेश करने पर उसके मूल्य के रुपये मिल सकते हैं। १ रुपये के नोट अपरिवर्त्तनशील कानूनी ग्राह्य हैं परन्तु उनके निर्गम को सरकार व्यवस्थित करती है अन्यथा उनकी मात्रा चलन में बहुत बढ जायेगी और ग्रेशम का नियम लागू होने के कारण रुपये और अठन्नी के सिक्के चलन से हट जायेंगे। यह नोट विशेषकर शहरों में लोकप्रिय है क्योंकि रुपये के सिक्के की अपेक्षा यह सुविधाजनक हैं।

रिजर्व बैंक को जब नोट निर्गम करने का एकाधिकार मिला तो उस पर निम्नलिखित कानूनी रोक लगाई गई :—

(१) बैंक को नोट के निर्गम का विभाग अलग रखना होगा जिसको निर्गम विभाग (Issue Department) कहते हैं और इस विभाग का आँकड़ा (Balance Sheet) अलग बनेगा।

(२) जितने रुपयों के नोट बैंक निर्गम करेगा उतने रुपयों के मूल्य की सम्पत्ति बैंक के पास होनी चाहिए।

(३) यह सम्पत्ति निम्न रूप में होनी चाहिए :—

(अ) कुल सम्पत्ति का ४०% भाग सोना, सोने के सिक्के या स्टर्लिंग सिक्योरिटीज (Sterling Securities*) में होना चाहिए जिसमें सोने के सिक्के या सोने के पाट कम से कम ४० करोड़ रुपये के हों। सोने के सिक्के और पाट का १७/२० भाग भारतवर्ष में होना चाहिए। कुछ कर देने पर यह प्रतिशत ४० से कम हो सकता है।

(ब) सम्पत्ति का शेष भाग रुपयों के सिक्के और भारत सरकार के रुपयों में चुकाये जाने वाले ऋण (Government of India Rupee Securities) में होने चाहिए।†

---

* यह ब्रिटिश सरकार के द्वारा अल्प काल के लिए लिया गया ऋण है।

† भारतवर्ष के रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India) के निर्गम विभाग का बैलैंस शीट (Balance Sheet) २० अप्रैल १९५१ को निम्नलिखित था:—

बैंक का ऋण (Liabilities)		
बैंकिंग विभाग के पास जो नोट हैं ...	७,००,३५,०००	
चलन में नोट ...	१२,८१,०२,४८,०००	
निर्गम नोटों की कुल मात्रा		१२८८,०२,८३,०००
बैंक की सम्पत्ति (Assets)		
(अ) सोने के सिक्के और पाट भारत में। ...	४०,०१,७१,०००	
विदेशी पावने	६८८,१५,११,०००	
(अ) का योग ...		७२८,१६,८२,०००
(ब) रुपये के सिक्के ...		५८,२३,३८,०००
भारत सरकार के रुपये के ऋण		५०१,६२,६३,०००
कुल सम्पत्ति का योग		१२८८,०२,८३,०००

१२ जनवरी १९४६ को भारत सरकार ने अद्रव्यीकरण औडिंनैन्स [The High Denomination Bank Notes (Demonetisation) Ordinance]* निकाला। इसके द्वारा ५००, १००० और १०,००० रुपयों के नोटों की कानूनी ग्राह्यता को सरकार ने हटा लिया। जिससे यह नोट चलन से हट गये। अब हमारे देश में १, २, ५, १०, ५० और १०० रुपये के नोट चलन में है। यह सब नोट कानूनी ग्राह्य है और १ रुपये के नोट के अतिरिक्त बाकी सब नोट परिवर्त्तनशील भी है। ५० रुपये के नोटों की निर्गम की गई मात्रा बहुत ही कम है जिससे यह नोट चलन में दिखाई नही पडते ।

रिजर्व बैंक की स्थापना होने पर सरकार ने उस बैंक को रुपये का बाह्य अर्घ १ रु० = १ शि० ६ पे० पर स्थिर रखने का भी कार्य सौंपा। १९२४ से रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से है और हमारा देश स्टर्लिंग विनिमय मान पर सितम्बर १९३१ से है। रिजर्व बैंक को द्वितीय महायुद्ध से पहले स्टर्लिंग स्वतन्त्र रूप से खरीदना और बेचना पडता था। उसके बेचने की दर १ रु० = १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पेन्स से कम नही हो सकती थी और खरीदने की दर १ रु० = १ शि० ६$\frac{३}{१६}$ पेन्स से अधिक नहीं हो सकती थी। परन्तु बैंक को खरीदने-बेचने को विवश करने के लिए कम से कम प्रति लेन-देन १०,००० पाउण्ड का होना चाहिए था। इस प्रकार रुपये की विनिमय की दर इन दो सीमाओं के बीच में रहती थी। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के बाद हमारे देश में **विनिमय-नियन्त्रण** (Exchange Control) स्थापित किया गया जिससे प्रत्येक व्यक्ति को जो **विदेशी विनिमय** (Foreign Exchange) प्राप्त होता था वह रिजर्व बैंक को रुपये लेकर सौपना पड़ता है। जिस व्यक्ति को विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है वह भी तभी प्राप्त कर सकता है जब सरकार द्वारा उसकी आज्ञा मिल जाय। अन्तर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष की स्थापना होने से रुपये का बाह्य अर्घ सोने में स्थापित किया गया। प्रत्येक मित्रराष्ट्र ने जो इस कोष के सदस्य है अपने सिक्को का अर्घ सोने में स्थापित किया। इस प्रकार प्रत्येक देश के सिक्को मे रुपये का अर्घ निश्चित कियाजा सकता है; क्योंकि रुपये व अन्य सिक्को का अर्घ सोने में है इस कारण उन सिक्कों का पारस्परिक अर्घ सोने के अनुपात मे ही होगा। जो सम्बन्ध रुपये या अन्य विदेशी सिक्को का सोने में निश्चित किया गया है वह केवल काल्पनिक है, क्योकि

*इस विषय पर 'पाइनियर' में श्री आर०एन० भार्गव का निबन्ध पढ़िये। (The Pioneer, dated 4th February, 1946)

कोई भी देश उस दर पर सोना स्वतन्त्र रूप से खरीदने और बेचने के लिए न तो विवश ही है और न खरीदता -बेचता ही है। यह **स्वर्णमान का सबसे नवीन रूप है**। इस मान के अन्तर्गत सोने का प्रयोग पूर्णतया हटा दिया गया है और सोना आन्तरिक या बाह्य लेन-देन में बिल्कुल काम में नहीं आता। यह मान अमरीका के संयुक्त राष्ट्र की इस इच्छा को भी पूरा करता है कि द्रव्य के मान का स्वर्ण से कुछ सम्बन्ध होना चाहिए और साथ ही साथ विभिन्न देशों की इस स्थिति को भी दृष्टि में रखता है कि उन देशों में सोने का अकाल है, क्योंकि इस मान के अन्तर्गत सोने की आवश्यकता बिल्कुल कम हो जाती है। इस प्रकार रुपये का अब प्रत्येक विदेशी सिक्के से सीधा सम्बन्ध है और रुपये का अर्घ किसी विदेशी सिक्के से उस सिक्के के स्वर्ण के अर्घ के अनुपात में है। प्रत्येक देश ने अपने सिक्के का स्वर्ण में अर्घ अन्तर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष को बतला दिया है। प्रत्येक देश अपने सिक्के के इस अर्घ को १०% घटा-बढ़ा सकता है और यदि उसको इससे अधिक घटाना-बढ़ाना है तो अन्तर्राष्ट्रीय कोष की सम्मति लेना आवश्यक है। भारतवर्ष ने १८ दिसम्बर १९४६ को रुपये का अर्घ ०·२६८६०१ ग्राम सोने के बराबर रखा जिससे एक रुपया १ शि० ६ पे० या ३०·२२५० सेन्टों के बराबर हुआ। अर्थात् £१ = १३ रु० ५ आ० ४ पा० और $ १ = ३ रु० ४ आ० ११$\frac{1}{8}$ पा०। सितम्बर १९४९ में ब्रिटेन ने पाउण्ड का अर्घ ३.५८१३४ ग्राम सोने से घटाकर २·४८८२८ ग्राम के बराबर कर दिया जिससे £ १ = $ २·८० हो गया जब कि इससे पूर्व £ १ = $ ४·०३ था। ब्रिटेन के इस कार्य से हमारे सामने निम्नलिखित निर्वाचन समस्या थी :—

(१) या तो हम भी ब्रिटेन के समान रुपये का अर्घ सोने में उसी अनुपात में घटा दें जिससे

£ १ = १३ रु० ५ आ० ४ पा० = $ २·८०

और $ १ = ४ रु० १२ आ० २$\frac{1}{8}$ पा०।

(२) या हम रुपये का अर्घ सोने में नहीं घटावें जिससे

१३ रु० ५ आ० ४ पा० = $ ४.०३ और तब £ १ = ९·२६ रुपये के होता और $ १ = ३ रु० ४ आ० ११$\frac{1}{8}$ पा० के

(३) हम रुपये का अर्घ सोने में घटाते परन्तु उसी अनुपात में नहीं जिस अनुपात में ब्रिटेन ने पाउण्ड का अर्घ घटाया।

हमने प्रथम निर्वाचन को स्वीकार किया और रुपये का अर्घ घटाकर ०·१८६६२१ ग्राम सोने के बराबर रखा। २२ सितम्बर १९४९ को अन्तर्राष्ट्रीय कोष ने यह नवीन अर्घ मान लिया। परन्तु पाकिस्तान ने द्वितीय

निर्वाचन को स्वीकार किया, जिससे

हमारा रुपया	= ०·१८६६२१ ग्राम सोना	= २१·०००० सेन्ट
पाकिस्तानी रुपया	= ०·२६८६०२ ग्राम सोना	= ३०·२२५० सेन्ट

£ १ = १३ रु० ५ आ० ४ पा० (हमारे) = ९·२६ रुपये (पाकिस्तानी)

इससे भारतीय और पाकिस्तानी रुपयों का सम्बन्ध गड़बड़ा गया, क्योंकि इसके पूर्व १०० भारतीय रुपये = १०० पाकिस्तानी रुपये के थे। परन्तु अब १०० भारतीय रुपये पाकिस्तान के ६९·५४ रुपयों के बराबर हो गये। कुछ समय तक हमारी सरकार ने यह सम्बन्ध नहीं माना, परन्तु जो अभी व्यापारिक समझौता पाकिस्तान से हुआ है और जो २६ फरवरी १९५१ से ३० जून १९५२ तक लागू है उसके अनुसार हमने यह नवीन सम्बन्ध वर्तमान व्यापारिक व अन्य लेन-देन (Current transactions including trade transactions) के लिए मान लिया है और रिजर्व बैंक ने पाकिस्तानी रुपया खरीदने बेचने की निम्नलिखित दर घोषित कर दी है :—

खरीदने की	६९ रु० ८ आ० ३ पा०	पाकिस्तानी	= १०० रु० भारतीय
बेचने की	६९ रु० ६ आ० ६ पा०	,,	= १०० रु० ,,।

अर्थात् उक्त दर पर रिजर्व बैंक पाकिस्तानी रुपये खरीदता और बेचता है।

स्टर्लिंग पावने (Sterling Balancs*)

द्वितीय महायुद्ध में भारत सरकार को ब्रिटिश सरकार की ओर से लगभग १७४० करोड़ रुपया लड़ाई में व्यय करना पड़ा। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को जो अमेरिकन सैनिक भारतवर्ष में थे उनके व्यय के लिए और मित्रराष्ट्र जो वस्तुएँ हमारे देश में खरीदते थे उनके लिए भी रुपयों का प्रबन्ध करना पड़ता था। भारत सरकार यह व्यय रुपयों में करना पड़ता था; परन्तु इसके बदले में सरकार स्टर्लिंग स्वीकार करती थी। भारत सरकार इन रुपयों का प्रबन्ध या तो जनता पर कर लगाकर कर सकती थी या ऋण लेकर। कर की दर पहले ही बहुत बढ़ा दी गई थी, क्योंकि सरकार का स्वयं युद्ध के कारण व्यय बहुत बढ़ गया

---

* इस विषय पर 'लीडर' में श्री आर० एन० भार्गव का निबन्ध पढ़िये। (The Leader, dated 12th January, 1946.)

था और लड़ाई भर उसके बजट प्रतिवर्ष घाटे के होते थे। सरकार ने ऋण भी अधिक से अधिक मात्रा में लेने का प्रयत्न किया; परन्तु वह पर्याप्त मात्रा में ऋण लेने में असफल रही जिस कारण सरकार जितने रुपये ऋण इत्यादि से प्राप्त करती थी वह उसकी रुपयों की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकते थे। इस कारण सरकार रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग सिक्योरिटीज देकर रुपये प्राप्त करती थी। रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग पर यह बन्धन था कि वह स्टर्लिंग सिक्योरिटीज कुल नोटों की मात्रा के ४०% से अधिक नहीं रख सकता था। लड़ाई में सरकार को रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करना पड़ा और यह बन्धन हटा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रिजर्व बैंक स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के बदले में नोटों का निर्गम स्वतन्त्र रूप से करता चला गया। देश में नोटों का चलन जो सितम्बर १९३९ में १७९ करोड़ रुपये था (जिसमें लगभग १० करोड़ रुपये के बर्मा के नोट थे) बढ़ता गया और जब अगस्त १९४५ में युद्ध समाप्त हुआ तो यह ११३९ करोड़ रुपयों के बराबर था। इस संख्या में एक रुपये के नोट जो सरकार द्वारा प्रचारित किये गये वे सम्मिलित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त धातु के रुपये और रेजगारी का चलन भी कई करोड़ रुपयों से बढ़ गया। लड़ाई के उपरान्त भी नोटों के चलन की मात्रा बढ़ती गई। इन कारणों से और लड़ाई भर विदेशी भुगतान का अन्तर हमारे अनुकूल होने से रिजर्व बैंक की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज की मात्रा बढ़ती गई। सितम्बर १९३९ में रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग में ६४·५० करोड़ रुपयों की और बैंकिंग विभाग में १३·५७ करोड़ रुपयों की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज थीं। द्वितीय महायुद्ध में भारत सरकार ने अपना स्टर्लिंग ऋण जो लगभग ४७० करोड़ रुपये के बराबर था चुका दिया और तब भी युद्ध समाप्त होने पर रिजर्व बैंक के पास लगभग १४०० करोड़ रुपयों की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज थीं। लड़ाई के पूर्व हमारा देश ब्रिटेन का ऋणी था; परन्तु लड़ाई समाप्त होने पर ब्रिटेन हमारा ऋणी हो गया। यह एक अद्भुत घटना है कि हमारा निर्धन देश ब्रिटेन जैसे बढ़े-चढ़े देश का ऋणदाता है। यह स्थिति इस कारण सम्भव हुई कि लड़ाई में हमने अपनी जनता को आवश्यक वस्तुओं से हीन रखा जिस कारण उन्हें भूख और अनेक अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सारांश यह है कि इन स्टर्लिंग पावनों के बनाने में हमारे देशवासियों का अत्यधिक त्याग और बलिदान है। लड़ाई के उपरान्त भी रिजर्व बैंक के पास स्टर्लिंग सिक्योरिटीज की मात्रा बढ़ती गई और एक समय इनकी सीमा १७३३ करोड़ रुपयों तक पहुँच गई। उसके उपरान्त धीरे-धीरे हमारे देश का विदेशी भुगतान का अन्तर हमारे प्रतिकूल होने के कारण और ब्रिटेन द्वारा

कुछ ऋण का भुगतान प्रतिवर्ष होने से इनकी मात्रा कुछ घटी। देश के विभाजन के उपरान्त इनका एक भाग पाकिस्तान को दे दिया गया और अब (७-९-१९५१) रिजर्व बैंक के पास लगभग ८२७ करोड़ रुपयों की स्टर्लिंग सिक्योरिटीज है।

स्टर्लिंग सिक्योरिटीज ब्रिटिश सरकार के अल्पकाल के ऋण हैं, परन्तु इन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है जिस कारण उनका भुगतान अभी नहीं हो सकता। जिससे अल्पकाल के ऋण होने पर भी वास्तव में इन्होंने दीर्घ-काल के ऋण का रूप धारण कर लिया है। अल्पकाल के ऋण होने से इन पर १% प्रतिवर्ष से भी कम ब्याज मिलता है, जबकि दीर्घकाल के ऋणों पर ब्रिटेन आजकल लगभग ३% ब्याज देता है। इससे हमारे देश को अधिक हानि हुई है। इन पावनों को बनाने में हमारे देशवासियों को अत्यधिक त्याग करना पड़ा है; क्योंकि लड़ाई भर आवश्यक वस्तुएँ, हमारे देशवासियों को न देकर जिनका रहन-सहन का दर्जा पहले ही बहुत गिरा हुआ था, मित्रराष्ट्रों के लिए खरीदी गईं। यह वस्तुएँ नियन्त्रित मूल्यों पर ली जाती थीं; परन्तु अब जब यह पावने चुकाये जा रहे हैं तो हमको खुले बाजार में विलायती उत्पादकों को मनमाने दाम देने पड़ते हैं। इन पावनों के बदले रुपये देने और उन रुपयों से नियन्त्रित मूल्य पर वस्तु खरीदने से पहले हमारी सरकार को ब्रिटिश सरकार से यह प्रतिज्ञा करवानी चाहिए थी कि लड़ाई के उपरान्त जब यह पावने चुकाये जायेंगे तो ब्रिटिश सरकार भी हमारी आवश्यकता की वस्तुएँ नियन्त्रित और उचित मूल्यों पर खरीदने का प्रबन्ध करेगी। इन पावनों का काफी भाग हम उपभोग की वस्तुएँ जैसे कपड़ा, शृंगार-सामग्री, टूथ-पेस्ट, रेजर ब्लेड, ताश इत्यादि पर व्यय कर चुके हैं जब कि सरकार के लिए यह अनिवार्य था कि वह इन पावनों को मशीनें और आवश्यक कच्चे माल मँगाने के काम में ही लेती। इससे हमारे देश के औद्योगिक विकास में सहायता मिलती और जनता और देश का भला होता और हमारे बलिदानों का कुछ फल तो मिलता। इन पावनों को चुकाने के लिए ब्रिटिश सरकार से कई समझौते हो चुके हैं। जो समझौता जुलाई १९४८ में हुआ था वह ३० जून १९५१ को समाप्त हो जायेगा। इस कारण एक नया समझौता १ जुलाई १९५१ से ६ वर्ष के लिए कर लिया गया है जिसके अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार साढ़े तीन करोड़ पाउण्ड (लगभग ५७ करोड़ रुपये) प्रतिवर्ष चुकायेगी। यहाँ यह बताला देना आवश्यक है कि इन पावनों का कुछ भाग हमें कागजी चलन और विदेशी विनिमय के लिए रिजर्व रखना होगा।

मुद्रा-प्रसार (Inflation)

मुद्रा-प्रसार भारतवर्ष को लड़ाई की देन है। लड़ाई के ही कारण हमारे देश में द्रव्य की चलन की मात्रा में अधिक वृद्धि हुई जिससे वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ गये। यह ध्यान में रखना चाहिए कि आजकल वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे होने का कारण केवल द्रव्य का अधिक चलन ही नहीं है चाहे प्रारम्भ में वस्तुओं के मूल्य अधिक बढ़ने का कारण द्रव्य के चलन की वृद्धि ही हो। वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि के कारण द्रव्य चलन के अतिरिक्त उनकी माँग में वृद्धि और पूर्ति में कमी भी है जिसका वर्णन हम 'अर्घ के सिद्धान्त' के अध्याय में 'नियन्त्रित मूल्य और राशनिंग' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके है। जो धन लोगों ने अत्यधिक लाभकरण, चोर बाजार या घूस लेकर कमाया वह कर-विभाग के अधिकारियों से छिपाकर रखना होता है जिससे उसको उत्पादन कार्यों में नहीं लगाया जा सकता और इस कारण वह उपभोग की वस्तुओं के मूल्य बढ़ाने में प्रभाव डालता है।

मुद्रा प्रसार से द्रव्य का अर्घ घट जाता है। हम इसके प्रभावों का विवेचन करेंगे। मूल्यों के बढ़ने से उत्पादकों की लागत भी बढ़ती है; परन्तु बढ़ते हुए मूल्यों की स्थिति में मूल्य सदा लागत से काफी अधिक होते हैं जिस कारण उत्पादकों को अधिक नफा होता है। माँग की वृद्धि के कारण उनकी बिक्री भी बढ़ जाती है जिससे वह उत्पादन में वृद्धि करते हैं और नये कारखानों की स्थापना होती है। बेकारी भी कम होती जाती है; परन्तु मूल्य बढ़ने से उपभोक्ताओं को हानि होती है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ वस्तुओं का उत्पादक होता है और कुछ अन्य वस्तुओं का उपभोक्ता, जिससे उसको नफा और नुकसान दोनों का अनुभव होता है। इन दोनों का परिणाम उसका कुल नफा या हानि होता है। यदि जिन वस्तुओं का वह उत्पादक है उनके मूल्य उन वस्तुओं की अपेक्षा जिनका वह उपभोक्ता है अधिक बढ जाते है तो उसकी आर्थिक स्थिति सुधर जाती है, अन्यथा बिगड़ जाती है। गत वर्षों में कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के मूल्य लगभग पाँच-छः गुने हो गये हे जब कि अन्य वस्तुओं के मूल्य लगभग चार गुने हुए हैं। इस कारण किसान अपनी उत्पादित वस्तुएँ लगभग छः गुने मूल्य पर बेचता है और जो वस्तुएँ वह दूसरों से खरीदता है उनका पहले की अपेक्षा चार गुना मूल्य देता है जिससे उसको नफा हुआ है और उसकी आर्थिक स्थिति सुधर गई है। उसको अब पेटभर भोजन भी मिलता है और उसके रहन-सहन के दर्जे में भी कुछ उन्नति हुई है। उसने अपने बाप दादों के ऋण भी चुका दिये है।

वेतन और स्थिर आय पाने वाले व्यक्ति जैसे, मकान-मालिक, पेन्शन पाने वाले, दान-कोष (Charitable Trust) को मूल्य बढ़ने से हानि होती है; क्योंकि वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ जाते हैं परन्तु उनकी आय में वृद्धि कम होती है। इस कारण उनके रहन-सहन का दर्जा गिर जाता है। गत वर्षों में मध्यम वर्ग के लोगों को, जो इस श्रेणी में आते हैं, बहुत हानि हुई है। परन्तु व्यापारियों को बढ़ते हुए मूल्यों की स्थिति में नफा होता है; क्योंकि उनका स्टॉक पुराने मूल्यों पर खरीदा हुआ होता है और उसे वह नये मूल्यों पर, जो बढ़े हुए हैं, बेचते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक लाभकरण और चोर बाजार भी बढ़ते हुए मूल्यों की स्थिति में पनपता है जिससे व्यापारियों को नफा होता है।

बढ़ते हुए मूल्यों की स्थिति में मजदूरों का वेतन उत्पादकों को विवश होकर बढ़ाना होता है। महँगाई के कारण वह हाहाकार मचाते हैं और उत्पादन में बाधा डालने की धमकी देते हैं। परन्तु वस्तुओं के मूल्य पहले बढ़ते हैं और मजदूरी में वृद्धि इसके बाद होती है जिससे इस बीच के समय में उनको हानि होती है। बेकारी के कम होने से मजदूर-वर्ग को लाभ होता है। गत वर्षों में कुछ वर्ग के मजदूरों का वेतन सामान्य मूल्य के स्तर की वृद्धि की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है जिससे वह अपने रहन-सहन के दर्जे में कुछ उन्नति कर सके हैं।

द्रव्य के अर्घ में ह्रास होने से ऋणियों का भला होता है और ऋण-दाताओं को हानि होती है; क्योंकि ऋणी ऋणदाताओं को द्रव्य में रकम तो उतनी ही लौटाते हैं परन्तु उस रकम की क्रयशक्ति में ह्रास होने के कारण वह वस्तुएँ और सेवाएँ कम मात्रा में खरीद सकती हैं। मुद्रा-प्रसार में सट्टे और अनिश्चितता का वातावरण होता है जिससे जनता को हानि होती है।

भारत सरकार ने मूल्यों की वृद्धि को रोकने के अनेक प्रयत्न किये हैं जिनमें मूल्य नियन्त्रण, राशनिंग, अन्न की अधिक उपज का आन्दोलन मुख्य हैं। सरकार ने अन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने की सुविधाएँ भी दी हैं। द्रव्य का चलन घटाने के लिए अद्रव्यीकरण औडिनैन्स भी निकाला, जिसके अन्तर्गत ५००, १००० और १०,००० के नोट भुनाने से पहले एक छपा हुआ फार्म भरना पड़ता था जिसमें यह बतलाना पड़ता था कि वह नोट, कहाँ से, कब और कैसे आये। सरकार का विचार था कि इस प्रकार द्रव्य चलन भी कम हो जायेगा और जिन व्यक्तियों ने चोर बाजार या घूस लेकर रुपया कमाया था और जिसको वह कर-विभाग से छिपाने के लिए घर में दबाकर ही रखते थे उनका भी पता लग जायेगा जिससे उनको कानूनी दण्ड दिया जा सकेगा। परन्तु सरकार के यह सब प्रयत्न वस्तुओं के बढ़ते

हुए मूल्यों को रोकने में असफल रहे और वस्तुओं के मूल्य अब भी बढ़ते जा रहे हैं। यदि सरकार मूल्यों की वृद्धि को न रोक सकेगी तो देश को घोर आर्थिक विपत्ति का सामना करना पड़ेगा। मूल्यों की वृद्धि को रोकने के निम्न मुख्य उपाय हो सकते हैं:—

(१) सरकार अपने व्यय में बचत करे और बजट में बचाव दिखावे जिससे जनता के पास द्रव्य की मात्रा घट जायेगी।

(२) सरकार ऋण अधिक मात्रा में ले जिसके लिए उसे प्रचार करना चाहिए और लोगों में यह विश्वास पैदा करे कि सरकार को ऋण देने से देश का भला होगा।

(३) उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि के प्रयत्न किये जाँय और देश की उत्पादक-शक्ति बढ़ाई जाय। बंजर भूमि पर सिंचाई का प्रबन्ध करके खेती की जाय। किसानों को अच्छा बीज और खाद दिया जाय और नाज की उपज को टिड्डी व नाज के रोगों से बचाने के उपाय किये जाँय। औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के लिए अधिक मशीनें मँगाई जायँ तथा आवश्यक कच्चे माल का पर्याप्त मात्रा में प्रबन्ध किया जाय।

(४) आवश्यक वस्तुओं का प्रभावोत्पादक मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग किया जाय। अपराधियों को कड़ा दण्ड दिया जाय जिससे वे चोरी, बेइमानी और घूस लेना बन्द करें।

(५) कृषि-सम्बन्धी उपज (अर्थात् नाज व कच्चा माल) के मूल्य घटाये जाँय, क्योंकि तभी अन्य वस्तुओं के मूल्य गिर सकेंगे। जैसे कपड़े का मूल्य तभी गिर सकता है जब रूई और मजदूरी सस्ती हो। मजदूरी सस्ती तभी होगी जब मजदूरों को नाज सस्ते भाव पर मिले।

मुद्रा-संकुचन में मूल्य गिरने के कारण उत्पादकों का नफा घटता जाता है और उनको हानि भी होती है जिससे उत्पादन कम हो जाता है और बेकारी फैलती है। देश आर्थिक संकट में पड़ जाता है। वेतन और स्थिर आय पाने वाले व ऋणदाताओं को लाभ होता है और ऋणी व व्यापारियों को हानि होती है। मजदूरों को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है, क्योंकि बेकारी फैल जाती है। देश को भी उत्पादन घटने के कारण अधिक हानि होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारतीय चलन प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
२. द्वितीय महायुद्ध का भारतीय चलन प्रणाली पर जो प्रभाव पडा उस पर प्रकाश डालिये।

३. "अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष की स्थापना से एक नवीन प्रकार के स्वर्ण-मान का निर्माण हुआ है, जो सस्ता और सुगम है।" इस कथन को समझाइये।
४. मुद्रा-प्रसार के कारण संक्षेप में समझाइये। इसको दूर करने के उपाय बतलाइये।
५. मुद्रा-प्रसार के प्रभाव विभिन्न वर्गों पर स्पष्ट रूप से समझाइये।
६. स्टर्लिंग पावने क्या हैं? इस विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

अध्याय २५

साख (Credit)

विनिमय का कार्य या तो उसी समय द्रव्य देकर पूर्ण किया जा सकता है, या उसका भुगतान कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है जिस अवस्था को साख कहते हैं। इसका वास्तविक प्रभाव यह होता है कि विक्रेता कुछ समय के लिए क्रेता को द्रव्य उधार देता है। साख के लेन–देन में दो पक्ष होते हैं, ऋणी और ऋणदाता, और उन दोनों के बीच में कुछ निश्चित मूल्य के अर्घ का लेन-देन होता है। साख में समय का विशेष महत्व होता है, क्योंकि साख के अन्तर्गत भुगतान कुछ समय के लिए स्थगित हो जाता है। साख का प्रत्येक लेन-देन विश्वास पर ही निर्भर है। यदि ऋणदाता को यह विश्वास न हो कि ऋणी ईमानदार है और कुछ समय के उपरान्त उसका ऋण चुका देगा तो वह ऋण देने को तय्यार ही न होगा। साख के लेन-देन के लिखित प्रमाण साख-पत्र (Credit Instruments) कहलाते हैं और यह द्रव्य की भाँति विनिमय के माध्यम का कार्य करते हैं।

साख के लाभ:—जो व्यक्ति द्रव्य बचाते है, परन्तु स्वयं कारखाने व उद्योगों में नहीं लगा सकते, क्योंकि उनकी बचत बहुत कम है या उनमें इतनी योग्यता या उन्हें इतना समय नहीं है कि वे स्वयं ऐसा कर सकें, तो वह साख द्वारा अपनी बचत ऐसे व्यक्तियों को दे सकते है जो उसका अधिक उपयोगी प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार उनको अपनी बचत पर ब्याज भी मिलता है और वे अधिक बचत के लिए प्रोत्साहित होते है। पूँजी भी ऐसे व्यक्तियों के पास आ जाती है जो उसका अधिक उपयोगी प्रयोग कर सकते है। जिससे पूँजी की उपयोगिता में वृद्धि होती है। साख द्वारा ही बड़े पैमाने के उत्पादन कार्य सम्भव होते हैं, क्योंकि उनके लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है जो किसी एक व्यक्ति के पास एकत्रित नहीं होती।

जिन व्यक्तियों में योग्यता और साहस है परन्तु पूँजी नहीं है, वह पूँजीपतियों से साख द्वारा पूँजी प्राप्त कर सकते है और अपनी योग्यता और साहस के प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि करते हैं। साख के निर्माण के बाद यह आवश्यक नहीं कि पूँजी और योग्यता एक ही व्यक्ति के पास हों।

यह भिन्न व्यक्तियों के पास हो सकती हैं और साख द्वारा उसका मेल कराया जा सकता है।

जब राजकीय आय व्यय से कम हो तो राज्य साख द्वारा जनता से या दूसरे देशों से ऋण ले सकता है और बाद में उसका भुगतान कर सकता है। बड़े-बड़े राजकीय कार्य जैसे रेलों इत्यादि का बनाना, जिसमें करोड़ों रुपये लगते हैं, साधारण आय द्वारा सम्भव नहीं है। भारतवर्ष की रेलों में लगभग आठ सौ करोड़ रुपये लगे हुए हैं और राज्य यह धन उधार लेकर ही लगा सका है। युद्ध में भी राजकीय व्यय बहुत बढ़ जाता है परन्तु आय इतनी जल्दी नहीं बढ़ती। इसलिये राज्य ऋण लेकर काम चला सकता है। कोई व्यक्ति भी अधिक आवश्यकता के समय ऋण लेकर अपना काम चला सकता है और सुविधानुसार चुका सकता है।

साख द्वारा द्रव्य की बचत होती है और यह द्रव्य से सस्ता विनिमय का माध्यम है। यह उससे सुगम भी है, क्योंकि साख-पत्र आवश्यकतानुसार किसी भी समय लिखा जा सकता है। साख द्वारा द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान को कम मूल्य पर भेजा जा सकता है।

साख से हानि:—साख की मात्रा अत्यधिक बढ़ने का डर रहता है और इससे मुद्रा-प्रसार हो जाता है जिससे वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते हैं। यदि ऋणी अपने ऋण का भुगतान करने में असमर्थ हो तो ऋण-दाताओं को अधिक कष्ट होता है और जब बहुत से ऋणी और बड़ी-बड़ी संस्थायें ऋण नहीं चुका पातीं तो देश में आर्थिक संकट भी आ जाता है। साख द्वारा उपभोग के लिए कभी-कभी अनेक व्यक्ति अधिक ऋण ले लेते हैं जिसका चुकाना उनकी शक्ति के बाहर होता है। हमारे देश में इसका अधिक डर है; क्योंकि शादी विवाह व अन्य अवसरों पर जनता में अधिक व्यय करने की रुचि होती है। ग्रामीण ऋण का एक महत्वपूर्ण भाग ऐसे ही ऋणों का है।

क्या साख पूंजी है?*—एक निश्चित समय साख द्वारा देश की बचत व पूंजी की मात्रा तो नहीं बढ़ती है, परन्तु वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथ में आ जाती है जिससे अधिक उपयोगी कार्यों में लगाई जा सकती है। इस प्रकार साख द्वारा पूंजी अधिक उत्पादित हो जाती है और साख के अभाव में उत्पादन को अधिक हानि होती है। परन्तु साख स्वयं पूंजी नहीं कहा जा सकता। जब एक कारखाने का स्वामी एक

---

* साधारणतः साख से पूंजी की मात्रा नहीं बढ़ती है। परन्तु जब बैंक साख की मात्रा बढ़ाते हैं तो इस प्रकार द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है और हम कह सकते हैं कि साख भी उस स्थिति में पूंजी है।

लाख रुपया उधार लेकर अपने कारखाने में लगाता है तो उसके कारखाने में अवश्य एक लाख पूँजी लग जाती है; परन्तु उसका स्वामी ऋणदाता है। यदि हम साख को भी पूँजी मानें तो त्रुटि की संभावना होगी; क्योंकि हम कहेंगे कि पूंजी दो लाख है :—एक लाख साख और एक लाख द्रव्य जिसका स्वामी ऋणदाता है। इस कारण साख को पूँजी नहीं कहना चाहिए।

साख व्यवस्था
(Credit Mechanism)

साख की व्यवस्था को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :—(१) साख संस्थायें और (२) साख पत्र। साख संस्थायें बैंक इत्यादि होते हैं जो साख का लेन-देन करते हैं। साख पत्र लिखित प्रमाण होते हैं जिनमें एक निश्चित रकम निश्चित समय में चुकाने की प्रतिज्ञा होती है। उनमें ऋणी और ऋणदाता के नाम भी होते हैं।

साख-पत्र और द्रव्य :—द्रव्य के समान साख पत्र भी विनिमय के माध्यम का काम करते हैं; परन्तु वह कानूनी ग्राह्य नहीं होते। इस कारण उनको प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार नहीं करता और उनकी स्वीकृति विश्वास पर ही निर्भर होती है। साख पत्र स्वयं कुछ समय बाद द्रव्य में परिणत होते हैं; परन्तु इस बीच वे द्रव्य का कार्य करते हैं जिससे उन्हे द्रव्य का स्थानापन्न कहा जा सकता है।

चेक (Cheque):—यह एक व्यक्ति द्वारा अपने बैंक के लिए लिखित आदेश होता है जिसके अनुसार उसको उपस्थित करने पर बैंक एक निश्चित रकम निश्चित व्यक्ति को जिसका विवरण उसमें दिया हुआ होता है चुका देता है। जो व्यक्ति चेक लिखता है उसको **लेखक** (Drawer) कहते हैं और जिस व्यक्ति के पक्ष में लिखा जाता है उसे **लेनदार** (Payee) कहते हैं और बैंक **देनदार** (Drawee) कहलाता है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बैंक चेक का भुगतान तभी करेगा जब लेखक का रुपया बैंक के पास जमा हो या लेखक का बैंक से ऋण लेने का कुछ प्रबन्ध हो। चेक का भुगतान उस पर लिखी तारीख से ६ महीने के अन्दर ही हो सकता है। यदि किसी चेक पर भविष्य की कोई तारीख लिख दी जाय तो उसे बाद की तारीख (Post-dated) का चेक कहते हैं। बैंक अपने ग्राहकों को एक छपी छपाई चेक की किताब देता है जिसमें साधारणतया १०, २५ या १०० चेक के फॉर्म होते हैं। यह चेक फॉर्म अंग्रेजी में छपे होते हैं; परन्तु अब कुछ बैंक हिन्दी में लिखे और हस्ताक्षर किये चैकों का भुगतान करने लगे हैं। **चेक-बुक** में साधारणतया प्रति फार्म के दो भाग होते हैं। एक भाग प्रमुख भाग या चेक कहलाता

है और दूसरा भाग **प्रतिलिपि** (Counterfoil), जो अपनी स्मृति के लिए लेखक के ही पास रहता ह। हम नीचे एक चेक का उदाहरण देते हैं :—

Counterfoil	Cheque
No. AD 69892	No. AD 69892. 14th March, 1951
Date 14th March, 1951	THE CENTRAL BANK OF INDIA LTD. ALLAHABAD
In favour of Shri Hari Ram	*Pay to* Shri Hari Ram *or Bearer*
	Rupees Four hundred only
Rs. 400/-	Rs. 400/- Ram Prasad

चेक दो प्रकार के होते हैं :—(१) **धनी जोग** (Bearer) और (२) **शाह जोग** (Order)। धनी जोग चेक का भुगतान कोई भी व्यक्ति उस चेक को बैंक की खिड़की पर उपस्थिति करके करा सकता है। इस चेक पर लेनदार के बेचान लेख (Endorsement) की आवश्यकता नहीं होती और बैंक इस बात का जिम्मेवार नहीं होता कि भुगतान सही व्यक्ति को ही हो। शाह जोग चेक पर लेनदार का बेचान लेख और हस्ताक्षर आवश्यक है और उसका भुगतान बैंक परिचित व्यक्ति को ही करता है। चेक का बेचान लेख एक से दूसरे व्यक्ति को किया जा सकता है। जब चेक के मुख पर दो तिरछी समानान्तर रेखायें खींच दी जाती हैं तो उसको **रेखांकित** (Crossed) चेक कहते हैं। ऐसे चेक का भुगतान बैंक द्रव्य में नहीं करता; परन्तु यह किसी व्यक्ति के बैंक के हिसाब में ही जमा हो सकता है। साधारणतः उन रेखाओं के बीच में "& Co." शब्द लिख दिये जाते हैं। जब इन रेखाओं के बीच में किसी बैंक का नाम लिख दिया जाता है तो इस चेक का भुगतान उसी बैंक द्वारा हो सकता है। और जब उन रेखाओं के बीच में "A/c Payee Only" शब्द लिख दिये जाते हैं तो यह चेक केवल लेनदार के हिसाब में ही जमा हो सकता है। इस प्रकार का चेक बहुत सुरक्षित हो जाता है और उसका भुगतान गलत व्यक्ति को नहीं हो सकता।

बैंक में साधारणतः तीन प्रकार के हिसाब खुल सकते हैं। **अस्थायी जमा-खाते** (Current Account) में रुपया निकालने व जमा कराने में कोई रोक नहीं होती और साधारणतः इस पर कुछ ब्याज नहीं मिलता। **सेविंग बैंक** (Savings Bank Account) के खाते में

जमा कराने की सीमा होनी है और रुपये निकालने पर कुछ प्रतिबन्ध भी होते हैं। साधारणतः बैंक इस खाते पर १% प्रति वर्ष ब्याज देते हैं और कुछ बैंक इन खातों से रुपया निकालने के लिए चेक की सुविधा भी देते हैं। **स्थायी जमा-खाते** (Fixed Deposit) में रुपया एक निश्चित समय के लिए जमा कराया जाता है और उस समय के उपरान्त ही उसका भुगतान हो सकता है। परन्तु जमा कराने वाला बैंक से कुछ अधिक ब्याज देकर ऋण ले सकता है। चालू और सेविंग बैंक खाते में जमा रुपया जमा कराने के लिए बैंक छपे छपाये फॉर्म देता है जिनको **जमा कराने की पर्ची** (Pay-in-slip) कहते हैं।

चेक बड़ी सुविधाजनक और लाभदायक साख-पत्र है। चेक-बुक होने पर जेब में अधिक द्रव्य ले जाने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि यदि आपका रुपया बैंक में है तो आप किसी भी रकम का चेक लिख सकते हैं। यदि चेक-बुक खो जाय तो उससे कुछ हानि नहीं होती। यदि लिखित चेक खो जाय तो बैंक को सूचित करने से बैंक उसका भुगतान रोक देता है। रेखांकित चेक साधारण डाक द्वारा भेजे जा सकते हैं और इस कारण चेक एक स्थान से दूसरे स्थान पर द्रव्य भेजने के सस्ते और सुगम साधन हैं।

बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft) :—यह बैंक द्वारा लिखित साख-पत्र होते हैं जो एक बैंक किसी दूसरे स्थान पर अपनी शाखा या दूसरे बैंक पर लिखता है और उसको एक निश्चित रकम एक निश्चित व्यक्ति को देने का आदेश देता है। ड्राफ्ट की रकम और इस कार्य को करने का कमीशन लेकर बैंक ऐसे ड्राफ्ट देता है।

साख-पत्र (Letter of Credit) :—यह एक ऐसा पत्र होता है जो एक बैंक द्वारा दूसरे स्थान के बैंक या बैंकों पर एक निश्चित रकम तक एक निश्चित व्यक्ति को देने का आदेश देता है। इस पत्र को लिखने से पहले बैंक लिखित रकम इस पत्र को लेने वाले व्यक्ति से ले लेती है। यदि आप दूसरे नगर जा रहे हों तो आपको द्रव्य ले जाने की आवश्यकता नहीं है, वरन् साख-पत्र ले जा सकते हैं।

भारतवर्ष में चेक, बैंक-ड्राफ्ट और साख-पत्र का प्रयोग बहुत सीमित है। यह इतने सुविधाजनक और सस्ते विनिमय के माध्यम हैं कि इनका प्रयोग बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। इनके सीमित प्रयोग को बढ़ाने की निम्न रीतियाँ हैं:—

(१) जनता में शिक्षा का अभाव है जिस कारण अधिकांश व्यक्ति चेक नहीं लिख सकते हैं और इनका उपयोग भी नहीं समझते हैं। इस कारण जनता में शिक्षा का प्रचार होना चाहिये।

(२) बैंकों को चेक हिन्दी में छपवाने चाहियें और लेखक को प्रान्तीय भाषा में लिखने व हस्ताक्षर करने की सुविधा देनी चाहिये।

(३) राज्य का लगान, आय-कर इत्यादि के भुगतान में चेक स्वीकार करने चाहियें और अपने भुगतान भी चेक द्वारा ही करने चाहियें। स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटियों को भी फीस चेक में लेने की सुविधा देनी चाहिये।

(४) बैंक के कर्मचारियों का वेतन बढ़ने व महँगाई के कारण बैंकों ने दूसरे स्थान के चेकों के वसूल करने के व्यय में वृद्धि कर दी है। इसको घटाने के प्रयत्न करने चाहियें।

(५) बैंकों को चेकों का भुगतान तुरन्त करना चाहिये। विदेशों में बैंक खिड़की पर चेक उपस्थित करने के एक दो मिनट में ही भुगतान हो जाता है; परन्तु हमारे देश में भुगतान में अधिक समय लगता है जिससे लोग चेक स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं।

हुण्डी (Hundi) :—हुण्डी का प्रयोग भारतवर्ष में बहुत पुराना है। इसके द्वारा लोग रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते हैं और ऋण भी लेते हैं। हुण्डी के तीन पक्ष होते हैं—**लेखक** (Drawer) जो हुण्डी लिखता है, **देनदार** (Drawee) जिस पर हुण्डी लिखी जाती है और **लेनदार** (Payee) जिसको हुण्डी का रुपया मिलता है। यह दो प्रकार की होती है, **दर्शनी** या **मुद्दती**। दर्शनी हुण्डी का भुगतान उसके उपस्थित करते ही हो जाता है। मुद्दती हुण्डी का भुगतान लिखित समय के व्यतीत होने पर ही होता है और उस पर टिकट भी लगाना पड़ता है। इसके भुगतान में तीन या पाँच रियायती दिन (Days of grace) मिलते हैं। हुण्डी हिन्दी में ही लिखी जाती है जिसका उदाहरण नीचे दिया गया है:—

दर्शनी हुण्डी

नं० ४१ ॐ

सिद्ध श्री अजमेर शुभस्थान श्री पत्री भाई रामकृष्ण जोग कानपूर से सेठ रामलाल दीनदयाल की राम राम बंचना। अपरंच हुण्डी किता नग १ आपके ऊपर करी। रुपया पाँच सौ अंकेन रुपया ५००) नीमे रुपया २५०) के दूने पूरा आठे रखा भाई मोहनलाल मिति फाल्गुन सुदी दशमी। तुरन्त शाह जोग रुपया चलन बाजार ठिकाना लगाय चौकस कर दाम देना। हुण्डी लिखी मिति फाल्गुन सुदी दशमी संवत् २००१।

द० रामलाल दीनदयाल

उक्त हुण्डी लिखने वाला रामलाल दीनदयाल है और वह रामकृष्ण के नाम लिखी गई है। इस हुण्डी का रुपया ५००) मोहनलाल को मिलेगा।

बिल ऑफ एक्सचेंज (Bill of Exchange) :—यह एक लिखित प्रमाण होता है जिसमें लेखक (या ऋणदाता) किसी व्यक्ति को, एक आदेशित व्यक्ति को एक निश्चित रकम देने का आदेश देता है। रकम पाने वाले को लेनदार कहते हैं और जिसपर बिल लिखा जाता है उसको देनदार। जब इसका रुपया बिल को उपस्थिति करते ही देना पड़ता है तो इसको दर्शनी बिल (Demand Bill of Exchange) कहते हैं। यदि रुपया कुछ समय के बाद चुकाना हो तो इसे मुद्दती (Time or Usance Bill) बिल कहते हैं। मुद्दती बिल को लेनदार प्राप्त करते ही देनदार के सामने स्वीकृति के लिए उपस्थित करता है जो उस पर "स्वीकार किया" (Accepted) शब्द लिख देता है। जिससे यह पक्का रुक्का हो जाता है और दोनों पक्षों पर लागू हो जाता है। मुद्दती बिल के भुगतान के लिए तीन दिन रियायत के दिये जाते हैं। मुद्दती बिल पर टिकट भी लगाना पड़ता है। लेनदार इस पर बेचान लेख लिखकर दूसरे व्यक्ति को दे सकता है और उस स्थिति में उसके भुगतान का अधिकारी वह दूसरा व्यक्ति ही होता है। बिल पर जितने अधिक बेचान लेख लिखे होते हैं वह उतना ही सुरक्षित हो जाता है; क्योंकि अन्तिम लेनदार किसी भी बेचान लेखक से रुपया ले सकता है, यदि देनदार उसका भुगतान करना अस्वीकार कर दे। जब यह बिल देश में रहने वाले व्यक्ति पर ही लिखा जाता है तो देशी बिल कहलाता है जिसका उदाहरण नीचे दिया गया है:—

Rs. 600/-   DELHI,
7th April, 1951.

STAMP

Thirty days after sight of this Bill pay to the United Commercial Bank Ltd., or order the sum of Rupees six hundred only for value received.

To,
For JOLLY ENGINEERING WORKS,

Messrs. Krishna Hardware Stores,
Kanpur.

Jitendra Nath
Proprietor.

जब एक देश में रहने वाला दूसरे देश के व्यक्ति पर बिल लिखता है तो उसको विदेशी बिल कहते हैं। यह विदेशी व्यापार के भुगतान में बहुत सहायक होता है। विदेशी व्यापारी हमारे सिक्के स्वीकार नहीं करते; क्योंकि वे उनके देश में नहीं चलते और उनको सोना चाँदी भेजने में

कुछ व्यय भी करना पड़ता है और समय भी लगता है। इस कारण एक विदेशी विक्रेता भारतीय क्रेता पर बिल लिखता है और ऐसे व्यक्ति को बेच देता है जिसने किसी भारतीय विक्रेता से वस्तु मोल ली हो और जिसको भुगतान करना हो। बैंकों के निर्माण के कारण इन व्यक्तियों को एक दूसरे की खोज नहीं करनी पड़ती। विदेशी विक्रेता अपना बिल बैंकों से भुना लेता है और इसी तरह विदेशी क्रेता बैंकों से भारतीय द्रव्य खरीदकर भारतीय विक्रेताओं का भुगतान कर देता है। इस प्रकार बैंक विदेशी द्रव्य, विदेशी क्रेता से प्राप्त करके विदेशी विक्रेता को दे देते हैं और भारतीय द्रव्य भारतीय क्रेता से लेते हैं और भारतीय विक्रेता को देते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भुगतान बड़ी सुगमता और कम व्यय पर हो जाता है। साधारणतया विदेशी बिल की तीन नकलें लिखी जाती हैं जिससे यातायात में उनकी एक या दो नकल खोने पर भी कम से कम एक नकल तो सुरक्षित पहुँच सकती है। इन तीनों नकलों में से केवल एक ही का भुगतान करना पड़ता है। विदेशी बिल ऑफ एक्सचेंज का उदाहरण नीचे दिया गया है :—

(First of Exchange)

Bond Street,
London, 4th April, 1951.

£ 42-6-8

STAMP

Ninety days after sight of the first of Exchange (second and third of the same tenure and date unpaid) pay to the Central Bank Ltd., the sum of forty-two pounds, six shillings and eight pence, value received.

To,
Messrs. M. R. & Sons,
Ajmer.

Per Pro Martin Harris Ltd.,
Arthur Brown
Manager

विदेशी या देशी मुद्दती बिलों का रुपया लेनदार उनके भुगतान की अन्तिम तिथि से पहले भी बैंक से उनका भुगतान कराकर ले सकता है। बैंक जितने दिन बाद उस बिल का रुपया मिलेगा उसका ब्याज (Discount) काट कर उस बिल को खरीद लेते हैं।

प्रोमिसरी नोट (Promissory Note) :—यह एक लिखित प्रतिज्ञा होती है जिसके अनुसार लिखने वाला लिखित व्यक्ति को लिखित

रकम इस पत्र के उपस्थित करने पर देने की प्रतिज्ञा करता है। इसके लिखने की रीति सदा दर्शनी होती है, परन्तु जब लेनदार इसका रुपया तुरन्त नहीं लेना चाहता है तो इस पर ब्याज की प्रतिज्ञा लिखा लेता है, जिससे उसको ब्याज मिलता रहे। प्रोमिसरी नोट का उदाहरण नीचे दिया गया है :—

AJMER

Dated 1st April, 1951.

On demand I promise to pay to Shri Ram Krishna a sum of Rupees Five hundred only (Rs. 500/–) value received with interest thereon at nine per cent per annum from date hereof until repayment in full.

Radhey Shyam.

Stamp

रिजर्व बैंक के कागजी नोट भी प्रोमिसरी नोट हैं जिनका रुपया उसको उपस्थित करनेवाले व्यक्ति को मिल सकता है। परन्तु कानून के अनुसार इनको प्रोमिसरी नोट की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं रखा गया है और इस कारण प्रोमिसरी नोट के समान इन नोटों पर टिकट की आवश्यकता नही होती।

अभ्यास के प्रश्न

१. साख से आप क्या समझते है ? इससे लाभ और हानियाँ बतलाइये।
२. चेक की परिभाषा समझाइये। इसके प्रयोग के लाभ बतलाइये और समझाइये कि हमारे देश में इसका प्रयोग किस प्रकार बढ़ सकता है।
३. बिल ऑफ़ एक्सचेंज और चेक की तुलना कीजिये और उनमे अन्तर समझाइये।

अध्याय २६

बैंक-प्रणाली

मनुष्य अपनी आय का पर्याप्त भाग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के निमित्त व्यय करता है और शेष भाग बचा लेता है। इस बचत को मनुष्य या तो अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ बनाने के लिए सचित करता है या उसे किसी ऐसे कार्य मे लगा देता है जिससे भविष्य मे उसे लाभ हो सके। यदि वह मनुष्य अपनी इस बचत को अपने पास सचित करने की अपेक्षा बैंक मे जमा कर दे तो उसका धन सुरक्षित रहता है और बैंक इसके बदले मे उसे ब्याज भी देता है। यदि बैंक मे रुपया जमा किया जाय तो बैंक उन व्यवसायियो को रुपया ऋण दे सकते है जिनको अपने कारोबार को चलाने के लिए रुपयो की आवश्यकता है। इस प्रकार जो रुपया हम बैंक मे जमा करते है उससे केवल हमारा ही लाभ नही होता वरन् देश की आर्थिक उन्नति मे सहायता मिलती है। बैंको का विशेष कार्य यही है कि जिसके पास द्रव्य आवश्यकता से अधिक है उसका द्रव्य सुरक्षित रखे और जिनको अपने स्वय व्यय करने के लिए या अपने कारो-बार के लिए द्रव्य की आवश्यकता है उनको द्रव्य ऋण दे। द्रव्य को एक स्थान पर एकत्रित कर रखने से ही काम नही चल सकता। इसलिये बैंक द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का कार्य भी करता है। बैंक के ग्राहक उसके भंडार गृह (Safe Vault) मे अपने जेव-रात, मूल्यवान् वस्तुएँ या सिक्योरिटियाँ इत्यादि सुविधापूर्वक जमा कर सकते है। अपने ग्राहको के लिए बैंक सिक्योरिटी (Securities) खरीदता-बेचता है और उनके लिए ट्रस्टी (Trustee) का काम भी करता है।

बैंक एक ऐसी सस्था है जो द्रव्य का लेन-देन करती है। बैंक और महाजनो मे अन्तर यह है कि बैंक केवल द्रव्य के लेन-देन का काम करता है; परन्तु महाजन इसके अतिरिक्त कमीशन-एजेन्सी व व्यापार इत्यादि कार्य भी करता है। बैंक की मुख्य विशेषता यह है कि वह ऐसे खाते में रुपया जमा करता है जिसमे से जमा करने वाले व्यक्ति को चेक के द्वारा या किसी अन्य विधि से माँग करने पर द्रव्य तुरन्त मिल सकता है।

बैंकों के प्रकार (Types of Banks) :—बैंक कई प्रकार के होते हैं जिनके कार्य व कार्य करने की विधियाँ विभिन्न हैं।

(अ) **केन्द्रीय बैंक** (Central Banks) :—केन्द्रीय बैंक एक महत्वपूर्ण संस्था है। यह अन्य बैंकों के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। यह नोट छापता तथा उनका प्रचलन करता है। यह देश में प्रचलित साख की विधियों का संगठन करता है और उन पर नियन्त्रण भी रखता है। यह विशेषकर सरकार का द्रव्य सम्बन्धी कार्य करता है।

(ब) **व्यापारी बैंक** (Commercial Banks):—व्यापारी बैंक रुपया जमा करने व ऋण देने का कार्य करता है। यह आवश्यकतानुसार देश में द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने का कार्य करता है और अपने ग्राहकों को बहुमूल्य वस्तुएँ जैसे आभूषण, सोना इत्यादि रखने की सुविधा देता है। यह व्यापारी हुण्डी का मितिकाटा (Discount) का कार्य करके देश के आन्तरिक व्यापार को पर्याप्त सुविधा देता है।

(स) **विदेशी-विनिमय बैंक** (Foreign Exchange Banks) :—यह बैंक व्यापारी-बैंक की श्रेणी में ही आता है। अन्तर केवल इतना है कि व्यापारी-बैंक देश के आन्तरिक व्यापार से सम्बन्ध रखता है; परन्तु विदेशी-विनिमय बैंक विदेशी-व्यापार सम्बन्धी कार्य करता है।

(द) **औद्योगिक बैंक** (Industrial Banks) :—इन बैंकों की विशेषता यह है कि ये उद्योग-धन्धों के लिए दीर्घकालीन ऋण (Long period loans) देते हैं और इसी कारण अपने सदस्यों का द्रव्य केवल स्थायी खाते में ही जमा करते हैं। भारत में ऐसे बैंकों की बहुत कमी है, इसी कारण भारत सरकार ने केन्द्रीय इण्डस्ट्रियल फाइनेन्स कारपोरेशन (Industrial Finance Corporation of India) का निर्माण किया है।

(य) **सेविंग बैंक** (Saving Banks) :—इन बैंकों का मुख्य उद्देश्य यह है कि थोड़ी मात्रा में द्रव्य जमा करने वाले व्यक्ति इनमें द्रव्य जमा कर सकें। भारत में ऐसे बैंकों को विशेषकर डाकखाने चलाते हैं। अब भारत के सभी व्यापारिक बैंक सेविंग बैंक का काम भी करने लगे हैं।

(र) **भूमि-बन्धक बैंक** (Land Mortgage Banks) :—औद्योगिक बैंक उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण देते हैं; परन्तु ये बैंक भूमि के आधार पर कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देते हैं।

(ल) **सहकारी बैंक** (Co-operative Banks) :—ये बैंक केवल अपने सदस्यों से ही लेन-देन का कारोबार करते हैं। भारत के कृषि-उद्योग के लिए इनका विशेष महत्व है।

(व) **साहुकारी बैंक** (Indigenous Banks) :—ये बैंक लेन-देन का

कार्य करते है तथा रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के उद्देश्य से हुण्डी बेचते हैं। भारतवर्ष में यह संस्था अत्यन्त प्राचीन है। यह बैंकिंग के साथ ही व्यापार भी करते हैं।

केन्द्रीय बैंक

केन्द्रीय बैंक एक महत्वपूर्ण संस्था है जिसपर देश की आर्थिक समृद्धि निर्भर रहती है। प्रत्येक देश में अनेक प्रकार के बैंक होते हैं जिनके द्वारा देश का आर्थिक लेन-देन चला करता है। परन्तु प्रत्येक देश में केवल एक ही केन्द्रीय बैंक होता है। अन्य बैंकों का उद्देश्य सदा नफा कमाना रहा है। वे अपने द्रव्य को व्यापार में, ऋण में तथा किसी लाभदायक योजना में लगाते हैं और इसके फलस्वरूप लाभ प्राप्त करते हैं। इसी लाभ में से वे अपने सदस्यों के जमा द्रव्य पर ब्याज इत्यादि देते हैं और इस प्रकार द्रव्य जमा करने की प्रवृति को प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य नफा कमाना नहीं होता है। वह प्रायः देश में प्रचलित साख की विधियों पर नियन्त्रण रखता है। वह अन्य बैंकों की साख-व्यवस्था का निरीक्षण करता रहता है और उसमें किसी भी प्रकार की शिथिलता या भूलें नहीं होने देता। ऐसा होने पर वह अपने अधिकारों का पूरा प्रयोग करके सारी व्यवस्था को ठीक राह पर ले आता है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों तथा देश की आर्थिक समृद्धि चाहता है और उसके लिए सदा प्रयत्न करता है। वह नफे के उद्देश्य से कार्य नहीं करता है। वह अपने क्षेत्र में सर्वशक्तिशाली होता है।

अन्य बैंक नफे के लिए कार्य करते हैं जिसके लिए वे सुरक्षा चाहते हैं। उनके कार्य अधिकतर प्रतिस्पर्धा की नीति से प्रभावित होते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें हानि या अन्य किसी दुर्घटना की आशंका रहती है। केन्द्रीय बैंक ऐसे बैंकों को सुरक्षा प्रदान करता है। आवश्यकता पड़ने पर अन्य बैंक इससे द्रव्य ऋण ले सकते हैं। तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय बैंक देश की बैंक-व्यवस्था का संगठन एवं संचालन करता है और अन्य बैंक इसके आदेशानुसार कार्य करके देश की आर्थिक समृद्धि में सहायक होते हैं।

भारतवर्ष में केन्द्रीय बैंक को रिजर्व बैंक कहते हैं। पहले इंग-लैण्ड में देश की बैंक-व्यवस्था का निरीक्षण, संगठन एवं संचालन करने के लिए केन्द्रीय बैंक सी कोई संस्था न थी। समस्त व्यापारी बैंक नोट छापते व उनको प्रचलित करते थे। जिससे देश का आर्थिक जीवन सुचारु रूप से उन्नति नहीं कर पाता था। इस कठिनाई को देखकर केन्द्रीय बैंक की महत्वपूर्ण स्थापना की गई। भारतवर्ष में भी रिजर्व बैंक नाम से यह संस्था १९३५ से कार्य कर रही है।

यह तथ्य निर्विवाद है कि प्रचलित मुद्रा देश की आर्थिक स्थिति को सदैव प्रभावित करती रहती है। जब देश में मुद्रा का प्रसार आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो देश की वस्तुओं के मूल्यों में एक भारी परिवर्त्तन आने लगता है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ने आरंभ हो जाते हैं और अधिक मल्य बढ़ने की आशा से व्यापारी बहुत-सी आवश्यक वस्तुओं का विक्रय बन्द कर देते हैं और इससे देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाता है। यदि मुद्रा का प्रचलन आवश्यकता से कम होता है तो इसका प्रभाव मनुष्य की कार्यक्षमता पर पड़ता है। जो मुद्रा चलन में होती है वही दूसरे रूप में आय भी होती है। यदि आय कम होगी तो स्वभावतया आवश्यकता की वस्तुएँ कम खरीदी जायेंगी अर्थात् वस्तुओं की माँग घट जायेगी। जिससे मनुष्य के स्वास्थ्य व उसके रहन-सहन के दर्जे पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसके फलस्वरूप उत्पादन में भी कमी आ जायेगी और पुनः एक आर्थिक संकट उपस्थित हो जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि मुद्रा का चलन न तो आवश्यकता से अधिक हो और न कम। इस बात का निरीक्षण, संगठन व संचालन देश का केन्द्रीय बैंक करता है।

यदि बैंक नोट छापकर प्रचलित करें तो देश की आर्थिक स्थिति की जाँच तथा उसकी मुद्रा की आवश्यकता इत्यादि की उचित व्यवस्था हो सकना सम्भव नहीं है। यदि अन्य व्यापारी बैंकों को नोट छापने का अधिकार दे दिया जाय तो अनेक प्रकार के नोट चलन में आ जायेंगे और साधारण मनुष्य के लिए यह जानना असम्भव हो जायेगा कि कौन नोट ठीक है और कौन जाली है। दूसरी ओर यदि जनता नोटों के बदले में धातु की मुद्रा की माँग करे और व्यापारी बैंक इस माँग की पूर्ति न कर सकें तो उस बैंक की साख टूट जायेगी। जनता का विश्वास उस पर से उठ जायेगा और बैंक फेल हो जायेगा। इसका अन्य बैंकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए नोट छापने व प्रचलित करने का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को दिया गया है जो इन सब कमियों को ध्यान में रखकर नोट छापता व उन्हें प्रचलित करता है। इससे आर्थिक संकटों की सम्भावना कम रहती है और बैंक पर लोगों का विश्वास बना रहता है।

देश में साख का कार्य कई विधियों व साधनों से—बिल, हुण्डी, ड्राफ्ट इत्यादि के द्वारा किया जाता है। केन्द्रीय बैंक का ऋण लेने की इन सब द्वारा विधियों पर पूरा नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक को द्रव्य की कुल पूर्ति पर नियन्त्रण रखना होता है। इसके लिए उसे मुख्यतया दो विधियों का अनुसरण करना पड़ता है। (१) बैंक की सूद की दर सम्बन्धी नीति और (२) खुले बाजार में सिक्योरिटियों का क्रय-विक्रय।

बैंक की दर (Bank Rate):—यह ब्याज की उस दर को कहते हैं जिसपर केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को ऋण दिया करता है। केन्द्रीय बैंक के इस दर के आधार पर ही अन्य बैंक ऋण देते व अन्य लेन-देन के कार्य करते हैं। ब्याज की दर का प्रभाव प्रत्येक ऋण लेने वाले पर पड़ता है। यदि ब्याज की दर अधिक है तो ऋण कम लिया जायेगा और ब्याज की दर कम है तो ऋण अधिक लिया जायेगा। जब केन्द्रीय बैंक साख बढ़ाना चाहता है तो ब्याज की दर कम कर देता है। इसके फलस्वरूप अन्य बैंकों की ब्याज की दर भी कम होगी और इससे व्यापारी वर्ग, उद्योग-पतियों को ऋण लेने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। यदि केन्द्रीय बैंक साख का संकुचन करना चाहता है तो ब्याज की दर बढ़ा देता है। अन्य बैंक भी इसी दर के आधार पर अपने ब्याज की दर बढ़ाते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारी व उद्योगपति बैंकों से ऋण लेना कम कर देते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर निश्चित करने की नीति का प्रभाव देश के सारे बैंकों व उनके लेन-देन के कार्यों पर पड़ता है। यह नीति साख को बढ़ाने व घटाने का एक महत्वपूर्ण साधन है।

इस नीति का प्रभाव पूँजी की गतिशीलता (Capital Movement) पर पड़ता है। यदि किसी देश के भुगतान आधिक्य (Balance of Payment) में कमी हो जाती है अर्थात् किसी एक देश को विदेश से कम मात्रा में पूँजी प्राप्त करनी है और पूँजी का भुगतान अधिक मात्रा में करना पड़ता है, तब प्रायः उस देश का केन्द्रीय बैंक अपने देश में ब्याज की दर बढ़ा देता है। इससे विदेशी पूँजी उसकी ओर आकर्षित होती है और इस प्रकार वह देश अपने घाटे की पूर्ति कर लेता है। यदि विदेशी पूँजी की मात्रा अपने देश में कम करनी हो तो केन्द्रीय बैंक ब्याज की दर कम कर देता है। विदेशी पूँजीपति अपनी पूँजी को उस देश से निकाल कर ऐसे देशों में लगाना चाहेंगे जहाँ ब्याज की दर अधिक हो। इस प्रकार विदेशी पूँजी की मात्रा अपने देश में कम व अधिक करने के लिए भी इस नीति का बड़ा महत्व है।

परन्तु कुछ कारणों से केन्द्रीय बैंक की इस नीति का प्रभाव कम हो गया है। केन्द्रीय बैंक की ब्याज की नीति की पूर्ण सफलता के लिए यह आवश्यक है कि यदि केन्द्रीय बैंक अपने ब्याज की दर में वृद्धि करे तो अन्य बैंक भी अपने ब्याज की दर, हुण्डी या बिल इत्यादि भुनाने की दर बढ़ा दें। यदि केन्द्रीय बैंक अपने ब्याज की दर घटा दे तो अन्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर उसी आधार पर घटा दें। १९३१ तक ब्रिटेन के केन्द्रीय बैंक व अन्य बैंकों की दरों में इस प्रकार का सम्बन्ध था; परन्तु अब वहाँ भी यह सम्बन्ध नहीं रहा है। भारत में इस प्रकार का कोई सम्बन्ध था ही नहीं। यद्यपि केन्द्रीय बैंक के ब्याज की दर में

परिवर्त्तन करने से अन्य ब्याज की दरों पर कुछ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है; परन्तु आवश्यकतानुसार उसका वांछित प्रभाव न पड़ सकने के कारण केन्द्रीय बैंक की इस नीति का प्रभाव कम हो गया है।

भारतवर्ष में १९३५ से सस्ते दर की नीति (Cheap Money Policy) अपना ली गयी है। यह पहले से ही निश्चय कर लिया गया है कि केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर कम रखी जायेगी। इसके फलस्वरूप ब्याज की दर में बढ़ती हो सकना लगभग असम्भव है। इससे केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर घटाने-बढ़ाने की नीति का अधिक महत्व नहीं रहा।

आजकल विदेशी पूँजी की गतिशीलता में प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। यदि एक देश का केन्द्रीय बैंक ब्याज की दर बढ़ा भी दे तो वह अन्य देशों की पूँजी को उक्त प्रतिबन्धों के कारण आकर्षित नहीं कर सकता है। यदि आकर्षित कर भी लें तो विदेशी पूँजीपतियों को इसकी स्थिरता पर विश्वास नहीं हो पाता है। इस कारण भी केन्द्रीय बैंक की उक्त नीति के प्रभाव में कमी आ गयी है।

Open Market Operations :—खुले बाजार में सिक्योरिटियों का क्रय-विक्रय करके केन्द्रीय बैंक देश में सन्तुलित आर्थिक व्यवस्था स्थापित करता है। केन्द्रीय बैंक के पास व्यक्तिगत, संस्था व सरकार की सिक्योरिटियाँ रहती हैं। जब देश में साख बढ़ानी है या मुद्रा का अधिक चलन करना है तो केन्द्रीय बैंक इस प्रकार की सिक्योरिटियाँ खरीद लेता है। इसके फलस्वरूप व्यापारियों के पास नकद मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है और वे उसे बैंकों में जमा कर देश में ऋण व साख के प्रचलन में वृद्धि करने में सहायक बन जाते हैं या स्वयं ही अपनी आवश्यकता की पूर्ति में उसका उपयोग कर सकते हैं। यदि बैंक अपनी सिक्योरिटियों को बेचें तो उनकी ऋण देने की शक्ति बढ़ जाती है, इस प्रकार मुद्रा के प्रसार में वृद्धि की जा सकती है। यदि केन्द्रीय बैंक मुद्रा प्रसार में संकुचन लाना चाहता है तो वह प्रायः सिक्योरिटियों को बेचना प्रारम्भ कर देता है। इस क्रिया से वह बैंकों व व्यक्तियों के पास से अवांछित मुद्रा की मात्रा अपने कोष में एकत्र कर लेता है। लोगों और बैंकों के पास नकद द्रव्य कम होने से देश में साख के चलन में कमी आ जायेगी।

परन्तु यह विधि व्यवहार में अत्यन्त कठिन है। यदि देश में मुद्रा प्रसार करने या साख बढ़ाने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक सिक्योरिटियाँ खरीदना चाहें तो बहुत सम्भव है कि बेची जाने वाली सिक्योरिटियाँ केन्द्रीय बैंक के उपयोग की न हों या जब केन्द्रीय बैंक सिक्योरिटियाँ बेचता है तब

उसके खरीदनेवाले न मिलें। इससे साख व्यवस्था को बहुत हानि होती है और केन्द्रीय बैंक की नियन्त्रण रखने की शक्ति में ह्रास हो जाता है।

वर्तमान में केन्द्रीय बैंकों के कोष में अधिकतर सिक्योरिटियाँ सरकारी हैं। यदि वे सब सिक्योरिटियाँ बेची जाँय तो सरकारी साख को धक्का लगने की सम्भावना है। इससे भी स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार में क्रय-विक्रय करने की नीति उतनी शक्तिशाली नहीं है।

यदि व्यापारिक बैंकों और व्यक्तियों के पास द्रव्य-प्राप्ति और प्रसार के प्रचुर साधन हों तो केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार में सिक्योरिटियों के क्रय-विक्रय करने की नीति का वांछित प्रभाव नहीं पड़ता है। इस नीति के प्रयोग में यदि व्यापारिक बैंकों व अन्य व्यक्तियों का सहयोग केन्द्रीय बैंक को प्राप्त न हो तो यह नीति असफल हो सकती है। अतएव साख के चलन पर नियन्त्रण रखने के लिए केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंकों व संस्थाओं का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य है।

Banker's Bank :—केन्द्रीय बैंक संकट के समय अन्य बैंकों की रक्षा करता है। प्रायः देश में अनेक बैंक होते हैं जो खास व्यापार चलाते हैं। सबके व्यापार-कार्य का आधार साख ही होता है।

यदि किसी बैंक पर कुछ संकट आ जाये और उसके सदस्य उससे अपना द्रव्य वापस माँगना आरम्भ कर दें तो ऐसी अवस्था में वह बैंक केन्द्रीय बैंक से सहायता ले सकता है और इस अस्थायी संकट से मुक्त हो सकता है। साधारणतया अन्य बैंक लेन-देन के लिए प्रायः १०% नकद द्रव्य ही अपने कोष में रखते हैं और नियमानुसार अपनी कुल सम्पत्ति का एक निश्चित भाग केन्द्रीय बैंक में सुरक्षित रखते हैं। केन्द्रीय बैंक इस सुरक्षित कोष के आधार पर संकट के समय उस बैंक को ऋण देता है और उसकी सरकारी सिक्योरिटियों, बिलों इत्यादि को खरीद लेता है और प्राप्त द्रव्य से बैंक अपने सदस्यों की माँग का भुगतान कर अपनी ठोस आर्थिक स्थिति के प्रति विश्वास पैदा कर सकता है। व्यापारिक बैंकों के सिवाय अन्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक की सहायता की कम आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि उनका लेन-देन दीर्घकालीन होता है। व्यापारिक बैंक अल्पकालीन लेन-देन करते हैं और केन्द्रीय बैंक से अधिक सहायता लिया करते हैं। इस दृष्टि से केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों की सहायता करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है।

यदि एक बैंक भी फेल हो जाता है अर्थात् माँग करने पर अपने सदस्यों के जमा-द्रव्य का भुगतान नहीं कर पाता है तब अन्य बैंकों को भी इससे हानि होती है। केन्द्रीय बैंक इनकी सहायता का अन्तिम आधार

होने के कारण इन बैंकों का सदा निरीक्षण करता रहता है। अन्य बैंकों के लिए यह आवश्यक है कि वे सदा केन्द्रीय बैंकों को अपनी आर्थिक स्थिति, लेन-देन इत्यादि की पूर्ण सूचना देते रहें जिनके अध्ययन के आधार पर केन्द्रीय बैंक अपनी नीति निर्धारित करते हैं। यदि, कोई बैंक जिसकी आर्थिक स्थिति ठोस है अस्थायी रूप से संकट में पड़ गया हो तो केन्द्रीय बैंक से सहायता की आशा कर सकता है परन्तु यदि उसकी आर्थिक स्थिति नियमानुसार न चलने से दुर्बल पड़ गयी हो तो उसे सहायता की कम आशा होती है और वह इस संकट में समाप्त हो जाता है।

राजकीय बैंक (State Banker) :—राजकीय बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है। अन्य बैंकों का तथा राज्य का देश-विदेशों से आर्थिक लेन-देन होने से यह ऋण के सूद व मितिकाटे इत्यादि की दर निश्चित करता है। भारत का केन्द्रीय बैंक स्टर्लिंग की समस्याओं, दरों व द्रव्य के मूल्य इत्यादि का निरीक्षण करता है और इन पर नियन्त्रण रखता है। अधिकतर राज्य को जब किसी योजना के लिए या किसी अन्य आकस्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए जनता से ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है तब केन्द्रीय बैंक ही इस ऋण की वसूली करता है। राज्य का लगान वसूल करने का कार्य व राज्य के लेन-देन का हिसाब रखने का कार्य भी केन्द्रीय बैंक ही करता है। राज्य के द्रव्य सम्बन्धी सभी कार्यों के करने के कारण इसे राजकीय बैंक भी कहा जाता है।

बैंकों के कार्य

यह तो सर्वविदित है कि बैंक द्रव्य का लेन-देन करते हैं; परन्तु यदि बैंकों की लेन-देन की इस क्रिया का सूक्ष्म निरीक्षण करें तो निम्न बातें ज्ञात होती हैं।

केन्द्रीय बैंक को छोड़कर अन्य सब बैंक तीन प्रकार के कार्य करते हैं—

(१) द्रव्य जमा करना,

(२) साख के आधार पर ऋण देने का कार्य,

(३) मूल्यवान् वस्तुओं, सिक्योरिटियों इत्यादि की सुरक्षा और ट्रस्टी इत्यादि का कार्य।

सर्वप्रथम हम बैंकों के द्रव्य जमा करने के कार्य का अध्ययन करेंगे। अधिकांश जनता अपनी बचत को बैंकों में जमा करती है। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि बचत को घर में ही जमा किया जाय तो शीघ्र से शीघ्र उसका व्यय हो जाना बहुत सम्भव है। द्रव्य घर में रखकर व्यक्ति आवश्यक और अनावश्यक वस्तु पर व्यय करने के पहले गंभीरता से उस पर नहीं सोचता है। दूसरा कारण यह है कि बचत इसीलिये की

जाती है कि वह सुरक्षित रहे और भविष्य में आवश्यकता के समय उसका उपयोग किया जा सके। घर में अधिक मात्रा में द्रव्य रखने से चोर-डाकुओं का भय लगा रहता है। अतएव उसकी पूर्ण सुरक्षा नहीं हो सकती। बैंक इन दोनों शंकाओं से अधिकतर मुक्त होता है। व्यक्ति के बचत करने का एक उद्देश्य यह भी होता है कि आवश्यकता पर जितनी माँग की जाय उतना द्रव्य सरलता से प्राप्त हो सके और बचत पर कुछ लाभ भी हो। बैंक में इसकी भी पूर्ण व्यवस्था रहती है। इसलिये व्यक्तियों को अपनी बचत अधिकतर बैंकों में ही जमा करनी चाहिये।

बैंक द्रव्य जमा करने में अपने लाभ और सदस्यों की सुविधाओं का पूरा ध्यान रखते हैं। बहुत से सदस्य अल्पकाल के लिए अपना द्रव्य जमा करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर द्रव्य निकाल लेते हैं। कुछ सदस्य दीर्घकाल के लिए अपना द्रव्य बैंकों में जमा कर देते हैं। कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं जो अधिक मात्रा में द्रव्य जमा कर सकते हैं और कुछ कम मात्रा में। इसलिये बैंक ने सदस्यों की व अपनी सुविधा के अनुसार जमा खाते को तीन मुख्य भागों में बाँटा है :—

(अ) अस्थायी जमा-खाते (Current Account)

(ब) स्थायी जमा-खाते (Fixed Account)

(स) सेविंग बैंक के खाते (Saving Bank Account)

(अ) **अस्थायी जमा-खाते** :—इस खाते में अधिकतर वे ही सदस्य द्रव्य जमा करते हैं जिन्हें अल्पकाल में ही उस द्रव्य की आवश्यकता होती है। बैंक इस खाते के द्रव्य की अधिकांश मात्रा को अपने कोष में सुरक्षित रखते हैं; क्योंकि सदस्य की माँग पर यह पूरा द्रव्य उसको दे देना बैंक के लिए अनिवार्य होता है। इसी कारण बैंक इस द्रव्य में से उद्योगपतियों को या अन्य योजनाओं के लिए दीर्घकाल के लिए ऋण नहीं दे सकता है। इसी के फलस्वरूप उद्योग-बैंक और भूमि-बन्धक बैंकों का निर्माण हुआ। दीर्घकालिक ऋण न दे सकने और अधिक खतरे के कार्यों में इसको न लगा सकने के कारण इस द्रव्य से बैंक को अधिक लाभ नहीं होता है और इसीसे वह अपने सदस्यों को सूद भी बहुत कम देता है। भारत का इम्पीरियल बैंक इस खाते पर कुछ भी सूद नहीं देता है।

(ब) **स्थायी जमा-खाता** :—इस खाते में द्रव्य दीर्घकाल के लिए जमा किया जाता है। बैंक इस द्रव्य को बड़ी योजनाओं में या बड़े उद्योग-धन्धों में लगा सकते हैं जिससे उन्हें अधिक लाभ हो सकता है। बैंक इस कारण इस खाते में जमा द्रव्य पर सूद भी अधिक देते हैं। इससे बैंक और सदस्य दोनों का लाभ होता है। यदि सदस्य इस द्रव्य को बैंक

से निकालना चाहे तो उसे इसकी सूचना बैंक को एक निश्चित समय से पहले दे देनी पड़ती है जिससे उस समय तक बैंक द्रव्य के भुगतान का प्रबन्ध कर सके।

(स) **सेविंग बैंक** :—यह बैंक प्रायः निर्धनों का बैंक है। जो लोग बहुत थोड़ी मात्रा में द्रव्य बचा सकते हैं वे उस थोड़ी मात्रा को इस बैंक में जमा कर सकते हैं। भारतवर्ष में इसका कार्य प्रायः डाकखाने के द्वारा होता है। इस खाते में जमा द्रव्य सप्ताह में एक बार निकाला जा सकता है। बैंक इस द्रव्य पर स्थायी जमा-खाते की तरह सूद भी देता है। अतएव सेविंग बैंक खाता न अस्थायी जमा खाता है और न स्थायी। यह इन दोनों के बीच का है। इसका मुख्य कारण है इसका उद्देश्य। सेविंग बैंक का उद्देश्य निम्न मध्यवर्ग व निर्धनों में द्रव्य जमा करने या बचत करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है। इस प्रवृत्ति से देश की आर्थिक उन्नति में बड़ी सहायता मिलती है तथा रहन-सहन के दर्जे में भी प्रचुर प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष में यह अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। राज्य को इसके विकास की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये ; क्योंकि देश की अधिकतम जनसंख्या केवल इसी बैंक से आसानी के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ सकती है।

बैंक ऋण देते हैं और बड़े-बड़े उद्योगों में द्रव्य लगाते हैं। इसका कुछ विवेचन पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है। व्यापारी बैंक किसी मूल्यवान वस्तु को गिरवी रखकर ही ऋण दे सकते हैं या तो सोना चाँदी या सोने चाँदी के जेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास सरकारी सिक्योरिटियाँ हैं तो उनके आधार पर भी ऋण दिया जाता है। यदि किसी व्यक्ति का बैंक में स्थायी खाता हो तो बैंक उसके आधार पर ऋण दे सकता है। उद्योग-धन्धों के लिए आवश्यक कच्चे माल को अपने गोदाम में सुरक्षित रखकर ये बैंक व्यापारियों को ऋण देते हैं।

बैंकों के ऋण देने की कई विधियाँ हैं। ऋण लेने वाला यदि चाहे तो बैंक से नकद रुपया ले सकता है और उस नकद रुपये से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, व्यापार में लगा सकता है या सट्टे में लगा सकता है और जितने समय के लिए ऋण लिया है उसके पूरे होने पर ऋण का रुपया वापस कर दे। यदि ऋण लेने वाला व्यक्ति नकद रुपया ऋण न ले और उसका बैंक में अस्थायी खाता हो तो बैंक की स्वीकृति पर वह अस्थायी खाते पर अपने जमा किये हुए द्रव्य से अधिक द्रव्य का चेक (Overdraft) काट सकता है। जब वह अपने अस्थायी खाते में और अधिक द्रव्य जमा कर दे तो यह ऋण

चुकाया जा सकता है। व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान भेजने में हुण्डी का प्रयोग करते हैं। सामान बेचने वाला चाहता है कि उसको सामान का मूल्य तुरन्त मिल जाय। परन्तु यदि सामान खरीदने वाला मूल्य तुरन्त न चुका सके तो वह अपने बैंक से ऐसा प्रबन्ध करता है कि वह उस हुण्डी पर स्वीकृति दे दे और सामान बेचने वाला इस हुण्डी का रुपया मितिकाटे पर अपने बैंक से ले ले। इस प्रकार सामान बेचने वाले को मूल्य तुरन्त मिल जायेगा और उसका बैंक सामान खरीदने वाले के बैंक से नियत समय पर रुपया ले लेगा। हुण्डी के आधार पर इस प्रकार ऋण देने से व्यापार में बहुत सहायता मिलती है। इस प्रकार व्यापारी बैंकों का ऋण-कार्य अल्पकालीन होता है।

ये बैंक दीर्घकाल के लिए द्रव्य उद्योगों में नहीं लगा सकते हैं; क्योंकि एक निश्चित समय से पहले उस द्रव्य को वापस लेने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसे बैंकों में जमा किया हुआ द्रव्य अधिकतर अस्थायी खाते में जमा द्रव्य होता है जिसकी बैंक से कभी भी माँग की जा सकती है। यदि उद्योगों में अथवा कृषि सम्बन्धी योजनाओं में यह बैंक अपना द्रव्य लगा दें तो एक निश्चित समय तक के लिए ये बैंक द्रव्य की बहुत कमी का अनुभव करेंगे, अपने सदस्यों को माँग करने पर पर्याप्त मात्रा में उनके जमा द्रव्य का भुगतान नहीं कर सकेंगे जिसके फलस्वरूप सदस्यों का इस प्रकार के बैंकों से विश्वास उठ जायेगा और इन पर संकट आने की सम्भावना हो सकती है। इसी कारण दीर्घकालिक ऋण सम्बन्धी कार्य के लिए औद्योगिक बैंक और भूमि-बन्धक बैंकों का निर्माण हुआ। जर्मनी में एक बार इसी प्रकार के मिले-जुले बैंकों (Mixed Banks) का चलन हुआ जो वास्तव में व्यापारी बैंक थे; परन्तु उद्योगों में दीर्घ-कालिक ऋण देने का कार्य भी करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ के अधिकांश बैंक कठिनाइयों में पड़ गये और वहाँ की आर्थिक व्यवस्था को बड़ा धक्का पहुँचा। भारतवर्ष के निवासियों को अभी बैंकिंग का काफी अनुभव नहीं हुआ है। यदि कोई व्यापारी बैंक किसी उद्योग में कुछ रुपया दीर्घकाल के लिए ऋण दे दे और अकस्मात् उद्योग-योजना असफल हो जाय तो बैंक के सदस्यों में एक प्रकार का भय फैल जाता है और प्रत्येक उस बैंक से अपने जमा द्रव्य की माँग करने लगता है; जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उद्योग के साथ ही बैंक भी समाप्त हो जाता है। भारत में दीर्घकालिक ऋण देने के लिए एक केन्द्रीय इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन नाम की संस्था का निर्माण किया गया है। परन्तु यह सब कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय व्यापारिक बैंकों ने राष्ट्रीय उद्योगों में द्रव्य नहीं लगाया है। सत्य यह है कि उन्होंने

उद्योगों और बड़ी योजनाओं में जितना भी द्रव्य लगाया है वह अल्प-कालिक है और जिसकी वसूली आवश्यकता पड़ने पर की जा सकती है।

साख के निर्माण का कार्य (Creation of Credit):—मनुष्य अपनी बचत को बैंकों में जमा कर देते हैं जिससे भविष्य में वे उसे आसानी से प्राप्त कर सकें, वह सुरक्षित रहे और उस पर सूद भी मिले। बैंक यह सब कार्य करता है। बैंक का ध्येय नफा कमाना है। यदि यह द्रव्य बैंक अपने पास ही रखा रहने दे तो उससे कुछ लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। मान लिया जाय कि किसी एक व्यक्ति ने बैंक में १,००० रुपया नकद जमा किया। यदि बैंक यही १,००० रुपया किसी को ऋण दे दे तो उससे अधिक आमदनी नहीं हो सकती है। इन १,००० रुपयों के आधार पर बैंक इससे कहीं अधिक मात्रा में ऋण दे सकता है। बैंक के इसी कार्य को साख का निर्माण करना कहते हैं। पश्चिमी देशों में बैंकों ने यह अनुभव किया है कि जमा करने वाले औसतन किसी समय में अपने जमा द्रव्य का १०% से अधिक द्रव्य बैंक से नहीं निकालते हैं। इसलिये यदि बैंक इन १,००० रुपयों में से १०० रुपया अपने पास नकद रख ले तो वह आवश्यकता पड़ने पर अपने सदस्यों की द्रव्य की माँग पूरी कर सकता है। १०० रुपया अपने पास जमा रखने के बाद जो ९०० रुपये शेष रहे उनके आधार पर बैंक साख का निर्माण करता है। जिस प्रकार १,००० रुपये की जमा (Deposit) पर बैंक ने केवल १०० रुपये अपने कोष में रखे, उसी प्रकार यदि बैंक किसी व्यक्ति को १,००० रुपये का ऋण (Loan) दे दे तो भी समय पड़ने पर इसका भुगतान करने के लिए केवल १०० रुपयों की ही आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार ९०० नकद रुपयों के आधार पर बैंक ९ हजार रुपयों का ऋण दे सकता है। बैंक ने जो ९ हजार रुपया ऋण दिया उसको यदि ऋण लेने वाले अपने अस्थायी खाते में जमा कर दें तो ऋण के आधार पर बैंक के जमा खाते में उतनी वृद्धि हो गयी (In this way loans create deposits) ।

बैंक के साख के निर्माण-कार्य के लिए दो बातों का होना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति बैंक से ऋण लेने के लिए तैयार न हो तो चाहते हुए भी बैंक साख का निर्माण नहीं कर सकता है। परन्तु क्योंकि प्रत्येक समय व्यापारी अपने कार्य के लिए बैंक से ऋण लेने के लिए उद्यत रहते हैं इसलिये उक्त स्थिति उपस्थित नहीं होती है। यह अवश्य होता है कि कभी ऋण लेने वाले अधिक होते हैं और कभी कम और उसी मात्रा में बैंक की साख निर्माण करने की शक्ति घटती-बढ़ती जाती है। साख के निर्माण के लिए दूसरी आवश्यक बात यह है कि देशवासियों में चेक

की प्रथा प्रचलित हो और प्रत्येक व्यक्ति का बैंक में जमा-खाता हो। यदि ऐसा नहीं है तो बैंक ९०० रुपयों के आधार पर ९ हजार रुपयों का ऋण कदापि नहीं दे सकता है। यदि प्रत्येक ऋण लेनेवाला कुल रुपया नकद लेना चाहे तो बैंक ९०० रुपयों के आधार पर केवल ९०० रुपयों का ही ऋण दे सकता है और इसको साख निर्माण करने का कार्य नहीं कहा जा सकता है। यह कार्य साधारण लेन-देन के कार्य की श्रेणी में आता है। परन्तु यदि ऋण लेने वाला द्रव्य को अपने खाते में जमा कर दे और उसके आधार पर अन्य व्यक्तियों को चेक से भुगतान करे और वह चेक पानेवाले व्यक्ति भी इन चेकों को अपने खाते में जमा कर दे तो बिना नकद रुपयों की आवश्यकता के बैंक के खाते में जमा-खर्च से ही कार्य पूरा हो जाता है। इस स्थिति में जो कार्य नकद रुपया करता है, वह बैंक के जमा-खर्च के खाते से पूरा हो गया। बैंक के साख के निर्माण करने के कार्य से देश में कुल नकद द्रव्य के प्रसार में इस प्रकार वृद्धि हो जाती है।

Bank Clearing :—साख के निर्माण में Bank Clearing का विशेष महत्व है। व्यक्तियों के खाते भिन्न भिन्न बैंकों में होते हैं। जब किसी को भुगतान में चेक मिलता है और वह उसको अपने बैंक के खाते में जमा करता है तो यह बैंक इस चेक को Clearing के समय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार जो चेक अन्य बैंकों को प्राप्त हुए हैं वह उनको प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार बिना नकद रुपयों के व्यवहार के बैंकों में जमा-खर्च के हिसाब से कार्य पूरा हो जाता है। मान लीजिये कि एक बैंक अ ने दूसरे बैंक ब के ऊपर १० हजार रुपये के चेक प्रस्तुत किये और ब. ने भी बैंक अ के ऊपर इतने ही द्रव्य के चेक प्रस्तुत किये तो इन्हीं दोनों बैंकों के खातों में जमा-खर्च होकर हिसाब पूरा हो गया। परन्तु यदि अ ने १० हजार रुपये के चेक प्रस्तुत किये और ब ने १२ हजार रुपयों के तो २ हजार रुपये केन्द्रीय बैंक में बैंक अ के हिसाब में से कम करके बैंक ब के हिसाब में जोड़ दिये जायेंगे। इस प्रकार Bank Clearing से साख के निर्माण में उपयुक्त सुविधा मिलती है।

भारतवर्ष की जनता चेकों से अधिक नकद द्रव्य पर विश्वास करती है और जितनी शीघ्र हो सके चेक को भुनाने का प्रयत्न करती है। इससे बैंकों को द्रव्य अधिकतर नकद रूप में रखना पड़ता है और वह उसका प्रयोग व्यापार ऋण इत्यादि में नहीं कर सकते हैं जिससे साख का निर्माण करने में भारतीय बैंकों की शक्ति बहुत क्षीण है। जिसका प्रभाव भारत के सारे आर्थिक ढाँचे पर पड़ता है।

बैंकों से लाभ:—आधुनिक सभ्यता में बैंकों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। देश की आर्थिक स्थिति की माप वहाँ के बैंकों की संख्या व उनकी सम्पत्ति के द्वारा सरलता से की जा सकती है। मनुष्य का सीमित दृष्टि-कोण अब अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुका है। उसकी आवश्यकताएँ एक ही देश की उत्पादित वस्तुएँ नहीं कर सकती हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का कार्यक्षेत्र अब राष्ट्र की सीमा लाँघ कर अन्तर्राष्ट्रीय हो चुका है। बैंक ही इस दृष्टिकोण की सफलता के मुख्य आधार हैं। बैंक अपने जमा-खाते के रूप में राष्ट्र के धन की रक्षा करते हैं। उसको एकत्र करके देश की प्रगति में सहायक बनाते हैं, उसमें वृद्धि करते हैं जिससे बैंक के सदस्यों व ग्राहकों के साथ ही सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

बैंकों के द्वारा देश में धन बचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। थोड़ा-थोड़ा करके पर्याप्त मात्रा में धन एकत्रित हो जाता है जिसका उपयोग राष्ट्र के निर्माण-कार्य में किया जा सकता है। बड़े बड़े उद्योग-धन्धे स्थापित किये जा सकते हैं जिससे देश में उत्पादन बढ़ता है। कृषि सम्बन्धी सिंचाई इत्यादि की अनेक योजनाओं को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है।

पहले विनिमय कार्य स्वर्ण, रजत इत्यादि बहुमूल्य धातु की मुद्राओं से किया जाता था, जिससे बहुत-सी बहुमूल्य धातु घिस कर नष्ट हो जाती थी। बैंकों के स्थापित होने से बहुमूल्य धातु-मुद्रा का प्रयोग काफी कम हो गया है और इसके बदले कागजी मुद्राओं या चेकों का प्रयोग किया जाता है। ये कागजी मुद्राएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जाई जा सकती हैं। बहुमूल्य धातु की रक्षा देश की समृद्धि में बहुत सहायक होती है।

राष्ट्र के एक स्थान का दूसरे स्थान से व्यापार-सम्बन्धी कार्य बहुत सरल हो गया है। बहुत कम व्यय पर अधिक से अधिक मात्रा में द्रव्य राष्ट्र के एक कोने से दूसरे कोने में भेजा जा सकता है। इससे जनता की क्रय-शक्ति में वृद्धि हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी व्यापार में, विदेश भ्रमण करने में तथा अन्य प्रकार के लेन-देनों में बैंकों से पर्याप्त सहायता मिलती है।

इससे स्पष्ट है कि देश में बैंकों का होना, उनकी समृद्धि और जनता का उनपर विश्वास देश के आर्थिक जीवन में एक क्रान्ति ला सकते हैं। परन्तु खेद है कि भारतवर्ष इस पक्ष में दूसरे देशों से बहुत पीछे है।

अभ्यास के प्रश्न

१. बैंक की परिभाषा कीजिये और व्यापारी बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिये।
२. बैंक कितने प्रकार के होते हैं? प्रत्येक की विशेपताओं का वर्णन कीजिये।
३. व्यापारी बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करते हैं?
४. इस बात को स्पष्ट रीति से समझाइये कि व्यापारी बैंक अपनी पूँजी से कहीं अधिक लेन-देन का काम किस प्रकार करते हैं।
५. केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों से किस प्रकार भिन्न है? संक्षेप में केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यो का वर्णन कीजिये।

अध्याय २७

भारतीय बैंक

भारत में बैंक का कार्य प्राचीन समय से होता आया है। प्राचीन समय में महाजन, सर्राफ इत्यादि लोगों को सूद पर रुपया ऋण में दिया करते थे। बैंकों की आधुनिक रूप-रेखा का आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से होता है। जैसे-जैसे उनका व्यापार बढ़ता गया उनको अधिक रुपयों की आवश्यकता हुई। उनकी माँग की कुल पूर्ति ये छोटे-बड़े महाजन नहीं कर पाते थे। इसलिये उनके उद्योग से भारत में पहले प्रेसिडैन्सी बैंक स्थापित किये गये।

सन् १८०६ में भारत में पहला प्रेसिडैन्सी बैंक 'बंगाल-बैंक' के नाम से खुला। इसके पश्चात् बम्बई और मद्रास में भी प्रेसिडैन्सी बैंक खुले। ये तीन बैंक मिलकर नोट छापते व उन्हें प्रचलित करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जब रुपया ऋण लेने की आवश्यकता होती थी तो ये बैंक उसके लिए ऋण वसूल करते थे तथा उसके व्यापार-कार्य में आवश्यकतानुसार रुपया लगाते थे। परन्तु १८६२ में इन तीनों बैंकों का नोट छापने व उनका प्रचलन करने का अधिकार सरकार ने स्वयं ले लिया। ये बैंक इसके पश्चात् भी सरकार के विदेशी भुगतान व खजाने सम्बन्धी कार्य करते रहे। यद्यपि ये केन्द्रीय बैंक तो नहीं कहे जा सकते थे, तथापि ये अधिकतर केन्द्रीय बैंकों का ही कार्य करते थे। इन पर सरकार अपना नियन्त्रण रखती थी।

सन् १९२० में इन तीनों बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक का निर्माण किया गया। यह नोट छापने के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक के अन्य सारे कार्य किया करता था। द्रव्य जमा करना, ऋण देना, सरकार को आर्थिक सहायता देना, विदेशी भुगतान व आन्तरिक साख सम्बन्धी व्यवस्था का निरीक्षण, संगठन व संचालन इत्यादि ये सब कार्य इम्पीरियल बैंक करता था। १९२० से १९३५ तक इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के स्थान पर कार्य करता था; परन्तु १९३५ में भारतवर्ष में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण हुआ जो तब से केन्द्रीय बैंक का कार्य करता है; फिर भी इम्पीरियल बैंक का भारतीय व्यापारी जनता पर काफी प्रभाव है।

भारत का रिजर्व बैंक

भारत का रिजर्व बैंक आरम्भ में हिस्सेदारों का बैंक था। हिस्सेदारों से प्राप्त हुई इसकी कुल पूंजी पाँच करोड़ रुपये थी। इसके प्रत्येक हिस्से का मूल्य १०० रुपये था, जो हिस्सा खरीदते समय ही पूरा चुकाना पड़ता था। भारत सरकार ने इसके रिजर्व कोष की कुल पूँजी ५ करोड़ रुपये बनायी। भारत का रिजर्व बैंक इस रूप में १९३५ में स्थापित किया गया। १९३५ से १९४९ तक यह बैंक हिस्सेदारों का बैंक ही रहा। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् भारत की राष्ट्रीय सरकार ने १ जनवरी १९४९ को इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया। इस कारण अब इस बैंक की हिस्सेदार केवल भारतीय सरकार है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार इस बैंक के दो विभाग बनाये गये—(१) निर्गम विभाग (Issue Department) और (२) बैंकिंग विभाग (Banking Department)। निर्गम विभाग ने १ अप्रैल १९३५ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया और बैंकिंग विभाग का कार्य १ जुलाई १९३५ से आरम्भ हुआ।

निर्गम विभाग भारतीय रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण विभाग है। यही विभाग नोट छापकर देश में प्रचलित करता है। यह जितने रुपये के नोट छापता है उनका हिसाब रखता है। यह विभाग इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि कुल जितने नोट छापे गये हैं या छापे जानेवाले हैं, उनकी पुष्टि (Backing) के लिए रिजर्व कोष में आवश्यक स्वर्ण, चाँदी व अन्य सिक्योरिटियाँ हों। यह एक गंभीर उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है।

इस बैंक का बैंकिंग विभाग अन्य लेन-देन का कार्य करता है। यह बैंक की चल और अचल सम्पत्ति का हिसाब रखता है, बिल या हुण्डियों को मितिकाटे की एक निश्चित दर पर भुनता है, विदेशी भुगतान करता है और अन्तर्देशीय बैंकों से रिजर्व बैंक का सम्बन्ध स्थापित किये रहता है।

रिजर्व बैंक का सबसे मुख्य कार्य है नोट छापना और देश में उनको प्रचलित करना। यह कार्य देश की अर्थ-व्यवस्था का आधार-स्तम्भ है। नियमानुसार जितने रुपये के नोटों का रिजर्व बैंक निर्गम करता है उसका ४०% भाग स्वर्ण, स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण पाटमान या स्वर्ण की सिक्योरिटियों में बैंक के पास सुरक्षित रहता है। इस नियम के अनुसार बैंक के रिजर्व कोष में कम से कम ४० करोड़ रुपये का स्वर्ण सदा सुरक्षित रहना चाहिये। शेष ६०% भाग सरकारी सिक्योरिटियों, हुण्डी इत्यादि के रूप में रहना चाहिये। ऐसा करने की आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि लोगों

को कागजी मुद्रा के चलन में विश्वास रहे और माँग की जाने पर बैंक कागजी मुद्रा के बदले स्वर्ण या धातु की मुद्रा दे सके। जब रिजर्व बैंक को अधिक संख्या में नोटों के निर्गम करने की आवश्यकता होती है और उनकी पुष्टि के लिए निर्गम विभाग में स्वर्ण इत्यादि की पर्याप्त मात्रा नहीं होती है, तब रिजर्व बैंक का निर्गम विभाग बैंकिंग विभाग से आवश्यक स्वर्ण या सिक्योरिटियाँ इत्यादि अपने विभाग में ले आता है। यदि नोटों का निर्गम कम मात्रा में करना हो तो अपने विभाग की अधिक स्वर्ण-मात्रा, सिक्योरिटियाँ इत्यादि बैंकिंग विभाग में जमा कर देता है। इस प्रकार दोनों विभाग पूर्ण सहयोग के साथ कार्य करते हैं।

भारत का विदेशी विनिमय प्रायः स्टर्लिंग मान में होता है। विदेशी भुगतान में स्टर्लिंग क्षेत्र का भुगतान रुपये को स्टर्लिंग में बदल कर किया जाता है। भारत सरकार के इस विदेशी-विनिमय कार्य का निरीक्षण रिजर्व बैंक किया करता है। स्टर्लिंग मान के आधार पर १ रुपया = १ शि० ६ पे० के होता है। इस मान को स्थिर रखने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक पर है। इस सम्बन्ध में एक नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति स्टर्लिंग को रुपयों में बदलना चाहता है तो वह कम से कम १० हजार पाउंड देकर उन्हें रुपये में बदल सकता है और इसी मात्रा के बराबर रुपये स्टर्लिंग में बदले जा सकते हैं। परन्तु इससे कम मात्रा को एक दूसरे मान में नहीं बदला जा सकता है; क्योंकि ऐसा करने से बैंक को असुविधा होती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर द्वितीय महायुद्ध में इंगलैण्ड ने जब उसके पास रुपया नहीं था, भारत से रुपये प्राप्त किये और उतने ही मूल्य के पाउंड रिजर्व बैंक को दे दिये। इस प्रकार भारत सरकार के नाम पर स्टर्लिंग बैलेन्स जमा हो गया। इस सारे विनिमय व्यवहार का निरीक्षण, संगठन व संचालन करने का सारा भार रिजर्व बैंक पर है। परन्तु अप्रैल १९४७ में अन्तर्राष्ट्रीय मौनेटरी फंड (International Monetary Fund) नामक संस्था की स्थापना हुई। अब अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-मान स्थापित करने का कार्य यह संस्था करती है। अब भारत का रिजर्व बैंक प्रत्येक देश की मुद्रा खरीद व बेच सकता है। अब उसके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि स्टर्लिंग को रुपये में या रुपये को स्टर्लिंग में किसी विशेष दर पर बदलने का कार्य करे। इसके लिए उसे भारतीय सरकार के उन नियमों का अनुसरण करना पड़ता है जो समय-समय पर सरकार बनाती रहती है।

भारतीय रिजर्व बैंक ब्याज की एक दर निश्चित करता है और उसीके आधार पर सारे लेन-देन का कार्य चलता है। इसी निश्चित ब्याज

की दर पर वह स्वीकृत सिक्योरिटियों को खरीदता, बेचता है, सरकार व अन्य बैंकों को ऋण देता है तथा सरकार के लेन-देन का हिसाब रखता है।

रिजर्व बैंक शैडचूल बैंकों (Scheduled Banks) पर नियन्त्रण रखता है। शैडचूल बैंक ऐसे व्यापारी बैंकों को कहते हैं जिनकी पूँजी ५ लाख रुपये या उससे अधिक होती है ऐसे व्यापारी बैंक अपनी अस्थायी सम्पत्ति का ५% और स्थायी सम्पत्ति (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक में सुरक्षित रखते हैं। रिजर्व बैंक इन अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखता है और इन बैंकों को अपनी आर्थिक अवस्था व लेन-देन सम्बन्धी सारी सूचनायें समय समय पर रिजर्व बैंक को भेजनी पड़ती हैं और रिजर्व बैंक के आदेशानुसार कार्य करना पड़ता है।

जिन प्रदेशों में रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं हैं वहाँ इसका काम इम्पीरियल बैंक किया करता है। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक इम्पीरियल बैंक को एक निश्चित आधार पर कुछ कमीशन देता है। इससे इम्पीरियल बैंक को काफी लाभ होता है।

इन सब कार्यों को करने के साथ ही रिजर्व बैंक का एक कार्य भारत में कृषि की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना व उसके निर्माण करने के लिए योजना बनाना है। इसके लिए रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग है जिसका कार्य पूर्णतया कृषि सम्बन्धी साख का बढ़ाना और सहयोगी बैंकों (Co-operative Banks) को संगठित करना है।

भारतीय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण

प्रायः रिजर्व बैंक के स्थापित होते ही यह विवाद चल पड़ा कि रिजर्व बैंक की हिस्सों की पूँजी (Share Capital) सरकार के पास रहे या हिस्सेदारों के पास रहे। विदेशी सरकार होने के कारण लोग यह नहीं चाहते थे कि हिस्सों की पूँजी सरकार के पास रहे और वह उसका प्रयोग करे। इसलिये धारा-सभा ने यह निश्चय किया कि यह पूँजी हिस्सेदारों के पास ही रहे। यह विवाद चलता ही रहा। स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात् यह प्रश्न फिर सामने आया। १९३५ में जब रिजर्व बैंक का निर्माण हुआ था तो इसके 'हिस्से' बहुत से व्यक्तियों ने खरीदे थे। परन्तु धीरे-धीरे इन हिस्सों के एक बहुत बड़े अंश को बम्बई के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों ने अपने अधिकार में कर लिया। १९३५ में जब रिजर्व बैंक को हिस्सेदारों का बैंक बनाया गया था तो हिस्सों के इस तरह कुछ व्यक्तियों के अधिकार में आ जाने की कोई सम्भावना

नहीं थी। रिजर्व बैंक एक महत्वपूर्ण संस्था होने से उसके हिस्से कुछ व्यक्तियों के अधिकार में आ जाने उचित नहीं थे। इसका राष्ट्रीयकरण करने से इस प्रकार की कुछ सम्भावना नहीं रही।

जब भारत में विदेशी सरकार थी, तब देश के आर्थिक निर्माण के लिए कोई योजना थी ही नहीं। अब राष्ट्रीय सरकार ने ऐसी योजना तैयार की है। इस योजना की सफलता के लिए बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी। यह पूँजी तभी एकत्रित की जा सकती है जब कि सरकार और रिजर्व बैंक की नीति बिल्कुल एक हो और उनमें पूर्ण सहयोग हो। यदि रिजर्व बैंक हिस्सेदारों का बैंक होता और उसके अपने डायरेक्टर होते तो यह सम्भव था कि भारत सरकार और रिजर्व बैंक में उतना सहयोग नहीं होता। राष्ट्रीयकरण से इस प्रकार की सम्भावना दूर हो गयी है।

राष्ट्रीयकरण करते समय १०० रुपये के प्रत्येक हिस्से के सरकार ने ११८ रुपये १० आने दिये; क्योंकि उस समय रिजर्व बैंक के हिस्से का बाजार में यही मूल्य था। यह मूल्य कुछ नकद द्रव्य में दिया गया और अधिकतर भाग सरकारी सिक्योरिटियों के रूप में। ऐसा करने से भारतीय सरकार को नकद द्रव्य का अधिक प्रबन्ध न करना पड़ा और बैंक उनके हाथ में आ गया।

रिजर्व बैंक का प्रबन्ध Central Board of Directors करता है। इसके पाँच भाग हैं जिनमें अलग अलग बोर्ड हैं। राष्ट्रीयकरण से पहले इन डायरेक्टरों का चुनाव हुआ करता था; परन्तु अब इन्हें भारत सरकार नियुक्त करती है।

यद्यपि रिजर्व बैंक के गवर्नर, डिप्टी गवर्नर व डायरेक्टरों को सरकार नियुक्त करती है, तब भी यह एक स्वतन्त्र संस्था है और सरकार का अर्थ-विभाग इसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता है। इस प्रकार सरकार विशेषज्ञों की सम्मति का पूरा लाभ उठा सकती है और साथ ही साथ रिजर्व बैंक की व सरकार की नीति में एकता आ जाती है।

रिजर्व बैंक की सफलतायें :—भारतीय साख-व्यापार को और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को रिजर्व बैंक की स्थापना से काफी सहायता मिली है। उसकी मुख्य सफलताओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :—

विदेशी व्यापार व लेन-देन के लिए अन्तर्देशीय मुद्रा-मान की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा व्यापार को और साख को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। भारतीय रुपये का स्टर्लिंग में मान १ शि० ६ पें० के बराबर स्थिर किया गया था। इस मान को स्थिर रखना बहुत कठिन था; क्योंकि राजनैतिक व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का अनेक बार इस मान पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि इसके टूटने का भय होने लगा था; परन्तु भारतीय रिजर्व बैंक ने बड़ी दक्षता से इस मान को स्थिर रखा।

कोई भी व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर भारतीय मुद्रा को पौण्डों में बदल सकता है। परन्तु इसमें से आर्थिक व्यवस्था में गड़बड़ होने की आशंका रहती है। इसलिये रिजर्व बैंक का इस विनिमय पर पूरा नियन्त्रण है। कोई भी व्यक्ति बिना रिजर्व बैंक को सूचना दिये और उससे आज्ञा प्राप्त किये एक मुद्रा को विदेशी मुद्रा में नहीं बदल सकता है। इस नियन्त्रण में रिजर्व बैंक को काफी सफलता मिली है।

समय समय पर सरकार को विभिन्न कारणों व योजनाओं के लिए ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है। रिजर्व बैंक ने सरकार के लिए सस्ते ब्याज की दर में ऋण वसूल करके उसके कार्यो को आगे बढाने का भी सराहनीय कार्य किया है।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् ब्याज की दर कम रखने की नीति को अपनाया गया था। अनेक कठिनाइयों के बीच भी भारतीय रिजर्व बैंक इस सस्ती दर को स्थिर रख सकने में सफल हुआ है।

सन् १९३५ से पहले देश की आन्तरिक व बाह्य साख-व्यवस्था अव्यवस्थित थी। इससे देश की आर्थिक उन्नति में बड़ी बाधा पड़ती थी; परन्तु रिजर्व बैंक ने साख व्यवस्था का अध्ययन कर उसे संगठित और व्यवस्थित कर लिया है। जिससे विदेशों में भारत का सम्मान बढा है।

भारतीय व्यापारियों को १९३५ से पहले अनेक कष्टों का सामना करना पडता था। वर्ष के एक भाग अक्टूबर से मई तक व्यापार की तथा लेन-देन की काफी चहल-पहल रहती है। प्रायः द्रव्य की कमी के कारण इस काल का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता था। परन्तु रिजर्व बैंक ने ऐसी व्यवस्था कर दी है जिससे इस काल में द्रव्य की कमी का अनुभव न हो सके और व्यापार का पूरा लाभ उठाया जा सके।

परन्तु रिजर्व बैंक की इन सफलताओं के साथ उसकी असफलताओं पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भारतीय रिजर्व बैंक का कृषि-साख-विभाग (Agricultural Credit Department) इस उद्देश्य से खोला गया था कि भारतीय कृषि-व्यवस्था का अध्ययन करे तथा कृषकों को ऋण इत्यादि की सहायता देने की उचित व्यवस्था करे। परन्तु रिजर्व बैंक कृषकों में साख की लेन-देन को संगठित कर सकने में असफल रहा है। वह कोई ऐसी योजना नहीं बना पाया है, जिसके आधार पर भारतीय कृषि की दशा को सुधारा जा सके।

रिजर्व बैंक की स्थापना के समय यह आशा की जाती थी कि भारत की पुरानी महाजनी प्रथा को बैंकिंग प्रथा में सम्मिलित किया जा सकेगा। भारत के महाजन व सर्राफ ऋण के लेन-देन के साथ अन्य व्यापार इत्यादि कार्य भी करते हैं। रिजर्व बैंक इनको बैंकिंग-व्यवस्था में नहीं मिला सका।

ये भारत के अधिकांश भागों में उसी रूप में अपना कार्य कर रहे हैं।

भारत में हुण्डियों व साख-पत्रों द्वारा अधिकांश व्यापार चलता है। हुण्डियाँ कई प्रकार की होती हैं। अन्य व्यापारी बैंकों को उनके भुनाने की सुविधायें भी नहीं दी गई हैं। इस कारण व्यापारी बैंक हुण्डियां कम लेते हैं। इससे आन्तरिक व्यापार को धक्का पहुँचता है। रिजर्व बैंक बिलों व हुण्डियों के लेन-देन को संगठित नहीं कर सका है और उनमें एकात्मकता (Uniformity) नहीं ला सका है।

रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह संकट पड़ने पर अन्य बैंकों को सहायता दे और उन्हें फेल होने से बचाये। परन्तु अनेक व्यापारी बैंक फेल हो चुके हैं जिससे साख की अत्यन्त हानि हुई है। बैंकों की स्थिरता पर लोगों का विश्वास घटता जा रहा है। रिजर्व बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह अन्य बैंकों के साख व लेन-देन पर पूरा नियन्त्रण रखे, उनकी आर्थिक स्थिति का अध्ययन करते रहे और संकट के समय सहायता देकर उन्हें समाप्त होने से बचा सके।

इन असफलताओं के होते हुये भी रिजर्व बैंक ने भारतीय व्यापार की आन्तरिक व बाह्य स्थिति को संगठित करने में काफी सफलता प्राप्त की है और भारत की आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने का सराहनीय कार्य किया है।

व्यापारी बैंक

(Commercial Banks)

भारत में महाजन व साहूकार बहुत प्राचीन काल से लेन-देन का कार्य करते रहे हैं। परन्तु बैंकिंग की आधुनिक रूपरेखा १६ वीं सदी के दूसरे भाग में प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में यह कार्य बम्बई, कलकत्ता व मद्रास के प्रेसिडैन्सी बैंक करते थे। इसके कुछ समय पश्चात् १६ वीं सदी के अन्तिम भाग में कुछ भारतीय व्यापारिक बैंकों की स्थापना हुई। प्रारम्भ में अवध-व्यापारी बैंक, पंजाब नेशनल बैंक और पीपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया स्थापित किये गये। भारतीय व्यापारिक बैंकों की उन्नति २० वीं सदी में हुई; परन्तु उस समय भी प्रेसिडैन्सी बैंक और एक्सचैन्ज बैंक भारतीय बैंकों से कहीं अधिक शक्तिशाली थे। २० वीं सदी के आरम्भ में ऐसे केवल ६ बैंक थे जिनकी पूँजी (Capital) और सुरक्षित धन (Reserve) पाँच लाख रुपये से अधिक था। इन ६ बैंकों की पूँजी और सुरक्षित धन केवल १ करोड़ २८ लाख रुपये था और इनके जमा-खाते (Deposit) में केवल ८ करोड़ रुपये थे। इसकी अपेक्षा बम्बई, बंगाल और मद्रास के प्रेसिडैन्सी बैंकों

की, जिनकी व्यवस्था व संचालन विदेशियों के हाथ में थे, पूँजी और सुरक्षित धन ५$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपयों से अधिक था। इनके जमा-खाते में १६ करोड़ रुपये थे। इसी समय ८ एक्सचेंज बैंकों के जमा-खाते में लगभग १०$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये थे। इससे यह विदित हुआ कि भारत के बैंक विदेशी बैंकों की अपेक्षा बहुत निर्बल थे और उन्हें बहुत बड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है।

बीसवीं सदी के आरम्भ में विशेष रूप से १९०६ के उपरान्त स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय बैंकों को बहुत प्रोत्साहन मिला। १९०६ से १९१३ के बीच ऐसे बैंकों की संख्या जिनकी पूँजी और सुरक्षित धन ५ लाख रुपये और इससे अधिक था, ९ से बढ़कर १८ हो गयी। उनके जमा-खाते में २२ करोड़ रुपये थे। परन्तु यह प्रगति स्थायी न रह सकी और १९१३ से १९१७ तक भारतीय बैंक एक भीषण संकट में पड़ गये और इस समय लगभग ८७ बैंक फेल हो गये। इससे भारत में साख को बहुत बड़ा धक्का लगा और बैंकिंग की उन्नति में बहुत बाधा पड़ी। इस संकट (Crisis) का विशेष कारण यह था कि स्वदेशी आन्दोलन के कारण निर्बल और अव्यवस्थित बैंकों का निर्माण हो गया था। इन बैंकों के स्वामी बैंकिंग के सिद्धान्तों से अपरिचित थे और उन्होंने बैंकिंग के मूल सिद्धान्तों के अनुसार कार्य नहीं किया और जमा-खाते में रुपया बढ़ाने के अभिप्राय से सूद की दर बढ़ा दी। परन्तु इस आवश्यकता की पूर्ति करने योग्य आमदनी न कर सके। बैंकिंग के सिद्धान्तों के विरुद्ध उन्होंने अपनी जमा को दीर्घकालीन उद्योगों में लगाया था और इन उद्योगों पर संकट पड़ने से ये बैंक भी अपने को संकट से न बचा सके और फेल हो गये। इसके उपरान्त भी भारत के बैंकों के इतिहास का अध्ययन करने से यह बात विदित होती है कि कुछ प्रोत्साहन मिल जाने से नये बैंकों का निर्माण हुआ। परन्तु ये बैंक भी अपनी स्थिति को दृढ़ न कर सके और संकट पड़ने पर फेल हो गये। प्रथम महायुद्ध में भारतीय बैंकों की पूँजी, सुरक्षित धन और जमा-खाते में काफी वृद्धि हुई ; परन्तु महायुद्ध के उपरान्त जो आर्थिक संकट आया उसमें लगभग साढ़े चार सौ बैंक फेल हो गये और लगभग ८ करोड़ रुपयों की पूँजी नष्ट हो गयी। इससे भारतीय बैंकों के विकास में बहुत धक्का लगा। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से पहले ऐसे बैंक लगभग ५१ थे, जिनकी पूँजी और सुरक्षित धन ५ लाख रुपयों से अधिक थे। इनकी कुल पूँजी और सुरक्षित धन १३$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये थे और इनके जमा-खाते में लगभग ११० करोड़ रुपये थे। इस समय इम्पीरियल बैंक की पूँजी और सुरक्षित धन ११ करोड़ रुपयों से अधिक था और इसके जमा-खाते में सरकारी द्रव्य के अतिरिक्त लगभग

८८ करोड़ रुपये थे। २० एक्सचैंज बैंकों के जमा-खाते में इस समय १२६ करोड़ रुपये थे। इससे यह विदित हुआ कि भारत के बैंकों की स्थिति यद्यपि पहले के अपेक्षा अधिक दृढ़ थी और उनका प्रभाव भी अधिक था, तथापि इम्पीरियल बैंक और एक्सचैंज बैंक मिलाकर इनसे कहीं अधिक दृढ़ थे। बैंकिंग में भारत के व्यवसाय ने उतनी उन्नति नहीं की जितनी अन्य उद्योग-धन्धों व व्यापार में की। भारत में कुछ औद्योगिक कम्पनियाँ भी फेल हुईं; परन्तु बैंक कहीं अधिक संख्या में फेल हुए।

भारत के बैंक देश के बड़े-बड़े शहरों में और कुछ अन्य व्यापारिक केन्द्रो में ही स्थापित हुए। छोटे शहरों में और देश के बहुत बड़े भाग में इन बैंकों की शाखायें नहीं खुली। जमा-खाते की कुल पूँजी का बहुत बड़ा भाग थोड़े से बड़े बैंकों के हाथों में है। भारत में छोटे बैंकों को उतना प्रोत्साहन नहीं मिला जितना देश की उन्नति के लिए आवश्यक था।

द्वितीय महायुद्ध से बैंकिंग के कार्य में उन्नति हुई, नये बैंक भी खुले और उनके जमा-खाते में अधिक द्रव्य भी जमा किया गया। ५ लाख रुपयों से आधक पूँजी वाले बैंक इम्पीरियल बैंक व एक्सचैंज बैंकों की संख्या कुल मिलाकर १९३९ में ५१ और १९४६ में बढकर ९३ हो गयी। उनकी कुल शाखाओं की संख्या १३२८ से बढकर ३१०६ हो गयी और उनके जमा-खाते मे द्रव्य २३८ करोड़ रुपयों से बढकर १०९७ करोड़ रुपये हो गया। परन्तु इस समय भी और विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त बहुत से भारतीय बैंक फेल हो गये। इस समय भी भारतीय बैंकों की उन्नति उतनी दृढ़ न हो सकी जितनी आवश्यक थी। सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि बैंकों को फेल होने से बचाया जाय और उनकी उन्नति संगठन और सहयोग के आधार पर हो। द्वितीय महायुद्ध के समय बैंकों ने बिना सोचे-समझे नये-नये स्थानों पर अपनी शाखायें खोल दीं। प्राय: एक ही स्थान पर बैंकों की अनेक शाखायें हो जाने से परस्पर प्रतिस्पर्धा बढ़ी और इससे बैंकों को हानि हुई। कई ऐसे स्थानों पर जहाँ बैंकों की शाखाओं की आवश्यकता थी, वहाँ शाखायें न खोली गयीं; जिससे देश की उन्नति में बाधा पड़ी। यदि इन स्थानों पर शाखायें खोली जातीं तो बैंको को लाभ होने की सम्भावना थी। बैंकों की स्थिति दृढ न होने का और बैंक फेल हो जाने का एक कारण यह भी था कि बैंकों के स्वामियों ने औद्योगिक कम्पनियों पर भी अपना अधिकार कर लिया और किसी न किसी बहाने से बैंकों की पूँजी औद्योगिक व बीमा कम्पनियों में लगायी। ऐसा करने से बैंकों को बड़ी हानि हुई। बैंक के स्वामियों ने बैंक के हिस्सेदारों को लाभांश (Dividend) देने के उद्देश्य से अनुचित रूप से द्रव्य कमाने का प्रयत्न किया। भारत के बैंकों की

उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार के अनुचित कार्यों को रोका जाय। इसका उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक पर है। १९३९ में स्वीकृत बैंकिंग एक्ट के अनुसार केन्द्रीय बैंक को कुछ ऐसे अधिकार मिल गये हैं जिससे वह इन बैंकों पर पूरा नियन्त्रण रख सकता है। आशा है कि भविष्य में बैंकों की स्थिति में सुधार हो सकेगा।

द्वितीय महायुद्ध में अस्थायी जमा-खाते के द्रव्य में अधिक वृद्धि हुई और स्थायी जमा-खाते में कम। इस महायुद्ध के पहले स्थायी जमा-खाते का द्रव्य कुल जमा द्रव्य का तिहाई भाग होता था; परन्तु युद्ध के समय यह कुल का $\frac{1}{4}$ भाग हो गया और अस्थायी जमा-खाते का द्रव्य $\frac{3}{4}$ भाग हो गया। इसका कारण यह था कि युद्ध के समय अनिश्चितता और भय पैदा हो जाने से व्यक्ति अपना द्रव्य अधिकतर इस रूप में रखना चाहते थे कि आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त मिल जाय। युद्ध के समय व्यापारी बैंकों के हुण्डियों इत्यादि पर ऋण की मात्रा भी कम हो गयी थी। १९४६ के पश्चात् स्थायी जमा-खाते के द्रव्य में फिर वृद्धि हुई और फिर युद्ध के पहले की सी स्थिति हो गयी। बैंकों के खातों में जमा द्रव्य और बैंकों के ऋण की मात्रा देश के औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति पर निर्भर रहती है। भारत को स्वतन्त्रता मिल जाने के पश्चात् औद्योगिक व व्यापारिक उन्नति में कुछ हानि हुई, जिसके कारण बैंकों के खातों में भी जमा कम हो गयी। आवश्यकता इस बात की है कि बैंकिंग का व उद्योग-धन्धों का विकास साथ-साथ हो।

इन्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन

भारत के व्यापारिक बक उद्योग-धन्धों के लिए अल्पकालीन ऋण देते हैं; क्योंकि समय समय पर व्यापारी बैंकों को अपने सदस्यों की द्रव्य की माँग की पूर्ति करनी पड़ती है। परन्तु उद्योग-धन्धों के विकास व उनकी उन्नति के लिए दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है। इस अभाव की पूर्ति के लिए भारत सरकार द्वारा इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन की स्थापना की गई। कुछ प्रदेशों में वहाँ की सरकार द्वारा इसी प्रकार की संस्थायें छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों की सहायता करने के लिए बनाई गयी हैं। यह आशा की जाती है कि अन्य प्रदेश भी इसी प्रकार की संस्थायें बनायेंगे।

इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन का निर्माण १९४८ में हुआ। इसकी पूँजी १० करोड़ रुपये होगी और इसको एकत्र करने के लिए पाँच पाँच हजार रुपये के बीस हजार हिस्से (Shares) बेचे जायेंगे।

प्रारम्भ में इस संस्था की पूँजी का अर्ध भाग केवल ५ करोड़ रुपये के हिस्से बेचे गये। आगे आवश्यकता पड़ने पर ५ करोड़ रुपये के हिस्से और बेचे जा सकते हैं। इस कारपोरेशन के हिस्से केवल केन्द्रीय सरकार, केन्द्रीय बैंक, ५ लाख रुपये की पूँजी से अधिक पूँजीवाले बैंक (Scheduled Banks), बीमा कम्पनियाँ और कुछ अन्य संस्थायें ही खरीद सकती हैं। इस कारपोरेशन के हिस्से अन्य व्यक्ति नहीं खरीद सकते हैं। यह बन्धन इस कारण लगाया गया कि जिससे यदि ये व्यक्ति घबरा उठें और हिस्से बेचने लगें तो कारपोरेशन को इस तरह से धक्का न लगे। इनमें से कितने हिस्से कौन खरीद सकता है यह भी ऐक्ट में स्पष्ट कर दिया गया है। ३० जून १९५० को हिस्से निम्नलिखित रूप से बँटे हुए थे :—

		हिस्सों की संख्या
१.	केन्द्रीय सरकार	२,०००
२.	रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	२,०५५
३.	शैडयूल बैंक	२,४८०
४.	बीमा कम्पनी तथा अन्य संस्थायें	२,५२३
५.	सहकारी बैंक	९४२
	कुल	१०,०००

जब यह कारपोरेशन पूरी शक्ति से कार्य करने लगेगा उस समय यह उद्योग-धन्धों को लगभग १३० करोड़ रुपयों की सहायता कर सकेगा। ऐक्ट के अनुसार इस कारपोरेशन की पूँजी १० करोड़ रुपये है और इसका सुरक्षित कोष भी १० करोड़ रुपयों का होगा। पूँजी व सुरक्षित कोष का पाँच गुना अर्थात् १०० करोड़ रुपये ये बाजार से अपने ऋण-पत्र (Debentures) या बौण्ड (Bonds) के आधार पर एकत्रित कर सकता है। इस प्रकार १२० करोड़ रुपये इस कारपोरेशन के पास हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त १० करोड़ रुपये देश के अन्य व्यक्तियों से जमा-खाते के रूप में स्वीकार कर सकता है।

परन्तु अब तक इस कारपोरेशन ने बहुत कम मात्रा में उद्योग-धन्धों को सहायता दी है। कारपोरेशन के कथनानुसार जिन संस्थाओं ने ऋण के लिए प्रार्थना-पत्र दिये उनकी योजनायें इस प्रकार की न थीं कि कारपोरेशन उनकी सहायता कर सकता। परन्तु कुछ विशेषज्ञों की यह

सम्मति है कि कारपोरेशन अपने कार्य को पुरानी रूढ़ि के अनुसार चलाना चाहता है और उद्योग-धन्धों पर इस प्रकार के कड़े नियम लगाता है कि वह ऋण लेने को तैयार नहीं होते हैं। कारपोरेशन का यह कथन मान्य नहीं है कि, औद्योगिक संस्थाओं को योजना बनानी ही नहीं आती और वह अपने प्रार्थना-पत्र में पूरा विवरण नहीं देते यदि औद्योगिक संस्थायें ऐसा नहीं करती हैं तो कारपोरेशन को इस प्रकार की योजना बनाने में सहायता करना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि कारपोरेशन ने उन्हें इस प्रकार की सहायता क्यों न दी? जून १९४९ तक १२ महीनों में कारपोरेशन के पास ९५ प्रार्थना-पत्र आये जिसमें १०·३३ करोड़ रुपयों की याचना की गयी थी। परन्तु कारपोरेशन ने केवल २१ प्रार्थना-पत्र स्वीकार किये और केवल ३·४२ करोड़ रुपया देना स्वीकार किया। जून १९५० तक १२ महीनों में कारपोरेशन के पास ६५ प्रार्थना-पत्र आये जिसमें से कारपोरेशन ने केवल २३ प्रार्थना पत्र स्वीकार किये और ३·७७ करोड़ रुपये देना स्वीकार किया। इस प्रकार से दो वर्ष में कारपोरेशन ने केवल ७·१९ करोड़ रुपयों की सहायता उद्योग-धन्धों को दी। जिस उद्देश्य से इस कारपोरेशन की स्थापना की गयी थी वह उद्देश्य पूरा न हुआ और भारतीय उद्योगों को पूरी सहायता न मिल सकी।

यह कारपोरेशन केवल उन पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों और सहकारी समितियों को ऋण या अन्य सहायता दे सकता है जो बड़े पैमाने के उत्पादन के कार्य में व्यस्त हैं। यह कारपोरेशन व्यापार के लिए रुपया ऋण नहीं दे सकता है। छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों को या घरेलू उद्योग-धन्धों को या कृषकों को यह कारपोरेशन ऋण नहीं दे सकता है। इन कार्यों के लिए पृथक् कारपोरेशनों का निर्माण किया जायेगा। छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों व घरेलू उद्योग-धन्धों को ऋण देने व उनकी सहायता करने के लिए प्रान्तीय सरकार इस प्रकार की संस्थाओं का निर्माण करेंगी। कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए एक अन्य इसी प्रकार के कारपोरेशन का निर्माण किया जायेगा।

ऐक्ट के अनुसार कारपोरेशन निम्नलिखित विधियों से औद्योगिक संस्थाओं के लिए पूँजी एकत्र करने में सहायता कर सकता है :—

(अ) उद्योग-धन्धों को द्रव्य-बाजार से यह कारपोरेशन अपनी जिम्मेदारी में इस शर्त पर ऋण दिलवाने का कार्य करता है कि वह ऋण २५ वर्ष के अन्दर अन्दर चुका दिया जायेगा।

(ब) उद्योग-धन्धों के हिस्सों व ऋण-पत्रों को यह कारपोरेशन भविष्य में बाजार में बेच देने के उद्देश्य से (Underwriting) खरीद लें।

(स) उद्योग-धन्धों के ऋण-पत्रों को खरीद ले या उनको द्रव्य ऋण दे दे जो २५ वर्ष के अन्दर अन्दर चुका दिया जाय।

भूमि-बन्धक बैंक

साधारण व्यापारिक बैंक या सहकारी संस्थायें अपने अस्थायी जमा-खाते से दीर्घकालीन ऋण नहीं दे सकते हैं और न ऋण का भुगतान थोड़ी-थोड़ी मात्रा में स्वीकार कर सकते हैं। सभी कृषक विशेष कर छोटे-छोटे जमींदार किसी न किसी समय ऋण अवश्य लेते हैं। महाजन या साहुकार भी दीर्घकाल के लिए ऋण दे सकने में असमर्थ होते हैं। यदि अवधि समाप्त होने पर पूरा ऋण एक साथ चुकाया जाय तो सूद के कारण उसका चुकाया जा सकना असम्भव सा हो जाता है। अन्त में या तो ऋण चुकाया ही नहीं जाता है या विवश होकर भूमि बेचकर ऋण चुकाना पड़ता है। कुछ देशों में सरकार कृषकों को कृषि की सहायता लिए अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋण देती है परन्तु यह अनुभव किया गया है कि सरकार इस प्रकार की सहायता का मुख्य आधार नहीं हो सकती है, वह केवल अत्यन्त आवश्यकता के समय कृषकों को ऋण देकर सहायता दे सकती है। यद्यपि कुछ देशों में सरकार की इस प्रकार की सहायता देने से कृषि की काफी उन्नति सम्भव हो सकी है; परन्तु इस कार्य में सरकार को अनेक कठिनाइयों का व अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

इस कारण ऐसी संस्थाओं की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव की गयी है जो कृषकों को दीर्घकाल के लिए सुविधापूर्वक ऋण दे सकें, जो सूद की मध्यम दर पर दीर्घकालीन कोष एकत्र कर सकें और कृषकों व अन्य छोटे जमींदारों से ऋण का भुगतान प्रत्येक वर्ष थोड़ी थोड़ी मात्रा में वसूल कर सकने में समर्थ हों और इस प्रकार कृषकों इत्यादि को ऋण का भुगतान करने के लिए उचित सुविधा मिल सके। ऐसी संस्थाओं को भूमि-बन्धक बैंक कहते हैं। संसार के अन्य बहुत से देशों में इनकी स्थापना की जा चुकी है।

भूमि-बन्धक बैंकों ने अपने ऋण के लेन-देन के कार्यों के उपयुक्त विधियाँ खोज निकाली हैं। ये व्यापारी बैंकों की तरह अस्थायी जमा-खाते से अपनी पूँजी एकत्रित नहीं करते हैं, वरन् ये संस्थायें ऋण-पत्रों (Debentures) को बेचकर या भूमि-बन्धक-पत्रों (Mortgage Bonds) के द्वारा अपनी पूँजी एकत्रित करते हैं। ये भूमि-बन्धक-पत्र ऋण लेने वालों से प्राप्त करते हैं, क्योंकि इन पत्रों के आधार

पर ही ऋण दिया जाता है। कुछ अवस्थाओं में इन संस्थाओं की सेवाओं के कारण या देश की आर्थिक स्थिति में इनकी महत्ता के कारण बहुत से भूमि-बन्धक पत्रों की जिम्मेदारी सरकार स्वयं ले लेती है। इन संस्थाओं ने ऐसी विधियाँ खोज निकालीं हैं जिनसे वे इन भूमि-बन्धक-पत्रों की लोकप्रियता बढ़ाने में सफल हुए हैं। किसी किसी प्रसिद्ध भूमि-बन्धक-बैंक के ये पत्र (Bonds) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बेचे-खरीदे जा सकते हैं। प्रत्येक ऋणी के थोड़ी-थोड़ी मात्रा के वार्षिक भुगतान का सदुपयोग करने की विधियों से ये संस्थायें काफी लाभ उठाती हैं। इन संस्थाओं ने बन्धक में रखी भूमि व अन्य सम्पत्ति के मूल्य इत्यादि की उचित जाँच करने के लिए उपयुक्त विशेषज्ञों के लिए अन्य विभागों का निर्माण भी किया है।

कृषकों इत्यादि को बहुमूल्य सहायता देने व कृषि की उन्नति में सहायक होने के फलस्वरूप सरकार द्वारा इन्हें बहुत-सी सुविधायें भी दी गयी हैं। ये सुविधायें प्रायः कुछ विशेष प्रकार के अधिकारों के रूप में हैं जिनके प्रयोग करने से वे फँसा हुआ ऋण वसूल कर सकते है, कर से मुक्त हो सकते हैं और अपने कुछ बन्धक-पत्रों की जिम्मेदार सरकार को बना सकते हैं।

भूमि-बन्धक बैंक ऋण लेने व ऋण देने का कार्य दीर्घकाल के आधार पर करते है। सरकार इन संस्थाओं के कार्यों का निरीक्षण करती है और इन पर नियन्त्रण भी रखती है।

संगठन की दृष्टि से इन संस्थाओं के अनेक रूप हैं। कुछ सहकारी संगठनों के रूप में, कुछ ज्वाइन्ट स्टॉक सस्थाओं व कुछ सरकारी या अर्ध सरकारी संस्था के रूप में कार्य करती हैं। कई देशों में ये विभिन्न रूपों में साथ साथ कार्य करती है।

वर्तमान समय में भारतवर्ष में खाद्यान्न की व कच्चे माल की बहुत अधिक कमी होने से भूमि-बन्धक बैंकों का महत्व बहुत बढ़ गया है। खाद्यान्न व कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए भूमि का बड़े पैमाने में सुधार करने की आवश्यकता है तथा पैदावार बढ़ाने की विधियों का पुनर्निर्माण करना है। इसके लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता होगी वह भूमि-बन्धक बैंकों के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। देश की ऐसी आर्थिक अवस्था में यह अति आवश्यक है कि भूमि-बन्धक बैंकों के महत्व की ओर विशेष ध्यान दिया जाय जिससे देश की उन्नति में वे यथोचित भाग ले सकें।

भारतवर्ष में सहकारी आन्दोलन के आरम्भ होने के साथ ही यह आशा की जाने लगी कि कृषकों की आवश्यकता पूर्ति के लिए सहकारी

संस्थायें उन्हें दीर्घकाल और अल्पकाल के लिए ऋण दे सकेंगी। प्रत्येक समिति या समितियों के भिन्न-भिन्न समूह कुल कितना ऋण दे सकती हैं इसको समितियों के रजिस्ट्रार निश्चित करते थे और ऋण देने वाली समितियों (Credit Societies) को उस निश्चित मात्रा तक दीर्घ-काल के एवं अल्पकाल के लिए ऋण देने की आज्ञा दे दी गयी थी। परन्तु बहुत शीघ्र इस बात का अनुभव किया गया कि साधारण ऋण देने वाली समितियाँ इस कार्य के लिए नितान्त अनुपयुक्त हैं। प्राइमरी समितियाँ अपने कार्य के लिए आवश्यक पूँजी के हेतु केन्द्रीय बैंकों पर निर्भर रहती थीं। इन बैंकों में द्रव्य केवल अल्पकाल के लिए ही जमा किया जाता था। इसलिये अल्पकालिक जमा-खाते के आधार पर समितियाँ दीर्घकालीन ऋण नहीं दे सकती थीं। जब कभी उन्होंने यह कार्य किया या तो वे बड़े संकट में पड़ गयीं और या बरबाद हो गयीं। इसके साथ ही प्राइमरी समितियाँ उस वास्तविक सम्पत्ति का उचित मूल्य निर्धारित कर सकने में असमर्थ थीं जिसके आधार पर वे ऋण देती थीं। यदि ऋणी ऋण का भुगतान न कर सकें तो ये समितियाँ अपनी अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं से की गई प्रतिज्ञाओं को पूरा नहीं कर सकती थीं। यदि कोई ऋणी ऋण न चुका सके तो उन्हें कानूनी सहायता लेकर भूमि के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था और वह भूमि समितियों के अधिकार में आ जाती थी ; ऋणी को विवश होकर अपनी भूमि समिति को बेचनी पड़ती थी। परन्तु इससे समितियों के कार्य में सहायता की अपेक्षा अड़चनें अधिक पड़ती थीं ; क्योंकि मन्दी के समय में समितियों से इस प्रकार की भूमि को खरीदने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता था। शासकों और अन्य सहयोगियों ने इस स्थिति पर गंभीरता से विचार करके यह निष्कर्ष निकाला कि दीर्घकाल के लिए ऋण देने का कार्य करने के हेतु पृथक् संस्था का निर्माण करना आवश्यक है। इस दिशा में भूमि-बन्धक बैंकों का निर्माण करने का कार्य सर्वप्रथम पंजाब में आरम्भ किया गया। सबसे पहला सहकारी भूमि-बन्धक बैंक का निर्माण १९२० में झांग (Jhang) नामक स्थान में किया गया। १९२५ में मद्रास में उसी प्रकार के दो और बैंकों का निर्माण हुआ और १९२९ में बम्बई में उसी प्रकार के तीन बैंक स्थापित किये गये।

सन् १९२६ में भूमि-बन्धक बैंकों के संगठन पर और उसके विकास पर विचार-विमर्श करने के लिए सहकारी विभाग के रजिस्ट्रारों की एक कान्फ-रेन्स हुई। इस विषय पर Royal Commission on Agriculture और Central Banking Enquiry Committee ने भी विचार किया। रजिस्ट्रारों की कान्फरेन्स द्वारा दिये गये सुझावों को मानते हुये उक्त दोनों

कमेटियों ने कई अन्य सुझाव और दिये। भारत के रिजर्व बैंक के कृषि-साख-विभाग (Agricultural Credit Department) द्वारा प्रकाशित "भूमि-बन्धक बैंक" (Land Mortgage Banks) नामक पुस्तिका में उक्त तीनों कमेटियों द्वारा दिये गये मुख्य सुझावों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है :–

(१) भूमि-बन्धक बैंकों का निर्माण सहकारी समिति ऐक्ट (Co-operative Societies Act) के अनुसार किया जाना चाहिये। उनका कार्यक्षेत्र न तो बहुत बड़ा हो जिसपर नियन्त्रण न रखा जा सके और न इतना संकीर्ण हो कि उससे बैंक को हानि उठानी पड़े। उनके निर्माण करने से पहले सावधानी से प्रारम्भिक जाँच करना आवश्यक है।

(२) केवल निम्न मुख्य उद्देश्यों के लिए ही ऋण देना चाहिये —

(अ) कृषकों के घर व जमीन बन्धक से छुड़ाने के लिए।

(ब) भूमि और पैदावार उत्पन्न करने की विधियों में सुधार करने के लिए।

(स) पूर्व के ऋणों को चुकाने के लिए; और

(द) विशेष परिस्थितियों में भूमि खरीदने के लिए।

(३) ऋण कुल बन्धक-सम्पत्ति के मूल्य के आधे से अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिए। प्रत्येक बैंक अपनी नियमावलियों में यह स्पष्ट कर दें कि व्यक्तिगत ऋण अधिक से अधिक और कम से कम कितना दिया जायगा। न्यूनतम ऋण इतना होना चाहिये जिससे बैंक का लेन-देन सरलता से हो सके और प्राइमरी समितियाँ आसानी से उतना ऋण दे सकें।

(४) भूमि-बन्धक बैंकों को Land Improvement Act के अनुसार ऋण का वितरण करने के लिए उपयुक्त एजेन्सियाँ स्थापित करनी चाहियें।

(५) ऐसा कोई ऋण नहीं देना चाहिये जो ऋण लेने वाले के लिए लाभप्रद (Economically Profitable) न हो।

(६) ऋण की कुल मात्रा और ऋण भुगतान की अवधि ऋण लेनेवाले की ऋण का भुगतान कर सकने की क्षमता के आधार पर और उस उद्देश्य के आधार पर निश्चित करनी चाहिये जिसके लिए ऋण लिया गया है।

(७) वर्तमान स्थिति में ऋण भुगतान की अवधि २० वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(८) यदि किसी प्राइमरी ऋण देनेवाली समिति (Primary Credit Society) का सदस्य ऋण लेने के लिए प्रार्थना-पत्र दे तो उस पर उक्त समिति से विचार-विनिमय किया जाय और उसकी सम्मति ले ली जाय।

(६) ऋण-पत्र Central Financing Body के द्वारा ही बेचे जाने चाहियें जिसे Land Mortgage Corporation कहा जा सकता है। ऋण-पत्रों पर मिलने वाले सूद की जिम्मेदारी सरकार स्वयं ले और उन्हें ट्रस्टी सिक्योरिटीज (Trustee Securities) की सूची में रख लिया जाय।

(१०) सरकार को भूमि-बन्धक बैंकों की प्रारम्भिक अवस्था को दृढ़ बनाने के लिए उन्हें सहायता देनी चाहिए। जो भी सुविधाएँ स्टैम्प ड्यूटी, रजिस्ट्री करने की फीस इत्यादि के रूप में दी गयी हैं वे भूमि-बन्धक बैंकों के लिए भी दी जाँय।

(११) भूमि-बन्धक बैंक को बिना अदालती कार्यवाही किये हुए बन्धक-भूमि पर से ऋणी का अधिकार छीन लेने और उसे बेचने का अधिकार देना चाहिये।

(१२) प्रान्तीय सहकारी बैंक केवल अस्थायी रूप से प्रान्त के लिए केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों का कार्य कर सकते हैं। परन्तु जब तक प्रान्तों में प्रान्तीय भूमि-बन्धक कारपोरेशन स्थापित नहीं हो जाते तब तक प्रान्तीय सहकारी बैंक प्राइमरी भूमि-बन्धक बैंकों को उस कोष से दीर्घकाल के लिए ऋण दे सकते हैं, जो विशेष कर इसी उद्देश्य से एकत्रित किया गया हो।

रिजर्व बैंक के कथनानुसार भारतवर्ष में भूमि-बन्धक बैंकों का विकास प्रायः उक्त सुझावों के आधार पर ही हुआ है।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि यद्यपि प्रथम भूमि-बन्धक बैंक १६२० में पंजाब के झांग (Jhang) नामक स्थान पर स्थापित किया गया और उसके बाद कुछ और इसी प्रकार के बैंक अन्य प्रदेशों में स्थापित हुये; परन्तु भूमि-बन्धक बैंकों का भारतवर्ष में वास्तविक आरम्भ मद्रास में १६२६ में केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक की स्थापना से हुआ है। उसके पश्चात् इसी प्रकार की अन्य संस्थायें मैसूर, कोचीन, बम्बई और उड़ीसा में स्थापित हुईं।

सेविंग बैंक

अन्य बैंकों की अपेक्षा सेविंग बैंक की भारतीय जनता में पहुँच अधिक है। सेविंग बैंक का आरम्भ डाकखानों के द्वारा हुआ। अधिकांश डाकखानों में व उनकी छोटी शाखाओं में जनता अपना द्रव्य जमा कर सकती है। इसमें कम से कम चार आने तक जमा किये जा सकते हैं और सप्ताह में केवल एक बार इनसे द्रव्य निकाला जा सकता है। अन्य बैंकों की तरह सेविंग बैंक भी द्रव्य जमा करने वाले को ब्याज देता है। परन्तु अब प्रत्येक व्यापारी बैंक ने भी सेविंग बैंक का कार्य करना आरम्भ कर दिया है।

सेविंग बैंक के उक्त विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि इस बैंक का उद्देश्य लाभ कमाने की अपेक्षा जनता का हित करना अधिक है। प्रायः अधिक द्रव्य जमा कर सकने वाले व्यक्ति बड़े बैंकों में अपनी बचत सुरक्षित रख सकते हैं; परन्तु कम आमदनी वाले व्यक्तियों अर्थात् निम्न मध्यवर्ग व मजदूर किसान इत्यादि की बचत भी कम मात्रा में होती है जिसे बड़े बैंकों में जमा नहीं किया जा सकता और कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो थोड़ी मात्रा में द्रव्य बड़े बैंकों में जमा करने से हिचकते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें व्यर्थ व्यय करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। थोड़ी मात्रा में द्रव्य को वे अधिक महत्व नहीं देते और प्रायः अनावश्यक वस्तुओं पर व्यय कर देते हैं। परन्तु सेविंग बैंक की स्थापना होने से जनता की इस प्रवृत्ति को बढ़ने का कम अवसर मिला है। डाकखानों का काफी प्रसार है और अधिकांश जनता से उनका नित्य-प्रति का सम्बन्ध रहता है। इससे इनको सेविंग बैंकों में द्रव्य जमा करने में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। स्त्री, पुरुष सब अपनी थोड़ी-सी बचत को भी इसमें जमा करके सुरक्षित कर सकते हैं। इससे उनमें मितव्ययिता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, अनावश्यक वस्तुओं का उपभोग घटता है और रहन-सहन के स्तर में वृद्धि होती है।

यद्यपि सेविंग बैंक से जनता को काफी लाभ पहुँचा है, परन्तु भारतवर्ष की जनसंख्या के अनुपात में अभी यह बहुत कम है। राष्ट्रीय सरकार को प्रत्येक गाँव की बचत को सेविंग बैंकों में सुरक्षित रख सकने का प्रयत्न करना चाहिये। ग्रामों की सहकारी संस्थाओं (Co-operatives) के द्वारा यह कार्य आसानी से किया जा सकता है।

द्वितीय महायुद्ध में डाकखाने के सेविंग बैंकों में अधिक मात्रा में रुपया जमा हुआ था। इसका कारण यह है कि उस समय मुद्रा-प्रसार बढ़ा हुआ था और बहुधा निम्न वर्ग के व्यक्तियों की आय उनके व्यय से अधिक थी। जैसा कि निम्नलिखित कोष्ठक से विदित होता है कि १९१४–'१५ में १४·८९ करोड़ रुपयों से बढ़कर १९३८–'३९ में भारतीय डाकखानों के सेविंग बैंकों में ८१·८८ करोड़ रुपये जमा हो गये। द्वितीय महायुद्ध के अन्त में १९४५–'४६ में इसकी मात्रा ११५·०४ करोड़ रुपये, १९४६–'४७ में १४२·३५ करोड़ रुपये और १९४७–'४८ में १४६·८२ करोड़ रुपये हो गयी। भारतवर्ष के विभाजन के उपरान्त घबराहट और हलचल के कारण डाकखाने के सेविंग बैंकों की जमा में बहुत कमी आ गयी। परन्तु अब फिर इसमें वृद्धि होनी आरम्भ हो गयी है। १९४९–'५० में यह जमा ४४·११ करोड़ रुपया हो गयी थी।

डाकखानों के सेविंग बैंकों में जमा का विवरण

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	वर्ष के अन्त में कुल जमा
१९१३–'१४	२३·१६
१९१४–'१५	१४·८९
१९१५–'१६	१५·३२
१९१८–'१९	१८·८२
१९१९–'२०	२१·३४
१९२०–'२१	२२·८६
१९३०–'३१	३७·०२
१९३१–'३२	३८·२०
१९३२–'३३	४३·४५
१९३६–'३७	७४·६८
१९३७–'३८	७७·५०
१९३८–'३९	८१·८८
१९४४–'४५	८०·२२
१९४५–'४६	११५·०४
१९४६–'४७	१४२·३५
१९४७–'४८	
(अ) पहली अप्रैल से १४ अगस्त तक	१४६·८२
(ब) १५ अगस्त से ३१ मार्च तक	१०·१२
१९४८–'४९	२९·९१
१९४९–'५० (अनुमानित)	४४·११

साहुकारी
(Indigenous Banking)

भारतवर्ष में साहुकारी की प्रथा का इतिहास बहुत प्राचीन है और आज भी भारतवर्ष के अधिकांश भाग में अपने पूर्व-रूप में, बिना किसी परिवर्त्तन के वर्तमान है। भारत की अधिकांश जनता गाँवों में बसी हुई है, क्योंकि यह कृषिप्रधान देश है। आधुनिक सभ्यता का उन पर बहुत कम प्रभाव पड़ सका है। वे परम्परा से चली रीति को आधुनिक रीतियों की अपेक्षा अधिक लाभदायक समझते हैं। उनका अशिक्षित होना ही उनकी इस प्रवृत्ति का कारण है। यदि साहूकारी प्रथा का सूक्ष्म निरीक्षण

किया जाय तो विदित होता है कि इस प्रथा का अब तक अपने प्राचीन रूप में चले आने का एक कारण उनकी यही प्रवृत्ति है।

भारत की ग्रामीण जनता अशिक्षित होने के साथ ही निर्धन भी है। ब्याह-शादी, उत्सव व अन्य सामाजिक व धार्मिक रिवाजों को सम्पन्न करने के लिए उसे समय-समय पर द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। इसकी पूर्ति गाँव का महाजन, साहुकार या सेठ करता है। वह किसानों व अन्य छोटे-छोटे पेशेवालों को ऋण देकर उस पर सूद लेता है। प्रायः भारत के प्रत्येक गाँव में ऐसे महाजन व साहुकार रहते हैं जिनका गाँव की जनता पर बड़ा प्रभाव होता है।

साहुकारी प्रथा का कार्यक्षेत्र गाँव और शहर दोनों हैं। गाँवों में इसका कार्य महाजन करते हैं। अधिकतर यह कार्य वंशगत होता है। ये लोग किसानों को बहुत ऊँची दर पर ऋण देते है जिसकी वसूली यदि द्रव्य में हो सकना सम्भव नहीं है तो अनाज के आधार पर करते है। प्रायः फसल के तैयार होने पर महाजन के ऋण का अधिकांश भाग अन्न के रूप में देकर चुका दिया जाता है, जिसे महाजन या तो स्वयं अपने उपभोग के कार्य में लाता है या निकट अथवा दूर की व्यापारी मण्डियों में अवसर के अनुसार नफा लेकर बेच देता है। इस तरह महाजन गाँव के अनाज को बाहर भेजने का भी कार्य करता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि महाजन और बैंक के कार्य में एक अन्तर है। बैंक ऋण देते हैं और ऋण लेते भी हैं। उनके सदस्य उनमें अपना द्रव्य इत्यादि जमा कर देते है जिसका व्यापार इत्यादि में प्रयोग करके बैंक नफा कमाते हैं; परन्तु महाजन केवल ऋण देने का कार्य करता है। यह ऋण वह अपने पिता व पूर्वजों के संचित किये हुये द्रव्य में से देता है। प्रायः ग्रामीण जन अपने सोने चाँदी के आभूषणों को महाजन के पास गिरवी रखकर भी ऋण लेते है और ऋण चुका देने के पश्चात् आभूषण इत्यादि वापस ले जाते है। कभी सुरक्षा के विचार से भी मूल्यवान् वस्तुएँ इनके पास जमा कर दी जाती है जिसका आधार विश्वास होता है।

आवश्यकता पड़ने पर यद्यपि ये महाजन ग्रामीणों की सहायता करते हैं, परन्तु इनका व्यवहार ग्रामीणों के प्रति अच्छा नहीं होता है। ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति में अस्थिरता अधिक होती है। इस कारण महाजन उनसे सूद की ऊँची दर वसूल करते हैं, धोखा व जालसाजी करके उनको काफी हानि पहुँचाते हैं। भारत की अधिकांश कृषक व मजदूर जनता सूद ही चुकाते चुकाते मर जाती है। मूलधन चुका ही नहीं पाती है। इस प्रकार पिता द्वारा लिया हुआ ऋण पुत्र को चुकाना पड़ता है। ऋण देने

की महाजनी प्रथा के साथ ही साथ ऋण-भुगतान करने का कार्य भी वंशगत चलता है। इससे महाजन को काफी लाभ होता है।

शहर में भी ऋण देने की यह प्रथा काफी प्रचलित है। साहूकार या सेठ लोग छोटे-छोटे व्यापारियों को ऊँचे सूद की दर पर ऋण देते हैं, उनकी मूल्यवान् वस्तुओं, आभूषण इत्यादि को गिरवी रखते हैं, हुण्डियाँ भुनते हैं और अन्य प्रकार के व्यापार भी करते हैं। इनकी पूँजी भी अधिकतर पिता व पूर्वजों द्वारा संचित पूँजी होती है और इनकी सूद की दर बैंक से अधिक होती है।

महाजन व साहूकार इत्यादि अपने ऋण के लेन-देन का नियमित हिसाब नहीं रखते हैं। वे अपने प्रत्येक कार्य को इस दृष्टि से करते हैं कि उसमें व्यय कम से कम हो और लाभ अधिक हो। ऋण लेने वाले को प्राय: इनकी दया पर निर्भर रहना पड़ता है। इनके ऋण वसूल करने के ढंग क्रूर होते हैं। ग्रामीणों की कठिनाइयों के प्रति इनका ध्यान नहीं होता है और अधिकतर उनकी जमीन, पशु इत्यादि छीनने से हिचकते नहीं हैं। अल्पकालिक दृष्टिकोण से महाजन व साहुकार इत्यादि ऋण लेनेवाले की सहायता करते हुये प्रतीत होते हैं, परन्तु भारतवर्ष की सामाजिक अवस्था व भारत के निर्धनों की परिस्थितियों के कारण इस ऋण का दीर्घकालिक प्रभाव बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ ह।

इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है कि साहुकारी प्रथा का भारत की अधिकांश जनता पर काफी प्रभाव है। परन्तु बैंकिंग की व्यवस्थित और संगठित प्रणाली की आधुनिक जगत् की आर्थिक उन्नति में बहुत बड़ी आवश्यकता है। उसके महत्व के सामने साहूकारी भारत की आर्थिक उन्नति में बाधक प्रतीत होती है। कृषि की उन्नति और घरेलू उद्योग-धन्धों के विकास में इस प्रथा से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँची है। जब भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई थी तब यह आशा की जाती थी कि वह कृषि व ग्राम-उद्योगों की उन्नति व उनके विकास के लिए योजना बनायेगा; परन्तु कुछ कारणों से यह आशा पूरी न हो सकी। रिजर्व बैंक ने साहूकारी प्रथा का बैंकिंग प्रथा से सम्बन्ध जोड़ने का काफी प्रयत्न किया, परन्तु महाजनों व साहूकारों ने रिजर्व बैंक के सुझावों व आदेशों पर चलना अस्वीकार कर दिया। सूद की दर कम करने, नियमित रूप से अपनी आर्थिक स्थिति की सूचना रिजर्व बैंक को भेजने और उचित रीति से लेन-देन का हिसाब रखने के लिए साहूकार और महाजन तैयार नहीं हुए। उन्होंने बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यापारों को त्याग देने में अपनी हानि समझी। इससे रिजर्व बैंक के सारे प्रयत्न असफल हो गये।

यदि यह प्रयत्न सफल हो जाते तो गाँवों को दो बहुत बड़े लाभ होते। उनकी बिखरी पूँजी एक स्थान पर जमा हो सकती थी। उसकी उपयोगिता में बहुत वृद्धि हो जाती। दूसरा लाभ यह होता कि इस पूँजी के आधार पर गाँवों में साख का निर्माण किया जा सकता था। सूद की दर कम होती और घरेलू उद्योगों व कृषि-विकास के कार्यों में द्रव्य लगाकर गाँवों की आर्थिक उन्नति की जा सकती थी। परन्तु अब भारतवर्ष स्वतन्त्र हो चुका है। हमारी राष्ट्रीय सरकार को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये और भारतीय रिजर्व बैंक को ऐसी सुविधायें प्रदान करनी चाहियें जिनसे वह अपनी विकास की योजनाओं को कार्यान्वित कर सके।

अभ्यास के प्रश्न

१. रिजर्व बैंक का संक्षिप्त वर्णन कीजिये और उसके मुख्य लक्षण बतलाइये।
२. क्या रिजर्व बैंक उन उद्देश्यों को पूरा कर सका जिनके लिए उसका निर्माण किया गया था ?
३. भारत के व्यापारी बैंकों की कार्यप्रणाली में क्या त्रुटियाँ हैं ? उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?
४. इण्डियन फाइनैन्स कारपोरेशन का निर्माण क्यों किया गया ? क्या इस कारपोरेशन ने भारतीय उद्योग-धन्धों को उचित सहायता दी ?
५. भूमि-बन्धक बैंकों की क्या विशेषता है ? भारतीय भूमि-बन्धक बैंक किन नियमों के अनुसार कार्य करते हैं ?
६. साहूकारी प्रथा का भारतीय व्यापार, कृषि और उद्योग-धन्धों के लिए क्या महत्व है ? संक्षेप में बतलाइये कि इसको किस प्रकार आधुनिक बैंकिंग प्रणाली में सम्मिलित किया जा सकता है।

अध्याय २८

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और द्रव्य-कोष

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त दो बड़ी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ। इन दोनों संस्थाओं के उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) द्रव्य की अल्पकालीन समस्याओं से सम्बन्ध रखता है और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) द्रव्य की दीर्घकालीन समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। ये दोनों संस्थायें द्रव्य-क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उज्ज्वल उदाहरण है।

प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है और एक दूसरे से उनकी विनिमय की दरें भी विभिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ एक रुपया पाउण्ड में १ शि० ६ पे० के बराबर होता है और १ पाउण्ड किसी समय में ४·८६६ डौलरो के बराबर था। व्यापार की उन्नति के लिए यह आवश्यकता है कि मुद्राओं की विदेशी विनिमय दर में आकस्मिक और सम्भावना से अधिक परिवर्त्तन न हो। स्वर्ण-मान (Gold Standard) की एक विशेषता यह थी कि वह विनिमय की दरों को स्थायी रखता था। परन्तु अब किसी भी देश में स्वर्ण मुद्रा-मान नही है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व प्रत्येक बड़े बड़े देश ऐसे कुछ प्रबन्ध करते थे जिससे उनके विनिमय की दरें स्थायी रहें। परन्तु बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के इस कार्य में बड़ी कठिनाई पड़ती थी और प्रत्येक देश में परस्पर एक प्रकार का असन्तोष और सन्देह उत्पन्न हो जाता था, जिससे आपस में द्वेष बढ़ता था और मुद्रा की विनिमय की दरों में व्यर्थ का अन्तर उत्पन्न हो जाता था। इन सब समस्याओ, सन्देहों और असन्तोषों को दूर करने के लिए संयुक्त राष्ट्र (United Nations) की एक कान्फ्रेन्स ब्रटन वुड्स् (Bratton Woods) में १९४५ में हुई। जिसके परिणाम स्वरूप इन दो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने मार्च १९४७ से कार्य करना आरम्भ किया। इसके उद्देश्य निम्नलिखित है :—

(१) द्रव्य-विनिमय के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सहयोग की भावना का प्रसार करना और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-विनिमय की समस्याओं को सुलझाने मे सहयोग प्राप्त करने के लिए तथा उनपर विचार-विमर्श करने के लिए एक संस्था को जन्म देना।

(२) विनिमय की दरों में स्थायित्व (Stability) लाना, अपने सदस्यों के विनिमय के लिए उचित प्रबन्ध करना और विनिमय-मान में परस्पर स्पर्धा के कारण कमी न आने देना।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय शेष भुगतान (Balance of Payment) में अल्पकालीन सन्तुलन स्थापित करना।

(४) अपने सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उनके अपने देश में सामाजिक एवं राजनैतिक नीतियों पर चलने की स्वतन्त्रता के अधिकार में बिना हस्तक्षेप किये उन्नति कराना।

(५) (अ) अस्थायी लेन-देन में विभिन्न प्रकार की भुगतान की विधियों की स्थापना में सहायता देना।

(ब) विदेशी विनिमय की बाधाओं को दूर करना जो विश्व के व्यापार की उन्नति में अड़चनें डालती हैं।

इस अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष में संसार के ४७ देशों ने सहयोग दिया है और ३० अप्रैल १९५० को इसकी कुल पूंजी (Share Capital) ७९२·१५ करोड़ अमरीकन डौलर थी। जिसमें हर एक देश का उसकी आर्थिक स्थिति और उसके महत्व के अनुसार कोटा (Quota) निश्चित किया गया है। पाँच बड़े देशों का कोटा इस प्रकार है—

देश	कोटा (करोड़ अमेरिकन डौलर)
अमेरिका (U.S.A.)	२७५
ग्रेट ब्रिटेन (United Kingdom)	१३०
चीन (China)	५५
फ्रान्स (France)	५२·५
भारत (India)	४०

इस संस्था के कार्य में प्रत्येक देश को उसके कोटे के अनुपात में ही वोट (Vote) देने का अधिकार है और समय पड़ने पर प्रत्येक देश इस संस्था से अपने कोटे के आधार पर ऋण ले सकता है। द्वितीय महा-युद्ध के उपरान्त कुछ समय के लिए भारतवर्ष, ग्रेट ब्रिटेन व अन्य देशों में अमेरिकन डौलरों की बड़ी कमी पड़ गयी। उस कमी को पूरा करने के लिए इन देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से अमेरिकन डौलर उधार लिए और इस प्रकार अपनी मुद्राओं के विदेशी मूल्य कम होने से रोके। अन्य देशों ने भी समय समय पर आवश्यकतानुसार जिस देश को मुद्रा की आवश्यकता पड़ी वह इस कोष से ऋण ले ली। कितने ही देशों ने प्रारम्भ से ही इस कोष से द्रव्य ऋण लिया। प्रारम्भ से लेकर ३० अप्रैल १९५० तक सदस्य देशों ने इस अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष से अपनी मुद्रा के बदले में ७७·७२ करोड़ अमेरिकन डौलरों के बराबर विदेशी

मुद्रायें लीं। जिसमें से ग्रेट ब्रिटेन ने ३० करोड़ अमेरिकन डौलरों का, फ्रान्स ने १२·५ करोड़ अमेरिकन डौलरों का और भारत ने १० करोड़ अमेरिकन डौलरों का ऋण लिया। जब इन देशों का निर्यात (Export) बढ़ेगा और जब इनके पास विदेशी मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक होगी, ये देश उस मात्रा को इस कोष में ऋण के भुगतान के रूप में दे देंगे। इस प्रकार इन देशों की मुद्राओं की विदेशी विनिमय की दरों में अवांछित परिवर्त्तन होने से बच गया। इस कोष के नियमों के अनुसार प्रत्येक देश आवश्यकता पड़ने पर अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय की दर को १०% घटा-बढ़ा सकता है। इसके अतिरिक्त इस कोष की आज्ञा से १०% की घटती-बढ़ती और कर सकता है। यद्यपि इस कोष का उद्देश्य विदेशी विनिमय की दरों को स्थिर रखना है, परन्तु प्रत्येक देश को यह अधिकार है कि कुछ सीमा तक उसमें परिवर्त्तन भी कर सके। सितम्बर १९४९ में जब भारत, ग्रेट ब्रिटेन इत्यादि देशों ने अपनी मुद्राओं का डौलर में विदेशी मूल्य कम किया था तब इस कोष ने इस कार्य में सहायता की थी। यह कहना अनुचित न होगा कि इस कोष ने विनिमय की दरों को स्थिर रखने का कार्य बड़ी कुशलता से किया।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने मई १९४७ से कार्य करना आरम्भ किया। इस बैंक का उद्देश्य यह है कि जो देश आर्थिक उन्नति में पिछड़े हुए हैं वह उनको द्रव्य ऋण देकर उनकी उन्नति में सहायक हो। दुनिया के सभी देश उन्नति के एक ही स्तर पर नहीं हैं। कुछ देश बहुत पिछड़े हुए हैं और कुछ देश बहुत आगे बढ़े हुए हैं। इससे विदेशी व्यापार में कमी होती है और परस्पर द्वेष-भावना फैलती है। इससे यह अनुभव किया गया कि यदि सभी देश जितना संभव हो सके उतनी उन्नति कर लें तो इससे सब देशों का लाभ हो सकेगा। इस उन्नति के लिये द्रव्य की आवश्यकता है; परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-बाजार की ऐसी स्थिति है कि जो देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं वह इसके लिये आवश्यक पूँजी एकत्रित नहीं कर सकते हैं। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का निर्माण किया गया जिससे उन देशों को द्रव्य मिल सके।

जो देश अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के सदस्य हैं वे इस संस्था के भी सदस्य हैं और प्रत्येक का 'कोटा' भी उसी के अनुसार निश्चित है। प्रारम्भ से लेकर मार्च १९५१ तक इस बैंक ने १०८·९९ करोड़ अमेरिकन डौलर अन्य देशों को ऋण दिये। इसमें से भारतवर्ष को तीन बार निम्नलिखित विवरण के अनुसार ऋण मिला:—

	ऋण का उद्देश्य	ऋण की मात्रा (अमेरिकन डौलर)	सूद की दर	समय जिसके लिए ऋण मिला
(१)	रेलों का पुनर्निर्माण	३४,०००,०००	४%	१९५०–१९६९
(२)	कृषि के लिए मशीनें	१०,०००,०००	३½%	१९५२–१९५६
(३)	विद्युत्-शक्ति का विकास	१८,५००,०००	४%	१९५५–१९७०

इस संस्था की कार्य-प्रणाली में कई त्रुटियाँ रहीं हैं। इसने अधिकतर ऋण यूरोप व अमेरिका के देशों को दिया और एशिया के देशों को बहुत कम। इससे इस संस्था का उद्देश्य पूरा नहीं हो सका है, क्योंकि यूरोप के देशों की अपेक्षा एशिया के देश अधिक पिछड़े हुये हैं। उनको ही अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में इस प्रकार का भेद-भाव उचित नहीं कहा जा सकता है। उसे पक्षपात रहित होकर अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक यह नहीं कर सका है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने ऋण देने के लिए अत्यन्त संकीर्णता से कार्य किया। उसके नियमानुसार ऋण लेने वाले देश को अपनी योजना एक विशेष प्रकार की बनानी पड़ती है, जिसका अर्न्तराष्ट्रीय बैंक अध्ययन करता है और इसके पश्चात् कई अन्य प्रश्नों पर विचार करके ऋण देने की स्वीकृति या अस्वीकृति देता है। यह इस बात पर भी विचार करता है कि योजना में जितना द्रव्य लगा है वह उसके कार्यान्वित होने से वसूल हो सकेगा या नहीं। परन्तु बहुत-सी ऐसी योजनायें होती हैं जो पूर्णतया निश्चित (Definite) योजनायें नहीं कही जा सकती ह। इस कारण इस बैंक ने इन योजनाओं को स्वीकृत नहीं किया और कई देशों के विकास में इससे बहुत हानि हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की सूद की दर भी बहुत अधिक रही है। दीर्घ-कालीन ऋण के हेतु सूद की दर कम होनी चाहिये। परन्तु इसकी बढ़ी हुई दर से भी बहुत से देश ऋण लेने से हिचकते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष क्या है? इसका उद्देश्य समझाइये और इसकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालिये।

२. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष किन उद्देश्यों के लिए ऋण देता है? उससे द्रव्य की विदेशी विनिमय की दर में स्थिरता किस प्रकार रहती है; समझाकर लिखिये।

३. अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के क्या उद्देश्य हैं? क्या यह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हो सका है?

राजकीय अर्थशास्त्र

अध्याय २६

राजस्व

समाज के विकास के साथ यह अनुभव हुआ कि कुछ मानवी आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनकी तृप्ति एक सामाजिक संस्था द्वारा अधिक मितव्ययता और सुगमता के साथ हो सकती है। साथ ही साथ मनुष्य को समाज में रहने के कारण कुछ ऐसी सामाजिक आवश्यकताओं का अनुभव होता है जिनकी पूर्ति के प्रयत्न करना कोई एक विशेष व्यक्ति अपना कर्तव्य नहीं समझता है। उदाहरणतः अपने देश की सुरक्षा कोई व्यक्ति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता वरन् सारे समाज पर ही इसकी जिम्मेदारी होती है। इस कारण कुछ सामाजिक और संगठित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही राष्ट्र का निर्माण हुआ। प्रारम्भ में राष्ट्र एक 'पुलिस-स्टेट' ही था और उसका मुख्य कर्तव्य राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा करना और आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था स्थापित करना ही था। ऐसे राष्ट्र की आवश्यकताएँ कम थीं और उनकी पूर्ति के लिए थोड़ी सी आय पर्याप्त होती थी। इस कारण राष्ट्र इने-गिने कुछ कर लगाता था और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसी स्थिति में राजस्व के सिद्धान्तों का विशेष महत्व व इनकी विशेष आवश्यकता भी न थी। परन्तु समाज के विकास के साथ साथ राष्ट्र के कार्यों का क्षेत्र भी बढ़ता गया है। राष्ट्र के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह उन सेवाओं का प्रबन्ध करे जो समाज के लिए आवश्यक हैं और जिनका प्रबन्ध करना या तो कोई व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी नहीं समझता जैसे सड़कें बनाना, नगर में सफाई रखना इत्यादि या जिनका प्रबन्ध किसी एक व्यक्ति पर छोड़ना समाज के लिए हितकर नहीं है, जैसे शिक्षा इत्यादि। गत वर्षों में अनेक नये नये आविष्कार और अनुसन्धान किये गये हैं जिनसे उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। इन कारणों से संसार की उत्पादन शक्ति में अधिक वृद्धि हुई है और धन का उत्पादन बहुत बढ़ गया है। उत्पादन की वर्तमान रीतियों की यह प्रवृत्ति होती है कि उत्पादित धन का अधिकांश भाग कुछ इने-गिने व्यक्तियों के पास एकत्रित होता जाता है। इससे समाज में असमानता बढ़ती जाती है। एक ओर

तो बड़े बड़े नगरों में करोड़पतियों की विशाल अट्टालिकाएँ हैं और वहाँ से थोड़ी दूर पर निर्धनों की टूटी फूटी झोपड़ियाँ हैं। इसके साथ साथ शिक्षा का प्रसार भी होता गया जिससे जन साधारण जाग्रत हो गये और अपने अधिकारों की माँग करने लगे। ऐसी परिवर्तित होती हुई स्थिति में यह आवश्यक था कि राष्ट्र की व्याख्या की व उसके कर्तव्यों की नये सिरे से छानबीन हो। वर्तमान राष्ट्र ने एक 'पुलिस-स्टेट' के रूप की अपेक्षा मानवी कल्याण के राष्ट्र का रूप धारण कर लिया है। राष्ट्र का उद्गम और अस्तित्व का कारण कुछ सामाजिक और संगठित आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इसलिए राष्ट्र एक सामाजिक संस्था है और उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इस संस्था का अधिकतम कल्याण करे। इस राष्ट्र की कुछ आवश्यकताएँ हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे प्रयत्न करने पड़ते हैं क्योंकि संसार में अभाव का प्रभाव है। जब राष्ट्र प्रयत्न करता है तभी उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। राष्ट्र का मुख्य लक्ष्य समाज का अधिकतम सुख है और इस कारण वह ऐसे कार्य करता है जिससे समाज के सुख में अधिकतम वृद्धि हो। इस लक्ष्य के अन्तर्गत ही वह शिक्षा, स्वच्छता, चिकित्सा इत्यादि की व्यवस्था करता है ।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जो राष्ट्र का लक्ष्य होगा उसीके अनुकूल हम अधिकतम सुख की व्याख्या कर सकते हैं। जैसे साम्राज्य-वादी ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य भारतवासियों का कल्याण नहीं था वरन् अपने देशवासियों का कल्याण और भारतवर्ष में अपनी शक्ति को प्रबल रखना था। इस कारण वह प्रत्येक कार्य को इस कसौटी पर ही जाँचते थे। इसी प्रकार हिटलर के विचार में बन्दूकें मक्खन से अधिक आवश्यक थीं क्योंकि उसके राष्ट्र का कल्याण प्रसर नीति के अपनाने में ही था और इसी कारण अन्य समस्त कार्य इस नीति के अनुसार ही किये जाते थे।

हम यहाँ एक ऐसे प्रजातन्त्र राष्ट्र का अध्ययन करते हैं जिसका लक्ष्य सारे समाज का अधिकतम कल्याण करना है, न कि किसी विशेष जाति या वर्ग का । भिन्न प्रकार के राष्ट्रों के लिए "अधिकतम कल्याण" का भिन्न अर्थ होगा, (जैसे साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार और हिटलर की सरकार के लिए 'अधिकतम' कल्याण का भिन्न अर्थ है) और वह राष्ट्र अपने राजस्व का संचालन उन्हीं आदर्शों की प्राप्ति को ध्यान में रखकर करेंगे।

राजस्व राजकीय अर्थशास्त्र की महत्वपूर्ण शाखा है । राजकीय अर्थ-शास्त्र अब एक स्वतन्त्र विज्ञान समझा जाता है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र एक व्यक्ति का हो सकता है उसी प्रकार वह एक राष्ट्र का भी हो सकता है। राष्ट्र की भी आवश्यकताएँ होती हैं । उन आवश्यकताओं की

पूर्ति के लिए राष्ट्र को भी एक व्यक्ति के समान प्रयत्न करने पड़ते हैं क्योंकि संसार में वस्तुएँ मुफ्त नहीं मिलतीं और उन प्रयत्नों द्वारा ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। राजकीय अर्थशास्त्र स्वभावतः ही सामाजिक विज्ञान है। यदि समाज न होगा तो राष्ट्र भी न होगा और राजकीय अर्थशास्त्र की कोई समस्या न उठेगी। रौबिन्सन क्रूसो के लिए न कोई राष्ट्र है और न वह किसी राज्य को कर देता है। उसके जैसे एकान्ती व्यक्ति की सभ्यता राजकीय अर्थशास्त्र या राजस्व के क्षेत्र के बाहर है।

राष्ट्रीय व व्यक्तिगत व्यय की तुलना :—यह कहा जाता है कि एक व्यक्ति की आय स्थिर होती है और उसको अपना व्यय उस आय के अनुकूल ही करना होता है। परन्तु एक राष्ट्र पहले अपने व्यय का अनुमान लगाता है और फिर उतनी ही आय का प्रबन्ध करता है। यह अन्तर बहुत गहरा नहीं है क्योंकि एक व्यक्ति का व्यय बढ़ने पर वह अपनी आय अधिक परिश्रम करके बढ़ा सकता है। दूसरी ओर राष्ट्र भी उतना ही व्यय कर सकता है जितना कर देने की शक्ति उसकी जनता में हो। भारतीय सरकार यू० एस० ए० की सरकार के बराबर व्यय कदापि नहीं कर सकती।

एक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आय का कुछ भाग बचावे जिससे आवश्यकता के समय जब उसकी आय कम हो जाय या व्यय एकदम बढ़ जाय तो वह अपनी बचत से काम चला सके। परन्तु राष्ट्र के लिए अपने व्यय से अधिक आय एकत्रित करना आवश्यक नहीं है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वह अधिक कर लगा सकता है या अधिक ऋण ले सकता है।

कुछ लोगों का कथन है कि राष्ट्रीय व्यय अनिवार्य होता है जैसे राष्ट्र को सुरक्षा का प्रबन्ध करना ही होगा चाहे कुछ लोग उसके विरुद्ध ही हों या उसकी आवश्यकता न समझते हों। परन्तु एक व्यक्ति का व्यय उसकी इच्छा पर निर्भर होता है। यह अन्तर ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि कुछ व्यय एक व्यक्ति के लिए भी अनिवार्य होते है जैसे भोजन और कपड़ा। यदि वह इन आवश्यक वस्तुओं पर व्यय न करे तो उसका जीवित रहना ही असम्भव हो जाय।

राजस्व का सिद्धान्त

(Principle of Public Finance)

राष्ट्र की कुछ आवश्यकताएँ होती है। उनकी पूर्ति के लिए उसे व्यय करना पड़ता है जिसके लिए आय आवश्यक है। इस कारण राष्ट्र को कर

लगाने पड़ते हैं। इससे हम देखते हैं कि राष्ट्र अपनी व्यय और आय की आर्थिक क्रियाओं द्वारा समाज के कल्याण में वृद्धि करता है। जब राष्ट्र कर लगाता है तो जनता को कुछ त्याग करना पड़ता है और उस कर का भार करदाता पर पड़ता है क्योंकि कर देने से करदाता की आय कम हो जाती है और जो उपयोगिता वह उस धन के व्यय से प्राप्त कर सकता था उससे वह वंचित रह जाता है। जब राष्ट्र कुछ कर लगाता है तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय की अन्तिम इकाइयाँ ही या अन्तिम रुपये जिसकी उपयोगिता सबसे कम होती है वही राष्ट्र को देते है। जब राष्ट्र कर की दूसरी इकाई वसूल करता है तो करदाताओं को अपने सीमान्त रुपयों के पूर्व के रुपये, जिनकी उपयोगिता सीमान्त रुपयों से अधिक है, देने पड़ते हैं। इस कारण कर की इस द्वितीय इकाई के देने में करदाताओं को पहली इकाई की अपेक्षा अधिक उपयोगिता की हानि होती है। इससे स्पष्ट है कि जनता पर पहली इकाई की अपेक्षा दूसरी इकाई का अधिक भार पड़ता है। इस प्रकार जैसे जैसे कर की अधिक इकाइयाँ लगाई जाती है वैसे ही वैसे उन इकाइयों का जनता पर भार बढ़ता जाता है। दूसरी ओर राष्ट्र कर की पहली इकाई, एक व्यक्ति के समान, अपनी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता पर व्यय करता है जिससे उस इकाई के व्यय से उसको अधिकतम उपयोगिता प्राप्त होती है। कर की दूसरी इकाई ऐसी आवश्यकता पर व्यय की जायगी जिसकी पूर्ति से पहले की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होगी। ऐसा सीमान्त उपयोगिता के ह्रास के नियम के अनुसार होता है जब कि वह नियम एक व्यक्ति की अपेक्षा राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति पर लागू होता है। इस प्रकार हम देखते है कि जैसे-जैसे राष्ट्र अपनी आय की अधिक इकाइयाँ व्यय करता है वैसे-वैसे उन इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता में ह्रास होता है। सारांश यह है कि एक ओर जैसे-जैसे कर की अधिक इकाइयाँ जनता पर लगाई जाती है उन इकाइयों का भार जनता पर बढ़ता जाता है। दूसरी ओर जब वह आय व्यय की जाती है तो उन इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता में ह्रास होता जाता है। इस कारण एक समय ऐसा आयेगा जहाँ भार और उपयोगिता समान हो जायेंगे। यदि राष्ट्र इस सीमा से अधिक कर लगायेगा तो उस कर का भार उसके व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता से अधिक होगा जिससे कुल लाभ में ह्रास होगा। इस कारण आय-व्यय द्वारा अधिकतम लाभ तभी होता है जब सीमान्त व्यय द्वारा प्राप्त उपयोगिता सीमान्त कर द्वारा भार के बराबर या कुछ अधिक होती है। राष्ट्र को इस सीमा तक ही कर लगाना चाहिये और इसी सीमा तक व्यय करना चाहिए। इसीसे राजकीय आय-व्यय द्वारा जनता का अधिकतम लाभ होता

है और इसीको राजस्व का सिद्धान्त कहते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्र अपने आय-व्यय के कार्यों द्वारा जनता के लाभ या कल्याण में वृद्धि करता है। यदि राष्ट्र न हो तो समाज या जनता इस वृद्धि से वंचित ही रह जाय।

कार्यों का विभाजन

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में राज्य को यह अनुभव होता है कि कुछ कार्य अधिक मितव्ययता और सुगमता से हो सकते हैं जब उनका केन्द्रीयकरण कर दिया जाय; और कुछ कार्य अधिक मितव्ययता और सुगमता से तब हो सकते हैं जब उनका विकेन्द्रीयकरण कर दिया जाय। उदाहरणतः सुरक्षा का केन्द्रीयकरण करना आवश्यक है। सेना की संख्या, उसकी स्थिति और युद्ध-सामग्री के कारखानों की स्थिति इत्यादि का निर्णय किसी एक नागरिक संस्था या नगर के निवासियों पर नहीं छोड़ा जा सकता है क्योंकि विभिन्न नागरिक संस्थाएँ विपरीत निर्णय करेंगी। कलकत्ते के निवासी यह अनुभव करेंगे कि अधिकतर सेना कलकत्ते के पास ही रहनी चाहिए जिससे उनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध हो सके। अमृतसर या आसाम के रहनेवाले इसके विपरीत निर्णय करेंगे। देश के हित में इसका उचित निर्णय कि कितनी सेना किस स्थान पर रहनी चाहिए अखिल भारतीय अधिकारी संस्था द्वारा ही किया जा सकता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे कार्य हैं जैसे नगर की सड़कें, सफाई, पानी की सप्लाई, प्रारम्भिक शिक्षा इत्यादि, जिनका निर्णय स्थानीय संस्थाओं पर ही छोड़ना होगा क्योंकि न तो केन्द्रीय सरकार उनकी देखभाल व जाँच कर सकेगी और न उसे उनका इतने विस्तार से परिचय होगा जितना स्थानीय संस्थाओं को होता है। इसी प्रकार कुछ कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाने में सुविधा होती है जैसे आय-कर। यदि एक मिल बम्बई में कपड़े का उत्पादन करती है और उसको उत्तर प्रदेश में बेचती है तो बम्बई और उत्तर प्रदेश की सरकारें उस पर कर लगाने के अधिकार का दावा करेंगी जिससे उत्पादन और व्यापार को हानि पहुँचेगी। इसी प्रकार सफाई का कर एक स्थानीय संस्था सुगमता से वसूल कर सकती है। इन कारणों से कार्यों और करों का विभाजन आवश्यक हो जाता है चाहे संघ-सरकार (Federal Form of Government) हो जैसे भारतवर्ष और यू० एस० ए० इत्यादि या एकात्मक सरकार (Unitary Form of Government) हो जैसे ब्रिटेन। साधारणतः संघ-सरकार में केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें होती हैं।

राजस्व के विभाग

राजस्व में हम राज्य की आय और व्यय सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन करते हैं। यह कार्य साधारणतः निम्नलिखित चार भागों में बाँटे जाते हैं:—

(१) **राजकीय व्यय** (Public Expenditure) :—इसके अन्तर्गत राजकीय व्यय की रीतियों व सिद्धान्तों का अध्ययन होता है और यह निर्णय किया जाता है कि राष्ट्र को किन कार्यो पर कितना व्यय करना उचित है।

(२) **राजकीय आय** (Public Revenue) :—इसके अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते है कि राजकीय आय किन किन स्रोतों से आती है और राज्य को किन किन रीतियों और सिद्धान्तों से वह आय एकत्रित करनी चाहिए।

(३) **राजकीय ऋण** (Public Debt) :—राज्य को कभी कभी ऋण भी लेना पड़ता है। इसकी आवश्यकता तब होती है जब उसका व्यय उसकी आय से अधिक हो। आय आने में समय लगता है और उस बीच में व्यय करने के लिए राज्य को कर लेना पड़ता है। राज्य को विकास की योजनाओं (Development Schemes) के लिए भी ऋण लेना पड़ता है क्योकि राज्य की साधारण आय से इन योजनाओं का व्यय पूरा नही होता। इस प्रकार युद्ध या ऐसी अदृष्ट आकस्मिक घटनाओं के अवसर पर भी ऋण लेना पड़ता है क्योंकि ऐसी स्थिति में व्यय अकस्मात् बहुत बढ जाता है और आय में उतनी जल्दी व्यय के अनुपात में वृद्धि नही होने पाती। ऋण वास्तव मे एक प्रकार का भविष्य का कर है क्योंकि जब उसका भुगतान होता है तो वर्तमान की अपेक्षा राज्य को उस समय कर लगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त राज्य जिससे ऋण लेता है उसीको उसका भुगतान करता है। परन्तु कर लगाने में यही व्यवहार नहीं किया जाता अर्थात् राज्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि जिससे कर वसूल किया जाय उसी पर व्यय करे।

(४) **राजस्व का प्रबन्ध** (Financial Administration) :—इसके अन्तर्गत हम राजकीय आय-व्यय और ऋण की समस्याओं के वास्तविक प्रबन्ध का अध्ययन करते है। इसमें यह भी अध्ययन करते है कि राज्य का बजट किस प्रकार तैयार किया जाता है और किस प्रकार उचित अधिकारियों द्वारा स्वीकृत किया जाता है और किस प्रकार राज्य अपनी आय और व्यय बजट के अनुसार ही करता है। इसके अन्तर्गत राज्य के आँकड़ों और आय-व्यय के हिसाब की जाँच (Audit) भी होती है।

साधारणतः राज्य को अपनी आय-व्यय का सन्तुलित बजट बनाना चाहिए। यदि उसके बजट में घाटा है (अर्थात् आय व्यय से कम है) तो इसका अर्थ यह है कि वह वर्तमान में आवश्यकता से कम कर लगा रही है जिस कारण इस घाटे को पूरा करने के लिए उसे भविष्य में अधिक कर लगाना होगा। यदि वह उस घाटे को चुकाने का प्रयत्न न

करेगी तो उसका ऋण बढ़ता ही जायगा और लोगों का राज्य पर से विश्वास हट जायगा और ऐसे राज्य का दिवाला निकल सकता है। इसके अतिरिक्त उसको आकस्मिक घटनाओं के समय ऋण लेने में कठिनाई भी पड़ेगी। इस कारण साधारणतः राज्य को वर्तमान में उतना ही कर लगाना चाहिए कि उसकी आय व्यय के बराबर हो जाय और यदि यह सम्भव नहीं है तो उसे उतना ही व्यय करना चाहिए जितनी उसकी आय हो। दूसरी ओर यदि राज्य के बजट में आय सदा व्यय से अधिक हो तो उसका अर्थ यह है कि राज्य जनता पर अपनी आवश्यकता से अधिक कर लगा रहा है। यह भी राज्य के लिए उचित नहीं क्योंकि राज्य तो कर धन का व्यय करने के लिए ही लगाता है, धन की बचत करने के लिए नहीं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि राज्य को अपने आय-व्यय में प्रतिवर्ष सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए वरन् यह प्रयत्न करना चाहिए कि यह सन्तुलन कुछ वर्षों में स्थापित हो जाय। मुद्रा प्रसार के समय में उसे अपनी आय व्यय से अधिक करनी चाहिए जिससे जनता के पास क्रय-शक्ति की कमी हो जाय। इसी प्रकार मुद्रा संकुचन की स्थिति में राज्य को व्यय अपनी आय से अधिक करना चाहिए जिससे समाज में क्रय-शक्ति की वृद्धि हो जाय और उत्पादन में सहायता मिलने से बेकारी की कमी हो। सारांश यह है कि राज्य को अपना वार्षिक घाटा या बचत समाज की आवश्यकता के अनुसार बदलते रहना चाहिए।

राजकीय आय के स्रोत

राजकीय आय के स्रोत निम्नलिखित हैं:—

(१) **राज्य की सम्पत्ति** (Public Domain):—राज्य कुछ भूमि, खानें, इमारतें इत्यादि का स्वामी होता है और उससे राज्य को कुछ आय प्राप्त होती है।

(२) **जुर्माना** (Fines):—जो लोग राज्य के कानूनों व नियमों का उल्लंघन करते हैं उनसे राज्य जुर्माना वसूल करता है। इसका उद्देश्य आय नहीं होता परन्तु लोगों को कानून न तोड़ने के लिए बाध्य करना होता है।

(३) **भेंट** (Gifts):—कुछ लोग राज्य को भेंट देते हैं जिससे वह उस धन को जनता के हित में व्यय कर सके।

(४) **मूल्य** (Price):—राज्य कुछ वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करके उनका क्रय करता है। कभी कभी उन वस्तुओं का मूल्य लागत से अधिक होता है जिससे राज्य को नफा होता है। जब कोई

व्यक्ति उन वस्तुओं का मूल्य देता है उसको उन वस्तुओं के प्रयोग से प्रत्यक्ष लाभ होता है। उदाहरणतः राज्य पोस्टकार्ड, लिफाफे मूल्य लेकर बेचता है।

(५) **सरकारी शुल्क** (Fees) :—कुछ सेवाएँ प्रदान करने के लिए सरकार शुल्क लेती है। वह सेवाएँ राज्य प्रधानतः जनता के हित के लिए करता है परन्तु शुल्क देनेवाले को उन सेवाओं से विशेष लाभ मिलता है, जैसे शराब बेचने के लाइसैन्स की फीस या कोर्टफीस।

(६) **कर** (Tax) :—राज की आय अन्य स्रोतों से पर्याप्त नहीं होती इस कारण उसको कर लगाना पड़ता है। कर का मुख्य लक्ष्य राज्य के लिए आय एकत्रित करना है। कर वह धन है जो जनता राज्य के व्यय के लिए राज्य को देती है। राज्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जिससे कर वसूल करे उसको उसीके हित में व्यय करे। जैसे राज्य कर बिड़ला से वसूल करती है और शिक्षा पर व्यय कर देती है चाहे बिड़ला के सन्तान ही न हो जो शिक्षा का लाभ उठा सके।

(७) **विशेष उघाई** (Special Assessment) :—जब राज्य कोई सड़क, बाजार इत्यादि बनाती है तो आसपास के रहनेवालों को विशेष लाभ होता है। इस कारण कभी कभी राज्य उस विशेष लाभ को ध्यान में रखकर उन लोगों से विशेष उघाई करता है।

(८) **अनिवार्य शुल्क** (Compulsory Contribution) :—यह कर के समान ही होता है परन्तु किसी विशेष अवसर या विशेष उद्देश्य के लिए लगाये जाते हैं। जैसे शरणार्थियों को बसाने के लिए राज्य कुछ लोगों से अनिवार्य शुल्क वसूल कर सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. राष्ट्रीय व व्यक्तिगत व्यय की तुलना कीजिये।
२. राजकीय अर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं? राजस्व का महत्व समझाइये।
३. राजस्व के सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये।
४. राजस्व के मुख्य विभागों का वर्णन कीजिये।
५. राजकीय आय के मुख्य स्रोतों का वर्णन कीजिये।

———

अध्याय ३०

राजकीय व्यय और कर के सिद्धान्त

राजकीय व्यय का सिद्धान्त

(Principle of Public Expenditure)

राज्य को धन का व्यय करने से कुछ उपयोगिता या लाभ प्राप्त होता है। राज्य मे रहनेवाले व्यक्तियों और समाज को जो इस व्यय से कुल लाभ होता है वही राज्य का कुल लाभ कहलाता है। राज्य को, एक व्यक्ति के समान, व्यय करते समय इस लाभ की मात्रा अधिकतम करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे जनता और समाज का अधिक भला हो सके। यदि सम-सीमान्त उपयोगिता के नियम * को राज्य के व्यय पर लागू किया जाय तो यह लाभ अधिकतम तभी होता है, जब—

$$\frac{\text{'अ' कार्य पर व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता या लाभ}}{\text{'अ' कार्य पर व्यय की मात्रा ।}}$$

$$=\frac{\text{'ब' कार्य पर व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता या लाभ}}{\text{'ब' कार्य पर व्यय की मात्रा।}}$$

$$=\frac{\text{'स' कार्य पर व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता या लाभ}}{\text{'स' कार्य पर व्यय की मात्रा।}}$$

साराश यह है कि राज्य को अपने विभिन्न कार्यो पर व्यय इस प्रकार करना चाहिए कि प्रत्येक कार्य पर व्यय की मात्रा और उससे प्राप्त लाभ या उपयोगिता का अनुपात समान हो। इससे स्पष्ट है कि राजकीय व्यय का सिद्धान्त अधिकतम लाभ (Principle of Maximum Benefit) प्राप्त करने का ही सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त को हम **सम-सीमान्त राजकीय या सामाजिक लाभ (या उपयोगिता) का सिद्धान्त** (Principle of Equi-marginal Social Benefit) भी कह सकते हैं । इस नियम के अन्तर्गत राष्ट्र को निर्धनो पर अधिक व्यय और धनी व्यक्तियो पर अधिक व्यय करना चाहिए, क्योकि निर्धनो की आवश्यकता धनी व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक होती है। धनवानो के पास अधिक सम्पत्ति होती है और निर्धनो के पास कम। इस कारण जब राज्य कुछ व्यय निर्धनो के भले के लिए करता है तो उन व्यक्तियो को (इस लाभ का योग ही राज्य और समाज का लाभ है) धनवानो पर व्यय

* पृष्ठ ४४ देखिये।

करने से प्राप्त लाभ की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। उदाहरणतः यदि राज्य निर्धनों की चिकित्सा के लिए औषधालय खोलता है तो उससे निर्धनों को धनवानों की अपेक्षा अधिक लाभ होता है क्योंकि धनवानों के पास अपनी चिकित्सा करवाने के साधन है और उनके व्यय करने से उनको अपने धन के छोटे से भाग का ही त्याग करना पड़ता है क्योंकि उनकी आय और सम्पत्ति निर्धनो की अपेक्षा अधिक होती है। इस कारण राज्य को धनवानों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक व्यय करना अनिवार्य हो जाता है।

कर का सिद्धान्त (Principle of Taxation)

राज्य को व्यय करने के लिए आय की आवश्यकता होती है। इस कारण उसको जनता पर कर लगाने पडते है। राज्य को कर चुकाने से जनता को त्याग (Sacrifice) करना पड़ता है क्योंकि कर देने से जनता की आय कम हो जाती है। इस कारण जब कर द्वारा राज्य आय प्राप्त करता है तो कर देने का बोझा करदाताओ पर पड़ता है। राज्य को यह प्रयत्न करना चाहिए कि यह बोझा न्यूनतम हो। यह बोझा तभी न्यूनतम होता है जब प्रत्येक करदाता का सीमान्त त्याग (Marginal Sacrifice) समान हो या जहाँ तक संभव हो लगभग समान हो। यदि विभिन्न करदाताओं का सीमान्त त्याग समान नही है तो जनता का कुल त्याग (जो विभिन्न करदाताओं के त्याग का योग है) न्यूनतम नही हो सकता। यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिये कि राज्य 'अ' और 'ब' दो व्यक्तियों पर कर लगाता है तो उनको प्रत्येक कर की इकाई देने से निम्नलिखित अनुपात में त्याग करना पडता है।*

		'अ'	'ब'
पहली	इकाई	१०	८
दूसरी	,,	११	१०
तीसरी	,,	१२	१२
चौथी	,,	१४	१४
पाँचवीं	,,	१८	१६

अब यदि राज्य को ६ इकाइयाँ कर द्वारा वसूल करनी है और वह पाँच इकाइयाँ 'ब' से वसूल करता है और एक इकाई 'अ' से तो कुल त्याग न्यूनतम नहीं होगा क्योंकि 'अ' और 'ब' का सीमान्त त्याग समान या लगभग समान नहीं है। 'अ' का सीमान्त त्याग १० है और 'ब' का १६। यदि 'ब' पर एक इकाई कम कर लगाया जाय और 'अ' पर एक इकाई

* त्याग की मात्रा बढ़ती जाती है जैसा कि पृष्ठ ४ पर समझाया है।

अधिक, तो 'ब' का त्याग १६ से घट जायगा और 'अ' का त्याग ११ से बढ़ जायगा जिससे 'अ' और 'ब' के त्याग के योग में १६–११=५ की कमी हो जायगी। इसके उपरान्त 'अ' का सीमान्त त्याग ११ हो जाता है और 'ब' का सीमान्त त्याग १४ तो अब भी यदि 'ब' पर कर की एक इकाई कम कर दी जाय तो उसका त्याग १४ से घट जायगा और यदि वही इकाई 'अ' से वसूल की जाय तो 'अ' का त्याग १२ से बढ़ जायगा जिससे 'अ' और 'ब' के कुल त्याग में १४–१२=२ की कमी हो जायगी। अब 'अ' और 'ब' दोनों का सीमान्त त्याग १२ के बराबर है और इस ही स्थिति में कुल त्याग न्यूनतम है। यदि अब 'ब' पर एक इकाई कम कर लगाया जाता है तो उसका त्याग १२ से घट जाता है परन्तु जब वही इकाई 'अ' से वसूल की जाती है तो उसका त्याग १४ से बढ़ जाता है जिससे कुल त्याग में २ की वृद्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि कुल त्याग का योग न्यूनतम तभी होता है जब प्रत्येक व्यक्ति का सीमान्त त्याग बराबर या लगभग बराबर हो।

राज्य का उद्देश्य किसी एक विशेष व्यक्ति या वर्ग के कुल त्याग को न्यूनतम करना नहीं होता वरन् समाज के कुल व्यक्तियों के त्याग को न्यूनतम करना होता है। इसी कारण वह प्रत्येक व्यक्ति के सीमान्त त्याग को समान करने का प्रयत्न करता है और यह प्रयत्न नहीं करता कि प्रत्येक व्यक्ति का कुल त्याग दूसरे व्यक्तियों के समान हो। इसी सिद्धान्त को कर का सिद्धान्त कहते हैं और इसको हम न्यूनतम त्याग या कर के न्यूनतम भार का सिद्धान्त (Principle of Least Aggregate Sacrifice) कह सकते हैं। कर लगाने में न्याय और समानता का उद्देश्य तभी पूर्ण होता है जब कर उक्त सिद्धान्त के अनुसार लगाया जाय।

उक्त व्यय और कर के सिद्धान्त राजस्व के सिद्धान्त से भी प्राप्त किए जा सकते हैं। राजस्व का सिद्धान्त है कि राजकीय आय-व्यय द्वारा जनता का अधिकतम लाभ हो। राज्य की आय से जनता पर बोझा पड़ता है और राज्य के व्यय से जनता का भला होता है। इस कारण आय-व्यय के त्याग और लाभ का अन्तर अधिकतम लाभ तभी होगा जब आय द्वारा त्याग न्यूनतम हो और व्यय द्वारा प्राप्त लाभ अधिकतम हो।

कर के नियम (Canons of Taxation)

एडम स्मिथ (Adam Smith) ने कर के चार मुख्य नियम बतलाये थे। वह नियम समानता, मितव्ययता निश्चितता और सुविधा के नियम हैं। एडम स्मिथ के उपरान्त कुछ और नियम भी बतलाये गये हैं। इन सब नियमों का विवरण नीचे दिया गया है। ये सब नियम कर के सिद्धान्त से ही प्राप्त किए जाते हैं।

(१) **समानता** (Equality) :—राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुपात में कर देने चाहिएँ। अर्थात् अधिक सामर्थ्यवान् व्यक्तियों को कर का अधिक बोझा सहना चाहिए तभी कुल भार न्यूनतम हो सकता है। समानता के नियम का यह अर्थ नही है कि प्रत्येक व्यक्ति समान मात्रा में कर दे। परन्तु उसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुपात में कर दे। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का कर देने का सीमान्त बोझा समान हो और तभी कुल बोझा न्यूनतम होगा। इस नियम के अन्तर्गत कर प्रणाली प्रगतिशील (Progressive) होनी चाहिए।

(२) **मितव्ययता** (Economy) :—कर वसूल करने का खर्च कर की आय के अनुपात में कम होना चाहिए। इस नियम का यह संकीर्ण अर्थ है। इसी नियम का व्यापक अर्थ यह है कि कर ऐसे होने चाहिएँ कि उनका बुरा प्रभाव बचत, पूँजी लगाने के कार्य और उत्पादन पर न्यूनतम पड़े। अर्थात् करों से करदाताओं की आर्थिक स्थिति, व्यापार और उत्पादन इत्यादि पर कम से कम हानि पहुँचनी चाहिए और तभी करों का बोझा न्यूनतम होगा।

(३) **निश्चितता** (Certainty) :—कर ऐसे होने चाहिएँ कि उनके देने का समय, कर की मात्रा और उसके चुकाने की रीति करदाताओं को स्पष्ट और निश्चित रूप से मालूम होनी चाहिए। राज्य को भी निश्चित रूप से पता होना चाहिए कि कौन व्यक्ति कितना कर देगा और कब देगा। कर की मात्रा इत्यादि कर विभाग के अधिकारियों की स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर नहीं होनी चाहिए अन्यथा वे अपनी मनमानी करेंगे और जनता को कष्ट पहुँचेगा। कर प्रणाली इसी कारण निश्चित होनी चाहिए जिससे उसका भार न्यूनतम हो।

(४) **सुविधा** (Convenience) :—कोई भी कर ऐसे समय और ऐसे ढंग से वसूल करना चाहिए जिससे करदाता उन्हें सुविधापूर्वक चुका सके। जैसे मालगुजारी फसल के समय चुकाने में किसान को सुविधा होती है और आय-कर आय प्राप्त होने के समय सुविधापूर्वक चुकाया जा सकता है। यदि कर ऐसे समय वसूल किए जायँ जब उनके चुकाने में अधिक कष्ट हो तो उन करों का बोझा न्यूनतम नही हो सकता।

(५) **लचक** (Elasticity) :—अच्छे कर लचीले होते हैं जिससे धन, उत्पादन और जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ उन करों की आय भी बढ़ जाती है। आवश्यकता पड़ने पर यदि उन करों की दर बढ़ा दी जाय तो उन करों की आय आसानी से बढ़ जाती है जिससे राज्य को नवीन कर नहीं लगाने पड़ते, जो जनता को अधिक हानिकारक

और कष्टप्रद प्रतीत होते हैं। लचीली कर प्रणाली से करों का भार जनता को कम प्रतीत होता है ।

(६) **उत्पादकता** (Productivity) :—कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि थोड़े से ही कर लगाने से पर्याप्त आय वसूल हो जाय। बहुत प्रकार के कर लगाने से राज्य को भी कठिनाई होती है और जनता को भी अधिक कष्ट सहना पड़ता है।

(७) **सरलता** (Simplicity) :—कर सरल और स्पष्ट होने चाहिऐं जिससे करदाता उन्हें आसानी से समझ सकें। यदि कर पेचीदे और जटिल होते हैं तो जनता को उनके समझने में बाधाएँ पड़ती हैं जिससे करदाताओं को उनके चुकाने में अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती है।

(८) **भिन्नता** (Diversity) :—राज्य की कर-प्रणाली में अनेक प्रकार के कर होने चाहिएँ। यदि राज्य एक या दो प्रकार के ही कर लगाता है तो यह सम्भव है कि उन करों द्वारा वह कुछ व्यक्तियों से कुछ भी आय वसूल न कर सके। जैसे, यदि राज्य केवल आय-कर ही लगाता है तो वह लोग जो अपनी आय राज्य से छिपा सकते हैं, कर देने से बिल्कुल बच सकते हैं। यह कर निर्धन और साधारण व्यक्तियों पर भी नहीं लगाया जा सकता क्योंकि उन वर्गो पर यह कर लगाने से इसकी वसूली की लागत बहुत अधिक होती है। यदि राज्य केवल शराब या तम्बाकू पर ही उत्पादन-कर लगाये तो जो व्यक्ति इन वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते हैं वह बिल्कुल कर नहीं देंगे, चाहे उनकी आय या सम्पत्ति अधिक हो। इस कारण कर-प्रणाली को न्यायपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य कई प्रकार के कर लगाये जिससे कुछ करों की कमियाँ दूसरे प्रकार के करों से पूरी हो जायँ।

अभ्यास के प्रश्न

१. राजकीय व्यय का सिद्धान्त समझाइये ।

२. कर के न्यूनतम-भार के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ?

३. ऐडम स्मिथ के कर के नियम समझाइये। उसके अतिरिक्त कर के अन्य नियम जो आप जानते हों उनका भी वर्णन कीजिये ।

अध्याय ३१

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

(Direct and Indirect Taxes)

कर का हटाना और उसका भार

(Shifting and Incidence of Taxation)

जब राज्य कर लगाता है तो जिस व्यक्ति को प्रथम बार ही कर देना पड़ता है उसे कर-संघात (Impact) का अनुभव होता है। प्रत्येक व्यक्ति जो कर-संघात का अनुभव करता है वह यह प्रयत्न करता है कि उस कर को अपने ऊपर से हटाकर किसी दूसरे व्यक्ति पर डाल दे। जब वह अपने द्वारा दिये गये कर का प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार दूसरे व्यक्ति पर हटा देता है तो इसे कर का हटाना (Shifting) कहते हैं। जो व्यक्ति अन्त में कर सहन करता है उस पर कर का भार (Incidence) पड़ता है। कर के भार (Incidence) और उसके प्रभाव (Effect) में अन्तर है। कर के भार से तात्पर्य केवल कर के प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार (Direct Money Burden) से होता है। परन्तु कर के प्रभाव के अन्तर्गत वे सभी परिणाम आ जाते हैं जो कर लगाने से उत्पन्न होते हैं। उदाहरणतः चीनी या माचिस पर उत्पादन कर लगाने से उस कर का द्राव्यिक भार इन वस्तुओं के उपभोक्ताओं पर पड़ता है। परन्तु उसके प्रभाव अनेक हो सकते हैं, जैसे, कर लगाने से चीनी का मूल्य बढ़ जाय जिससे उसकी माँग कम हो जाय और कारखानों को उत्पादन घटाना पड़े और मजदूरों की संख्या कम करनी पड़े। इससे चीनी के मजदूरों में बेकारी फैलेगी और यह भी हो सकता है कि उनकी मजदूरी की दर घट जाय।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) :—उसको कहते हैं जिसमें राज्य का यह अभिप्राय होता है कि उसका द्राव्यिक भार उसी व्यक्ति पर पड़े जिससे वह कर वसूल किया जाता है। अर्थात् राज्य का अभिप्राय यह होता है कि जो व्यक्ति कर दे वही उसका भार सहे। ऐसे करो का कर-संघात (Impact) और कर-भार (Incidence) एक ही व्यक्ति पर पड़ता है, जैसे आय-कर, मालगुजारी इत्यादि। **परोक्ष कर** (Indirect Tax) उसको कहते है जिसमें राज्य का यह अभिप्राय होता है कि उसका द्राव्यिक भार उसी

व्यक्ति पर न पड़े जिससे वह कर वसूल किया जाता है। अर्थात् यह कर एक विशेष व्यक्ति से इस आशा में वसूल किया जाता है कि वह उसका द्राव्यिक भार किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों पर हटा देगा। ऐसे करों का कर-संघात और कर-भार एक ही व्यक्ति पर न होकर विभिन्न व्यक्तियों पर पड़ता है, जैसे चीनी के उत्पादन-कर का कर-संघात चीनी के उत्पादकों पर पड़ता है परन्तु उसका भार चीनी के उपभोक्ताओं पर पड़ता है। जब करदाता अपनी सेवाएँ या वस्तुएँ बेचता है तो वह उनके मूल्य के साथ जो कर उसने राज्य को चुकाया है वह भी वसूल कर लेता है। जब राज्य परोक्ष कर लगाता है तो उसकी वास्तविक इच्छा यह होती है कि वह उपभोक्ताओं पर कर लगाये। परन्तु जब वह प्रत्येक उपभोक्ता पर प्रत्यक्ष कर लगाता है तो इसमें उसको अधिक कठिनाई भी होती है और कर वसूल करने में अधिक व्यय भी करना पड़ता है। इस कारण वह उपभोक्ताओं पर उत्पादक और व्यापारियों द्वारा कर लगाता है। जैसे उत्पादन-कर, बिक्री-कर, आयात-निर्यात कर इत्यादि।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष कर का अन्तर राज्य के अभिप्राय पर ही निर्भर होता है। यह संभव है कि कुछ व्यक्ति प्रत्यक्ष कर का बोझा भी दूसरे व्यक्तियों पर हटा देने में सफल हों। दूसरी ओर यह भी संभव है कि कुछ परोक्ष कर का बोझा वही व्यक्ति सहन कर ले जिन पर उन करों का संघात हो।

प्रत्यक्ष कर

प्रत्यक्ष करों के लाभ निम्नलिखित है:—

१. इन करों के वसूल करने पर व्यय उनकी आय के अनुपात में कम होता है। इस कारण कर मितव्ययतापूर्ण होते है।

२. इन करों की मात्रा, देने का समय और रीति राज्य और कर-दाता दोनों को ही निश्चित होते है। इससे इनकी आय भी निश्चित होती है।

३. प्रत्यक्ष होने के कारण यह कर करदाताओं की सामर्थ्य के अनुपात में लगाये जा सकते है। यह कर प्रगतिशील हो सकते है। इस कारण न्यायपूर्ण होते है।

४. यह कर लचीले होते है और देश में सम्पत्ति और उत्पादन की वृद्धि के साथ साथ इनकी आय भी बढ़ जाती है। इनकी दर बढ़ाने से इनकी आय सुगमतापूर्वक बढ़ सकती है।

५. इन करों के चुकाने से करदाता में नागरिक चेतना उत्पन्न होती है और वह राज्य के कार्यो में अधिक रुचि प्रकट करता है। वह इस

बात का पता लगाने का प्रयत्न करता है कि राज्य उन करों द्वारा प्राप्त आय का उचित प्रयोग करता है या नहीं। करदाता चुनाव के समय भी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि वह योग्य और ईमानदार व्यक्तियों को ही देश की धारासभा के लिए अपना प्रतिनिधि चुनें।

प्रत्यक्ष करों की निम्नलिखित हानियाँ हैं :—

१. प्रत्येक प्रत्यक्ष कर करदाता को बुरा लगता है इसलिए उसके चुकाने में उसको अधिक कष्ट होता है।

२. इन करों से बचने के लिए प्रत्येक करदाता प्रयत्न करता है। ईमानदार व्यक्ति कर का उचित भाग चुकाते हैं परन्तु दूसरे व्यक्ति अपना उचित भाग चुकाने से बच जाते हैं, जिस कारण प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर भारस्वरूप हो जाते हैं। कुछ प्रत्यक्ष करों में कर-अधिकारी करदाता से ही उसकी आय इत्यादि पूछते हैं जिससे उसकी ईमानदारी पर बड़ा दबाव पड़ता है और वह जान-बूझकर अपनी आय कम बताता है।

३. कुछ प्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत करदाताओं को विशेष प्रकार के फ़ौर्म भरने पड़ते हैं और हिसाब-किताब भी कर-अधिकारियों के आदेश के अनुसार रखना पड़ता है जिससे उनको अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। कुछ कर-अधिकारी इस रीति का दुरुपयोग करते हैं और करदाताओं को व्यर्थ कष्ट देते हैं।

४. प्रत्यक्ष करों द्वारा निर्धन और साधारण स्थिति के लोगों से राज्य के लिए अपनी कर की आय का कुछ भी भाग वसूल करना दुष्कर हो जाता है। यदि उनसे प्रत्यक्ष कर वसूल करने का प्रयत्न किया जाय तो कर वसूल करने की लागत बहुत बढ़ जाती है।

परोक्ष कर

परोक्ष करों के निम्नलिखित लाभ हैं :—

१. जब यह आवश्यक वस्तुओं पर लगाये जाते हैं, तो इनमें भी काफी लचक होती है और इनकी दर बढ़ाने से आय आसानी से बढ़ जाती है।

२. जनता के लिए यह कर अधिक सुविधाजनक होते हैं क्योंकि जब लोग वस्तुएं मोल लेते हैं तो उसके साथ साथ कर भी चुका दिया जाता है और करदाताओं को यह अनुभव नहीं होता कि वह कर चुका रहे हैं।

३. यह कर वस्तुओं के मूल्य में सम्मिलित होते हैं जिस कारण इनके 'कर' का रूप मूल्य में छिप जाता है। इससे इनका अनुभव कम होता है और यह बुरे नहीं लगते और इनके देने में भार भी कम लगता है।

४. उपभोक्ता इन करों से आसानी से बच नहीं सकते क्योंकि जब वे वस्तु का मूल्य चुकाते हैं तब उन्हें कर देना भी अनिवार्य होता है।

वस्तु का मूल्य, जिसमें कर सम्मिलित होता है, देने पर ही वे वस्तु प्राप्त कर सकते हैं और इस कारण वे इन करों से बच नहीं सकते ।

५. यह कर निर्धनों और साधारण स्थिति के व्यक्तियों से वसूल किये जा सकते हैं। और यदि आवश्यक वस्तुओं पर कर की दर कम हो और विलासिता की वस्तुओं पर अधिक हो तो यह न्यायपूर्ण भी होते हैं।

६. इन करों द्वारा माँग या उपभोग की मात्रा जब भी राज्य चाहे आसानी से घटा सकता है । ऐसे कर लगाने से वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है जिससे उनकी माँग की घटने की प्रवृत्ति होती है । जब यह कर हानिकारक वस्तुओं जैसे, शराब, तम्बाकू इत्यदि पर लगाये जाते है तो यह उनका उपभोग घटा देते हैं जिससे उपभोक्ताओं और समाज का भला होता है ।

परोक्ष करों की हानियाँ निम्नलिखित हैं:—

१. यह कर साधारणतः ह्रासोन्मुख (Regressive) प्रवृत्ति के होते हैं क्योंकि धनी और निर्धन व्यक्ति दोनों ही जब वस्तु खरीदते है तो समान कर देते हैं जब कि धनी व्यक्तियों से अधिक दर से कर वसूल करने चाहिऍ, इस कारण यह कर न्यायोचित नहीं होते हैं।

२. इन करों की आय इतनी निश्चित नहीं होती जितनी प्रत्यक्ष करों की होती है। इन करों के लगाने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते है जिससे उनकी माँग में घटने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में परिवर्तित मूल्य पर उपभोग की मात्रा का ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है ।

३. जब उत्पादक या व्यापारी इन करों को उपभोक्ताओं पर हटाते हैं तो हो सकता है कि वे कर से अधिक भार उपभोक्ताओं पर डालने का प्रयत्न करें और वस्तुओं का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढ़ा दें । इससे उपभोक्ताओं को हानि होती है ।

४. इन करों से नागरिक भावना चेतन नहीं होती क्योंकि कर देते समय करदाता को उन करों का अनुभव ही नहीं होता।

५. इन करों से वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है जिससे उन वस्तुओं की माँग घट जाती है और उन वस्तुओं का उत्पादन घटाना पड़ता है । इसलिए कभी कभी यह कर उद्योग-धन्धों को अधिक हानि पहुँचा सकते हैं जिस कारण इन करों को सावधानी से ही लगाना चाहिए।

उक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि एक उचित कर-प्रणाली में प्रत्यक्ष या परोक्ष कर ही नहीं होने चाहिएँ परन्तु यही उचित है कि दोनों प्रकार के कर लगाये जाँय। इन दोनों प्रकार के करों में उचित सन्तुलन होना चाहिए जिससे सारी कर-प्रणाली का जनता पर न्यूनतम भार पड़े।

अभ्यास के प्रश्न

१. कर-संघात, कर-भार और कर के हटाने से आप क्या समझते हैं ? उदाहरण देकर समझाइये।
२ प्रत्यक्ष और परोक्ष-कर की व्याख्या करिये। उनके लाभ और हानियों को संक्षिप्त रूप मे समझाइये।

अध्याय ३२

भारतीय राजस्व

भारतीय राजस्व तीन भागों में बाँटा जा सकता है। केन्द्रीय राजस्व में हम केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय का अध्ययन करेंगे, प्रान्तीय राजस्व में प्रान्तीय सरकार के आय-व्यय का अध्ययन करेंगे और स्थानीय राजस्व में म्यूनिसिपैलिटियाँ और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के आय-व्यय का अध्ययन करेंगे। गत वर्षों में इन सरकारों के आय-व्यय द्वितीय महायुद्ध के पूर्व की अपेक्षा बहुत बढ़ गये हैं। इसके मुख्य कारण इन सरकारों के बढ़ते हुए कार्य और मुद्रा प्रसार हैं। मुद्रा प्रसार के कारण वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बढ़ गये हैं जिससे राज्य को अधिक व्यय करना पड़ता है।

भारतीय केन्द्रीय सरकार के आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(१) **आय-कर** (Income Tax) :—यह कर भारतवर्ष में सबसे पहले १८६० ई० में लगाया गया। १९३५ के विधान के अनुसार इस कर की आय में प्रान्तीय सरकारों को भी भाग दिया गया। भारतवर्ष के नए विधान में भी इस रीति को मान लिया गया है और आय-कर का ५०% भाग प्रान्तीय सरकारों में बाँटा जाता है। प्रान्तीय सरकारों का भाग लगभग ४५ करोड़ रुपया होता है। परन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त आय पर जो कर लगाया जाता है उसका कुछ भी भाग प्रान्तों को नहीं मिलता वरन् उसकी सारी आय केन्द्रीय सरकार को ही मिलती है। इसके अतिरिक्त जो सरचार्ज (Surcharge) आय-कर पर लगाया जाता है वह भी सारा केन्द्रीय सरकार को ही मिलता है।

आय-कर एक प्रत्यक्ष कर है और इसका भार साधारणतः कर देनेवाले पर ही पड़ता है। साधारणतः आय-कर प्रगतिशील होता है अर्थात् जैसे जैसे आय की मात्रा बढ़ती है वैसे वैसे कर की दर भी बढ़ती जाती है। आय-कर प्रत्येक पूंजीवादी देश में बहुत उत्पादक और लचीला पाया गया है। भारतवर्ष में इस कर द्वारा आय १९३८-३९ में १५·२४ करोड़ रुपये थी जो १९४८-४९ में बढ़कर लगभग १११ करोड़ रुपये हो गयी।

इंडियन स्टेट्स फाइनैन्सेज इन्क्वायरी कमेटी (Indian States Finances Enquiry Committee) की रिपोर्ट के अन्तर्गत जो भारतीय रियासतों (Indian States) का राजस्व सम्बन्धी एकी-

करण (Financial Integration) हुआ है उसके अनुसार अब प्रत्येक केन्द्रीय कर उन रियासतों में भी लागू होंगे। इस कारण आय-कर अब केन्द्रीय कर्मचारियों द्वारा भारतीय रियासतों में भी लगाया जाता है। कुछ रियासतों में यह कर पहले ही से था, जैसे कोचीन और वहाँ इसकी दर भी केन्द्रीय दर के अनुपात में ही थी। कुछ अन्य रियासतों में, जैसे सौराष्ट्र, इसकी दर भारतीय दर के २/५ भाग से भी कम थी और कुछ अन्य रियासतों में जैसे राजस्थान में आय-कर लगाया ही नहीं जाता था। परन्तु अब इन सब रियासतों में आय-कर की दर धीरे-धीरे बढ़ाकर ५ वर्षो के अन्दर भारतीय दर के बराबर कर दी जायगी और सन् १९५५-५६ तक सारे भारतवर्ष में आय-कर की दर समान हो जायगी।

आय-कर उन्ही व्यक्तियों पर लगाया जाता है जिनकी वार्षिक आय ३,६०० रुपयों से अधिक हो। (साझे के हिन्दू परिवारों—Joint Hindu Families—के लिए यह सीमा ७२०० रु० है।) जिन लोगों की आय इस सीमा से अधिक है उन पर निम्न दर से कर लगाया जाता है :—

(अ) कुल आय के पहले १५०० रुपयों पर: कुछ नही।
(ब) कुल आय के अगले ३५०० रुपयों पर: ९ पाई प्रति रुपया।
(स) कुल आय के अगले ५००० रुपयों पर: १ आ० ९ पा० प्रति रुपया।
(द) कुल आय के अगले ५००० रुपयों पर: ३ आ० प्रति रुपया।
(य) कुल आय के शेष भाग पर (अर्थात् कुल आय का जो भाग १५००० रुपये से अधिक है।) } : ४ आ० प्रति रुपया।

यह कर लगाने के पूर्व कुल आय को १/५ भाग से कम कर दिया जाता है यदि वह उपार्जित आय (Earned Income) हो। परन्तु यह छूट ४००० रुपये से अधिक नही हो सकती।

यदि आय २५००० रुपये से अधिक होती है तो उस पर सुपर टैक्स (Super Tax) भी लगता है जिसकी दर भी प्रगतिशील है। इसकी वर्तमान में अधिकतम दर ८॥ आ० प्रति रुपया है और यह आय के उस भाग पर लगाई जाती है जो १॥ लाख रुपये से अधिक हो। सारांश यह है कि जो आय १॥ लाख रुपये से अधिक होती है उस पर ४ आ० प्रति रुपया आय कर और ८॥ आ० प्रति रुपया सुपर टैक्स, अर्थात् १२॥ आ० प्रति रुपया कर लगता है।

आय-कर कृषि द्वारा प्राप्त की गई आय पर नही लगाया जाता। यह इसमें एक कमी है जिस कारण बड़े बड़े जमीदारों पर कर का उचित

भार नहीं पड़ता। आय-कर अब उपार्जित (Earned) :—और अनुपार्जित (Unearned) आय में भेद करता है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। परन्तु वह अब भी आश्रित (Dependents) व्यक्तियों के लिए कोई छूट नहीं देता है।

(२) **कारपोरेशन-कर** (Corporation Tax) ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियों को अपनी कुल आय पर ४ आना प्रति रुपया आय-कर देना पड़ता है। यदि उसके हिस्सेदारों की आय-कर की दर इससे कम हो तो उनको यह कर माँगने पर वापस लौटा दिया जाता है। आय-करके अतिरिक्त ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियों को कारपोरेशन कर भी देनाप ड़ता है जिसकी दर आजकल २ आना ६ पाई प्रति रुपया है। कारपोरेशन-कर की सारी आय केन्द्रीय सरकार को ही मिलती है। १९३८-३९ में इस कर की आय २·०४ करोड़ रुपये थी। १९४९-५० में यह बढ़कर ३९·५३ करोड़ रुपये हो गई थी।

(३) **आयात-निर्यात-कर** (Import Export Duties or Customs):—जो कर आयात की गई वस्तुओं पर लगाया जाता है वह आयात-कर (Import Duty) कहलाता है और जो कर निर्यात की गई वस्तुओं पर लगाया जाता है वह निर्यात-कर (Export Duty) कहलाता है। आयात-निर्यात कर या तो मूल्य के अनुसार (Ad valorem) या परिमाण के अनुसार (Specific) लगाये जाते हैं। जब यह कर केवल आय प्राप्त करने के आदेश से ही लगाया जाता है तो आय-निमित्त कर (Revenue Duty) कहलाता है। जब यह कर देशी उद्योगों की विदेशी उद्योगों से रक्षा करने के लिए लगाया जाता है तो सुरक्षण कर (Protective Duty) कहलाता है।

१९३५ के विधान के अनुसार पटसन पर निर्यात कर का ६२½% भाग पटसन का उत्पादन करनेवाले प्रान्तों में बाँट दिया जाता था। १९४८–४९ में इस कानून के अन्तर्गत पटसन का उत्पादन करनेवाले प्रान्तों को १·४३ करोड़ रुपया केन्द्रीय सरकार से मिला। नए विधान के अनुसार आयात-निर्यात कर में प्रान्तीय सरकारों का कोई भाग नहीं है और इसके द्वारा प्राप्त सारी आय केन्द्रीय सरकार को ही मिलती है। परन्तु नये विधान के अन्तर्गत एक ऐसा नियम है कि १० वर्षों तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को पटसन-निर्यात कर के भाग के बदले में आर्थिक सहायता देगी जिससे प्रान्तीय सरकारों के बजटों में गड़बड़ न हो। १९३८–३९ में आयात-निर्यात कर की आय ४०·५१ करोड़ रुपये थी। १९४९–५० में यह बढ़कर १२४·७१ करोड़ रुपये हो गई। यह परोक्ष कर है, इस कारण ह्रासोन्मुख कर है। परन्तु विलासिता की वस्तुओं पर अधिक कर लगाकर इसकी यह बुराई रोकी जा सकती है।

(४) **केन्द्रीय उत्पादन-कर** (Union Excise Duties) :—यह कर वस्तुओं के बनाने या उत्पादन करने पर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया जाता है। परन्तु मादक वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को है। आजकल यह कर चीनी, दियासलाई, कपड़ा, तम्बाकू, बनस्पति घी, मोटर के टायर और ट्यूब इत्यादि पर लगाया जाता है। इसकी आय १९३८–३९ में ८·६६ करोड़ रुपये थी जो बढ़कर १९४९–५० में ६७·८५ करोड़ रुपये हो गई। भारतवर्ष में अधिक उद्योग-धन्धों की स्थापना होने से इस कर से आय बढेगी परन्तु इस कर के लगाने मे यह सावधानी वर्तनी होगी कि नए उद्योग-धन्धों को हानि न पहुँचे; क्योकि इस कर के लगाने से वस्तुओं के मूल्य बढ जाते है जिससे उनकी मांग घट जाती है।

(५) **अफीम-कर** (Opium Tax) :—प्राचीन काल से अफीम का उत्पन्न करना व बेचना सरकारी एकाधिकार है। पहले अफीम का उपभोग चीन में बहुत होता था और भारतवर्ष से अधिकतर अफीम उस देश को ही जाती थी। इस वस्तु के उपभोग से स्वास्थ्य और कार्यक्षमता को बहुत हानि पहुँचती है जिससे भारत सरकार ने विश्व के मतानुसार इस वस्तु का निर्यात रोकने का प्रबन्ध किया और अब चीन को अफीम भेजनी बन्द हो गई है। वर्तमान मे अफीम का निर्यात चिकित्सा इत्यादि आवश्यक कार्यों के लिए ही किया जाता है जिससे इसकी आय जो प्रथम महायुद्ध के पूर्व लगभग ८ करोड़ रुपये थी, घटकर १९४९–५० में १·२४ करोड़ रुपये ही रह गयी।

(६) **टकसाल और रिजर्व बैंक का नफा** (Mint and Profits of the Reserve Bank) :—भारत में साकेतिक सिक्के ही चलन में हैं, जिस कारण सरकार को टकसाल से नफा होता है। १९३८–३९ में इसकी मात्रा ३८ लाख रुपये थी जो १९४८–४९ में बढ़कर १४२ लाख रुपये हो गयी।

रिजर्व बैंक का अब राष्ट्रीयकरण हो गया है जिस कारण उसकी कुल आय भारत सरकार को ही मिलती है। राष्ट्रीयकरण के पूर्व भी इसके हिस्सेदारों में एक निश्चित दर से नफा विभाजित किया जाता था और उससे अधिक नफा भारत सरकार को ही मिलता था। १९३८–३९ में भारतीय सरकार को २० लाख रुपये रिजर्व बैंक के नफे के मिले, १९४८–४९ मे यह आय बढ़कर ९·८० करोड़ रुपये हो गई।

(७) **डाक व तार** (Posts and Telegraphs) :—यह सरकारी एकाधिकार है। इसका मुख्य लक्ष्य जनता की सेवा करना है, न कि राष्ट्र के लिए आय वसूल करना। परन्तु इस विभाग से प्रतिवर्ष

भारत सरकार को कुछ बचत होती है। १९३८–३९ में यह बचत १९ लाख रुपये थी और १९४९–५० में २३८ लाख रुपये।

(८) **रेल** (Railways) :—अब लगभग सारी रेलें भारत सरकार की ही हैं। भारतीय रियासतों के राजस्व सम्बन्धी एकीकरण के उपरान्त रियासतों की रेलें की भी स्वामी भारत सरकार हो गई है। भारतवर्ष की रेलों में सरकार का ८०० करोड़ रुपये से अधिक रुपया लगा हुआ है। १९२४ के उपरान्त रेलों का हिसाब व आँकड़ा केन्द्रीय सरकार से अलग कर दिया गया और उनके कुल नफे का एक निश्चित भाग भारत सरकार को मिलने लगा। परन्तु सन् १९५०–५१ से ५ वर्ष के लिए भारत सरकार को कुल लगी हुई पूंजी पर ४% नफा दिया जायेगा। १९५१–५२ में रेलों से जो नफा इस प्रकार सरकार को मिलेगा उसमें से लगी हुई पूंजी पर ब्याज चुकाने के उपरान्त भारत सरकार को लगभग ७½ करोड़ रुपये बचेंगे।

१९४० में भारत सरकार ने अत्यधिक नफा कर (Excess Profits Tax) भी लगाया। जैसा कि हम 'अर्घ के सिद्धान्त' के अध्याय में राशनिंग और नियन्त्रण-मूल्य के शीर्षक के अन्तर्गत समझा चुके हैं लड़ाई में कुछ व्यक्तियों को अत्यधिक नफा होता है। इस कारण जब वह नफा १९३९ के पूर्व के कुछ वर्षों के औसत नफे से अधिक होता था तो उस अधिक भाग पर यह कर लगाया जाता था। १९४५–४६ में इस कर की आय ७५ करोड़ रुपये थी। यह कर ३१–३–१९४६ से हटा दिया गया। परन्तु १९४७–४८ के बजट में इसकी अपेक्षा व्यापार-नफा-कर (Business Profits Tax) लगाया गया जो १९५०-५१ के बजट में हटा दिया गया।

१९४७-४८ के बजट में पूँजी के अर्घ की वृद्धि का कर (Capital Gains Tax) भी लगाया गया। यह कर जो पूंजी के अर्घ में वृद्धि होती थी उस पर लगाया जाता था। इसकी आय कम थी और इससे पूँजीपतियों व उद्योगपतियों में अधिक असन्तोष था। इस कारण १ अप्रैल १९४९ से इसको हटा दिया गया।

नये विधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार उत्तराधिकारी कर (Inheritance Tax) लगा सकती है जिसकी कुल आय प्रान्तों में बाँटी जायेगी। केन्द्रीय सरकार यह कर कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर लगा सकती है। ऐसा कर लगाने के लिए एक बिल भारतीय पार्लमैन्ट में विचाराधीन है।

नमक-कर (Salt Tax) :—यह बहुत पुराना कर है। इसकी आय लगभग सवा आठ करोड़ रुपये थी। बिक्री के लिए नमक तैयार करने का एकाधिकार सरकार को था। १९३१ के असहयोग आन्दोलन

का प्रारम्भ महात्मा जी ने प्रसिद्ध डांडी यात्रा में नमक-कर तोड़ने से किया। इस कारण जब भारतीय नेताओं ने केन्द्रीय सरकार की बागडोर संभाली तो १ अप्रैल १९४७ से इस कर को हटा दिया गया और अब नमक बनाने के लिए न किसी लाइसेन्स की और न कर देने की आवश्यकता है। इस कर की अधिक से अधिक दर ३ रुपये ४ आने प्रति मन थी। इस दर से वर्तमान में इस कर की आय लगभग १५ करोड़ रुपये होगी।

केन्द्रीय व्यय

भारत सरकार के व्यय के मुख्य विभाग निम्नलिखित है:—

(१) **सुरक्षा सम्बन्धी व्यय** (Defence Expenditure):—अंग्रेजी राज्य के समय में भारतीय नेताओं द्वारा इस व्यय की कड़ी आलोचना होती थी। उनका कहना था कि भारतीय सेना में अंग्रेजी अफसरों व सैनिकों की संख्या बहुत थी जिनको भारतवासियों की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता था। इससे सेना पर बहुत-सा रुपया व्यर्थ व्यय होता था। यह व्यय सेना का भारतीयकरण करने से घटाया जा सकता था। इस व्यय की आलोचना इस कारण भी की जाती थी कि भारतीय सेना की संख्या भारत की आवश्यकता से बहुत अधिक थी। भारतवर्ष शान्तिप्रिय देश है और वह प्रसर नीति के विरुद्ध है। इस कारण उसे अधिक सेना की आवश्यकता नही थी। परन्तु अंग्रेजी सरकार अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यो और उत्तरदायित्वों के कारण अधिक सेना रखती थी। इस व्यय की आलोचना इस कारण भी की जाती थी कि बहुत-सा व्यय जो भारतवर्ष के हित में नहीं होता था वह भी भारतीय-खाते से चुकाया जाता था—जैसे चीन, बर्मा, अफगानिस्तान की लड़ाइयाँ। ये लड़ाइयाँ ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों के लिए लड़ी गई थीं परन्तु उन पर व्यय भारतवर्ष के बजट से किया गया। १९३८-३९ में सुरक्षा सम्बन्धी व्यय ३८·९७ करोड़ रुपये था। द्वितीय महायुद्ध में यह बहुत बढ़ गया था और १९४४-४५ में ४५८·३२ करोड़ रुपये था। परन्तु १९४९-५० में घटकर १४८·८६ करोड़ रुपये रह गया था। कुछ लोगो का कथन है कि भारतवर्ष जैसे निर्धन और शान्तिप्रिय देश के लिए सुरक्षा पर इतना व्यय करना बहुत बड़ा भार है। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त देश की रक्षा का भार हमारे कन्धों पर पड़ गया है। हैदराबाद का प्रश्न सुलझाने के लिए भी अधिक व्यय करना आवश्यक था और अभी काश्मीर की समस्या हमारे सामने खड़ी है। इस कारण सेना में कोई कमी करना उचित न होगा। सुरक्षा सम्बन्धी व्यय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर निर्भर होता है।

जब चारों ओर भय और संदेह फैल रहा है और कुछ राष्ट्र प्रसर की नीति अपना रहे हैं तो सुरक्षा सम्बन्धी व्यय में कोई विशेष कमी होना संभव नहीं है।

(२) **आय पर प्रत्यक्ष माँग** (Direct Demand on Revenue) :—कर वसूल करने के लिए सरकार को कुछ व्यय करना आवश्यक है। इस व्यय में सरकारी कर्मचारियों का वेतन इत्यादि सम्मिलित होता है। १९३८-३९ में यह व्यय ४·२४ करोड़ रुपये था और १९४९-५० में १३·९० करोड़ रुपये।

(३) **ऋण सम्बन्धी व्यय** (Debt Services) :—भारत सरकार ने ऋण ले रखा है जिसका ब्याज उसको चुकाना पड़ता है और उसके भुगतान के लिए कुछ रुपया एक अलग कोष में (जिसको सिंकिंग फंड Sinking Fund कहते हैं) रखना पड़ता है। १९३८-३९ में यह व्यय १४·१२ करोड़ रुपये था। १९४९-५० में यह बढ़कर ३९·४३ करोड़ रुपये हो गया जिसमें ५ करोड़ रुपये जो ऋण के भुगतान के लिए अलग कोष में रखे गये सम्मिलित हैं। इस मद के अन्तर्गत १९४९-५० में कुल व्यय ६५·७३ करोड़ रुपये थी जिसमें से २७·३० करोड़ रुपया दूसरे हिसाबों में से चुकाया गया—रेल खाते से २३·१८ करोड़, प्रान्तीय सरकारों से २·८ करोड़, डाक व तार विभाग से ९७ लाख रुपये।

भारतवर्ष का अधिकांश ऋण उत्पादक है अर्थात् ऐसे कार्यों के लिए लिया गया है कि जिनसे व्याज चुकाने की आय प्राप्त हो जाती है। भारत सरकार का कुल ब्याज चुकाने वाला ऋण (Interest bearing obligations) ३१ मार्च १९५० को लगभग २५०० करोड़ रुपये था जिसमें से भारत सरकार के पास लगभग १५२१ करोड़ रुपये की ऐसी सम्पत्ति थी जिससे व्याज पूरा वसूल हो जाता था।

(४) **नागरिक शासन** (Civil Administration) :—इसमें राष्ट्रपति का कुल व्यय, केन्द्रीय धारा-सभा, सैक्रेटरियट व जाँच इत्यादि का व्यय सम्मिलित है। लड़ाई के कारण केन्द्रीय सैक्रेटरियट में कई नये विभाग खुल गये, जैसे नाज विभाग, शरणार्थी विभाग इत्यादि। इससे व्यय बढ़ गया। अंग्रेजी राज्य के समय भारतीय नेताओं का यह आरोप था कि उच्च अधिकारियों को जो अधिकतर अंग्रेज थे बहुत अधिक वेतन दिया जाता था। १९३८-३९ में नागरिक शासन पर १०·९० करोड़ रुपये व्यय हुआ था। १९४९-५० में यह व्यय ३९·३० करोड़ रुपये हुआ।

(५) **प्रान्तीय सरकारों को सहायता** (Grants to Provincial Government) :—प्रान्तीय सरकारों की आय जनता के हित की विकास-योजनाओं के लिए पर्याप्त नहीं होती। इस कारण केन्द्रीय सरकार

को प्रान्तीय सरकारों को सहायता देनी पड़ती है। कभी कभी यह सहायता विशेष योजनाओं के लिए दी जाती है; जैसे शरणार्थियों को बसाना, अधिक नाज उत्पादन की योजना इत्यादि। भारतीय सरकार को अपने बजट के सन्तुलन की कठिनाइयों के कारण इस सहायता में बहुत कमी करनी पड़ी है।

(६) **अनाज पर व्यय** (Subsidy on Foodgrains) :—भारत सरकार विदेशों से जो अनाज मँगाती है उसको घाटे से बेचती है। इस नाज को घाटे से बेचने का उद्देश्य यह है कि देश में नाज का भाव बढ़े नही। प्रान्तीय सरकारों को नाज के उत्पादन, नाज के खरीदने व नाज को दूसरे प्रान्तों में भेजने पर कुछ बोनस भी देती है। इस मद के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार का लगभग २० से ३० करोड रुपये व्यय होते हैं।

(७) **शरणार्थियों पर व्यय** —भारत सरकार को पाकिस्तान से आए शरणार्थियों को बसाने व उद्योग-धन्धों में लगाने के लिए १० से १५ करोड़ रुपये व्यय करना पड़ता है।

नीचे हम भारत सरकार के आय-व्यय के आँकड़े देते हैं।

संशोधित (Revised)		करोड़ रुपयों में अनुमानित (Estimated)
आय	१९५०-५१	१९५१-५२
आय कर	८०·२०	८५·०४
कारपोरेशन कर	३८·९२	३२·७३
आयात निर्यात कर	१४५·३१	१५०·०४
केन्द्रीय उत्पादन कर	६९·६८	८४·७८
अफीम कर	३·००	२·३५
टकसाल और रिजर्व बैंक का नफा	१२·८७	१२·३२
डाक व तार	३·०७	२·००
रेल	६·७६	७·२६
(शेष आय अन्य स्रोतों से)		
कुल आय	३८७·२१	४०१·०४
व्यय		
सुरक्षा सम्बन्धी व्यय	१७९·४७	१८०·०२
आय पर प्रत्यक्ष माँग	१३·३५	१४·५८
ऋण सम्बन्धी व्यय	३६·४६	३७·३२
नागरिक शासन	५२·७६	५६·०२
(शेष व्यय अन्य विभागों पर)		
कुल व्यय	३७९·२८	३७५·४३

अभ्यास के प्रश्न

१· केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य स्रोतों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

२. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखियेः—
(१) आय-कर (२) नमक-कर (३) सुरक्षा सम्बन्धी व्यय।

३. केन्द्रीय सरकार के व्यय के मुख्य विभागों का वर्णन कीजिये।

अध्याय ३३

प्रान्तीय राजस्व

१९३५ के विधान के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को आय के कुछ साधन सौंप दिये गये और इसके साथ साथ कुछ मदों पर व्यय करने की जिम्मेदारी भी उन पर डाल दी गई। इस क्षेत्र में प्रान्तीय सरकारें कुछ सीमा तक स्वतन्त्र हैं। उनके आय के साधन अधिक लचीले नहीं हैं परन्तु उनके व्यय के मद ऐसे हैं जिन पर प्रतिदिन अधिक व्यय करने की आवश्यकता है। इस कारण जनता के हित की योजनाओं के लिए प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सहायता पर निर्भर रहती हैं।

नए विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारें तीन भागों में बाँटी गई हैं। भाग A के प्रान्तों में (१) मद्रास (२) बम्बई (३) पश्चिमी बंगाल (४) उत्तर प्रदेश (५) पंजाब (६) बिहार (७) मध्य प्रदेश (८) आसाम (९) उड़ीसा है। भाग B के प्रान्तों में निम्नलिखित भारतीय रियासतें हैं जो (१) हैदराबाद (२) मैसूर (३) ट्रावनकोर कोचीन (४) सौराष्ट्र (५) राजस्थान (६) मध्य भारत (७) पटियाला और पूर्वी पंजाब की रियासतों का संघ। भाग C में वे प्रदेश हैं जिनका शासन चीफ कमिश्नर द्वारा होता है, जैसे, दिल्ली, अजमेर, कुर्ग, हिमांचल प्रदेश, विन्ध्यप्रदेश और विलासपुर। भाग C के प्रदेशों की आय-व्यय केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय में ही सम्मिलित होती है।

देश-विभाजन के उपरान्त भारतवर्ष का क्षेत्रफल घट गया है। परन्तु वह पहली बार पूर्ण रूप से भौगोलिक और राजनैतिक एकता के सूत्र में बँधा है। इसके साथ साथ उसके सब प्रान्तों का राजस्व सम्बन्धी एकीकरण भी हो गया है जिससे भाग B की रियासतों में भी केन्द्रीय कर लगाये जाते हैं और उन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्य प्रान्तों के समान प्रत्येक सहायताएँ भी मिलती है।

१९३८-३९ में भाग A के कुल प्रान्तों की आय ७९·४२ करोड़ रुपये थी और व्यय ८०·५२ करोड़ रुपये था। १९४८-४९ में इनकी आय २५८·२१ करोड़ रुपये थी और व्यय २५०·८२ करोड़ रुपये। भाग B की रियासतों की कुल आय १९४९-५० में ९६·९९ करोड़ रुपये थी और उनका व्यय ९५·५ करोड़ रुपये था। प्रान्तीय सरकारों के आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(१) **केन्द्रीय-आय-कर का भाग :**—कुल आय-कर की आय का ५०%

भाग प्रान्तों को मिलता है। प्रारंभ में प्रान्तों का भाग सर ओटो नियमर (Sir Otto Niemeyer) की रिपोर्ट के अनुसार बाँटा जाता था। देश-विभाजन के उपरान्त इसमें परिवर्तन कर दिया गया जिससे कुछ प्रान्तों में असन्तोष था। इस कारण सर चिन्तामणि देशमुख को निर्णय करने के लिए नियुक्त किया गया। उन्होंने यह निर्णय जनवरी १९५० में दिया और अब प्रान्तों का भाग उसके अनुसार ही परस्पर बाँटा जाता है।

(२) **मालगुजारी** (Land Revenue) :—यह कृषि-भूमि पर कर है। यह कर भूमि की उपज पर लगाया जाता है या जो लगान काश्तकार देता है उस पर। यह प्रगतिशील कर नहीं है परन्तु समान दर से लगाया जाता है। चाहे किसान निर्धन हो या बड़ा जमींदार हो, उसपर वह कोई भी वस्तु उत्पन्न करता हो परन्तु कर की दर समान रहती है। युद्ध के कारण अनाज का भाव बहुत बढ़ गया है परन्तु मालगुजारी की दर या मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ जिस कारण कृषि-वर्ग की आय बहुत अधिक बढ़ने पर भी उनके कर का भार नहीं बढ़ा और उनपर राजकीय करों का उचित भार नहीं डाला गया। मालगुजारी की आय में बिलकुल लचक नहीं है। १९३८-३९ में कुल प्रान्तों में इससे आय २५·४१ करोड़ रुपये थी और १९४८-४९ में भी, जब अनाज का भाव कई गुना बढ़ गया था २५·७८ करोड़ रुपये थी। कांग्रेस पार्टी जमींदारी तोड़ने का निर्णय कर चुकी है और प्रत्येक प्रान्त में जमींदारी तोड़ने का आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। उत्तर प्रदेश और बिहार ने जमींदारी समाप्त करने का कानून पास कर दिया है। यह आशा की जाती है कि जमींदारी समाप्त होने के उपरान्त मालगुजारी से आय कुछ बढ़ जायेगी क्योंकि जो नफा अब जमींदारों को मिलता है उसका कुछ भाग सरकार लेने लगेगी।

(३) **कृषि-आय-कर** (Agricultural Income-Tax) :—कृषि से जो आय प्राप्त होती है उसपर केन्द्रीय आय-कर लागू नहीं होता। १९३५ के एक्ट व नये विधान के अन्तर्गत कृषि की आय पर कर लगाने का अधिकार प्रान्तों को मिल गया है। १९३८-३९ में बिहार प्रान्त ने यह कर सबसे पहले लगाया। इस प्रान्त की इस कर से १९४९-५० में लगभग ४२·६ लाख रुपये आय थी। आसाम, बंगाल, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा में भी यह कर लगाया जाता है।

(४) **आबकारी** (Provincial Excise) :—यह कर शराब, अफीम, गांजा, चरस व अन्य मादक वस्तुओं के उत्पादन व बिक्री पर लगाया जाता है। इन वस्तुओं के बेचने के लाइसेन्स भी सरकार देती है और उनका शुल्क वसूल करती है। जब १९३७ में प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित हुई तो उन्होंने मद्यनिषेध की नीति अपनाई। मद्रास, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त इत्यादि में कांग्रेस

सरकारों ने यह नीति अपनाई। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त कांग्रेस सरकारों ने त्याग-पत्र दे दिया और मद्यनिषेध की नीति भी छोड़ दी गई। स्वतंत्रता प्राप्त होने के उपरान्त यह नीति फिर से प्रान्तों में अपनाई गई। बम्बई प्रान्त में तो अब पूर्ण मद्यनिषेध है परन्तु अन्य प्रान्तों ने इस ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाया। मद्रास में कुछ जिलों में यह नीति लागू की गई। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में भी १९४७ में एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद, बदायूँ, प्रतापगढ़, सुलतानपुर और जौनपुर के जिलों में मद्य-निषेध किया गया। १९४८ में कानपुर और उन्नाव के जिले और १९४९ में फतेहपुर व रायबरेली के जिले भी इसके अन्तर्गत आ गये। देश के आर्थिक संकट के कारण केन्द्रीय सरकार ने भी प्रान्तीय सरकारों को यह सम्मति दी कि वे इस ओर सावधानी से और धीरे-धीरे कदम बढ़ायें प्रान्तीय सरकारों को इस समय-आय की अधिक आवश्यकता है। इस कारण वह इस नीति को अपना कर आय को इस उत्पादक साधन का त्याग नहीं कर सकती। १९३८-३९ में आबकारी से कुल प्रान्तों की आय १३·०८ करोड़ रुपये थी। १९४६-४७ में यह बढ़कर ५०·२२ करोड़ हो गई थी। इसके उपरान्त मद्यनिषेध की नीति के कारण कुल प्रान्तों की आय घटकर १९४७-४८ में ३९·६८ करोड़ रुपये रह गई थी और १९४८-४९ में और भी घट गई और ३४·३२ करोड़ रुपये थी।

(५) **स्टाम्प** (Stamps) :—यह आय कई मदो से प्राप्त होती है। कई व्यापारिक लेन-देनों में कानून के अनुसार टिकट लगाने पड़ते हैं। कचहरी में दावा करने पर व अपील इत्यादि करने पर कोर्ट-फीस देनी पड़ती है। यह भी स्टाम्प के मद में ही आती है। कचहरी व अन्य कुछ दफ्तरों में कुछ प्रार्थना-पत्रों पर टिकट लगाने पड़ते हैं। उत्तराधिकार के प्रमाण-पत्र (Succession Certificates) इत्यादि पर भी जो फीस सरकार लेती है वह स्टाम्पों के रूप में ही दी जाती है। स्टाम्प ज्यूडिशियल और नॉन-ज्यूडिशियल (Judicial and Non-Judicial) दो प्रकार के होते हैं। ज्यूडिशियल स्टाम्प कोर्ट-फीस व प्रार्थना-पत्रों इत्यादि के काम में आते हैं। नॉन-ज्यूडिशियल स्टाम्पों में इकरारनामे व दस्तावेज लिखे जाते हैं। सब प्रान्तों की स्टाम्पों से आय १९३८-३९ में ९·५९ करोड़ रुपये थी और १९४८-४९ में १६·३१ करोड़ रुपये।

(६) **रजिस्ट्री** (Registration):—इंडियन रजिस्ट्रेशन एक्ट (Indian Registration Act XVI of 1908) के अन्तर्गत कुछ प्रकार की दस्तावेजों की रजिस्ट्री करानी पड़ती है। इस कानून के अन्तर्गत इनकी रजिस्ट्री कराना अनिवार्य तो नहीं है परन्तु कुछ दस्तावेजें ऐसी हैं कि जो अदालत में गवाही में नहीं मानी जातीं यदि उनकी रजिस्ट्री

नहीं हुई हो। इस कारण ऐसे दस्तावेजों की रजिस्ट्री करानी ही पड़ती है जिसके लिए प्रान्तीय सरकारें फीस लेती हैं। उन रजिस्ट्रियों की नकल देने के लिए भी फीस ली जाती है। १९३८-३९ में इस विभाग से बिहार की आय १३ लाख रुपये थे और उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश की ६ लाख व ५ लाख रुपये। १९४९-५० में इस मद से बिहार की आय ६१ लाख रुपये, उत्तर प्रदेश की २२ लाख और मध्यप्रदेश की २० लाख रुपये थी।

(७) **वन** (Forests) :—कई वन प्रान्तीय सरकार के होते हैं और प्रान्तीय सरकार वहाँ की लकड़ी व अन्य पैदावार बेचकर आय प्राप्त करती है। पशुओं के चराने व लकड़ी काटने के लाइसेन्स की फीस भी लेती है। १९४९-५० में वनों से उत्तर प्रदेश की आय २७५ लाख रुपये, मध्यप्रदेश की २७२·५ लाख रुपये और बिहार की ५४·९ लाख रुपये थी। हमारे देश में वनों का ठीक प्रबन्ध करने और वहाँ वृक्षों की संख्या अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है।

(८) **सिंचाई** (Irrigation) :—प्रान्तीय सरकारों ने सिंचाई के लिए अनेक नहरें इत्यादि बनवा रखी हैं और जब किसान सिंचाई के लिए नहरों से पानी लेता है तो उससे सरकार शुल्क लेती है। १९४९-५० में उत्तर प्रदेश की सिंचाई से आय २८६ लाख रुपये थी, बिहार की १५ लाख और मध्यप्रदेश की १९·८ लाख।

(९) **विक्रय-कर** (Sales Tax) :—१९३५ के विधान के अनुसार प्रान्तों को यह कर लगाने का अधिकार मिल गया। दूसरी ओर मद्य-निषेध की नीति अपनाने से प्रान्तों की आबगारी से आय घट गई। इस कारण आय के नए स्रोत आवश्यक हो गये। प्रान्तों की इस आवश्यकता और उनके बढ़ते हुए व्यय के लिए विक्रय-कर की आय काफी उत्पादक सिद्ध हुई। १९३८ में सबसे पहले मध्यप्रदेश ने यह कर पेट्रोल इत्यादि पर लगाया। १९३९ में मद्रास-प्रान्त ने अधिकांश वस्तुओं पर यह कर लगाया और उसी साल बम्बई प्रान्त ने भी विक्रय-कर लगाया। १९४१ में बंगाल और पंजाब ने भी यह कर लगाया। अब यह कर भाग A के सब प्रान्तों में लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में सब प्रान्तों के बाद १९४८ में यह कर लगाया गया। हर प्रान्त में इस कर की दर, रीति तथा कर देनेवाली वस्तुओं की सूची भिन्न है। परन्तु प्रत्येक प्रान्त में कुछ आवश्यक वस्तुओं पर (जैसे अनाज, दाल, दूध इत्यादि) पर यह कर नहीं लगाया जाता। १९४६-४७ में इस कर से सब प्रान्तों की आय १२·४६ करोड़ रुपये थी। यह बढ़कर १९४७-४८ में १७·०३ करोड़ रुपये, १९४८-४९ में ३२·९५ करोड़ रुपये और १९४९-५० में लगभग ४८ करोड़ रुपये हो गई। नये विधान के अनुसार १ अप्रैल १९५१ से जिन

वस्तुओं का देश से निर्यात होता है या जो विक्रय एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को होता है उस पर विक्रय-कर लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारो को नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन वस्तुओं को केन्द्रीय सरकार "आवश्यक" घोषित कर दे उन वस्तुओं के विकय पर भी प्रान्तीय सरकार यह कर नही लगा सकती। इन प्रतिबन्धों के कारण प्रान्तीय सरकारों की आय विक्रय-कर से घट जायेगी। उदाहरणतः १९५०-५१ में बिहार और मध्यप्रदेश की विक्रयकर से आय ३६० और २२० लाख रुपये थी। परन्तु यह अनुमान लगाया जाता है कि १९५१-५२ में उनकी आय घटकर २५७ लाख और १३२ लाख रुपयेरह जायेगी।

(१०) **मोटर-गाड़ियों पर कर** (Tax on Motor Vehicles) :—प्रान्तीय सरकारें मोटरों, मोटर साइकिलों, लौरी और बोझा ले जाने की लौरियो पर कर लगाती हैं। इस कर की दर या तो उन गाड़ियों की बैठने या बोझा लादने की शक्ति पर निर्भर होता है या उनके इञ्जन की शक्ति (Horse Power) पर। १९४९-५० में बिहार की इस कर से आय ३·२ लाख रुपये थी और उत्तर प्रदेश व मध्यप्रदेश की ५३ लाख और ३७·४ लाख रुपये।

(११) **बिजली पर कर** (Tax on Electricity) :—बिजली के उपयोग और विक्रय पर बंगाल, बम्बई, मद्रास, बिहार, मध्य प्रदेश इत्यादि मे यह कर लगाया जाता है। १९४९-५० में इस कर से बिहार की आय ९·२ लाख रुपये और मध्य प्रदेश की ३·२ लाख रुपये थी।

(१२) **रोजगार, पेशों व व्यापार पर कर** (Tax on Employment, Profession and Trade) सबसे पहले मध्यप्रदेश ने लगाया जिसकी आय १९४९-५० में ४·१ लाख रुपये थी।

(१३) **मनोरंजन-कर** (Entertainment Tax):—यह कर सिनेमा थियेटर, सरकस इत्यादि के टिकटों पर लगाया जाता है। बंगाल, आसाम, मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की प्रान्तीय सरकारें यह कर लगाती हैं। १९४९-५० में इस कर से बिहार की आय ३३·९ लाख रुपये और मध्य प्रदेश की आय २९·२ लाख रुपये थी।

(१४) **आन्तरिक आयात कर** (Internal Customs) :—कई भारतीय रियासतों में यह कर बहुत वर्षों से लगाया जाता है। जब इन रियासतों का राजस्व सम्बन्धी एकीकरण हुआ तो इंडियन स्टेट्स फाइनैन्सेज़ इन्क्वायरी कमेटी ने यह सम्मति दी कि यह कर भाग B की प्रत्येक रियासत से ५ वर्ष के भीतर हटा देना चाहिए, क्योकि यह आन्तरिक व्यापार में बाधा डालता है और नये विधान की धारा नं० ३०१ के विरुद्ध है। इस कमेटी ने यह भी सम्मति दी कि ये रियासतें इस कर की अपेक्षा विक्रय-कर को अपनाएँ।

इस कर से राजस्थान की आय लगभग ३१७ लाख रुपये, मध्य-भारत की १६० लाख रुपये और सौराष्ट्र की लगभग ५७ लाख रुपये थी। परन्तु अब यह कर इन रियासतों से शीघ्र ही हटा दिया जायेगा।

केन्द्रीय सरकार से सहायता (Grants from the Centre) प्रान्तीय सरकारों की आय जनता के हित की विकास योजनाओं के लिए पर्याप्त नहीं होती है। इस कारण केन्द्रीय सरकार को उन्हें सहायता देनी पड़ती है। कभी कभी यह सहायता विशेष योजनाओं के लिए दी जाती है जैसे, शरणार्थियों को बसाना, अधिक नाज-उत्पादन की योजना इत्यादि। १९४९-५० में बिहार को १४९·२ लाख रुपये की सहायता मिली और उत्तर प्रदेश को ३३३ लाख रुपये की। मध्यप्रदेश को शरणार्थियों को बसाने के लिए १०९·५ लाख रुपये की सहायता मिली, अधिक नाज उत्पादन के लिए ९·४ लाख रुपये की और अन्य विकास की योजनाओं के लिए ११०·४ लाख रुपये की। भारतीय सरकार को अपने बजट के सन्तुलन की कठिनाइयों के कारण केन्द्रीय-विकास की योजनाओं में काट-छाँट करनी पड़ती है और प्रान्तों की सहायता मे भी कमी करनी पड़ी है।

प्रान्तीय व्यय

प्रान्तीय सरकारों के व्यय के मुख्य विभाग निम्नलिखित हैं :—

(१) **आय पर प्रत्यक्ष माँग** (Direct Demand on Revenue)—कर वसूल करने के लिए प्रान्तीय सरकारों को अपने कर्मचारियों के वेतन इत्यादि पर व्यय करना आवश्यक है। १९३८-३९ में सब प्रान्तों का यह व्यय ५·३५ करोड़ रुपये था जो १९४८-४९ में बढ़कर ९·६८ करोड़ रुपये हो गया। १९३८-३९ में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार का यह व्यय १५४ लाख, ६५ लाख और ३८ लाख रुपये था जो १९४९-५० में बढ़कर ४९४ लाख, १९०·६ लाख और १७१ लाख रुपये था।

(२) **ऋण सम्बन्धी व्यय** (Debt Services)—प्रान्तीय सरकारों को ऋण लेने का अधिकार भी है जिस पर उनको व्याज चुकाना पड़ता है और ऋण के भुगतान के लिए कुछ रुपया एक अलग कोष (Sinking Fund) में रखना पड़ता है। १९३८-३९ में इस सम्बन्ध में सब प्रान्तों का व्यय १७८ लाख रुपये था जो १९४८-४९ में बढ़कर ४२२ लाख रुपये हो गया। १९३८-३९ में उत्तर प्रदेश का इस मद पर व्यय ६१ लाख रुपये था और बिहार का ६ लाख रुपये। १९४९-५० में इन प्रान्तों का इस मद पर व्यय ८७ हजार और १ लाख ९० हजार रुपये था। इसी वर्ष मध्यप्रदेश का यह व्यय ४२·३ लाख रुपये था जिसमें ऋण भुगतान के लिए अलग कोष में रखे हुए १५ लाख रुपये भी सम्मिलित है। कुछ प्रान्तों का इस सम्बन्ध में लड़ाई के पूर्व

की अपेक्षा व्यय बहुत घट गया है क्योंकि लड़ाई के वर्षों में कई प्रान्तों के बजटों में बचत होती रही जिसको वह विकास की योजनाओं के कोष में या आय के सुरक्षित कोष में रखते गये। और इन कोषों की आय से उनका ऋण सम्बन्धी व्यय घट गया।

(३) **सार्वजनिक निर्माण** (Civil Works)—प्रान्तीय सरकारों को प्रान्तीय सड़कें, सार्वजनिक इमारतें इत्यादि के बनाने व मरम्मत कराने में व्यय करना पड़ता है। इन कार्यों पर १९४९-५० में उत्तर प्रदेश का व्यय ५·३५ करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश का २२९·३ लाख रुपये और बिहार का २६७·५ लाख रुपये हुआ।

(४) **नागरिक शासन** (Civil Administration)—नागरिक शासन के व्यय के दो मुख्य भाग हैं :—(१) समाज-सेवा पर व्यय (Social Services), (२) सुरक्षा सम्बन्धी व्यय (Security Services)। १९३८-३९ में सब प्रान्तों का समाज-सेवा पर पर व्यय २०·८९ करोड़ रुपये था जो १९४८-४९ में बढ़कर ६८·०७ करोड़ रुपये और १९४९-५० में लगभग ९२ करोड़ रुपये हो गया। सुरक्षा सम्बन्धी व्यय में भी वृद्धि हुई परन्तु इसी अनुपात में नहीं। सब प्रान्तों का सुरक्षा सम्बन्धी व्यय १९३८-३९ में २६·६३ करोड़ रुपये था जो बढ़कर १९३८-३९ में ७३·२५ करोड़ रुपये और १९४९-५० में लगभग ८८ करोड़ रुपये हो गया। १९४९-५० में सबसे पहली बार प्रान्तीय सरकारों का व्यय समाज-सेवा पर सुरक्षा सम्बन्धी व्यय से अधिक था।

१९४९-५० में नागरिक शासन में उत्तर प्रदेश का व्यय ३५·७८ करोड़ रुपये और मध्य प्रदेश का ९·७४ करोड़ रुपया था। इस व्यय में आम शासन, न्याय, जेल, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, चिकित्सा, पुलिस, कृषि, पशु-चिकित्सा, सहयोग, हवाई-यातायात का निर्माण इत्यादि इत्यादि पर व्यय सम्मिलित है।

आम शासन में प्रान्तीय गवर्नर का कुल व्यय प्रान्तीय धारा सभा, सेक्रेटेरियट व जाँच इत्यादि का व्यय सम्मिलित है। १९४९-५० आम शासन पर उत्तर प्रदेश का व्यय ५·४५ करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश का १७३·८ लाख रुपये और बिहार का २०४·६ लाख रुपये था।

न्याय के व्यय (Justice) में हाईकोर्ट के जजों इत्यादि का वेतन भी सम्मिलित है। १९४९-५० में उत्तर प्रदेश का इस विषय पर व्यय १·२९ करोड़ रुपये, मध्य प्रदेश का ४६ लाख रुपये और बिहार का ८३·३ लाख रुपये था।

जेलों (Jails) के व्यय में जेल के कर्मचारियों का वेतन व क़ैदियों का व्यय सम्मिलित है। उत्तर प्रदेश का इस मद पर व्यय

१९४९-५० में १·२३ करोड़ रुपये था और मध्य प्रदेश का २६·१ लाख लाख रुपये और बिहार का ८९ लाख रुपये था।

शिक्षा (Education) के व्यय में स्वतन्त्रता मिलने के उपरान्त अधिक वृद्धि हुई है। इस व्यय में यूनिवर्सिटियों को दी गई सहायता, प्रान्तीय सरकार के स्कूल व कालेजों का व्यय व अन्य स्कूलों को सहायता इत्यादि सम्मिलित है। १९४९-५० में शिक्षा पर उत्तर प्रदेश का व्यय ६·६३ करोड़ रुपये था और मध्य प्रदेश का २७१·१ लाख रुपये और बिहार का ४३७·१ लाख रुपये।

सार्वजनिक स्वास्थ्य (Public Health) पर १९४९-५० में उत्तर प्रदेश का व्यय १०५ लाख रुपये था और मध्य प्रदेश का २१·९ लाख रुपये व बिहार का ५५·८ लाख रुपये।

चिकित्सा (Medical) के व्यय में प्रान्तीय अस्पतालों का व्यय भी सम्मिलित है। १९४९-५० में चिकित्सा पर उत्तर प्रदेश का व्यय १९५ लाख रुपये था, मध्य प्रदेश का ४८·८ लाख और बिहार का १००·५ लाख रुपये।

पुलिस (Police)—गत वर्षों में पुलिस पर भी व्यय बढ़ता जा रहा है। १९४९–५० में पुलिस पर उत्तर प्रदेश का व्यय ७·९९ करोड़ रुपये था और मध्य प्रदेश का २·६४ करोड़ रुपये व बिहार का ३·६३ करोड़ रुपये।

कृषि (Agriculture)—देश में अनाज की कमी व हमारी कृषि की स्थिति बिगड़ी हुई होने के कारण प्रान्तीय सरकारों को कृषि पर अधिक व्यय करना अनिवार्य सा है। १९४९–५० में कृषि पर उत्तर प्रदेश का व्यय ४·०९ करोड़ रुपये था और मध्य प्रदेश का ५८·९ लाख रुपये व बिहार का १·१२ करोड़ रुपये।

नीचे हमने कुछ प्रान्तों के आय-व्यय के बजट के आँकड़े दिये हैं :—

१९५१–५२ के बजट के अनुमानित आँकडे लाख रुपयो मे।

आय के विभाग	उत्तर प्रदेश	मध्य प्रदेश	बिहार	उड़ीसा १९५०–५१ के आँकडे
१. निर्यात-कर का प्रान्तीय भाग	..	..	३५·०	५·०
२ आयकर का प्रान्तीय भाग	...	२६६ ९	५५६·०	१४०·५
३ कृषि आय-कर	९२५·५	...	४०·८	१५·०
४. मालगुजारी	१४०७·१	४०४·६	१४३·९	११३ ६
५. आबकारी	५८४·१	२१५·०	५०६ ३	१६९·३
६. स्टाम्प	२२५·०	९१·८	२३०·९	४५·८
७. रजिस्ट्री	२४ ७	२०·२	६६·८	७·०
८. वन	३३९ ६	३७५·८	६५·२	८९·४
९ सिचाई	३०१·८	१९·४	(–)२·८	(–)८·२
१०. विक्रय-कर	...	१५६·०	२८३·८	८३·८
११. मनोरजन-कर, अन्य कर	९१८·३	२९·५	३६·५	३·१
१२. बिजली पर कर	...	७·०	१२·३	०·२
१३ केन्द्रीय सरकार से सहायता	८०·५	३·८	११९·३	१२६·०
कुल आय	६१२·७०	२०४४·५	३५९६·७	१०६५·८

बाकी आय अन्य स्रोतो से।

व्यय के मुख्य विभाग	उत्तर प्रदेश	मध्य प्रदेश	बिहार	उड़ीसा १९५०–५१ के आँकड़े
१. आय पर प्रत्यक्ष माँग	५१७·१	२३०·८	१५५·७	८४·७
२. ऋण सम्बन्धी व्यय	१००·५	८८·९	(–) १४·६	१४·६
३. सार्वजनिक निर्माण	३७५·४	१११४·१	७९६·४	२०४·७
४. सिंचाई	२९६·१	६४·८	१५१·९	११·४
५. बिजली की योजनायें	१६·३	३४·५	६·३	५·५
६. सामान्य शासन	६३५·७	१९१·९	२०४·०	१०९·१
७. न्याय	१३५·३	४३·१	७५·९	२१·२
८. शिक्षा	७३७·२	३१९·८	३२८·८	१५१·८
९. सार्वजनिक स्वास्थ्य	१०५·३	३०·५	१०७·५	१७·०
१०. जेल	१०८·१	२३·६	८३·८	१८·९
११. चिकित्सा	२०७·८	७१·१	९९·१	५१·०
१२. पुलिस	७३०·४	२५०·६	३९८·१	१३५·६
१३. कृषि	३३८·०	१००·७	१५७·५	७९·५
१४. पशु चिकित्सा	१०७·२	३२·४	२५·८	२०·७
१५. सहयोग	६५·२	३६·३	१६·३	१४·२
कुल व्यय	६१५०·६	२०४४·५	३११२·९	११४१·९

बाकी व्यय अन्य विभागों पर होता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. प्रान्तीय सरकारों की आय के मुख्य स्रोतों पर प्रकाश डालिये।

२. निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—

(१) मालगुजारी (२) आबकारी (३) विक्रय-कर (४) प्रान्तीय सरकारों का शिक्षा और पुलिस पर व्यय।

३. प्रान्तीय सरकारों के व्यय के मुख्य विभागों का वर्णन कीजिये।

अध्याय ३४

स्थानीय राजस्व

भारतवर्ष में मुख्य स्थानीय संस्थाएँ दो प्रकार की हैं :—(१) म्यूनिसिपैलिटियाँ, जो नगरो में होती है और (२) जिला बोर्ड जो ग्राम्य प्रदेशो मे होते हैं।

सन् १९४६–४७ में भाग A के प्रान्तो में ३ म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन, ६२८ म्यूनिसिपैलिटियाँ और १७६ जिला बोर्ड थे। जनता के प्रतिदिन के जीवन की आवश्यकताओं के प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं पर है। यह इन्हीं संस्थाओं की जिम्मेवारी है कि वह जनता के लिए पानी, सफाई, सड़कों पर रोशनी, शहरों व गाँवों में गन्दे पानी की नालियों, प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूल व अस्पताल इत्यादि का प्रबन्ध करें। इस कारण यह आवश्यक है कि उनके पास आय के पर्याप्त साधन हों जिससे वह अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रीति से कर सकें क्योकि उसी पर जनता की भलाई निर्भर है। परन्तु यह खेद की बात है कि भारतवर्ष में स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय है। जब कि अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में कुल सरकारी व्यय का ५५% भाग स्थानीय संस्थाएँ व्यय करती हैं और केवल ३०% व १५% केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारें, तो भारतवर्ष में (१९३७–३८) स्थानीय संस्थाओं का व्यय कुल व्यय का १९% ही था जब कि केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो का व्यय में भाग ४९ % और ३२% था। इस दृष्टि से स्थानीय संस्थाओ की स्थिति गत वर्षो में और भी गिर गई है। १९४९–५० में केन्द्रीय सरकार की आय ३५० करोड़ रुपये थी, भाग A के प्रान्तों की २९५ करोड़ रुपये और भाग B के प्रान्तों की ९७ करोड़ रुपये। परन्तु स्थानीय संस्थाओं की आय लगभग ६४ करोड़ रुपये थी जो कुल सरकारी आय के ९०% से भी कम है। स्थानीय संस्थाओं की शोचनीय स्थिति का अनुमान इससे भी लग सकता है कि म्यूनिसिपैलिटियों की आय जिनकी जनसंख्या २·२ करोड़ है, १५·१८ करोड़ रुपये है। जिला बोर्डो की स्थिति इससे भी खराब है और जब उनकी जनसंख्या २०·५ करोड़ है तो उनकी आय केवल १५·५५ करोड़ रुपये है। म्यूनिसिपल कॉरपोरेशनों की स्थिति इनकी अपेक्षा अच्छी थी। उनकी जनसंख्या ४८ लाख थी और आय १२·४ करोड रुपये थी। इस कारण जिन सेवाओ का प्रबन्ध इन स्थानीय सस्थाओं

पर निर्भर है वे बहुत कम और त्रुटिपूर्ण हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि ६ गाँवों के बीच में १ स्कूल है। ऐसे बहुत से गाँव हैं जहाँ से रेलवे स्टेशन या नागरिक केन्द्रों को जाने के लिए सड़कें नहीं बनी हैं। ३५ करोड़ की जनसंख्या में से लगभग ७० लाख व्यक्ति ऐसे स्थानों में रहते हैं जहाँ गन्दे पानी व मैले की नालियों का उचित प्रबन्ध है। उत्तर प्रदेश में ग्राम्य-प्रदेशों में १,०५,६२६ व्यक्तियों के बीच में एक अस्पताल है और नगरों में १७,६६८ व्यक्तियों के बीच में। यह शोचनीय स्थिति तभी सुधर सकती है जब स्थानीय संस्थाओं की आय बढ़ाई जाय। इस विषय पर केन्द्रीय सरकार ने अप्रेल १९४९ में लोकल फाइनैन्स इन्क्वायरी कमेटी (Local Finance Enquiry Committee) बैठाई जिसकी रिपोर्ट अप्रेल १९५१ में प्रकाशित हुई। इस कमेटी ने यही सम्मति दी है कि स्थानीय संस्थाओं को अधिक कर लगाने के अधिकार देने चाहिए। कमेटी ने यह बतलाया है कि आजकल स्थानीय संस्थाएँ प्रान्तीय सहायता पर अधिक निर्भर हैं और कमेटी की सम्मति में इस सहायता की अपेक्षा स्थानीय संस्थाओं को कुछ विशेष आय के साधन सौंप देने चाहिए। नये विधान के अनुसार रेल, जहाज या हवाई जहाज द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाले यात्री या माल पर सीमा कर (Terminal Tax) लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है। कमेटी की सम्मति में यह अधिकार स्थानीय संस्थाओं को सौंप देना चाहिए। इसी प्रकार कमेटी ने सम्मति दी है कि कुछ कर जिनको लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को है वह भी स्थानीय संस्थाओं को सौंप देने चाहिए; जैसे (१) भूमि, इमारतें या खनिज पदार्थों के उत्पादन के विकास पर कर, (२) बिजली के उपयोग व विक्रय पर कर, (३) मोटर गाड़ियों इत्यादि पर कर, (४) रोजगार, पेशे और व्यापार पर कर, (५) मनोरंजन कर।

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं को जो कर लगाने के अधिकार हैं उनसे वह पूरा लाभ उठायें। उत्तर प्रदेश में ११२ म्यूनिसिपैलिटियों में से केवल ३३ ही घरों पर कर (House Tax) लगाती हैं और अधिक स्थानों पर इसकी दर बहुत कम है। इसका कारण यह है कि प्रान्तीय संस्थाओं के सदस्य वहाँ के निवासियों के वोटों से चुने जाते हैं और वे प्रत्यक्ष कर लगाने से घबराते हैं। इस कारण प्रान्तीय सरकारों के लिए यह आवश्यक है कि जब स्थानीय संस्थाएँ अपने कर सम्बन्धी अधिकारों का उचित प्रयोग न करें तो प्रान्तीय सरकार स्वयं उन संस्थाओं की ओर से कर लगावें। साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं के शासन में उन्नति हो। उनके हिसाब रखने के उचित ढंग होने चाहिए और उनकी ठीक रीति से जाँच होनी चाहिए।

उनके कर निर्धारण और उसके वसूल करने का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए। बहुत से स्थानों में जिन व्यक्तियों का प्रभाव होता है उन पर कर कम लगाये जाते हैं और अनेक बार बहुत सी आय वसूल न होने के कारण डूब जाती है। स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारियों की नियुक्ति में पक्षपात होता है जिस कारण उचित व्यक्ति नियुक्त नही होते और उनके शासन की कार्यक्षमता गिर जाती है। प्रान्तीय सरकारों को इस पर कुछ रोक लगानी चाहिये और स्थानीय संस्थाओं के शासन की जाँच करने के उपरान्त उसमे उन्नति करने की रीतियाँ बतलानी चाहिये। यह बहुत आवश्यक है अन्यथा स्थानीय संस्थाओं की आय बढ़ने पर भी वे उसका उचित प्रयोग न कर सकेंगी।

म्यूनिसिपैलिटियों की आय

म्यूनिसिपैलिटियों की आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं:—

(१) **चुंगी** (Octroi)—जो माल बाहर से रेल, सड़क या नदी द्वारा नगर के अन्दर आता है उस पर यह कर लगाया जाता है। साधारणतः यह कर वस्तुओं के मूल्य के अनुसार लगाया जाता है। जो माल नगर से बाहर भेजा जाता है उस पर यह कर नहीं लगाया जाता और यदि उसके आने पर चुंगी चुकाई गई थी तो माँगने पर उसकी वापसी हो जाती है। परन्तु वापसी की रीतियाँ जटिल होती हैं जिससे बहुत से लोग वापसी माँगते ही नही। जो यात्री नगर में आते हैं उनको चुगी के मोहर्रिर तंग करते हैं। कभी-कभी उनके सन्दूक व बिस्तर खुलवाकर देखते हैं और यदि उनके पास छोटी मोटी नई वस्तुएँ होती है तो उनका अधिक मूल्य आँककर कर माँगते हैं। यदि वह इस आँके-मूल्य को मानना अस्वीकार करते हैं तो उन्हें केन्द्रीय कार्यालय में ले चलने को कहत हैं जिससे वे परेशान होकर या तो मुँहमाँगा कर दे देते हैं या उनकी जेब गरम कर देते हैं जिससे भ्रष्टाचार फैलता है। इस कर से व्यापार में भी बाधा पड़ती है क्योंकि चुंगी से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और आस-पास के गाँवों व छोटे नगरों के लोग वस्तुएँ वही से खरीदना पसन्द करते हैं जहाँ यह कर नहीं होता है जिससे उस नगर के विकास में बाधा पड़ती है। इन कारणों से प्रत्येक नगर में लोगों की भावनाएँ इस कर के विरुद्ध हैं। परन्तु यह कर म्यूनिसिपैलिटियों की आय का महत्वपूर्ण स्रोत है। उदाहरणतः उत्तर प्रदेश की म्यूनिसिपैलिटियों की इस कर से आय (१९४६–४७) १·७३ करोड़ रुपये थी जो उनकी कुल कर द्वारा प्राप्त आय का ६२·८% भाग है। इसके रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकने वाला कोई अन्य कर न होने से म्यूनिसिपैलिटियाँ इसी कर को

लगाती हैं। संयुक्त प्रदेश की म्यूनिसिपल-कर-कमेटी (१९०८–०९) ने यह सम्मति दी कि चुँगी की अपेक्षा सीमा-कर लगाया जाय। सरकार ने यह सम्मत्ति मान ली और कुछ म्यूनिसिपैलिटियों ने इसको अपनाया। **सीमा कर** (Terminal Tax) नगर में रेल द्वारा आनेवाली वस्तुओं पर लगाया जाता है पर इसकी वापसी नहीं होती। यह वस्तुओं के परिमाण पर लगाया जाता है जिससे उनके मूल्य आँकने की असुविधा हट जाती है। इसका भार चुँगी से कम होता है। जब केवल रेल द्वारा लाई वस्तुओं पर ही कर लगाया जाता है तो व्यापारी माल सड़क और नदियों से लाने पड़ते हैं। इस कारण इन मार्गों से आने वाले माल पर भी कर लगाना आवश्यक हो जाता है। जो कर सड़क और नदियों द्वारा लाये माल पर लगाया जाता है उसे **राहदरी महसूल** (Terminal Toll) कहते हैं।

(२) **मकान, भूमि व सम्पत्ति पर कर** (Taxes on Houses, Lands or Property Tax) यह कर मकान व भूमि के किराये पर लगाया जाता है और उनके स्वामी से वसूल किया जाता है। इसकी अधिकतम दर किराये की १०% या ११% है। कुछ स्थानों पर केवल मकान या जिस भूमि पर वह बने होते हैं उस पर ही कर लगाया जाता है और उसे घरों पर कर (House Tax) कहते हैं। अधिकतर स्थानों पर इसकी दर बहुत कम है।

(३) **रोजगार, पेशे व व्यापार पर कर** (Tax on Trades, Professions, Arts and Callings)—यह बहुत कम स्थानों पर लगाया जाता है और जहाँ लगाया भी जाता है वहाँ लाइसेन्स फीस के रूप में वसूल किया जाता है। उत्तर प्रदेश में धोबीघाट के प्रयोग पर धोबियों से एक वार्षिक शुल्क लिया जाता है।

(४) **व्यक्तियों पर कर या हैसियत-कर** (Taxes on Persons or Haisyat Tax)—यह कर आय पर नहीं लगाया जाता परन्तु करदाताओं की सामाजिक स्थिति या कुटुम्ब के परिमाण पर लगाया जाता है। कहीं कहीं नौकरों पर भी कर लगाया जाता है और वह उनके स्वामियों से वसूल किया जाता है।

(५) **मनोरंजन-कर** (Entertainment Tax) —यह केवल मद्रास प्रान्त में ही म्यूनिसिपैलिटियाँ लगाती हैं अन्य प्रान्तों में यह कर प्रान्तीय सरकारें लगाती हैं। अजमेर में भी यह कर म्यूनिसिपैलिटी लगाती है।

(६) **यात्री-कर** (Pilgrim Tax) —नये विधान के अनुसार यह कर केन्द्रीय सरकार लगा सकती है परन्तु जो स्थानीय संस्थाएँ विधान के पूर्व यह कर लगाती थीं उनको इसके लगाने की आज्ञा दे दी गई है। यह कर रेलों से आनेवाले यात्रियों पर लगाया जाता है और रेल के

टिकट में सम्मिलित कर दिए जाता है और स्थानीय सस्थाएँ इसे रेलवे शासन से वसूल कर लेती हैं। उत्तर प्रदेश मे यह कर इलाहाबाद, मथुरा, आगरा, बनारस, वृन्दावन इत्यादि मे लगाया जाता है।

(७) **गाड़ियों इत्यादि पर कर** (Vehicle Tax)—म्यूनिसिपैलिटियाँ मोटर, लौरी, ताँगा, इक्का, बैलगाडी, नावो इत्यादि पर कर लगाती हैं। कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ साइकिलो पर भी कर लगाती है।

(८) **कुत्ते व नौकरों पर कर** (Tax on Dogs or Servants)—म्यूनिसिपैलिटियाँ यह कर इनके स्वामी से वसूल करती हैं।

(९) कुछ म्यूनिसिपैलिटिय **बाजार कर** (Bazar Tax) लगाती है। यह कर उन दुकानदारो से वसूल किया जाता है जो म्यूनिसिपैलिटी द्वारा बनाये बाजारो मे दुकाने खोलते है।

(१०) सफाई की फीस (Conservancy Tax) भी कई स्थानो में वसूल की जाती है।

(११) म्यूनिसिपैलिटियो को शादी पर भी कर (Marriage Tax) लगाना चाहिए क्योकि उस अवसर पर लड़की व लडके वाले के पक्ष से अत्यधिक व्यय किया जाता है। वे कुछ कर स्थानीय सस्थाओ को भी दे सकते हैं। यह कर केवल बम्बई मे लगाया जाता है। प्रत्येक स्थानीय सस्था को शादी की रजिस्ट्री पर भी फीस लेनी चाहिए जिसकी दर १ रुपया हो सकती है। इससे शादियो की प्रामाणिक सूची भी तैयार हो जायेगी।

(१२) **उन्नति-कर** (Betterment Tax)—म्यूनिसिपैलिटियो को खाली भूमि पर बाजार व नई बस्तियाँ बसानी चाहिए जिससे उन भूमियो के अर्घ मे वृद्धि हो और उनके स्वामियो से उन्नति कर वसूल किया जाय।

(१३) शिक्षा की अधिक माँग और आवश्यकता होने से म्यूनिसिपैलिटियो को **शिक्षा-कर** (Education Tax) लगाना चाहिए। घरो के कर पर २ या ३% शिक्षा कर भी जोड देना चाहिए जिससे वे शिक्षा पर अधिक व्यय कर सके। स्कूलो की फीस से भी कुछ आय प्राप्त होती है।

(१४) **जुर्माना** (Fines)—म्यूनिसिपैलिटियो के कानून तोडने पर ये संस्थाएँ जुर्माना वसूल करती है। भटकते हुए जानवरो (Stray Cattle) को काँजी हाउस मे बन्द कर दिया जाता है और जुर्माना लेकर ही उनके स्वामियो को वापिस किया जाता है।

(१५) म्यूनिसिपैलिटी कुछ भूमि, मकान व अन्य जायदाद की स्वामी होती है और उसके किराये से आय प्राप्त करती है।

(१६) पानी की सप्लाई का प्रबन्ध नगरों मे म्यूनिसिपैलिटी द्वारा ही होता है और वह उस पर कर या शुल्क वसूल करती है। मकानों में नल लगाने का या तो वह स्थिर दर से शुल्क ले लेती है या वहाँ मीटर

लगा देती है और पानी के प्रयोग के अनुपात में शुल्क लेती है। मीटर लगाने की रीति अधिक उचित है क्योंकि उससे जनता पानी का प्रयोग सावधानी से करती है। धनी व्यक्तियों के घरों में पानी का अधिक व्यय होता है और इस कारण म्यूनिसिपैलिटियों को पानी के शुल्क की दर प्रगतिशील रखनी चाहिए।

(१७) जिन म्यूनिसिपैलिटियों के अपने बिजलीघर या यातायात के साधन जैसे ट्राम या बस होते हैं उनको इस मद से भी आय प्राप्त होती है।

(१८) कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ सड़क और घाट के प्रयोग का भी महसूल बसूल करती हैं और बूजरखाने के लाइसेन्स का शुल्क भी लेती हैं।

(१९) **प्रान्तीय सरकार से सहायता** (Grants-in-Aid)—यह सहायता साधारणतः प्रतिवर्ष मिलती है और कभी आकस्मिक भी मिल जाती है। प्रान्तीय सहायता ३ मुख्य भागों में बाँटी जा सकती है, (१) शिक्षा के लिए (२) चिकित्सा के लिए (३) साधारण अन्य कार्यों के लिए सहायता; जैसे स्वास्थ्य, सड़कें बनवाना, दवाइयों के क्रय के लिए इत्यादि, इत्यादि।

म्यूनिसिपैलिटियों का व्यय

इसके मुख्य विभाग निम्नलिखित हैं:—

(१) सामान्य शासन व कर वसूल करने पर व्यय।

(२) नगर की सफाई, नालियों के बनवाने, मैले को नगर के बाहर फिकवाने इत्यादि पर व्यय। यह व्यय नागरिकों के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(३) **चिकित्सा** (Medical)—म्यूनिसिपैलिटियाँ अस्पताल और दवाईखाने चलाती हैं व टीके लगाने का प्रबन्ध करती हैं। इसके अतिरिक्त वे पशुओं की चिकित्सा के अस्पताल भी खुलवाती हैं जहाँ गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते इत्यादि की चिकित्सा की जाती है। गायों की नस्ल सुधारने के लिये स्वस्थ और अच्छी नस्ल के साँड़ों का भी प्रबन्ध करती है।

(४) **शिक्षा** (Education)—म्यूनिसिपैलिटियों को विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करना होता है और कहीं कहीं वह हाईस्कूल व कॉलेज भी चलाती हैं। नगर में पुस्तकालय भी खोलती हैं।

(५) **सार्वजनिक निर्माण**—कुछ मुख्य सड़कों को छोड़कर (जो प्रान्तीय सरकार के अन्तर्गत होती हैं) म्यूनिसिपैलिटियों को नगर की सड़कों को बनाने व मरम्मत करने पर व्यय करना पड़ता है व बागबगीचे लगवाती हैं और खेलों के मैदान भी बनवाती हैं। सड़कों पर पेड़ भी लगवाती हैं और उनके बेचने से कुछ आय भी प्राप्त होती है। कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ अजायब घर (Museum) व पशु-वाटिका (Zoo) भी बनवाती हैं।

(६) म्यूनिसिपैलिटियों को नगर की सड़कों की रोशनी के प्रबन्ध पर व्यय करना पड़ता है।

(७) बड़े नगरों की म्यूनिसिपैलिटियों में आग बुझाने का विभाग (Fire Brigade) भी होता है जहाँ आग बुझाने की लौरियाँ इत्यादि रखी जाती हैं।

(८) कुछ म्यूनिसिपैलिटियाँ प्रान्तीय सरकार की स्वीकृति से ऋण भी लेती हैं। यह ऋण उन्हें पानी का कारखाना (Water Works) बिजलीघर बनवाने व ट्राम, बस चलाने के लिए लेना पड़ता है। इस ऋण पर व्याज चुकाना पड़ता है।

जिला बोर्ड

जो कार्य म्यूनिसिपैलिटियाँ नगरों में करती हैं वही कार्य ग्रामीण प्रदेशों में जिला बोर्डों द्वारा होता है। १९४६-४७ में भाग A के प्रान्तों में कुल १७६ जिला बोर्ड थे जिनकी जनसंख्या २०·४ करोड़ और आय १५·६ करोड़ रुपये थी। जिला बोर्डों के मुख्य आय के स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(१) **स्थानीय भूमि-कर** (Land Cess)—जिला बोर्डों की आय का यह मुख्य साधन है। भाग A के प्रान्तों के जिला बोर्डों की इस विभाग से कुल आय ५·२ करोड़ रुपये थी। यह उनकी कुल आय का $\frac{1}{3}$ भाग है। उत्तर प्रदेश में मई १९४८ से प्रत्येक जिला बोर्ड के लिए यह अनिवार्य है कि वह मालगुजारी का ३ आ० प्रति रुपया की दर से स्थानीय भूमि-कर लगाये। इस कर की वसूली मालगुजारी के साथ-साथ प्रान्तीय कर्मचारी करते हैं और फिर वह जिला बोर्डों को दे दी जाती है। इस कर का $\frac{5}{6}$ भाग जमींदार को देना पड़ता है और $\frac{1}{6}$ भाग आसामी किसानों को। परन्तु व्यवहार में सारा कर जमींदार ही देते हैं। जमींदारी के समाप्त हो जाने पर यह कर उत्तर प्रदेश की सरकार को देना होगा क्योंकि वह भूमिधारों से मालगुजारी से कुछ अधिक लगान वसूल करेगी। उत्तरप्रदेश के जिला बोर्डों की इस कर से १९४६-४७ में आय ९२·१ लाख रुपये और बिहार में ८५·१ लाख रुपये, उड़ीसा में ६·५ लाख रुपये और मध्य प्रदेश में ३७·९ लाख रुपये थी।

(२) **आर्थिक अवस्था और संपत्ति पर कर** (Tax on Circumstance and Property)—इसके अन्तर्गत हैसियत कर भी लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में ४९ में से केवल २७ जिला बोर्डों को यह कर लगाने का अधिकार है। कर की दर कुल आय पर ४ पाई प्रति रुपया से अधिक नहीं हो सकती। इन २७ जिला बोर्डों की इस कर से आय १६ लाख रुपये है। यह कर प्रत्येक जिला बोर्ड में लगना चाहिए और प्रान्तीय

सरकारों को यह अधिकार भी जिला बोर्डों को दे देना चाहिए कि वह कृषि की आय पर भी यह कर लगा सकें।

(३) **महसूल** (Tolls)—जिला बोर्ड यह कर तालाब, घाट, पुल, सड़क इत्यादि के प्रयोग पर लगाते हैं।

(४) **लाइसेन्स का शुल्क** (Licence Fees)—कुछ व्यापार व पेशों के लिए जिला बोर्ड लाइसेन्स देते हैं और उसका शुल्क लेते हैं, जैसे कसाइयों से, गोश्त की दुकानें, वनस्पति घी की दुकानें, आटे की चक्की व अन्य कारखाने इत्यादि पर।

(५) जिला बोर्डों को भी शादी पर कर लगाना चाहिए जिसको लगाने का सुझाव हमने म्यूनिसिपल बोर्डो को भी दिया है।

(६) **जुर्माना** (Fines)—जिला बोर्डो के कानून तोड़ने पर ये संस्थाएँ जुर्माना वसूल करती हैं। भटकते हुए जानवरों को काँजी-हाउस में बन्द कर दिया जाता है और जुर्माना लेकर ही उनके स्वामियों को वापिस किया जाता है।

(७) **शुल्क** (Fees)—स्कूलों व अस्पतालों के शुल्क से भी कुछ आय होती है। बाजार, दूकानें, मेलों, प्रदर्शनियों पर भी शुल्क लगाया जाता है।

(८) जिला बोर्डो को अपनी इमारतें व नजूल सम्पत्ति से भी कुछ कुछ आय प्राप्त होती है। डाक बंगले में ठहरने वालों से किराया भी लिया जाता है।

(९) **प्रान्तीय सरकार से सहायता**—शिक्षा के व्यय का $\frac{२}{३}$ भाग प्रान्तीय सरकार देती है और शेष जिला बोर्डो को अपने पास से व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कार्यों के लिए भी सरकार सहायता देती है। गाँवों में अस्पताल व दवाखानों की बहुत आवश्यकता है। इनकी स्थापना को प्रोत्साहन देने के लिए प्रान्तीय सरकार को उनके व्यय का आधा भाग देने की रीति को मान लेना चाहिए।

जिला बोर्डों का व्यय

इनके व्यय के निम्नलिखित मुख्य भाग हैं :—

(१) सामान्य शासन व कर वसूल करने पर व्यय।

(२) अस्पतालों व सफाई पर व्यय। पशु चिकित्सा के अस्पतालों पर भी व्यय करना पड़ता है और पशुओं की नस्ल सुधारने पर भी जिला बोर्ड व्यय करते हैं।

(३) **शिक्षा**—गाँवों में स्कूल जिला बोर्ड खोलते हैं और इस विभाग के व्यय का $\frac{१}{३}$ भाग तो सरकार देती है परन्तु शेष जिला बोर्डो को अपनी आय में से देना पड़ता है। पुस्तकालयों पर भी व्यय करना पड़ता है।

(४) **सार्वजनिक निर्माण**—जिला बोर्डों को डाक बंगले, पुल व अन्य इमारतें बनवाने व इनकी मरम्मत करवाने पर व्यय करना पड़ता है। वह सड़कों पर पेड़ भी लगवाते हैं।

(५) काँजी-हाउस, मेले, प्रदर्शनियों इत्यादि के प्रबन्ध पर भी व्यय करना पड़ता है।

ग्राम-पंचायतें

लोकल फाइनैन्स इन्क्वायरी कमेटी ने यह सम्मति दी है कि इन संस्थाओं को निम्नलिखत दो कर अवश्य लगाने चाहिए:—

(१) घरों पर कर या चूल्हा कर या आर्थिक अवस्था व सम्पत्ति पर कर।

(२) सफाई पर कर।

अन्य कर स्थानीय आवश्यकता व स्थिति को ध्यान में रखते हुए लगाने चाहिए। अधिकतर ग्राम पंचायतों की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इसलिये यह आवश्यक है कि उनको अन्य स्रोतों से भी सहायता दी जाय। इस कारण उक्त कमेटी ने यह सम्मति दी है कि पंचायतों के क्षेत्र से जो मालगुजारी वसूल की जाय उसका १५% भाग ग्राम पंचायतों को दे देना चाहिए। कांग्रेस सरकारों का यह लक्ष्य है कि इन पंचायतों का देश के शासन में महत्वपूर्ण भाग हो। इस कारण यह आवश्यक है कि इनके आय के साधन पर्याप्त हों।

ग्राम पंचायतों के आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं। उनको प्रान्तीय सरकारों से शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य व सड़क इत्यादि के लिए सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त जिला बोर्डों से भी कुछ सहायता मिलती है। पंचायती अदालतों की आय और ग्राम के स्कूल की शिक्षा की फीस भी पंचायती कोष में जमा होती है। मेले, प्रदर्शनी इत्यादि के प्रबन्ध से भी आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पंचायतें कुछ कर भी लगाती हैं।

पंचायतों के व्यय के मुख्य विभाग ये हैं:—

(१) सामान्य शासन

(२) शिक्षा

(३) सार्वजनिक निर्माण

(४) सार्वजनिक स्वास्थ्य

(५) पंचायती अदालत पर व्यय

(६) सफाई पर व्यय, इत्यादि।

अभ्यास के प्रश्न

१. स्थानीय संस्थाओं का महत्त्व समझाइये। उनकी आय किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है?
२. म्यूनिसिपैलिटियों की आय व व्यय के मुख्य भाग कौन से हैं? उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
३. जिला बोर्डों के आय-व्यय के भागों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

अध्याय ३५

व्यापार (Trade)

किसी देश का व्यापार ३ भागो मे बॉटा जा सकता है—

(१) देशान्तर्गत व्यापार (Internal Trade)*—जो व्यापार देश के अन्दर होता है उसको देशान्तर्गत व्यापार कहते हैं। इसमे एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का व्यापार सम्मिलित होता है। यह व्यापार सडको, रेलों, नहरो, नदियो या वायु-मार्गो द्वारा होता है। प्राय. प्रत्येक देश का देशान्तर्गत व्यापार उसके कुल व्यापार का एक प्रमुख भाग होता है।

(२) **तटीय व्यापार** (Coastal Trade)—वास्तव मे यह व्यापार देशान्तर्गत व्यापार का ही भाग होता है परन्तु साधारणत. इसका वर्णन अलग किया जाता है। इसमे देश का वह व्यापार सम्मिलित होता है जो देश के विभिन्न भागो मे बन्दगाहो द्वारा किया जाता है।

(३) **विदेशी व्यापार** (Foreign Trade)—एक देश दूसरे देशो से जो व्यापार करता है वह उस देश का विदेशी व्यापार कहलाता है।

देशान्तर्गत व्यापार

हमारे देशान्तर्गत व्यापार के ठीक और सही ऑकडे नही मिलते हैं परन्तु इस व्यापार की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी देश का देशान्तर्गत व्यापार निम्नलिखित प्रमुख कारणो पर निर्भर होता है :—

(१) **देश का विस्तार** (Size of Country)—देश जितना बड़ा होगा उसका व्यापार भी उतना ही अधिक होगा। हमारा देश विस्तार में एक महाद्वीप के बराबर है और यहाँ भिन्न प्रकार की जलवायु और प्राकृतिक अवस्थाएँ है। कुछ भाग ठढे है तो कुछ गर्म है, कही वर्षा अधिक

* देशान्तर्गत व्यापार साधारणतः एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के व्यापार को कहते है। परन्तु हमारे मत में एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के व्यापार को **प्रान्तीय व्यापार** कहना चाहिये और देशान्तर्गत व्यापार मे प्रान्तीय व्यापार के अतिरिक्त वह व्यापार भी सम्मिलित होना चाहिये जो प्रान्त के अन्दर ही होता है क्योकि वह व्यापार भी देश के अन्दर का ही व्यापार है अर्थात् देशान्तर्गत व्यापार में देश का कुल व्यप्पार आना चाहिये और इसका पूर्ण अनुमान तभी लगाया जा सकता है जब उसमें देश के अन्दर के प्रत्येक विनिमय कार्य को सम्मिलित कर लिये जायें।

होती है तो कहीं रेगिस्तान हैं। इसी प्रकार कोई भाग पहाड़ी है तो कहीं मीलों तक मैदान ही दिखाई पड़ते हैं। इस कारण हमारे देश में विनिमय और विशेषज्ञता के लिये विस्तृत्र क्षेत्र है। उदाहरणतः देश की चीनी अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में होती है, कोयला और लोहा बिहार में, पटसन बंगाल में, कपड़ा बम्बई में इत्यादि । इस कारण देश का एक भाग दूसरे भाग से अधिक वस्तुएँ मँगाता और भेजता है।

सन् १९३७ में बर्मा एक अलग देश बना दिया गया और सन् १९४७ में देश का विभाजन हुआ जिससे भारतवर्ष का कुछ भाग पाकिस्तान बना दिया गया। इन कारणों से भारतवर्ष का विस्तार कुछ कम हो गया है। परन्तु अब भी वह यूरोप के देशों से कई गुना बड़ा है।

(२) **देश की जनसंख्या**—देश की जनसंख्या जितनी अधिक होगी वहाँ व्यापार भी उतना ही बढ़ा-चढ़ा होगा। हमारे देश की जनसंख्या लगभग ३५ करोड़ है। यह ब्रिटेन की जनसंख्या से ६ गुनी अधिक है और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र से लगभग दुगुनी। हमारे देश की जनसंख्या लगभग ३५ करोड़ अब है जब कि बर्मा और पाकिस्तान भारतवर्ष से अलग होकर नये देश बन गये हैं।

(३) **देश का उत्पादन**—यदि देश में उत्पादन अधिक होता है तो विनिमय और व्यापार भी अधिक होगा। किसी देश का उत्पादन हम ३ मुख्य भागों में बाँट सकते हैं:—(अ) कृषि सम्बन्धी उत्पादन, (ब) धातु व खनिज पदार्थों का उत्पादन, (स) औद्योगिक उत्पादन।

(अ) **कृषि सम्बन्धी उत्पादन** (Agricultural Production)–भारतवर्ष के कुल कृषि-उत्पादन में कुछ वृद्धि होती जा रही है। सन् १९०० में हमारे देश में लगभग १५·६ करोड़ एकड़ भूमि में कृषि होती थी परन्तु १९४९ में लगभग २४½ करोड़ एकड़ भूमि में धान व अन्य चीजें बोई जाती थीं। इस प्रकार गत ५० वर्षों में लगभग ९ करोड़ एकड़ अधिक भूमि में खेती होती है जिससे स्पष्ट है कि हमारे कृषि सम्बन्धी उत्पादन में अवश्य वृद्धि हुई है। यह अनुमान लगाया गया है कि यदि कुल खेती में से एक एकड़ भूमि में निर्यात के लिये वस्तुओं का उत्पादन होता है तो इस प्रकार की प्रति एकड़ भूमि के पीछे लगभग ११ एकड़ भूमि का उत्पादन आन्तरिक उपभोग के काम में आता है। इससे भी स्पष्ट है कि हमारे बढ़ते हुए विदेशी व्यापार के साथ साथ देशान्तर्गत व्यापार की मात्रा भी बहुत अधिक है।

(ब) **धातु व खनिज पदार्थों का उत्पादन**—(Mineral Production)—यह अनुमान लगाया गया है कि सन् १९०० में धातु व खनिज पदार्थों का कुल उत्पादन लगभग ७½ करोड़ रुपये के बराबर था।

सन् १९४८ में यह बढ़कर लगभग ६० करोड़ रुपये के बराबर हो गया। यदि हम कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं तो उक्त वृद्धि स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणतः १९०० में हमारे देश में ६१ लाख टन कोयला निकाला गया परन्तु १९४९ में इसकी मात्रा बढ़कर ३१० लाख टन हो गई थी।

(स) **औद्योगित उत्पादन** (Industrial Production) में भी अधिक वृद्धि हुई है। कुटीर व छोटे पैमानों के उद्योगों को सही आँकड़े नहीं मिलते हैं। परन्तु बड़े पैमाने के उत्पादन के आँकड़ों से पता चलता है कि उसमें अधिक वृद्धि हुई है जिससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि इसके साथ साथ अन्य क्षेत्रों में भी उत्पादन की वृद्धि हुई होगी। बड़े पैमाने के उत्पादन की वृद्धि का अनुमान उसके कर्मचारियों की संख्या की वृद्धि से लगाया जा सकता है। सन् १९०० में लगभग ७ लाख २० हजार व्यक्ति बड़े पैमानों के उद्योगों में लगे हुए थे परन्तु १९४९ में उनकी संख्या बढ़कर लगभग २१ लाख हो गई थी। यदि हम किसी विशेष वस्तुओं के उत्पादन पर ध्यान दें तो उक्त परिणाम की पुष्टि होती है। सूती कपड़े का उत्पादन इस समय में १८० करोड़ गज से बढ़कर ४०० करोड़ गज हो गया है। पटसन की बनाई हुई वस्तुओं का उत्पादन ६ लाख टन से बढ़कर १३ लाख टन हो गया है। इस्पात (Steel) का उत्पादन ३५ हजार टन से बढ़कर ९½ लाख टन हो गया है। १९०० में देश में चीनी की मिलें नहीं थीं और हम अपने उपभोग के लिये चीनी विदेशों से मँगाते थे। परन्तु अब हमारा देश चीनी में लगभग स्वावलम्बी हो गया है और चीनी के कारखानों का कुल उत्पादन अब लगभग १० लाख टन है।

(४) **देश में यातायात और संवाद-साधनों का विकास** (Development of Means of Transportation and Communication)—देश में यातायात और संवाद साधन जितने अधिक होंगे वहाँ विनिमय और व्यापार भी अधिक मात्रा में होगा। यातायात और संवाद साधन रेलों, सड़कों, नहरों और वायु-मार्गों के विकास पर निर्भर हैं। भारतवर्ष में सन् १९०० में कुल रेलों की लम्बाई लगभग १९ हजार मील थी और सन् १९४९ में यह लम्बाई बढ़कर ३७ हजार मील हो गई थी। अर्थात् गत पचास वर्षों में रेल यातायात का प्रसार दुगुना हो गया है। यह विकास रेलों के द्वारा ले जाये गये माल की मात्रा से भी स्पष्ट हो जाता है। सन् १९०० में भारतवर्ष की रेलों के द्वारा लगभग ३६० लाख टन माल लाया ले जाया गया। सन् १९४८-४९ में इसकी संख्या बढ़कर ८२५ लाख टन हो गई थी। सड़कों के द्वारा यातायात में भी अधिक उन्नति हुई है।

सन् १९०० में यहाँ मोटरों का प्रयोग लगभग नहीं था परन्तु १९४९ में लगभग १ लाख ८० हजार मोटरें रजिस्टर्ड थीं जिसमें से ४० हजार से अधिक सामान लाने ले जानेवाले ठेले थे। इससे स्पष्ट है कि सड़कों द्वारा जो व्यापार होता है उसमें महत्वपूर्ण वृद्धि हुई होगी। सड़कों की लम्बाई भी इस समय में लगभग ६० हजार मील बढ़ गई है जो निम्न कोष्टक से स्पष्ट है :—

	सन् १९०० में	सन् १९४५ में
पक्की सड़कें (मीलों में)	४७,०००	७८,९६०
कच्ची सड़कें (मीलों में)	१२९,०००	१५७,५७५

वायु-मार्ग से यातायात को अभी कुछ वर्ष ही हुए हैं। अभी तक हमारे देश में इसका प्रयोग कम है तो भी इसके विकास से देशान्तर्गत व्यापार में वृद्धि ही हुई है।

नहरों द्वारा जो व्यापार किया जाता है उसमें गत ५० वर्षों में कुछ वृद्धि नहीं हुई है जिसका कारण सड़कों और रेलों की प्रतिस्पर्धा है। सन् १९०० में यातायात के लिये लगभग ३ हजार मील लम्बी नहरें थीं। ऐसी नहरों की लम्बाई सन् १९४८ में बढ़कर लगभग ५ हजार मील हो गई थी। यातायात की नहरों की लम्बाई बढ़ने पर भी नावों की संख्या में कुछ वृद्धि नहीं हुई और वे लगभग १ लाख ८० हजार पर स्थिर रहीं। सन् १९०० में लगभग २० लाख टन माल नहरों द्वारा लाया ले जाया गया परन्तु अब इसकी मात्रा लगभग १९ लाख टन है। नहरों द्वारा व्यापार में मद्रास प्रान्त ही सदा प्रमुख रहा है और सन् १९४८ में मद्रास प्रान्त में ही लगभग १७ लाख टन माल नहरों द्वारा लाया ले जाया गया।

सन् १९०० में रेल और नदियों के द्वारा किये गये व्यापार की मात्रा लगभग ४२० लाख टन थी, जिसका मूल्य ५९० करोड़ रुपये था। १९२०-२१ में देश के देशान्तर्गत व्यापार की संख्या बढ़कर १५०० करोड़ रुपये हो गई थी। इस वर्ष के उपरान्त रेल और नदियों के द्वारा किये गये व्यापार के मूल्य के आँकड़े नहीं मिलते हैं। परन्तु कुछ प्रमुख वस्तुओं के व्यापार पर विचार करके हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि देशान्तर्गत व्यापार में किस ओर परिवर्तन हुआ है। कुछ वर्ष पूर्व देश में चीनी बिल्कुल नहीं बनती थी जिस कारण गन्ने का उत्पादन कम था और वह केवल गुड़ बनाने के काम में ही आता था। परन्तु चीनी की मिलों की स्थापना के बाद अब चीनी में हमारा देश लगभग स्वावलम्बी हो गया है। चीनी के उत्पादन की वृद्धि के कारण गुड़ का व्यापार कुछ कम हो गया है परन्तु चीनी के व्यापार में उसकी अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है। इसी

प्रकार कुछ वर्ष पूर्व हमारे देश में विलायती व जापानी सूती कपड़ा बहुत आता था परन्तु अब कपड़े का उत्पादन देश में ही होता है। इसी प्रकार लोहे इस्पात, कोयले इत्यादि का उत्पादन भी बहुत बढ़ गया है और इन वस्तुओं का देशान्तर्गत व्यापार भी पहले की अपेक्षा अधिक है।

सारांश यह है कि नहरों के व्यापार में कुछ कमी हुई है परन्तु इस कमी का कुछ महत्व नहीं है क्योंकि हमारे देश में यातायात के मुख्य साधन सड़क और रेलें हैं और उनके द्वारा देशान्तर्गत व्यापार में बहुत वृद्धि हुई है।

(५) **देश की आर्थिक स्थिति**—यदि देश की आर्थिक उन्नति हो रही है तो उसका देशान्तर्गत व्यापार भी वृद्धि कर रहा होगा और देश का आर्थिक पतन हो रहा है तो यह संभव है कि वहाँ के व्यापार में भी ह्रास हो। हमारे देश में गत शताब्दियों की अपेक्षा शांति और व्यवस्था का प्रचार है। अन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई है और नये नये कारखाने और उद्योग-धन्धे स्थापित हुए हैं। बैंकिंग प्रणाली ने भी अधिक उन्नति की है। विदेशी व्यापार भी बहुत बढ़ गया है जिससे भी देशान्तर्गत व्यापार ने उन्नति की है; क्योंकि आयात की वस्तुएँ बन्दरगाह से देश के आन्तरिक भागों में बाँटनी पड़ती हैं और निर्यात की वस्तुएँ भी उत्पादन के स्थानों से व्यापार के केन्द्रों को और वहाँ से बन्दरगाहों को और तभी वह दूसरे देशों को भेजी जाती हैं। इन सब कारणों पर विचार करने से यही स्पष्ट होता है कि हमारा देशान्तर्गत व्यापार पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है और उसकी संख्या विदेशी व्यापार से कई गुनी है। यह भी हर्ष की बात है कि हमारा देशान्तर्गत व्यापार अधिकतर हमारे देशवासियों के ही हाथ में है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि बर्मा के अलग होने व देश के विभाजन से हमारे देशान्तर्गत व्यापार में कुछ कमी हुई और विदेशी व्यापार में वृद्धि। जो नाज पहले बर्मा से आता था या जो नाज पटसन, सूत इत्यादि पाकिस्तान से आता था या जो माल हम इन देशों को भेजते थे वह देशान्तर्गत व्यापार का भाग था परन्तु अब वह विदेशी व्यापार का भाग है।

तटीय व्यापार

यह हर्ष की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त हमारी सरकार ने तृतीय व्यापार केवल राष्ट्रीय जहाजों के लिये सुरक्षित कर दिया है। हमारे देश का तट बहुत लम्बा है परन्तु वह ब्रिटेन के तट के बराबर कटा-छँटा नहीं है। इस कारण हमारे देश के विस्तार और उसके तट की लम्बाई को देखते हुए यहाँ अच्छे बन्दरगाहों का अभाव है। तटीय व्यापार

में जहाजों की भी कमी है। निम्न कोष्टक में भारत का तटीय व्यापार दर्शाया गया है :—

	(करोड़ रुपयों में)	
	प्रथम महायुद्ध के पूर्व का वार्षिक औसत	१९३९–४०
कुल तटीय व्यापार	७०	६०
बम्बई प्रान्त	३२	२९
बंगाल प्रान्त	१९	११
मद्रास प्रान्त	१७	१८

इससे स्पष्ट है कि तटीय व्यापार में कुछ कमी हुई है। द्वितीय महायुद्ध में भी इस व्यापार की मात्रा में अवश्य कमी हुई होगी क्योंकि युद्ध के समय में जहाजों की अधिक कमी थी और दुश्मन की पनडुब्बियों के आक्रमण का डर भी रहता था। परन्तु हमारा विचार है कि शान्ति की स्थापना के बाद तटीय व्यापार की मात्रा फिर बढ़ गई होगी क्योंकि जहाजों की संख्या में वृद्धि हुई है। अब तटीय व्यापार की मात्रा लगभग युद्ध के पूर्व की संख्या के बराबर होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अनेक लाभ हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) यह एक विनिमय का कार्य है जिससे दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता प्राप्त करना सम्भव है जिससे विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन उन्हीं स्थानों पर होता है जहाँ उनकी उत्पत्ति सस्ते मूल्य पर हो सकती है। इससे लागत कम होती है और मूल्य भी कम होते हैं जिससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है। अधिक माँग होने से (क्योंकि अब देश के ही लिये नहीं परन्तु विभिन्न देशों के लिये उत्पादन होता है) उत्पादक भी अधिक मात्रा में उत्पादन करते हैं और बड़े पैमानें की सुविधाओं का पूर्ण उपयोग कर सकते हैं और अपनी लागत घटा सकते हैं। इससे प्रत्येक देश का भला होता है।

(३) कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके उपभोग से हम विहीन रह जाते क्योंकि उनका उत्पादन हमारे देश में नहीं होता और उनको हम अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार द्वारा ही प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार कुछ वस्तुओ का उत्पादन दूसरे देशों में हमारी अपेक्षा कम लागत पर होता है जिससे हम उन वस्तुओं को सस्ते भावों पर खरीद सकते हैं। पटसन पर भारतवर्ष का प्राकृतिक अधिकार है और अन्य देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही इस वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह हम रेडियो, मोटर, रेल के इञ्जन, मशीनें इत्यादि दूसरे देशों से मँगाते थे जब कि उनका उत्पादन हम स्वयं नही कर सकते थे। टिन, सोना, चाँदी कुछ आवश्यक दवाइयाँ, मशीनें, टेकनीकल कार्यक्षमता इत्यादि के लिये अब भी हम विदेशो पर निर्भर है। आधुनिक अनाज की कमी भी हम दूसरे देशों से नाज मँगाकर ही पूरी कर सकते है अन्यथा हमारे लाखों भाई भूखों मर जाँय।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा हम दूसरे देशो के वैज्ञानिक आविष्कारो का लाभ उठा सकते है। इन आविष्कारों द्वारा वह नयी और अच्छी वस्तुएँ बनाते है जिनको हम व्यापार द्वारा प्राप्त कर सकते है। अन्य देशो के वैज्ञानिक आविष्कारो के ज्ञान के कारण ही हमने मोटर, रेल के इञ्जन, रेडियो, बिजली का पखा इत्यादि बनाना प्रारम्भ किया है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अन्य राष्ट्रों में मित्रता के सम्बन्ध स्थापित होते हैं। व्यापारी सम्बन्ध से हम एक दूसरे को समझने लगते है और दूसरे देशों की समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करते है जिससे उनके सुलझाने में सहायक हो सकते है।

भारतवर्ष में उक्त लाभों के अतिरिक्त आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अधिक महत्व है। हमारे औद्योगिक विकास के लिये हम विदेशों पर टैकनिकल कार्यक्षमता, मशीनें और आवश्यक कच्चे माल पर निर्भर है। हम अभी तक मशीनें नही बनाते है और न उनके बनाने का टैकनिकल ज्ञान हमारे पास है। इस कारण हम विदेशो पर अधिक निर्भर है। परन्तु ये वस्तुएँ हम तभी मँगा सकते है जब हम विदेशों को वस्तुओं का निर्यात करें और उसके द्वारा प्राप्त किये धन से उक्तलिखित वस्तुओ को मँगायें।

भारतवर्ष का विदेशी व्यापार*
(India's Foreign Trade)

हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अत्यन्त प्राचीन काल से करते आये है। यह व्यापार प्राचीनकाल में भी हम जल व स्थल मार्गो से करते थे और दूर दूर के देशों जैसे चीन, बेबिलोन, यूनान, रोम इत्यादि से माल मँगाते और भेजते थे। ढाका की मलमल दूर दूर प्रसिद्ध थी और इसके अतिरिक्त

* इस विषय पर पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए मेरा निबन्ध श्री पी. सी. जैन द्वारा सम्पादित पुस्तक Industrial Problems of India में देखिए।

हम हीरे, मोती, हाथी दाँत, मसाला इत्यादि भेजते थे। हम टीन, शीशा, ताँबा, पीतल, सोना, चाँदी और घोड़े इत्यादि विदेशों से मँगाते थे। भारतवर्ष की अन्य वस्तुएँ बहुत प्रसिद्ध थी जिससे केप आफ गुड होप के मार्ग की खोज के उपरान्त अन्य पाश्चात्य देशों ने भारतवर्ष से व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न किया। १८३९ में स्वेज कैनाल के बनने से व्यापार में और भी उन्नति हुई और साथ ही साथ हमारे देश में भी यातायात के साधनों ने उन्नति की और मुगल साम्राज्य के पतन के बाद जो उथल-पुथल हुई वह रोक दी गई और शांति तथा व्यवस्था स्थापित हुई। प्रारम्भ में हमारे विदेशी व्यापार में अधिकतम भाग ब्रिटेन का था परन्तु १९वीं शताब्दी के अन्त में हमारा व्यापार जर्मनी, जापान और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र से भी होने लगा। प्रथम महायुद्ध में जापान और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र (यू० एस० ए० U. S. A.) से व्यापार की मात्रा अधिक बढ़ गई और उसके उपरान्त हमारा व्यापारिक सम्बन्ध इन देशों से बढ़ता ही रहा। परन्तु तब भी हमारे विदेशी व्यापार में ब्रिटेन का मुख्य भाग है।

गत वर्षों में **द्वितीय महायुद्ध, स्वतन्त्रता और देश-विभाजन** का हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। द्वितीय महायुद्ध के समय हमारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जर्मनी, इटली, जापान व उन देशों से जिन पर इन राष्ट्रों का अधिकार हो गया था बन्द हो गया। मित्रराष्ट्रों से भी आयात की मात्रा बहुत घट गई जिस कारण भारतीय उद्योगों को उन्नति करने का अवसर मिला। जो सफलता स्वदेशी आन्दोलन कई वर्षों में प्राप्त न कर सका था वह युद्ध के कारण थोड़े समय में ही प्राप्त हो गई। विदेशी निर्यात में कमी होने के कारण देश के अन्दर अनेक वस्तुओं का उत्पादन होने लगा और जनता को विवश होकर स्वदेशी वस्तुएँ ही खरीदनी पड़ीं चाहे वह विदेशी वस्तुओं से घटिया और महँगी थीं। इस प्रकार युद्ध के कारण भारतीय उद्योगों को अधिक सहायता मिली परन्तु मशीनों और आवश्यक कच्चे माल के आयात पर बाधाएँ पड़ने के कारण भारतीय उद्योगों की उन्नति में रुकावट पड़ी। युद्ध के समय में देश का मुख्य लक्ष्य विजय प्राप्त करना था और इस कारण देश के उत्पादन के सामने भी यही मुख्य समस्या थी और निर्यात के बढ़ाने का प्रश्न गौण रहा। युद्ध के समय में हमने ब्रिटेन का ऋण ही नहीं चुकाया बल्कि वह हमारा ऋणि हो गया जिस कारण इस बात की आवश्यकता न रही कि हमारे आयात-निर्यात का अन्तर ब्रिटेन के साथ अनुकूल ही हो। स्वतन्त्रता के उपरान्त अपनी आयात-निर्यात की नीति स्वतंत्रता-पूर्वक निश्चित कर सकते हैं और हम अपने व्यापारिक सम्बन्ध नये देशों से बना सकते हैं और उन देशों से बढ़ा सकते हैं जिनसे व्यापार करने

में हमारे देश को अधिक लाभ हो। परन्तु देश का विभाजन हो जाने से कुछ नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। हमारा और पाकिस्तान का व्यापार देशान्तर्गत व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से हमारे देश में कुछ वस्तुओं, जैसे बीज और लम्बे रेशे की रूई (Medium and Long Staple Cotton) व कच्चे पटसन की कमी हो गई और कुछ वस्तुओं, जैसे खाल, की निर्यात बहुलता में कमी हो गई और कुछ अन्य वस्तुओं, जैसे अनाज में हमारा घाटा बढ़ गया। कुछ वस्तुओं जैसे साबुन, वनस्पति घी इत्यादि में हमारे देश के कारखानों की उत्पादन-शक्ति देश की आवश्यकता से अधिक हो गई जिससे इन वस्तुओं के निर्यात का प्रयत्न करना आवश्यक हो गया। सारांश यह है कि देश के विभाजन के कारण एक ओर हम पाकिस्तान पर बीच व लम्बे रेशे की रूई, कच्चा पटसन और अनाज पर निर्भर हो गये और दूसरी ओर पाकिस्तान हमारे देश पर कोयला, पटसन का तय्यार माल, सूती कपड़ा, चीनी, माचिस, लोहा और इस्पात के लिये निर्भर हो गया। इन कारणों से हमारे व पाकिस्तान के व्यापार का अधिक महत्व है।

सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग के साथ हमने भी रुपये का अवमूल्यन (Devaluation) किया।* हमारे द्वारा निर्यात की गई वस्तुएँ अमेरिका में अधिक नहीं बिकती थीं और हमारे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का अन्तर भी अमेरीका के संयुक्त राष्ट्र से हमारे प्रतिकूल था। इस कारण ब्रिटेन के साथ हमें भी अवमूल्यन करना पड़ा। अवमूल्यन के उपरान्त यू० एस० ए० से आयात कम हो गया और हमारा निर्यात उस देश को बढ़ गया जिस कारण उस देश से हमारी भुगतान की समस्या कुछ सीमा तक सुलझ गई। परन्तु पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन न किया जिससे १०० पाकिस्तानी रुपयों की विनिमय की दर १४४ भारतीय रुपयों के बराबर हो गई। हमारी सरकार ने यह दर स्वीकार नहीं की और हमारा व पाकिस्तान का व्यापार स्थगित हो गया। इस कारण हमारे पटसन के तैयार माल और सूती कपड़ों के उत्पादन में कमी हुई क्योंकि वे बहुत कुछ कच्चे माल के लिए पाकिस्तान पर निर्भर थे। कुछ समय के लिए हमारी सरकार ने पाकिस्तान से अदल-बदल का समझौता किया परन्तु उसके अन्तर्गत बहुत कम व्यापार हुआ। अंत में २६ फरवरी १९५१ को हमारी सरकार ने पाकिस्तान से एक व्यापारिक समझौता किया जो ३० जून १९५२ तक लागू है और जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान के रुपये की नई दर भारत सरकार ने मान ली।

---

* पृष्ठ ११६ भी देखिये।

गत वर्षों में हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बहुत बढ़ गई है जैसा कि निम्न सूची से स्पष्ट है :—

भारतवर्ष का विदेशी व्यापार

(करोड़ों रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल वस्तुओं का व्यापार।
१९३८–३९	१५२	१६३	३१५
१९३९–४०	१६५	२०४	३६९
१९४०–४१	१५७	१८७	३४४
१९४१–४२	१७३	२३८	४११
१९४२–४३	११०	१८८	२९८
१९४३–४४	११९	१९९	३१८
१९४४–४५	२०४	२१०	४१४
१९४५–४६	२४६	२४२	४८८
१९४६–४७	२८८	२९८	५८६
१९४७–४८	३९९	३९५	७९४
१९४८–४९	५४२	४१६	९५८
१९४९–५०	५६०	४७०	१०३०

उक्त सूची से पता लगता है कि पूर्व १० वर्षों में हमारा विदेशी व्यापार लगभग तीन गुना हो गया है परन्तु आयात व निर्यात की वस्तुओं की मात्रा (Volume) में इतनी वृद्धि नहीं हुई है। वास्तव में आयात की वस्तुओं की मात्रा में तो कुछ वृद्धि हुई है परन्तु निर्यात की वस्तुओं की मात्रा में पहले की अपेक्षा कमी हो गई है। तब भी वस्तुओं के मूल्यों में अधिक वृद्धि होने से विदेशी व्यापार द्रव्य के रूप में अधिक बढ़ गया है।

निम्न सूची में हमने दर्शाया है कि हमारे आयात निर्यात में कच्चे व तैयार माल का कितना भाग है :—

	कुल आयात का प्रतिशत			कुल निर्यात का प्रतिशत		
	१९३८–३९	१९४८–४९	१९४९–५०	१९३८–३९	१९४८–४९	१९४९–५०
खाद्य और पेय पदार्थ व तम्बाकू	१५·७	१७·८	२१·४	२३·३	२०·७	२४·५
कच्चा माल	२१·७	२४·५	२५·५	४५·१	२३·३	२२·२
तैयार माल	६०·८	५६·९	५१·३	३०·०	५५·५	५३·०

उक्त सूची से स्पष्ट है कि हमारे निर्यात में कच्चे माल का प्रतिशत कम हो गया है और आयात में कच्चे माल का प्रतिशत बढ़ गया है। दूसरी ओर तैयार माल का प्रतिशत आयात में कम हो गया है और निर्यात में बढ़ गया है अर्थात् हम पहले की अपेक्षा कच्चा माल अधिक मँगाते हैं और तैयार माल का अधिक निर्यात करते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारे उद्योगों में उन्नति हुई है क्योंकि अब हम अपने कच्चे माल को कुछ तैयार रूप में भेजते हैं।

निम्न सूची में हमने भारतवर्ष की मुख्य आयात की वस्तुएँ व उनके मूल्य दर्शाये हैं (करोड़ रुपयों में) :—

	१९३८–३९	१९४८–४९	१९४९–५०
नाज, दाल व आटा	१३·८	७३·२	९९·४
तेल	१५·६	३८·१	५९·२
कपास	८·५	६४·२	६३·३
रसायन व दवा	५·६	२८·९	१६·१
रग	४·०	१५·७	११·१
मशीन	१९·७	८०·९	१०५·५
माटर गाडिया इत्यादि	६·७	३२ ७	२३·५
सूत व सूती कपड़ा	१४·२	१७·१	१८ ४

नाज, दाल और आटा :—उक्त सूची में जो अंक दिये गये हैं वे बिल्कुल ठीक नहीं हैं क्योंकि उनमें बहुत-सा सरकार द्वारा मँगाया नाज सम्मिलित नही है और उनमें केवल जलमार्ग द्वारा आया नाज ही सम्मिलित है। १९४७-४८, १९४८-४९, १९४९-५० में हमने कुल २७ लाख टन, ३८ लाख टन और २९ लाख टन अनाज मँगाया जिसका मूल्य १०९ करोड़ रुपये, १३१ करोड़ रुपये और १०८ करोड़ रुपये था। यह नाज हमने यू० एस० ए०, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, आर्जेन्टाइन, बर्मा, ईराक, रूस व पाकिस्तान से मँगाया।

तेल :—इसमें मिट्टी का तेल, पेट्रोल, जलाने का तेल, मशीन का तेल सम्मिलित है। यह तेल मुख्यतः ईरान और बहरिन टापू से आते हैं। मशीन का तेल यू० एस० ए० से आता है। लड़ाई के पूर्व बर्मा से भी मिट्टी का तेल आता था।

कपास :—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हम बहुत थोड़ा कपास विदेशों से मँगाते थे परन्तु देश के विभाजन के कारण रूई पैदा करने वाला बहुत सा भाग पाकिस्तान में चला गया जिससे हमारे देश में बीच और लम्बे रेशेवाली रूई की कमी हो गई। अब हम कपास मिश्र, केनिया, पाकिस्तान और यू० एस० ए० से मँगाते हैं।

रसायन और दवा :—अधिकतर ब्रिटेन और यू० एस० ए० से आती हैं।

रंग :—ब्रिटेन, जर्मनी, यू० एस० ए० और स्विट्जरलैण्ड से आता है।

मशीन :—अधिकतर ब्रिटेन, यू० एस० ए० व जेकोस्लोवेकिया से आती हैं। हम अभी तक मशीनों के लिए विदेशों पर ही निर्भर हैं।

मोटर गाड़ियाँ :—ब्रिटेन, यू० एस० ए० और कनाडा से आती हैं।

सूत व सूती कपड़ा :—अधिकतर ब्रिटेन से आता है।

उक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हम कागज, काँटा-छुरी इत्यादि; कब्जे, पेच इत्यादि; ऊन व ऊनी कपड़ा; बिजली की वस्तुएँ; काँच का सामान; धातुएँ, इत्यादि भी मँगाते हैं। उक्त विवरण में हमने उन्हीं देशों के नाम दिये हैं जहाँ से वे वस्तुएँ अधिक मात्रा में आती हैं। विभिन्न वस्तुओं के सामने उन देशों के नाम पहले दिये गये हैं जहाँ से अधिक मात्रा में वे वस्तुएँ आती हैं और उनके पश्चात् उन देशों के नाम दिये गये हैं जहाँ से उनकी अपेक्षा कम मात्रा में वे वस्तुएँ आती हैं।

निम्न सूची में हमने यह दर्शाया है कि हमारे आयात में किन देशों का अधिक भाग है।

आयात (करोड़ रुपयों में)

	१९३८-३९	१९४८-४९	१९४९-५०
ब्रिटेन	४६·५	१५२·४	१४९·३
बर्मा	२४·४	१९·२	१२·९
आस्ट्रेलिया	२·४	२२·६	३४·०
पाकिस्तान	—	२२·४	१२·४
यू० एस० ए०	९·८	१०६·७	८८·०
जापान	१५·४	६·४	२१·४
मिश्र	२·२	३१·९	३९·५
ईरान	३·५	२०·५	३२·५
आयात की प्रतिशतः—			
कामनवैल्थ राष्ट्रों (Empire Countries) से	५८·१	४७·५	४६·२
अन्य राष्ट्रों से	४१·९	५२·५	५३·८

उक्त सूची से स्पष्ट है कि अब भी ब्रिटेन का हमारे आयात में मुख्य भाग है। यू० एस० ए० से हमारा व्यापार बहुत बढ़ गया है और अब हमारे आयात में उस देश का द्वितीय नम्बर है। जापान और बर्मा से लड़ाई के कारण निर्यात बन्द हो गया था परन्तु अब हमारा व्यापर उनसे

फिर बढ़ने लगा है। बर्मा में आन्तरिक झगड़ों के कारण उस देश से व्यापार में अधिक वृद्धि नही हुई है। दक्षिणी अफ्रीका से हमने व्यापार बिल्कुल बन्द कर दिया है क्योंकि उस देश में भारतवासियों के साथ अच्छा वर्त्ताव नहीं होता है। हमारा आयात आस्ट्रेलिया, मिश्र और ईरान से बहुत बढ़ गया है। हमारे आयात में कॉमेनवैल्थ राष्ट्रों की अपेक्षा अन्य राष्ट्रों का भाग बढ़ गया है।

निम्न सूची में हमने भारतवर्ष के निर्यात की मुख्य वस्तुओं को दर्शाया है।

(करोड़ रुपयों में)

	१९३८-३९	१९४८-४९	१९४९-५०
पटसन का तैयार माल	२९·३	१४६·६	१२७·०
कच्चा पटसन	१३·४	२४·०	१५·८
सूती कपड़ा	४·८	३६·२	५७·६
कपास	२४·७	१९·१	१९·३
खाल (कच्ची व पक्की)	८·६	१८·३	२४·६
बीज	१५·२	७·१	१४·८
तेल	०·७	१०·९	६·९
अबरक	१·१	५·९	६·७
मैनगनीज	१·१	१·८	५·३
चाय	२३·३	६३·७	७२·१
तम्बाकू	३·३	८·३	१०·८

पटसन का तैयार माल :—यू० एस० ए०, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, अर्जेन्टाइना, मिश्र, क्यूबा, हांगकांग, कैनाडा, बर्मा, पाकिस्तान इत्यादि को जाता है।

कच्चा पटसन :—बैल्जियम, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रान्स, इटली व यू० एस० ए० इत्यादि को जाता है।

सूती कपड़ा :—मलाया, लंका, अदन, आस्ट्रेलिया, केनिया, सूडान, नाइगेरिया, अरेबिया, टैंगैनिका, ईराक, अफगानिस्तान, पाकिस्तान इत्यादि देशों को जाता है। इन देशों से हमारे सूती कपड़े की अधिक माँग है परन्तु देश में सूती कपड़े की कमी होने के कारण पर्याप्त मात्रा में सूती कपड़े का निर्यात नहीं हो सकता।

कपास :—हमारे देश में बीच व लम्बे रेशे की रूई की कमी है परन्तु छोटे रेशे की रूई हमारे कारखानों की आवश्यकता से अधिक पैदा होती है जिससे उसका हम निर्यात करते हैं। हमारा मुख्य ग्राहक जापान है। इसके अतिरिक्त हम बैल्जियम, यू० एस० ए०, आस्ट्रेलिया इत्यादि को भी कुछ कपास भेजते हैं।

खाल (कच्ची व पक्की) :—ब्रिटेन, यू० एस० ए०, नीदरलैण्स, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान इत्यादि को भेजी जाती है।

बीज :—पहले की अपेक्षा बीज का निर्यात कम हो गया है और तेल का निर्यात बढ़ गया है। यह देश के लिए लाभदायक है क्योंकि अब खली इत्यादि देश में ही रह जाती है जो पशुओं के खाने के काम में आती है। बीज का निर्यात ब्रिटेन, नीदरलैण्ड्स, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, कैनाडा इत्यादि को होता है।

तेल :— हम वनस्पति के तेलों का निर्यात करते हैं जो बर्मा, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, इटली इत्यादि को भेजे जाते हैं।

अबरक :—यू० एस० ए०, ब्रिटेन फ्रान्स, इत्यादि को जाती है।

मैंग्नीज:—यू० एस० ए०, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रान्स इत्यादि को भेजी जाती है।

चाय:—इसका मुख्य ग्राहक ब्रिटेन है और लगभग ६०% चाय ब्रिटेन को ही जाती है। यू० एस० ए० कैनाडा, ईरान, आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड, रूस, ईराक, मिश्र इत्यादि को भी चाय भेजी जाती है। यू० एस० ए० को चाय की निर्यात बढ़ाया जा सकता है और इस कारण उस देश में भारतीय चाय का प्रयोग बढ़ाने का प्रचार किया जाता है।

तम्बाकू :—ब्रिटेन, पाकिस्तान, लंका इत्यादि को भेजा जाता है।

इन वस्तुओं के अतिरिक्त हम सूती धागा, मसाले, कोयला, गोंद, लाख, धातुएँ, ऊन व ऊनी कपड़े इत्यादि का भी निर्यात करते हैं।

निम्न सूची में मुख्य देशों को किये गये निर्यात की मात्रा दर्शायी गई है:—

(करोड़ रुपयों में)

	१६३८-३६	१६४८-४६	१६४६–५०
ब्रिटेन	५५·५	६७·७	१११·२
बर्मा	१०·०	१०·०	१३·५
लंका	५·१	११·६	१५·६
आस्ट्रेलिया	३·०	२०·६	२६·०
पाकिस्तान	—	४४·३	१३·६
य० एस० ए०	१३·६	७०·१	७७·६
जापान	१४·६	४·६	१६·१
निर्यात की प्रतिशत:—			
कॉमनवेल्थ राष्ट्रों			
(Empire Countries) को	५२·४	५१·६	५३·४
अन्य राष्ट्रों को	४७·६	४८·४	४६·६

हमारे निर्यात में अब भी ब्रिटेन का मुख्य भाग है और अब यू० एस० ए० का द्वितीय स्थान हो गया है। हमारा निर्यात आस्ट्रेलिया, लका व मिश्र, कनाडा इत्यादि को बढ़ गया है। परन्तु जापान को निर्यात की मात्रा घट

गई है। दक्षिणी अफ्रीका को निर्यात बिल्कुल बन्द है। अब भी अधिकतर निर्यात हम कॉमनवैल्थ राष्ट्रों को ही करते है।

हमारे विदेशी व्यापार के मुख्य लक्षण निम्नलिखित है :—

(१) हमारे विदेशी व्यापार में ब्रिटेन और यू० एस० ए० का बहुत बड़ा भाग है। हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर जलमार्गो द्वारा ही होता है क्योंकि जो देश हमसे स्थल-मार्गो से जुड़े है वे निर्धन और पिछड़े हुए है। स्थल-मार्गों से हमारा अधिकतर व्यापार नैपाल, अफगानिस्तान, तिब्बत और शान राज्य से होता है। नैपाल से चावल, तिल, घी, चाय और पशु, अफगानिस्तान से ऊन और फल, तिब्बत से पशम और ऊन, शान राज्य से घोड़े, खच्चर, लकड़ी इत्यादि आते है। भारतवर्ष से इन देशों को सूती कपड़ा, चाय, चीनी, नमक व अन्य मसाले, पीतल के वर्त्तन इत्यादि भेजे जाते है।

(२) लड़ाई के पूर्व हमें प्रतिवर्ष लगभग ४० करोड़ रुपये ब्रिटेन को होम चार्जेज (Home Charges) का भुगतान करने के लिए भेजने पड़ते थे। इस कारण यह आवश्यक था कि आयात निर्यात का अन्तर हमारे अनुकूल हो। द्वितीय महायुद्ध में भी यह अन्तर हमारे अनुकूल ही रहा जिस कारण हमने करोड़ो रुपयों के स्टर्लिंग पावने एकत्र कर लिए। अब यह आवश्यक है कि हम इन पावनों को मशीनें व आवश्यक कच्चा माल मँगाने में व्यय करें जिससे देश की औद्योगिक उन्नति हो।

(३) हमारे आयात में अब कच्चे माल की प्रतिशत बढ़ गई है और निर्यात में इसकी प्रतिशत घट गई है। यह देश की औद्योगिक उन्नति का चिह्न है और जैसे जैसे हमारे देश की औद्योगिक उन्नति होगी वैसे वैसे ही हमारे देश से कच्चे माल का निर्यात घटता जायेगा।

(४) भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश होते हुए भी दूसरे देशों पर अनाज के लिए निर्भर है। हम लगभग ३० लाख टन अनाज विदेशों से मँगाते है जिसपर लगभग १३० करोड़ रुपया व्यय करना पड़ता है। यह हमारे राष्ट्र की आर्थिक स्थिति में दुर्बलता का चिह्न है क्योंकि लड़ाई के समय यदि विदेशों से अनाज का आयात रुक जाय तो हमें अधिक कठिनाइयों का सामना करना होगा।

(५) हम मशीन और अनेक आवश्यक कच्चे माल और रसायनों के लिए विदेशों पर निर्भर है। यह भी निर्बलता का चिह्न है और इन वस्तुओं का उत्पादन देश में ही बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६) हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बन्दरगाहो से ही होता है। इतने बड़े देश के लिए यह आवश्यक है कि नये बन्दरगाहो का विकास किया जाय।

(७) हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशी जहाजों द्वारा होता है और अधिकतर भाग विदेशी बीमा कम्पनियों और बैंकों का है। हमारी सरकार को यह प्रयत्न करना चाहिये कि भारतीय जहाजों की संख्या बढ़े और भारतीय बीमा कम्पनियों व बैंकों द्वारा ही अधिकतर विदेशी व्यापार हो।

आधुनिक आर्थिक स्थिति को देखते हुए हमें अपने विदेशी व्यापार में परिवर्त्तन करने की अनेक योजनाएँ बनानी होंगी जिससे हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा अधिकतम लाभ उठा सकें। द्वितीय महायुद्ध के बाद स्टर्लिंग प्रत्येक विदेशी सिक्कों में परिवर्तित नहीं हो सकता है। इस कारण केवल यही आवश्यक नहीं है कि हमारे निर्यात की मात्रा आयात की मात्रा के बराबर हो और हमारे विदेशी भुगतान का लेन-देन बराबर हो जाय। अब यह भी आवश्यक है कि हमारे निर्यात की मात्रा यू० एस० ए० व अन्य डॉलर-प्रदेशों को कम से कम उन देशों के द्वारा हमारे देश को आयात की मात्रा के बराबर हो जिससे उन देशों से हमारे भुगतान का लेन-देन बराबर हो सके। इसके अतिरिक्त भी हमें यू० एस० ए० को निर्यात की मात्रा बढ़ानी चाहिये क्योंकि उस देश के पास वह मशीनें व अन्य वस्तुएँ हैं जिनपर हमारी औद्योगिक उन्नति निर्भर है।

देश के विभाजन होने के कारण हम पटसन का कच्चा माल और बीच व लम्बे रेशे की रूई के लिए पाकिस्तान पर निर्भर हैं इसलिए यह आवश्यक है कि हम इन वस्तुओं व अनाज का उत्पादन अपने देश में बढ़ायें जिससे हम इन आवश्यक वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भर न रहें। इन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने से इनकी खपत देश में ही हो जायेगी और उनके बेचने के लिए हमें विदेशी ग्राहक नहीं खोजने पड़ेंगे।

साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हम अपने विदेशी व्यापार की नीति को ऐसा बनाए जिससे हमारे औद्योगिक विकास में सहायता मिले। इस कारण हमको अनावश्यक वस्तुओं का आयात रोकना होगा और उत्पादन में वृद्धि करके निर्यात की मात्रा बढ़ानी होगी जिससे हम आवश्यक मशीनें, कच्चा माल, रसायन व चतुर टैकनिशियन विदेशों से मँगा सके।

आयात-निर्यात और भुगतान का अन्तर

जब हम केवल वस्तुओं के आयात व निर्यात का ही अनुमान लगाते हैं तो उस आँकड़े को आयात निर्यात का अन्तर (Balance of Trade) कहते हैं। जब आयात की मात्रा निर्यात से कम होती है तो यह अन्तर अनुकूल (Favourable) होता है। और जब आयात की मात्रा निर्यात से अधिक होती है तो यह अन्तर प्रतिकूल (Unfavourable) होता है। केवल वस्तुओं के आयात निर्यात को दृश्य (Visible) आयात निर्यात कहते है। इसके

अतिरिक्त देशों में अदृश्य (Invisible) आयात-निर्यात भी होता है जैसे यदि एक देश दूसरे देश को ऋण देता है तो यह ऋण देनेवाले देश के लिये अदृश्य आयात हुआ और ऋण लेनेवाले देश के लिये अदृश्य निर्यात। इसी प्रकार जब हम विदेशों को ऋण पर व्याज चुकाते हैं या हमारे विद्यार्थी दूसरे देशों में पढ़ते है या हमारे देशनिवासी दूसरे देशों में भ्रमणार्थ जाते हैं तो उनके व्यय के लिए हमको रुपया बाहर भेजना पड़ता है तो यह हमारे लिए अदृश्य आयात है और उन देशों के लिए अदृश्य निर्यात। जो विदेशी व्यक्ति अपने बचत या नफा हमारे देश से अपने देशों को भेजते हैं या जो विदेशी बैंक बीमा या जहाज की कम्पनियाँ अपनी कमाई हमसे लेकर अपने देशों को भेजती हैं वह भी हमारे देश के लिए अदृश्य आयात है और उन देशों के लिए अदृश्य निर्यात। इसके विपरीत जब हम विदेशों से व्याज वसूल करते हैं या विदेशी यात्री यहाँ आकर व्यय करते हैं तो यह हमारे लिए अदृश्य निर्यात है और उन विदेशों के के लिए अदृश्य आयात है।

जब हम वस्तुओं के आयात-निर्यात के अन्तर में अदृश्य आयात निर्यातों की मात्रा भी सम्मिलित कर देते हैं और उन दोनों का अन्तर निकालते हैं तो उसको भुगतान का अन्तर (Balance of Payment) कहते हैं। यदि इस अन्तर के अनुसार हमें विदेशों से कुछ रुपया लेना है तो यह भुगतान का अनुकूल अन्तर कहलाता है और जब इस अन्तर के अनुसार हमको कुछ रुपया दूसरे देशों को देना होता है तो यह भुगतान का प्रतिकूल अन्तर कहलाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. देशान्तर्गत व्यापार, तटीय व्यापार और विदेशी व्यापार में अन्तर समझाइये। भारत के तटीय व्यापार पर संक्षिप्त में प्रकाश डालिये।
२. भारत के देशान्तर्गत व्यापार पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।
३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आप क्या समझते हैं? इसके मुख्य लाभ समझाइये।
४. भारतवर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुख्य लक्षण समझाइये।
५. भारतवर्ष में आयात की मुख्य वस्तुएँ क्या हैं और वे कहाँ से आती हैं?
६. भारतवर्ष से किन वस्तुओं का निर्यात होता है? ये वस्तुएँ किन देशों को भेजी जाती हैं?
७. "आयात-निर्यात का अन्तर" और "भुगतान के अन्तर" में अन्तर समझाइये।

अध्याय ३६

यातायात (Transport)

यातायात के साधनों से मनुष्य अत्यन्त प्राचीनकाल में भी परिचित था। इसके विकास की ओर उन्होंने सदा प्रयत्न किये जिसका प्रमाण मोहन-जोदेड़ो और हड़प्पा की खुदाई करने से मिले हैं। इतिहास के उस प्राचीन-काल में भी पक्की सड़क और नाली इत्यादि की योजनाएँ थीं और उन्हें नगरों की शोभा और यातायात की सरलता के लिये इतनी सफलता से कार्यान्वित किया गया था। यदि इस दृष्टि से सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास को ध्यान में रखकर भारतवर्ष के सात लाख गाँवों की ओर देखें तो विदित होगा कि उनमें अभी मोहनजोदेड़ो और हड़प्पा की सभ्यता तक पहुँचने की भी क्षमता नही आ पाई है। यातायात के विचार से भी वे बहुत पिछडे हुए हैं। यातायात के साधनों में विज्ञान की सहायता से काफी उन्नति हुई है। गधे, घोड़े, ऊँट इत्यादि जानवरों के व्यापारी-काफिलों या इनके साथ-साथ तीर्थयात्रियों के दलों की गति से विकास करते-करते मोटर, रेल, जलयान और हवाई जहाज की गति पर आज मनुष्य ने नियन्त्रण कर लिया है; संसार के अजेय प्रसार की यात्रा कुछ सप्ताहों में करने में वह सफल हुआ है; यातायात के इन साधनों से हिमालय प्रदेश का गाँव अमेरिका और यूरोप के देशों के उत्पादन का उपभोग करता है।

सांस्कृतिक पक्ष के साथ ही संसार के आर्थिक पक्ष पर यातायात के साधनों का पूरा और गहरा प्रभाव पड़ा है। यातायात के साधनों के द्वारा वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि की जाती है, अधिक उपज वाले देशों से अभावग्रस्त देशों तक विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को शीघ्र और कम व्यय पर पहुँचाया जाता है। बंगाल का जूट, जमशेदपुर का इस्पात और लोहा, बम्बई व अहमदाबाद के कपड़ों की गाँठें भारतवर्ष के उन शहरों और गाँवों के उपभोग के काम में लाये जाते है जहाँ न ये वस्तुएँ उपजाई जा सकती हैं और न इनका खानों से निकालकर उत्पादन ही किया जा सकता है। इसी प्रकार काश्मीर के केसर, काढ़े हुए शौल का उपभोग विदेश करते हैं और विदेश की वस्तुओं का भारतवर्ष।

यातायात के साधनों से शीघ्र नष्ट हो जानेवाली वस्तुओं को शीघ्र ही आवश्यक केन्द्रों में पहुँचाया जा सकता है। फल, अण्डे, घी, दूध

इत्यादि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक नष्ट होने से पहले ही पहुँचाये जाते हैं। देश का औद्योगीकरण करने में और उत्पादन के प्राकृतिक साधनों का पूरा उपयोग करने में यातायात के साधनों से ही सफलता मिल सकती है। उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण का महत्त्व, बड़े पैमाने में उत्पादन करने के उद्देश्य की पूर्ति, उत्पादन के अनेक साधनों को बहुत कम समय में एक स्थल पर एकत्रित करने की आवश्यकता की पूर्ति एकमात्र यातायात के साधनों की व्यवस्था पर और उनकी शक्ति पर निर्भर होती है।

दो-तीन गाँवों के बीच में प्रति सप्ताह होनेवाली 'पैंठ' ने अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप ले लिया है। भारतवर्ष अपने जूट तथा अन्य खनिज पदार्थों की पैदावार को इन यातायात के साधनों से संसार के अन्य देशों में भेजकर खाद्य-सामग्री, मशीनें इत्यादि प्राप्त कर सकता है। इंग्लैण्ड अपने उद्योग-धन्धों की विशेष योग्यता से व्यापार में लाभ उठाकर अपने देशवासियों की खाद्यान्न की आवश्यकता की पूर्ति करता है। यदि यातायात के साधन न होते तो प्रत्येक देश को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वयं ही बनानी पड़तीं और इस प्रकार उत्पादन को गहरी हानि होती, दुर्भिक्ष से लाखों प्राणी मर जाते, कहीं लोहे की खानें बेकार पड़ी रहतीं और कहीं खाद्यान्न खलिहानों में सड़ता रहता।

यातायात की सुगमता से देश की उत्पादन-शक्ति तो अवश्य बढ़ती है, साथ ही बेकारी की समस्या भी हल हो जाती है; श्रम की गतिशीलता का लाभ उठाया जा सकता है; कार्यक्षमता और कार्यकुशलता में वृद्धि की जा सकती है जिससे देश की सम्पत्ति में वृद्धि होती है। उद्योगों की स्थापना से अनेक कारोबार आरम्भ हो जाते हैं, द्रव्य-बाजार (Money Market) चालू होते हैं, भूमि का मूल्य बढ़ जाता है। जमशेदपुर में लोहे और इस्पात के उद्योग की स्थापना से पहले जमीन का मूल्य अधिक नहीं था, वहाँ की जनसंख्या अधिक नहीं थी परन्तु उद्योग की स्थापना के पश्चात् वहाँ की भूमि का मूल्य कई गुना बढ़ गया है, जनसंख्या में वृद्धि हो गयी है। वहाँ की बनी वस्तु शीघ्र ही कम मूल्य पर अनेक स्थानों पर पहुँचायी जा सकती है। यही स्थिति उद्योग के अन्य केन्द्रों की भी है। इसमें एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है कि यातायात के साधनों की सहायता से वस्तुओं के मूल्य एक बड़े क्षेत्र में समान रखे जा सकते हैं। जो वस्तु इलाहाबाद में चार रुपये में प्राप्त होगी वही वस्तु अन्य बड़े शहरों में इसी मूल्य पर प्राप्त हो सकती है।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है। इसके निवासी अधिक मूल्य देकर वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकते हैं परन्तु यातायात की सुगमता से

अनेक वस्तुओं के मूल्य कम होते हैं। अमेरिका की बनी पेन्सिलों, मिल के बने कपड़ों इत्यादि का मूल्य कम होने से लोग इन्हीं का प्रयोग करते हैं। यातायात के साधनों से शीघ्र एक वस्तु को दूसरे अन्य स्थानों में पहुँचाया जा सकता है जिससे उनका प्रयोग जनता में बढ़ता है। उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है; कच्चे माल के लाने और पक्के माल को सुविधा-पूर्वक बाजारों में पहुँचाने में यातायात-व्यय कम होता है जिससे प्रति इकाई उत्पादन व्यय भी कम होता है और इस कारण मूल्य कम होने से अधिक उपभोक्ताओं तक उसकी पहुँच भी हो जाती है। यदि यातायात के साधन न होते तो यह सुविधा प्राप्त न हो सकती।

देश की आर्थिक उन्नति करने के लिये, उसके निवासियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये और उनमें शिक्षा का प्रसार करने के लिये यातायात के साधनों का विस्तार करना अत्यन्त आवश्यक है। यातायात के साधनों से समय में बहुत बचत होती है, लम्बी और खतरनाक यात्रा को सुगम और सुरक्षित बनाया जा सकता है, देश के ग्रामों का उत्पादन के तथा वितरण के केन्द्रों से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है जिससे उनकी अवस्था में काफी सुधार हो सकता है। भारतवर्ष में यातायात के साधनों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है, इसी कारण यह देश पिछड़ा हुआ है; उद्योग-धन्धों में वांछित उन्नति नहीं कर सका है, कृषिप्रधान देश होते हुए भी कृषि की दशा शोचनीय ही बनी है। भारतवर्ष में निम्नलिखित यातायात के साधन हैं :—

(१) स्थल-मार्ग (Road Transport)
(२) रेलें (Rail Transport)
(३) जल-मार्ग (Water-ways)
(४) वायु-मार्ग (Air-ways)

स्थल-मार्ग (Road Transport)

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतवर्ष में यातायात के साधनों का निश्चित योजना के अनुसार निर्माण किया गया था। धर्म की भावना से भी भारत में सड़कें और कुएँ इत्यादि बनाये गये। हिन्दू राजाओं और मुसलमानी राज्य-काल में शासन और सुरक्षा के विचार से अनेक सड़कें बनायी गयीं। मुसलमानी राज्य-काल में बनी ग्रैण्ड ट्रंक रोड अपनी लम्बाई के लिये प्रसिद्ध है। परन्तु अधिकतर सड़कें आवागमन से स्वयं बन गयीं और नष्ट होती रहीं। योजना अधिकतर राजधानी की सीमा के अन्दर ही कार्यान्वित की गयी, राजधानी के बाहर गाँवों की इस आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं दिया गया जब कि भारत शहरों का नहीं वरन् गाँवों का देश है।

भारत का आन्तरिक व्यापार अधिकतर बैलगाड़ियों, घोड़ों, खच्चरों, चँवर-गायों, ऊँट इत्यादि पर हुआ करता था। सड़कें तंग और ऊँची-नीची थी। बरसात में सडकों मे कीचड़ और दलदल होने से बैलगाडी से सामान ढोने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। यही स्थिति अब भी है।

सुरक्षा के विचार से अंग्रेजी शासन-काल में कुछ सडकों का निर्माण किया गया परन्तु उनका प्रयोग अधिकतर सेना की आवश्यकताओ के लिये ही किया जाता था। लार्ड डलहौजी जब भारतवर्ष का गवर्नर जनरल होकर आया तब उसने १८५५ मे सडकों का निर्माण करने की योजना बनायी। उसने एक सार्वजनिक-निर्माण-विभाग (Public Works Department) स्थापित किया जिसका काम सड़कों का निर्माण करना और मरम्मत इत्यादि करना था। १८४६ में भारत में रेलें भी चलने लगी थी। उनके प्रभाव से आवश्यकतानुसार सड़कों का निर्माण हुआ। स्वायत्त शासन (Local Self-Government) से सड़को के निर्माण का कार्य स्थानीय जिला-बोर्डों और म्युनिसिपिल-बोर्डों को सौंप दिया गया। इससे सड़को के निर्माण की संख्या बढ़ी। सडकों के निर्माण की आवश्यकता का प्रमुख कारण मोटर द्वारा व्यापार इत्यादि की सुविधा प्राप्त करना था। सडकों के निर्माण में उन्नति करने के लिये सरकार ने १९२७ में एक सड़क-सुधार कमेटी (India Road Development Committee) बनायी। इस कमेटी का काम निर्माण-विषयक सुझाव देना था। इसने यह मॉग की कि मोटर-स्प्रिट पर कर चार आना प्रति गैलन से बढ़ाकर छः आना प्रति गैलन कर दिया जाय। इससे होनेवाली दो आना प्रति गैलन से जो अतिरिक्त आमदनी केन्द्रीय सरकार को होगी उससे एक कोष का निर्माण किया जाय। केन्द्रीय सरकार इस कोष का १५% खोज, कोष के प्रबन्ध करने, आवश्यक योजनाओं पर विचार करने और पिछड़े क्षेत्रों तथा प्रान्तों को सहायता देने के लिये दिया जाय। शेष आमदनी प्रत्येक प्रान्त को उनके पेट्रोल के उपभोग के अनुपात में सड़क-सुधार के निमित्त दे दी जाय। इससे प्रान्तीय सरकारों को इस विषय में काफी सुविधा मिली। १९३४ में अर्ध सरकारी रूप से इण्डियन रोड्स कौंग्रेस (Indian Roads Congress) का आयोजन किया गया था जिसका प्रथम अधिवेशन १९३५ में दिल्ली में हुआ। इसके द्वारा भी सड़क-निर्माण के कार्य मे प्रगति हुई है। १९४३ में इसी विषय की एक योजना नागपुर में बनायी गयी जो नागपुर-प्लान के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के अनुसार यह सुझाव दिया गया है कि भारतवर्ष में ४००,००० मील सड़क के निर्माण की आवश्यकता है जिसका निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है:—

(१) राष्ट्रीय-मार्ग (२) प्रान्तीय-मार्ग (३) जिले की बड़ी और छोटी सड़कें (४) ग्राम्य-मार्ग । यह अनुमान लगाया गया है कि इस निर्माण में ४५० करोड़ रुपयों का व्यय होगा जिसमें निर्माण के लिये ३५० करोड़ रुपये, भूमि प्राप्त करने के लिये ५० करोड़ रुपये और पुलों का निर्माण करने के लिये ५० करोड़ रुपये लगेंगे।

वर्तमान में भारतवर्ष में चार प्रमुख सड़कें हैं—(१) ग्रैण्ड-ट्रंक-रोड। यह सड़क कलकत्ता से खैबर तक जाती है। यह भारत के सड़कों के इतिहास में सबसे पहली लम्बी और टिकाऊ सड़क है। (२) मद्रास से कलकत्ता तक। (३) मद्रास से बम्बई तक। (४) बम्बई से दिल्ली तक। इन चार बड़ी सड़कों के चारों ओर अन्य सड़कों का जाल बना हुआ है। पक्की सड़कों की कुल लम्बाई ९८,००० मील है जिसमें से उक्त चार बड़ी सड़कों की लम्बाई ५,००० मील है।

भारत में सड़कों को तीन भागों में विभाजित किया गया है:—

१. प्रान्तीय सड़कें—ये बड़ी सड़कें होती हैं और एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से मिलाती हैं। इनका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार करती है।

२. (अ) जिला-बोर्ड की सड़कें—लार्ड रिपन के समय जब भारत में स्वायत्त शासन की नींव पड़ी थी तब से जिले की बड़ी सड़कों का प्रबन्ध जिला-बोर्ड स्वयं करते हैं। अब उनके अन्तर्गत सड़कों की संख्या बढ़ गयी है।

(ब) म्युनिसिपिल-बोर्ड की सड़कें—ये नगर की प्रधान सड़कें होती हैं जिनमें टूट-फूट एवं सफाई का प्रबन्ध म्युनिसिपिल-बोर्ड करती हैं। वास्तव में ये और जिला-बोर्ड की सड़कें एक ही श्रेणी में आती हैं।

३. कच्ची सड़कें—ये सड़कें एक गाँव को दूसरे गाँव से या शहर से मिलाती हैं। इनका प्रबन्ध उचित रीति से नहीं होता है जिस कारण इनकी दशा बहुत बुरी है।

भारत के पिछड़े होने का कारण यहाँ की सड़कें भी हैं। वर्तमान व्यापार इत्यादि कार्य मोटरों के द्वारा किया जा सकता है जिससे समय कम लगेगा और व्यय भी कम होगा। परन्तु भारत में मोटर की ऐसी सड़कें कम हैं जो गाँवों से निकट पड़ती हैं। अधिकतर ग्रामीण बैल-गाड़ियों का प्रयोग करते हैं। इसमें व्यय अधिक होता है और काम अधिक नहीं हो सकता है। कच्ची सड़कों पर बैलगाड़ियों के चलने से बड़े-बड़े गढ़े हो गये हैं, कहीं बालू अधिक है और बरसात में तो इन पर चलना एक समस्या हो जाती है। इसलिये ग्रामीण शीघ्र नष्ट हो जाने-

वाली वस्तुओं का उत्पादन नहीं करते हैं। उनका अधिकतर सम्बन्ध अपने निकट की मण्डियों से होता है जिससे वे एक सीमित क्षेत्र में घूमते रहते हैं और चतुर व्यापारियों से प्रायः ठगे जाते हैं। उनका रहन-सहन का स्तर गिरा हुआ है। यातायात की इस असुविधा से उनकी मनोवृत्ति पर भी प्रभाव पड़ता है। बाह्य-वातावरण से अधिक सम्पर्क न रहने से वे अंध-विश्वासी और रूढ़िवादी (Conservative) हो जाते हैं जिसका प्रभाव भारत के सारे निवासियों पर पड़ता है क्योंकि भारत के अधिकांश ग्राम इसी प्रकार के हैं।

अधिकांश ग्राम्य-सड़कों में पुल नहीं हैं। यद्यपि किसी-किसी सड़क में बरसात में अस्थायी पुल बना दिये जाते हैं परन्तु अधिकतर सड़कों से यातायात बन्द रहता है। नदी पार करने में ही भारत में बहुत से ग्रामीणों की मृत्यु हो जाती है; उनकी पशु-सम्पत्ति बह जाती है।

यातायात की इस असुविधा से शहरों की जनसंख्या में भी अवांछित वृद्धि हो गयी है। शहरों में स्थापित उद्योगों इत्यादि में काम करने के लिये अधिकतर श्रमिक निकट के ग्रामों से ही आते हैं। यदि कारखानों, मिलों, छापेखानों इत्यादि में काम करनेवाले ये सैकड़ों श्रमिक संध्या को अपने निकट के ग्रामों में जाना चाहें तो मोटर-सर्विस न होने से उन्हें शहरों में ही बस जाना पड़ता है। इससे शहर के वातावरण में वे अपने पारिश्रमिक में से जो बचत ग्राम में हो सकती है वह नहीं कर पाते हैं। यदि शहर के निकट के ग्रामों में मोटर-सर्विस चालू हो जाय तो शहर की बसी श्रमिक संख्या तो कम होगी ही, ताजी तरकारियाँ और फल इत्यादि भी शहर में पर्याप्त मात्रा में मिल सकेंगे और ग्रामीणों को इससे लाभ भी होगा और दलालों (Middle-men) के चंगुल से छूट जायेंगे।

भारत में अभी अनेक ऐसे ग्राम हैं जिनके निवासी अपने ग्राम की सीमा से बाहर नहीं जा सके हैं, विज्ञान के आविष्कारों से वे अपरिचित हैं और आर्थिक दृष्टि से शोचनीय अवस्था में हैं। अतएव भारतवर्ष की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक ग्राम में यातायात की सुविधाएँ हों। जिला-बोर्ड प्रायः दो-एक विशेष सड़कों को छोड़कर अन्य का प्रबन्ध नहीं करती है; ऐसी सड़कों को ग्राम-पंचायत के अधिकार में दिया जाय तो अच्छे परिणाम की आशा हो सकती है। सड़कों की योजना ऐसी बनायी जाय जिससे प्रत्येक ग्राम सड़क के निकट पड़े और मोटर-बस, रेल इत्यादि का पूरा लाभ उठा सके। उसके रहन-सहन के स्तर में इससे परिवर्तन आयेगा, उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी और देश की आर्थिक समृद्धि में वह अपनी पूरी शक्ति लगा सकेगा।

रेलें (Rail Transport)

यातायात के साधनों में रेल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी शक्ति बहुत अधिक होती है। यह युद्ध के समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। भारी से भारी मशीनें, पेड़ों के बड़े-बड़े तने, कच्चे माल की अपार राशि, कोयले की बहुत बड़ी मात्रा इत्यादि अनेक वस्तुएँ बड़ी सरलता से काफी लम्बी यात्रा करके निश्चित स्थान पर पहुँचाती है। लम्बी यात्रा प्रायः रेलों के द्वारा ही की जाती है। संसार के अन्य देशों में तो रेलों की बहुत अच्छी व्यवस्था की गयी है परन्तु भारतवर्ष में इसमें अधिक उन्नति नहीं हो सकी है।

सर्वप्रथम १८४४ में भारतवर्ष के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत में सुरक्षा और अंग्रेजी व्यापार को बढ़ाने के निमित्त रेल-निर्माण का प्रस्ताव अपनी कम्पनी के डायरैक्टरों के सम्मुख रखा। भारत के कच्चे माल की इंगलैण्ड में बहुत माँग थी। वह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पैनिनसुलर रेलवे कम्पनी से भारत में रेल-निर्माण का समझौता हुआ। ये कम्पनियाँ अंग्रेजी थीं। इस समझौते के अनुसार कम्पनियों की पूँजी पर सरकार ने ५% सूद की गारन्टी देने का निश्चय किया जिसके परिणामस्वरूप सरकार को लगभग १०० करोड़ रुपयों की हानि उठानी पड़ी। रेलवे कम्पनी के कार्य-कर्त्ताओं ने खूब रुपया व्यय किया था क्योंकि सूद की दर अधिक थी। १८४९ से १८६९ तक सरकार ने आठ अन्य कम्पनियों से इसी प्रकार का समझौता किया था। परन्तु १८६९ में सरकार ने अपनी पूँजी से रेलों का निर्माण करने का निश्चय किया। परन्तु लगभग १० वर्ष तक इस निश्चय के अनुसार काम करके, अकाल इत्यादि में अधिक व्यय हो जाने से, सरकार ने कम्पनियों से फिर एक समझौता किया जिसमें सूद की दर घटाकर ३½% कर दी और यह भी निश्चय किया कि एक निश्चित समय के बाद यदि सरकार चाहेगी तो कम्पनी का यह अधिकार खरीद लेगी।

प्रथम महायुद्ध से भारतीय रेल-निर्माण कार्य में बड़ी बाधाएँ पड़ीं और कम्पनियों को गहरी हानि उठानी पड़ी। कम्पनियों की व्यवस्था बिगड़ गयी।

जनता के असन्तोष का कारण यह था कि रेलवे कम्पनियाँ भारतीय उद्योगों के प्रति उदासीन थीं और उन्हें सुविधाएँ न देकर केवल अंग्रेजी उद्योग के लाभ की दृष्टि से कार्य करती थीं। उनका मुख्य उद्देश्य था कि भारत का कच्चा माल कम व्यय में बन्दरगाहों तक पहुँच जाय और अंग्रेजी तैयार माल कम मूल्य पर भारत में बिक सके। इसके साथ ही रेलवे-विभाग में अधिकतर अंग्रेज और एंग्लो-इण्डियनों को ही नियुक्त किया जाता था और भारतीय कर्मचारी को कुछ सुविधा नहीं दी जाती

थी। जब यह असन्तोष अधिक बढ़ा और कम्पनियों की हानि से सरकार की आय कम हो गयी तब १९२० में सरकार की ओर से इस विषय में छानबीन करने के लिये एक कमेटी बैठाई गई जिसे एकवर्थ कमेटी (Acworth Committee) के नाम से प्रसिद्धि मिली। कमेटी के सुझाव के अनुसार सरकार ने १९२४ में ईस्ट इण्डिया रेलवे और ग्रेट इण्डियन पैनिनसुलर रेलवे को अपने अधिकार में ले लिया। एकवर्थ कमेटी के सुझाव के अनुसार अपने पूर्व समझौते के आधार पर सरकार ने धीरे-धीरे सभी रेलों को अपने अधिकार में कर लिया है। भारतवर्ष में इस समय मुख्य निम्नलिखित रेलें चलती हैं :—

पहले कहा जा चुका है कि रेलों की व्यवस्था बिगड़ने के फलस्वरूप सरकार ने उन्हें अपने अधिकार में कर लिया था। निम्नलिखित तालिका द्वारा मुख्य रेलें, उनकी लम्बाई, सरकार के अधिकार में लेने का समय इत्यादि दिखाया गया है।

नाम	लम्बाई मीलों में (१९४५-४६) में	कुल लगी पूंजी (१९४५–४६) में	सरकार के अधिकार में लेने का समय
नार्थ वेस्टर्न रेलवे	६,८८१·२७	१,५३,०४,७०,००० रु०	१८८६
ईस्ट इण्डियन रेलवे	४,०६३·५५	१,५६,८८,००० ,,	१९२४
जी. आई. पी. रेलवे	३,५३१·२६	१,१८,५०,९९,००० ,,	१९२५
बी. बी. एण्ड सी. आई. रेलवे	३,४०४·२३	७७,४५,६५,००० ,,	१९४१
बंगाल-आसाम रेलवे	३,५५४·८१	८७,३४,३५,००० ,,	१९४१
अवध-तिरहुत रेलवे	२,६७९·६७	३०,५४,७५,००० ,,	१९४२
साउथ इण्डियन रेलवे	२,३४९·२५	४६,९२,९४,००० ,,	१९४४
मद्रास एण्ड सदर्न मरहठा रेलवे	२,९४०·३१	५६,१७,३१,००० ,,	१९४४
बंगाल नागपुर रेलवे	३,३८८·१४	८१,९१,२६,००० ,,	१९४४

उक्त विवरण के साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि सरकार ने सन् १८८४ में ईस्टर्न बंगाल रेलवे को और रुहेलखण्ड कुमाऊँ रेलवे को १९४२ में अपने अधिकार में कर लिया था। इसके साथ ही भारतवर्ष में कुछ छोटी रेलें भी चलती हैं जिनकी लम्बाई का विवरण निम्नलिखित है :—

नाम	लम्बाई मीलों में (१९४५–४६) में
बीकानेर	८८३·०५
जोधपुर	१,१२५·[illegible]
मैसूर	७३८·२७
हैदराबाद	१,३५९·९८

भारतवर्ष में रेलवे लाइनों का विस्तार सन् १९४६ में देश विभाजन से पहले निम्नलिखित था :—

		मील
चौड़ी रेलें (Broad Gauge)	...	२०,६८६·६०
मध्यम चौड़ी रेलें (Metre Gauge)	...	१६,००४·२३
सँकरी रेलें (Narrow Gauge)	...	३,८२७·०८

चौड़ी रेलों की चौड़ाई ५ फी० ६ इं० होती है। भारतवर्ष में पहले यही लाइनें बिछायी गयी थीं। मध्यम चौड़ी रेलों की चौड़ाई ३ फी० ३$\frac{3}{8}$ इं० होती है और सँकरी रेलों की चौड़ाई २ फी० ७ इं० होती है।

लाभ :—रेलों से अनेक लाभ हुए हैं। रेलें देश के अनेक भागों से होकर जाती हैं जिनकी जातियाँ तथा रहन-सहन विभिन्न होते हैं। भारत के बड़े तीर्थ भी रेलों के मार्ग में पड़ते हैं। अतएव भ्रमण के लिये या व्यापार, तीर्थयात्रा इत्यादि के लिये दूर-दूर के स्थानों में जाने के लिये रेल ही यातायात की सुगम साधन है। विभिन्न प्रकृति, जाति-पाँति के लोग रेल द्वारा की गयी यात्रा में परस्पर मिलते रहते हैं। व्यापारिक सम्बन्ध होने से एक दूसरे स्थानों में रहना पड़ता है। अतः प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से रेल मनुष्यों में एकता की भावना लाती है। भारतवासी, जिन्हें प्रायः रेल इत्यादि साधनों के द्वारा घूमने का अवसर मिला है, बाह्य-वातावरण के सम्पर्क में आने के कारण, अपने जाति-पाँति, छूत-छात की संकीर्णता को त्याग रहे हैं। भारतवर्ष की प्रगति में इस संकीर्णता से बहुत बाधा पड़ी है। अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध होने से राष्ट्रीयता की भावना को पर्याप्त बल मिला और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में इससे बड़ी सहायता मिली है। भारत के विभिन्न भागों की विचारधाराएँ, रीति-रिवाज इत्यादि के अच्छे प्रभाव ने भारतीय रूढ़िवादी समाज को परिवर्तनशील बना दिया है।

सुरक्षा और शांति के दृष्टिकोण से भी शासन को रेलों के द्वारा बड़ी सहायता मिली है। भारत में अभाग्यवश साम्प्रदायिक दंगों से जान-माल की बड़ी हानि हुई है। इस द्वेष भावना का दमन करने में और शान्ति स्थापित करने में रेलों का काफी प्रयोग किया गया।

रेलों के द्वारा देश के आन्तरिक व्यापार में बड़ी उन्नति हुई है। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का उपयोग करके देश का उत्पादन बढ़ा है। नये उद्योगों की स्थापना संभव हो सकी है। छोटे-छोटे शहर रेलों की सहायता से भारत के व्यापार एवं उत्पादन के बड़े-बड़े केन्द्रों के रूप में बदल गये हैं। वहाँ की जनसंख्या में काफी वृद्धि हो गयी है। उद्योगों के प्रसार से तथा नवीन उद्योगों की स्थापना से बेकारों को काम मिल सका है।

श्रम की गतिशीलता पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। कृषि-कार्य में इससे विशेष लाभ हुआ है। पहले एक संकीर्ण क्षेत्र में कृषक का जीवन बीतता था परन्तु अब वह अपने को एक विस्तृत क्षेत्र में पाने लगा है। उसकी उत्पादित वस्तुएँ देश के विभिन्न भागों में पहुँचती हैं और विदेश की उत्पादित वस्तु का वह उपभोग कर सकता है। इसीलिये व्यापारिक-कृषि भी चल पड़ी है। किसान इस बात को जानता है कि अमुक वस्तु की माँग बढ़नेवाली है और लाभ की दृष्टि से वह उसी का उत्पादन करना अधिक उपयुक्त समझता है। इस लाभ से वह अपने लिये भोजन इत्यादि की सामग्री खरीद सकता है। वैज्ञानिक विधियों से उत्पादन करने की शिक्षा भी परोक्ष रूप से उसे मिलती है और वैज्ञानिक यन्त्रों तथा खाद का प्रयोग अधिक सरलता से कर सकता है।

युद्ध और दुर्भिक्ष इत्यादि के समय तुरन्त आवश्यक सहायता पहुँचाने में रेलों को अपूर्व सफलता मिली है। महामारी के समय जब कि कुछ देर में बहुत जन-हानि हो सकती है इसके द्वारा डाक्टरी सहायता तुरन्त भेजी जा सकती है। रेलों ने सबसे बड़ी सहायता देश विभाजन के पश्चात् हुए साम्प्रदायिक दंगों में की। लाखों आदमियों को कुछ सप्ताहों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया। शरणार्थियों की बिगड़ी दशा को सुधारने में, उनको सुरक्षित लाने-ले जाने में अन्य साधन इतने सफल नहीं हो सकते थे।

रेल-विभाग बहुत बड़ा विभाग है। इसके अनेक कारखाने चलते हैं। इसमें हजारों श्रमिक और कर्मचारी काम करते हैं जिससे बेकारी की समस्या बिगड़ने नहीं पाती है।

हानियाँ :—रेलों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य भारत के कच्चे माल को विदेश भेजकर वहाँ के तैयार माल को कम मूल्य में भारत में बेचना था। उसका उद्देश्य शुद्ध व्यापारिक था और एकांगी लाभ से प्रेरित। भारत का अधिकांश कच्चा माल जिसके उत्पादन से भारत में कई कार-खाने चल सकते थे सस्ते मूल्य पर विदेश भेजने में रेलों से सहायता ली गयी।

विदेशी माल सस्ता होने से घरेलू उद्योग-धन्धों को गहरी हानि पहुँची, क्योंकि मशीन के बने माल से हाथ का बना माल अच्छा नहीं था और अधिक मूल्य का भी।

यातायात की इस सुविधा से नये उद्योगों की स्थापना होने से शहरों तथा उत्पादन-केन्द्रों की जनसंख्या अधिक बढ़ गयी है, वहाँ स्वच्छता नहीं है और इससे बीमारियाँ अधिक होती हैं और मृत्यु भी। इसके साथ ही रेल में यात्रा करने से विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रेलों की स्थापना विदेशी कम्पनियों के हाथ में थीं जिनके पास कोई निश्चित योजना नहीं थी जिसके आधार पर देश की आर्थिक उन्नति की जा सकती। उनकी दृष्टि में सैनिक महत्व के स्थान और कच्चे माल की प्राप्ति के सिवाय और कुछ न था जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से मुख्य व्यापारी और उत्पादक नगर रेल-मार्ग से दूर पड़ गये, अनुपयुक्त स्थानों को महत्व मिला जिससे देश के उत्पादन और व्यापार में हानि हुई है।

यदि उक्त हानियों पर विचार करें तो विदित होगा कि प्रायः वे सब रेल-व्यवस्था की हानियाँ हैं, स्वयं रेलों की नहीं। स्वतंत्र भारत में रेलों के प्रसार की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यात्रियों की बढ़ती संख्या, यात्रा-कष्ट इत्यादि को सुधारने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। भारत को रेल के इञ्जन अमेरिका इत्यादि देशों से मँगाने पड़ते थे और आवश्यकता अधिक होने पर अनुचित शर्तों तक को मानने के लिये विवश होना पड़ता था। परन्तु अब इञ्जन बनाने के एक नवीन कारखाने की स्थापना हो चुकी है और आशा की जाती है कि निकट भविष्य में भारत का बहुत-सा धन विदेश न जाकर स्वदेश के उद्योग को बढ़ाने में सहायक होगा।

रेल-स्थल-मार्ग प्रतिस्पर्धा (Rail-Road Competition) :—यदि भारत के यातायात की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि न स्थल-मार्ग के यातायात का विकास हो पाया है और न रेल-मार्ग के यातायात का। परन्तु दोनों यातायात के साधनों में अपनी प्रारम्भिक स्थिति में ही प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गयी है।

प्रतिस्पर्धा एकदम बुरी नहीं कही जा सकती है परन्तु रेल और स्थल-मार्ग की प्रतिस्पर्धा अवश्य हानिकारक थी। भारत सरकार ने रेल की पटरियाँ बिछाने और सड़कें बनाने में किसी निश्चित योजना को ध्यान में नहीं रखा था जिसका उद्देश्य देश की आर्थिक समृद्धि होती। भारत का स्थल-मार्ग का यातायात अधिकतर मोटरों के द्वारा होता है। ऐसे प्रदेशों में जहाँ रेलें नहीं जा सकी हैं मोटर सड़कों का निर्माण हो रहा है। पहले मोटर की पक्की सड़कें प्रायः रेलवे लाइन के बराबर बनी थीं। रेल को निश्चित स्थानों पर निश्चित समय में पहुँचना पड़ता है। वह स्थान-स्थान पर यात्रियों की सुविधा के लिये नहीं रुक सकती है वरन् यात्रियों को उसके कार्यक्रम (Time Table) के अनुसार अपनी सुविधाएँ बनानी पड़ती हैं। मोटरें यात्रियों की इच्छानुसार रोकी जा सकती हैं। यहाँ तक कि यात्रियों के घर तक पहुँचाया जा सकता है। अतएव किसानों तथा अन्य व्यापारियों ने अपनी अधिक सुविधा मोटर के यातायात में समझी। यदि मोटर सड़क गाँव के पास से जाती है तो ग्रामीण-जन

अपने सामान के साथ सड़क पर रुके रहते हैं और मोटर आने पर अपने सामान का मण्डियों या अन्य बाजारों में क्रय-विक्रय करके उसी सुविधा से लौट सकते हैं। यह सुविधा रेल से नहीं मिल सकती है।

मोटर-बस का कार्यक्रम स्थिर नहीं होता है। वह सुविधानुसार बदला जा सकता है। इसलिये लम्बी यात्रा भी बिना रुके की जा सकती है और कम दूरी की यात्रा तो रेलों से अवश्य शीघ्र की जा सकती है। व्यापारियों को इससे सुविधा रहती है और आसानी से कम मात्रा में सामान ला और ले जा सकते हैं; रेलों में सामान के चुरा जाने और टूट-फूट जाने का भय बना रहता है परन्तु मोटरों में यह आशंका कम रहती है क्योंकि इसमें एक व्यक्ति—ड्राइवर—पर पूरा उत्तरदायित्व आ जाता है।

ग्रामों और शहरों के लिये मोटर ही उपयुक्त साधन है। इतने विभिन्न स्थानों पर मोटर की अपेक्षा रेलों को नहीं चलाया जा सकता है। शहर के सभी मार्गों पर और गाँवों के पक्के मार्गों पर मोटरें सदा चलती रहती हैं। इससे जनता के अधिक निकट होने से इनका प्रयोग भी खूब होता है।

व्यय के दृष्टिकोण से रेलों के बनाने, लाइनें बिछाने, स्टेशन, स्टाफ इत्यादि का पूरा प्रबन्ध करने में बहुत अधिक व्यय होता है और समय भी काफी लगता है। परन्तु स्थल-मार्गों के निर्माण में व्यय कम होता है और समय भी कम लगता है। मोटर गाड़ियों के दाम भी रेल की अपेक्षा बहुत ही कम होते हैं। इस कारण मोटरों का प्रचार अधिक हुआ है।

स्थलमार्ग के यातायात के साधन मोटर की इन्हीं सुविधाओं से रेलों को गहरी हानि उठानी पड़ी। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त सारे संसार के व्यापार में एक मन्दी (Depression) सी छा गयी थी। आन्तरिक अव्यवस्था और मोटरों की लोकप्रियता से रेलों को १९२९ में बहुत हानि हुई। इस हानि को रोकने में रेलों को असमर्थ देखकर १९३२ में सरकार ने एक कमेटी इस विषय में छानबीन करने के लिये नियुक्त की। १९३३ में उसने अपनी रिपोर्ट पेश की और यह सुझाव दिया कि मोटर-बसों पर कठोर नियन्त्रण रखा जाय। इसके उपरान्त इसी समस्या के कारण सरकार ने केन्द्र में एक नये विभाग का—यातायात विभाग (Department of Communication) का—निर्माण किया और एक मन्त्री को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया। रेलें, सड़कें, जल-मार्ग, स्थल और हवाई-मार्ग तथा डाक व तार विभागों को इस विभाग के अधीन कर दिया गया जिससे सबकी उचित व्यवस्था की जा सके और यह प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाय। १९३७ में एक अन्य कमेटी ने इसी विषय पर विचार करके सरकार को यह सलाह दी कि रेलों को सुरक्षा (Protection) देने के लिये मोटरों पर नियन्त्रण लगाया

जाय; लाइसैन्स प्रथा आरम्भ की जाय और उसके कार्यों का निरीक्षण किया जाय। इसी से प्रभावित होकर सन् १९३९ में एक मोटर एक्ट बना जिसके अनुसार मोटर यातायात पर नियन्त्रण रखने के लिये प्रादेशिक यातायात अधिकारी (Regional Transport Authority) नियुक्त किये गये। मोटरों को परमिट दिया जाने लगा; स्वत्रियों की संख्या तथा सामान की मात्रा निश्चित कर दिये गये; मोटरों की अधिकतम गति (Speed) और कार्य के घंटों को स्थिर कर दिया गया; साथ ही यह भी निश्चित कर दिया गया कि प्रति सप्ताह एक मोटर केवल ४५ घंटे काम कर सकेगी। इनके साथ ही अन्य बातें भी निर्धारित की गयीं जिनसे रेल-स्थलमार्ग की प्रतिस्पर्धा में विशेष प्रभाव पड़ा। इस प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप रेलों की व्यवस्था में विशेष परिवर्तन हो गया है और यात्रियों को अधिक सुविधा देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

रेल-मोटर के यातायात की पारस्परिक कठिनाइयों को दूर करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं। भारत के ग्रामीणों का अधिकतर सम्बन्ध व्यापारिक मण्डियों से रहता है। ग्रामों के मार्गों की अवस्था शोचनीय है और ग्रामीणों को उपज मण्डियों तक पहुँचाने में तथा आवश्यक सामान ग्रामों में ले जाने में काफी व्यय करना पड़ता है जो उनके लिये कष्टकर होता है। अतएव यह आवश्यक है कि मण्डियों के चारों ओर के ग्रामों को पक्की सड़कों से परस्पर मिला दिया जाय। उनके अन्दर की अन्य सड़कों की अवस्था सुधार दी जाय और इन ग्रामों को पक्की सड़क द्वारा व्यापारिक मण्डियों से मिला दिया जाय और इन मण्डियों को शहर और रेल के स्टेशनों से। इससे किसान अपनी उपज मोटर के द्वारा मण्डियों में लाकर बेच सकता है; यात्री सरलता से रेल के स्टेशन तक पहुँच सकते हैं और उसी प्रकार सामान तथा यात्री सरलता से ग्रामों में आ सकते हैं। इससे प्रतिस्पर्धा समाप्त ही हो जायगी और इनके पारस्परिक सहयोग से भारत के ग्रामों की उन्नति होगी, उनमें चेतना फैलेगी और वे समय के साथ चल सकेंगे।

यदि सरकार मोटर और रेल के यातायात के क्षेत्र निश्चित कर दे तो दोनों को लाभ हो सकता है। रेलों की शक्ति और उसकी अन्य जटिल कार्यवाही को ध्यान में रखते हुए रेलों का उपयोग लम्बे मार्गों में किया जाय। रेलों को अन्तर्प्रान्तीय व्यापार करने, बन्दरगाहों से बड़ी-बड़ी मिलों तथा खानों से सम्बन्ध रखने के काम में लाया जाय। यात्री अपनी सुविधानुसार इसका प्रयोग [illegible] सकते हैं। लम्बी यात्राएँ प्रायः रेल द्वारा ही की जाती हैं। शहर और ग्रामों के क्षेत्र में मोटर-बसों का उपयोग किया जाय। इससे दोनों साधनों को अधिक व्यस्त भी रहना पड़ेगा और लाभ भी होगा।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् रेलों का काम अधिक बढ़ गया है और यह आवश्यक हो गया है कि मोटर की सड़कों का विस्तार किया जाय। मोटर के द्वारा यातायात भी कई प्रान्तों की सरकारों ने अपने हाथ में ले लिया है जिससे रेल और मोटर दोनों क्षेत्रों में क्रमशः स्थिति में सुधार हुआ है।

जल-मार्ग से यातायात (Water Transport)

भारत के लिये जल-मार्ग से यातायात कोई नवीन बात नहीं है। जहाँ एक ओर प्राचीन भारत के व्यापारियों के ऊँट, घोड़े इत्यादि के काफिले स्थल की बड़ी-बड़ी दूरियाँ तय करते थे वहाँ भारतीय नावों से समुद्र के पार अनेक देशों में व्यापार करते थे। परन्तु दुःख इस बात का है कि जब संसार के अन्य देश विज्ञान की सहायता से इस ओर निरन्तर विकास करते गये भारत में आन्तरिक अशान्ति और दासत्व से इस ओर पतन होता रहा।

समुद्र के मार्ग से आकर अंग्रेजों ने भारत में विजय पायी थी और अपने साम्राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने भारत के सारे समुद्री व्यापार पर अधिकार कर लिया था। अंग्रेजी जहाज भारतीय बन्दरगाहों से भारत का कच्चा माल विदेशों में ले जाते थे और विदेशों का तैयार माल सस्ते मूल्य में भारत के व्यापारियों से बेचते थे। भारत के व्यापारियों के हाथ में बहुत थोड़ा तटीय-व्यापार रहा और उनमें इस कला का ह्रास होने लगा।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति और इसकी नदियों के दृष्टिकोण से यह कहना अनुचित न होगा कि जल-मार्गों की इतनी अच्छी सुविधा प्रकृति ने संसार के बहुत कम देशों को दी है। जल-मार्गों को बनाने का व्यय नहीं होता है। समुद्र में बन्दरगाहों के निर्माण और नदियों में, नहरों इत्यादि के निर्माण में व्यय यातायात के अन्य साधनों से कम ही होता है। यातायात के अन्य साधनों, मोटर, रेल इत्यादि की अपेक्षा जहाज अधिक मात्रा और परिमाण में वस्तुएँ ले जा सकता है। परन्तु भारतवर्ष में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले इन सुविधाओं का लाभ ब्रिटिश जहाजी-कम्पनियाँ उठाती थीं।

भारतवर्ष में जल-मार्ग से यातायात करने के दो साधन हैं, (१) आन्तरिक और (२) बाह्य। आन्तरिक साधनों के अन्तर्गत भारत की नदियों और नहरों को ले सकते हैं और बाह्य के अन्तर्गत समुद्री तट।

नदियों के दृष्टिकोण से उत्तरी भारत की नदियाँ इस कार्य के लिये अधिक उपयुक्त हैं। प्राचीनकाल में भी इन नदियों में भारतीय मल्लाहों

की व्यापारी नावें चली थीं। रेलों के आरम्भ होने से पहले तक उत्तरी भारत में नावों तथा छोटे जहाजों से व्यापार होता था। परन्तु इस ओर विशेष प्रगति न कर सकने से और सरकार का ध्यान रेलों की ओर अधिक होने से इस यातायात के साधन की उन्नति न हो सकी।

उत्तरी भारत में जल-मार्ग से व्यापार किया जाता है। यहाँ की मुख्य नदियाँ गंगा, सिन्ध, हुगली और ब्रह्मपुत्र द्वारा प्राचीनकाल से व्यापार होता रहा है। दक्षिणी भारत की केवल दो नदियों कृष्णा और गोदावरी से वर्ष में अधिक समय तक व्यापार किया जा सकता है। दक्षिण की अन्य नदियों में गर्मी और बरसात का प्रभाव शीघ्र पड़ता है—बरसात में उनमें बाढ़ आती है जिससे यातायात संभव नहीं हो सकता और गर्मियों में उनका जल सूख जाता है या इतना कम हो जाता है कि नावों से याता-यात नहीं हो सकता।

नदियों के साथ ही जल-यातायात के आन्तरिक साधनों में नहरों को सम्मिलित किया जाता है। भारतवर्ष में नहरें सिंचाई के उद्देश्य से बनायी गयी हैं। उनका प्रसार अधिकतर ऐसे स्थानों में है जो व्यापारिक केन्द्र नहीं कहे जा सकते। इसलिये इनका प्रयोग व्यापार के लिये अधिक नहीं किया जा सकता है। सिंचाई का उद्देश्य होने से इनका निर्माण भी इस प्रकार किया गया है कि इनका उपयोग यातायात के साधनों—नाव, मोटर, बोट इत्यादि के द्वारा नहीं हो सकता है।

रेल, मोटर से तीव्र गति के साधनों के सामने नहरों के यातायात की गति की तुलना नहीं की जा सकती है। इसके यातायात की गति मन्द होती है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने में काफी समय लग जाता है। वर्तमान व्यापारिक प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से यह गति सन्तोष-प्रद नहीं कही जा सकती है। आज व्यापार में "पूर्ति का समय" व्यापारियों के लिये बड़े महत्त्व का है। परन्तु बंगाल प्रदेश में व्यापार तथा यातायात अधिकतर जल-मार्गों द्वारा ही किया जाता है और उड़ीसा में भी यह रीति अधिक लोकप्रिय है। वहाँ के स्थल-मार्गों की स्थिति से भी इसमें काफी सफलता मिली है। वहाँ बहुत-सी नहरें व्यापारिक दृष्टिकोण से ही बनायी गयी हैं।

देश विभाजन से पहले के आँकड़ों के अनुसार कलकत्ते में अधिकतर व्यापारी सामग्री जल-मार्ग के द्वारा ही आती थी और सामग्री को शहर व देश के अन्य भागों में जल-मार्ग से भेजी जाती थी। यद्यपि देश विभाजन से इस स्थिति में अंतर पड़ गया है परन्तु यह कहा जा सकता है कि यातायात में अब भी जल-मार्गों का विशेष महत्त्व है।

इण्डिया एण्ड पाकिस्तान रिपोर्टर १९४९ में दिये गये आँकड़ों के

अनुसार कलकत्ते में आनेवाले कुल व्यापारी सामान का २५% जल-मार्ग से आता है जिसका ६३% केवल आसाम से आता है। और कलकत्ते से बाहर भेजी जानेवाली सामग्री का ३२% जल-मार्ग से भेजा जाता है जिसका ७२% केवल आसाम को जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि कलकत्ते और आसाम के बीच व्यापार अधिकतर जलमार्गों के द्वारा ही होता है। इस यातायात के लिये स्टीमरों और नावों का प्रयोग किया जाता है। कलकत्ते में आनेवाले कुल ४५,००,००० टन व्यापारी सामान का ३४% नदियों में चलनेवाले स्टीमरों और ६६% देशी नावों से आता है। सन् १९४५ में पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में स्टीमरों द्वारा १,०४,००,००० यात्रियों ने यात्रा की। इससे स्पष्ट है कि बंगाल के क्षेत्र में जल-यातायात बहुत लोकप्रिय है। देश में नहरों का अधिकतर प्रयोग सिंचाई के लिये किया जाता है परन्तु यदि उचित व्यवस्था की जाय तो इनसे ४,००० मील लम्बी जल-यातायात की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। इसमें बिजली की शक्ति से चलाई जा सकनेवाली नावों (Power-driven Craft) का प्रयोग किया जा सकता है और ११,००० मील का यातायात साधारण नावों के द्वारा किया जा सकता है। उक्त रिपोर्टर में दिये गये आँकड़ों के अनुसार भारत और पाकिस्तान में २५,००० मील का जल-यातायात सम्भव है जिसमें से १०,००० मील नदियों से और १५,००० मील नहरों से किया जा सकता है।

राष्ट्रीय सरकार की दामोदर घाटी की योजना में दामोदर नदी को यातायात के योग्य बनाने की योजना भी सम्मिलित है। सरकार को नहरों की एक ऐसी योजना बनानी चाहिये जिससे नदी के किनारे या दूर बसे औद्योगिक नगरों और व्यापारिक केन्द्रों को परस्पर मिलाया जा सके। जल-मार्ग के यातायात की इस सुविधा से अनेक नाविकों का कारोबार चल पड़ेगा, कम व्यय में कम दामों की स्थूल वस्तुओं को उपयुक्त स्थानों में सरलता से पहुँचाया जा सकेगा।

जल-मार्ग से यातायात का बाह्य साधन समुद्र-तट है। भारत का समुद्र-तट बहुत कटा-फटा हुआ नहीं है जिस कारण उसका अधिकतर भाग अच्छे बन्दरगाहों के उपयुक्त नहीं है। अंग्रेजी साम्राज्य के स्थापित होने से पहले तटीय-व्यापार भारत के व्यापारियों के ही हाथ में था परन्तु अंग्रेजों के आने पर उन्हें इससे लगभग हाथ धोना पड़ा। भारतीय जहाजी कम्पनियों ने कई बार व्यापार को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया पर अंग्रेजी जहाजी-कम्पनियों की तीव्र प्रतिस्पर्धा के सामने उनका स्थिर रहना असम्भव था। परन्तु फिर भी कुछ कम्पनियाँ काम करती रहीं। मि० एस० एन० हाज़ी (Mr. S. N. Hazi) ने काफी प्रयत्नों के पश्चात्

भारत की व्यवस्थापिका-सभा में इस आशय का एक प्रस्ताव रखा कि भारत का तटीय-व्यापार और उसका प्रबन्ध इत्यादि भारतीय कम्पनियों के हाथ में दे दिया जाय परन्तु ब्रिटिश जहाजी-कम्पनियों के कड़े विरोध के कारण वह ठुकरा दिया गया। १९३७ में पुनः एक बार इसी प्रकार का प्रयत्न किया गया और वह भी असफल रहा। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यह आवश्यकता अनुभव हुई कि भारत में जहाजों का कारोबार आरम्भ किया जाय और विजगापट्टम् में श्री बालचन्द हीराचन्द के प्रयत्नों से एक जहाज बनाने का कारखाना खुल गया। सरकार ने भी इसमें सहायता दी है।

स्वतन्त्रता मिलने के बाद भारतीय सरकार का ध्यान इस ओर गया और सफल प्रयत्न भी किये गये। "जल-उषा" और "जल-प्रभा" नाम के दो जहाजों का निर्माण किया जा चुका है और भविष्य में अनेक जहाजों के निर्माण की आशा है। अभी भारत का व्यापार—आयात-निर्यात—विदेशी जहाजों के द्वारा ही होता है, इससे कभी बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता है। देश की तुरन्त पूरी की जानेवाली आवश्यकताएँ, अधिक समय तक अपूर्ण ही रहती हैं जिससे देश की हानि होती है। देश-विभाजन से भी भारतीय समुद्री व्यापार को हानि पहुँची है। करांची का सुन्दर बन्दरगाह पाकिस्तान के अन्तर्गत है जो कभी भारत के आयात-निर्यात का केन्द्र था।

वायु-मार्ग से यातायात (Air Transport)

हवाई जहाजों के द्वारा यातायात भारत में अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। पश्चिमी देशों में वायुयान द्वारा यातायात अधिक होता है। युद्ध के समय इस रीति से सैनिकों को आवश्यक सामग्री तुरन्त पहुँचाई जा सकती है। द्वितीय महायुद्ध में तो हवाई यातायात की ही प्रधानता रही थी।

भारतवर्ष में यातायात के इस साधन की प्रगति मुख्यतः द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण ही हुई। यद्यपि १९११ में सबसे प्रथम बार भारत में जहाजों का प्रयोग किया गया परन्तु वास्तविक प्रगति १९२७ से आरम्भ होती है जब इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिये एक विभाग 'सिविल एविएशन डिपार्टमैन्ट' की स्थापना की गयी। भारत और इंगलैण्ड के बीच हवाई-यातायात १९२९ में आरम्भ हुआ और इसके पश्चात् आन्तरिक क्षेत्र में वायु-मार्गों को निर्धारित किया गया। द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओं के कारण बंगलौर में हवाई जहाज बनाने का एक बड़ा कारखाना स्थापित किया गया है।

भारत की राष्ट्रीय सरकार ने हवाई जहाजों की ओर विशेष ध्यान दिया है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से हवाई जहाजों की लोकप्रियता काफी बढ़ गयी है। कई स्थानों पर इनकी सहायता से जनता के प्राणों की रक्षा की जा सकी है। जब स्थल-मार्ग बन्द हो जाते हैं, बाढ़-ग्रस्त प्रदेशों, भूकम्प से नष्ट शहरों, दुर्भिक्ष से पीड़ित प्राणियों को इससे प्रशंसनीय सहायता दी जा सकी है। अनेक उद्योगपतियों ने इस ओर रुख किया है और कई हवाई-कम्पनियाँ स्थापित की हैं जिससे आन्तरिक प्रदेशों मे यातायात की सुविधा हो गयी है; साथ ही इंगलैण्ड, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशों से भी सम्बन्ध स्थापित किया जा चुका है। भारत सरकार को यातायात और संवाद सम्बन्धी नयी योजना के अनुसार "नाइट एयर मेल सर्विस" आरम्भ कर दी गयी है जिससे जनता को काफी लाभ पहुँचा है।

भारतवर्ष में इस समय निम्नलिखित हवाई-कम्पनियाँ कार्य कर रही हैं :—

नाम	सर्विस का कार्यक्रम (१९४८ में)
१. भारत एयरवेज लिमिटेड :—	पटना—बनारस—इलाहाबाद—कलकत्ता—दिल्ली—कलकत्ता
	दिल्ली—अमृतसर—दिल्ली
	कलकत्ता—चिटागोग—कलकत्ता
	कलकत्ता—गया—बनारस—इलाहाबाद—दिल्ली—कलकत्ता
२. इण्डियन नेशनल एयरवेज लिमिटेड :—	कलकत्ता—रंगून—कलकत्ता
	दिल्ली—कलकत्ता—दिल्ली
	दिल्ली—कराँची—दिल्ली
	दिल्ली—लाहौर—दिल्ली
३. जुपिटर एयरवेज लिमिटेड :—	मद्रास—दिल्ली—मद्रास
	बम्बई—इन्दौर—ग्वालियर—बम्बई
४. अम्बिका एयरलाइन्स लिमिटेड :—	बम्बई—जोधपुर—अमृतसर—बम्बई
	बम्बई—अहमदाबाद—बम्बई
	बम्बई—बॅगलौर—बम्बई
५. डालमिया जैन एयरवेज :—	दिल्ली—श्रीनगर—दिल्ली
	श्रीनगर—अमृतसर—श्रीनगर
६. एयरवेज (इण्डिया) लिमिटेड :—	कलकत्ता—बॅगलौर—कलकत्ता
	कलकत्ता—ढाका—कलकत्ता

नाम	सर्विस का कार्यक्रम (१९४८)
७. इण्डियन ओवरसीज़ एयरलाइन्स लिमिटेड :—	बम्बई–कलकत्ता–बम्बई
	नागपुर–मद्रास–नागपुर
	नागपुर–लखनऊ–नागपुर
८. एयर इण्डिया लिमिटेड :—	बम्बई–कराँची–बम्बई
	बम्बई–दिल्ली–बम्बई
	बम्बई–कोलम्बो–बम्बई
	मद्रास–त्रिवेंद्रम–मद्रास
	बम्बई–कलकत्ता–बम्बई
	बम्बई–मद्रास–बम्बई
९. दक्खिन एयरवेज लिमिटेड :—	हैदराबाद–बॅंगलौर
	हैदराबाद–नागपुर–भूपाल–दिल्ली–हैदराबाद
१०. एयर सर्विसेज आफ इण्डिया लिमिटेड :—	बम्बई–कराँची–बम्बई
	बम्बई–इन्दौर–ग्वालियर–दिल्ली
	बम्बई–अहमदाबाद–बम्बई
	जामनगर–अहमदाबाद–जामनगर
	जामनगर–माँडवी–जामनगर

निम्नलिखित विदेशी कम्पनियाँ भी भारत में कार्य कर रही हैं :—

१. ब्रिटिश ओवरसीज़ एयरवेज कॉरपोरेशन
२. रॉयल डच एयर लाइन्स
३. पॉन अमेरिकन वर्ल्ड एयरवेज
४. एयर फ्रान्स
५. एयर सीलोन
६. ओरिएन्ट एयरवेज
७. ट्रान्सवर्ल्ड एयरलाइन
८. क्वान्टास इम्पायर एयरवेज
९. चाइना नेशनल एयरवेज कॉरपोरेशन

भारतवर्ष में हवाई-मार्ग से यातायात यद्यपि क्रमशः बढ़ रहा है परन्तु अधिक नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हवाई जहाज से यात्रा करने में और सामान इत्यादि भेजने में अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक व्यय होता है। भारतवासी प्रायः निर्धन हैं और वे इतना व्यय नहीं कर सकते हैं।

दूसरा कारण इस यात्रा में प्रायः होनेवाली दुर्घटनाओं का भय। अभी वायु-मार्ग का यातायात सुव्यवस्थित नहीं हो पाया है। हवाई-विभाग

सदा यह प्रयत्न करते रहते हैं कि दुर्घटनाओं को जहाँ तक संभव हो रोका जाय परन्तु पूर्ण सफलता एकदम प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिये काफी समय की आवश्यकता है। यदि जनता के हृदय से यह भय दूर हो जाय तो इसका अधिक उपयोग होने लगेगा। वर्तमान में अधिकतर सरकारी कर्मचारी, डाक तथा अन्य कीमती वस्तुओं को ले जाने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। व्यय कम हो जाने पर अधिक संख्या में जनता इस मार्ग को अपनायेगी क्योंकि इससे निश्चित स्थान में अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत शीघ्र पहुँचा जा सकता है।

यातायात के उक्त साधनों का परिचय पाने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि यातायात के साधनों से तब तक पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता है जब तक कि इनका निर्माण एक निश्चित योजना के अनुसार न किया जाय। यदि रेल-मार्ग के साथ-साथ मोटर की भी सड़कें हों या दोनों साधनों का एक ही क्षेत्र में एक ही प्रकार के काम में प्रयोग किया जा रहा हो तो लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है। उसी प्रकार जल और वायु-मार्ग की भी समस्या है। अतएव सरकार को इनमें उचित सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। इनके कार्यक्षेत्रों का महत्त्व के अनुसार वर्गीकरण करना चाहिये। इनकी गति, कार्य के घण्टे तथा यातायात की सामग्री का वर्गीकरण निश्चित करके इन्हें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से मुक्त कर पारस्परिक सहयोग की ओर प्रवृत्त करना चाहिये। इससे व्यापार में सुविधा होगी, प्रत्येक के अधिकारों की सुरक्षा होगी और यात्रियों को आराम मिल सकेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१. देश की आर्थिक उन्नति में यातायात के साधनों का क्या महत्त्व है?
२. भारत में रेलों के विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये और यह बताइये कि देश की आर्थिक उन्नति में वे किस प्रकार सहायक हुई हैं?
३. रेल-स्थलमार्ग की प्रतिस्पर्धा को किस प्रकार दूर किया गया है और उसका स्थल मार्गों के विकास में क्या प्रभाव पड़ा?
४. भारत के आन्तरिक और बाह्य व्यापार में जलमार्गों के यातायात की क्या विशेषता है? देश की आर्थिक उन्नति में उन्हें किस प्रकार सहायक बनाया जा सकता है?
५. वायुमार्ग के यातायात का क्या महत्व है? भारत में इसका अधिक प्रचार क्यों नहीं हुआ है?

अध्याय ३७

उत्पादन का अर्थ

मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी तृप्ति करने का वह सदा प्रयत्न करता है। वह इसके लिये पृथ्वी में विद्यमान पदार्थों, जैसे हवा, पानी, धरती के अन्दर का कोयला, धरती की उपज शक्ति इत्यादि का उपयोग करता है। वह आवश्यकता की तृप्ति के लिये कोई नया पदार्थ या तत्व उत्पन्न नही करता है क्योकि वह उसकी शक्ति के बाहर है। वह इन पदार्थों या तत्वों की उपयोगिता में, इनके पारस्परिक सम्बन्ध में अथवा इनके रूप में परिवर्तन करके एक नई वांछित उपयोगिता उत्पन्न कर देता है जिससे उसकी आवश्यकता की तृप्ति होती है। उपयोगिता उत्पन्न करने की इस क्रिया को ही उत्पादन कहते है। उदाहरण के लिये यदि कोई बढ़ई लकड़ी के तख्तों को चीर कर मेज बनाता है जिससे एक आवश्यकता की पूर्ति होती है तो यह कहना अनुचित होगा कि बढ़ई ने लकड़ी के तख्तों को नष्ट किया क्योंकि पदार्थ अविनाशी है, वह नष्ट नही किया जा सकता। वास्तव में यह मेज उन लकड़ी के तख्तों से अधिक उपयोगी है जिनसे वह बनी। यद्यपि लकड़ी के तख्तों की कुछ उपयोगिता अवश्य थी परन्तु बढ़ई ने उनके रूप में परिवर्तन करके उस उपयोगिता में बृद्धि की, अर्थात् एक नई उपयोगिता उत्पन्न की जिससे आवश्यकता की पूर्ति होती है। इस नई उपयोगिता उत्पन्न करने का नाम ही उत्पादन है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह नई उपयोगिता मेज की कुल उपयोगिता और तख्तों की पूर्व उपयोगिता के अन्तर के बराबर होगी।

उत्पादन से वस्तु अथवा पदार्थ में आवश्यकता पूर्ति का गुण आ जाता है जिसे अर्थशास्त्र में नई उपयोगिता कहते है। इस नई उपयोगिता की मात्रा चाहे कम हो या अधिक इसको उत्पन्न करने की क्रिया उत्पादन क्रिया ही कहलायेगी। एक कुम्हार मिट्टी, चाक, पानी, आवा इत्यादि की सहायता से घड़े, कुल्हड़ इत्यादि का निर्माण करता है। वह इस क्रिया से कोई नया पदार्थ उत्पन्न नहीं करता है वरन् मिट्टी की प्रारम्भिक उपयोगिता में उसका रूप बदलकर एक नई उपयोगिता की वृद्धि करता है। जिससे मनुष्य की कई आवश्यकताओं की तृप्ति होती है। इसमें चाहे मिट्टी के एक परिवर्तित रूप की उपयोगिना दूसरे रूप से कम हो या अधिक, क्रिया को उत्पादन ही कहा जायेगा। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति कुछ पदार्थों के मिश्रण से मादक द्रव्य का उत्पादन करे तो इस रूप परिवर्तन

की क्रिया को उत्पादन ही कहा जायेगा। उत्पादित वस्तु से किसी व्यक्ति का लाभ होता है, अथवा हानि इससे उत्पादन-क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं है। समाज के लिये क्या अच्छा है अथवा क्या बुरा है यह समाज-सुधारकों का विचारणीय विषय है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से वह प्रत्येक क्रिया उत्पादन-क्रिया कही जायेगी जिससे उपयोगिता में वृद्धि होती है। यदि किसी वस्तु की माँग है (चाहे उस वस्तु का समाज-सुधारकों, नीतिज्ञों इत्यादि की दृष्टि में कुछ भी स्थान क्यों न हो) और कोई व्यक्ति उसका उत्पादन करता है तो वह क्रिया उत्पादन-क्रिया कहलायेगी। यदि कोई व्यक्ति केवल अपने उपभोग अथवा अपने मनोरंजन के लिये कुछ कार्य स्वयं करे और ऐसा करने से उस व्यक्ति को सन्तोष प्राप्त हो तो उसे भी उत्पादन-क्रिया ही कहेंगे। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति अपने उद्यान की भूमि खोदकर क्यारियाँ बनाये, बीज बोये या पेड़-पौधे लगाये और इस क्रिया से उसे सन्तोष प्राप्त होता हो तो इस क्रिया को उत्पादन-क्रिया कहेंगे। यदि एक मनुष्य कुछ वेतन के बदले में दूसरे व्यक्ति का काम करे और भिन्न-भिन्न वस्तुओं में आवश्यकता पूर्ति की उपयोगिता उत्पन्न करने में उस व्यक्ति की सहायता करे तो यह क्रिया भी उत्पादन-क्रिया कहलायेगी।

जिस प्रकार सब व्यक्ति परस्पर योग्यता, शक्ति और विद्वत्ता में समान नहीं हैं उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की उत्पादन-शक्ति भी समान नही होती। यह भिन्नता व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत गुणों पर ही निर्भर नही होती परन्तु उस व्यक्ति के उत्पादन के साधनों पर भी निर्भर होती है। ये साधन हैं, औजार, वैज्ञानिक आविष्कार, यातायात की सुविधाएँ, व्यक्ति की कार्यक्षमता इत्यादि। हाथ या अन्य प्राचीन यन्त्रों की सहायता से एक निश्चित समय में किया गया उत्पादन, वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से किये गये उत्पादन से अत्यन्त न्यून होगा। अतएव यह स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग उत्पादन-क्रिया में करेगा उसकी उत्पादन-शक्ति दूसरे उत्पादकों से जो इनका प्रयोग नही कर सकते अवश्य अधिक होगी। यदि एक व्यक्ति के पास उत्पादन के पर्याप्त साधन हों पर वह उनका उचित प्रयोग नहीं जानता है तब भी वह कुशल उत्पादक से जिसके पास पर्याप्त साधन न हों कम उत्पादन कर सकेगा।

उत्पादन कई प्रकार से किया जाता है जिसमें मशीन का प्रयोग, मनुष्य के शारीरिक व मानसिक बल अर्थात् मनुष्य के श्रम का प्रयोग, प्रकृति के अनेक पदार्थों इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। उत्पादन में उत्पादक की रुचि और उसके विवेक का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह मनुष्य जाति को अत्यन्त लाभ की वस्तुओं का उत्पादन भी कर सकता

है और महाविनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों का भी। इस सारी क्रिया में उत्पादक पदार्थों में अनेक प्रकार से नई उपयोगिता उत्पन्न करता रहता है और इससे किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है साथ ही उसे सन्तोष भी होता है।

उक्त विवेचन मे हम नई उपयोगिता को उत्पन्न करने का अभिप्राय समझा चुके हैं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उत्पादन-क्रिया में उत्पन्न हुई इस नई उपयोगिता के कई प्रकार हैं जिनका सम्बन्ध उत्पादन की विभिन्न रीतियों से है :—

(१) **रूप परिवर्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता** (Form Utility):— जब किसी पदार्थ या तत्व के रूप को परिवर्तित करके उसमें एक नई उपयोगिता की उत्पत्ति करते हैं तो इस प्रकार की उपयोगिता को रूप परिवर्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि एक कृषक भूमि को जोतता है, उसमें खाद डालता है और तब बीज बोकर व सिंचाई करके गेहूँ उत्पन्न करता है, एक मजदूर कोयले की खान में से कोयला निकालता है, एक व्यक्ति पेड़ को काटकर उसमे से तख्ते बनाता है तो इन क्रियाओं में किसी नवीन पदार्थ या तत्व की उत्पत्ति नहीं होती है वरन् कृषक गेहूँ के बीज का रूप बदलकर उसमें एक नई उपयोगिता उत्पन्न कर देता है, पृथ्वी के अन्दर से कोयला बाहर निकालकर मजदूर उसकी उपयोगिता बढ़ा देता है, साथ ही पेड़ तख्तों के रूप में अधिक उपयोगी बन जाता है। बीज, कोयले और पेड़ में पहले भी कुछ उपयोगिता अवश्य थी परन्तु उस रूप में वे मनुष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति कर सकने में समर्थ नहीं थे। परन्तु कृषक और मजदूरों के द्वारा उक्त सब प्रकार से उत्पन्न की गई उपयोगिताएँ रूप परिवर्तन पर निर्भर हैं जिनमे मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति होती है और उसे सन्तोष होता है।

(२) **स्थान परिवर्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता** (Place Utility) :— बहुधा यह देखा जाता है कि कुछ वस्तुओं की उस स्थान पर जहाँ वह उत्पन्न होती है कुछ विशेष उपयोगिता नहीं होती है। परन्तु यदि उस वस्तु को उस स्थान से हटाकर ऐसे स्थान में ले जाया जाय जहाँ उसकी कमी हो तो उस वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। इस उपयोगिता को स्थान-परिवर्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता कहते हे। उदाहरणार्थ गन्ना खेत में पैदा होता है और उसमें वहाँ वह सब गुण वर्तमान हैं जिनसे एक आवश्यकता की पूर्ति होती है। परन्तु यदि उसे गाड़ी में लादकर मिल में लाया जाय तो यहाँ उसकी उपयोगिता खेत की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार सूती कपड़ा लंकाशायर की मिलों से बहुतायत से प्राप्त हो सकता है। लंकाशायर में उस कपड़े की कुछ उपयोगिता अवश्य है परन्तु जब उसी कपड़े को यातायात के साधनों

द्वारा बम्बई में लाकर वहाँ के ग्राहकों में बेचा जाता है तो उस कपड़े की उपयोगिता लंकाशायर की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है। हिमालय की पहाड़ियों में अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियाँ प्राप्त होती हैं जो मनुष्य के अनेक रोगों के लिये बहुत लाभदायक हैं। यदि उन जड़ी-बूटियों को वहाँ से प्रयाग, काशी, मद्रास इत्यादि स्थानों में ले जाया जाय तो उनकी उपयोगिता में बहुत अधिक वृद्धि होती है और हिमालय से दूर रहनेवाले मनुष्यों को आसानी से प्राप्त हो सकती है।

(३) **निश्चित समय में उत्पन्न हुई उपयोगिता** (Time Utility): — कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो जितनी पुरानी पड़ती जाती हैं उतनी अधिक उपयोगी होती हैं, जैसे शराब, चावल इत्यादि। इस प्रकार से प्राप्त हुई नई उपयोगिता को निश्चित समय में उत्पन्न हुई उपयोगिता कहते हैं। परन्तु यह आवश्यकीय नहीं है कि प्रत्येक वस्तु शराब की तरह पुरानी होने पर अधिक गुणकारी हो। यदि उन वस्तुओं को वर्तमान में संचय करके भविष्य की आवश्यकता पूर्ति के उपयोग में लाया जाय तब भी यह उपयोगिता निश्चित समय में उत्पन्न हुई उपयोगिता कही जायेगी। यदि अकाल की आशंका से पहले ही अनाज इत्यादि एकत्र करके घर में रख लिया जाय और अकाल पड़ने पर उसका उपयोग चाहे नफा उठाने के लिये किया जाय (जैसा बंगाल के अकाल में व्यापारियों ने किया) या परिवार को भूख से बचाने के लिये किया जाय या अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिये किया जाय तो उस अनाज इत्यादि की उपयोगिता में पूर्व की अपेक्षा अवश्य वृद्धि होगी। इसी प्रकार यदि कोई पिता कुछ धन संचित करके रखता है और भविष्य में, परिवार के किसी सदस्य की चिकित्सा में या शादी-व्याह में उसे व्यय कर देता है तो उस संचित धन की तब पहले की अपेक्षा अवश्य अधिक उपयोगिता होगी।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'उत्पादन' से आप क्या समझते हैं? उत्पादन के भेदों की विशेषता बतलाइये।

२. उपभोग तथा उत्पादन में अन्तर समझाइये।

अध्याय ३८

उत्पादन के साधन

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन करना आवश्यक है। उत्पादन स्वयं नहीं हो जाता वरन् उसके लिए कुछ साधनों-पदार्थों की, प्रयत्न व इच्छा इत्यादि की आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पादन कुछ साधनों पर निर्भर है। प्रायः अर्थशास्त्री उत्पादन के इन साधनों को पाँच भागों में विभाजित करते हैं:—(१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूँजी, (४) संगठन और (५) साहस।

प्रारम्भ में अर्थशास्त्री उत्पादन के केवल तीन साधन मानते थे। उनके अनुसार भूमि, श्रम और पूँजी ही उत्पादन के लिए पर्याप्त साधन थे। यह उस समय के लिए स्वाभाविक था क्योंकि तब उत्पादन में व आवश्यकताओं में इतनी वृद्धि व जटिलता नही आयी थी। परन्तु अर्थशास्त्र के विकास के साथ-साथ नई आवश्यकताएँ अनुभव हुईं, उनकी पूर्ति के लिए नये प्रयत्न आरम्भ हुए। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने उक्त तीन साधनों में एक अन्य साधन 'संगठन' सम्मिलित कर लिया। मार्शल के पश्चात् कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन का एक और साधन खोज निकाला जिसे 'साहस' कहा जाता है। प्रारम्भ के अर्थशास्त्री 'संगठन' और 'साहस' को उत्पादन के उक्त तीन साधनों के अन्तर्गत ही मानते थे परन्तु क्रमशः उत्पादन के साधन के रूप में उनके अलग अस्तित्व पर विचार किया जाने लगा था और आज उन्हें अलग साधनों के रूप में माना जाता है; यद्यपि कुछ अर्थशास्त्री आज भी 'संगठन' और 'साहस' को एक ही साधन 'संगठन' (Organisation) के नाम से ही जानते हैं।

भूमि (Land) :—प्रायः साधारण बोलचाल की भाषा में भूमि का अर्थ जमीन होता है। परन्तु अर्थशास्त्र में 'भूमि' का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया जाता। अर्थशास्त्र में भूमि से हमारा तात्पर्य प्रकृति के उन साधनों से होता है जो उत्पादन में सहायक होते है, जैसे भूमि की सतह, हवा, पानी, गरमी, सरदी, धूप और वर्षा इत्यादि। ये साधन मनुष्य को 'प्रकृति की देन' है। मनुष्य इनका निर्माण कर सकने में असमर्थ है और प्रकृति द्वारा इनके निर्माण को वह प्रभावित भी नहीं कर सकता है।

श्रम (Labour) से हमारा तात्पर्य शारीरिक श्रम से होता है। उत्पादन में प्रायः मनुष्य को अपनी शारीरिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है।

पूँजी (Capital) :—आधुनिक उत्पादन प्रणाली में पूंजी ही एक प्रकार से सब कुछ है। एक लकड़हारे, मोची अथवा खोमचेवाले को भी पूँजी की आवश्यकता होती है परन्तु उसकी मात्रा कम होती है। दूसरी ओर कपड़े, लोहे, इस्पात के बड़े-बड़े कारखानों को चलाने के लिये भी पूँजी की आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि उत्पादन के प्रत्येक कार्य के लिये पूँजी अत्यावश्यक है चाहे उसकी मात्रा न्यून हो या अधिक। जिस पैमाने पर उत्पादन किया जाता है उसीके अनुसार पूँजी की मात्रा की आवश्यकता होती है। पूँजी के अन्तर्गत हल, बैल, मशीन, उत्पादित वस्तुएँ इत्यादि आते हैं।

संगठन (Organisation) से प्रायः मनुष्य के मानसिक श्रम से तात्पर्य होता है। इसका महत्व आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के कारण अधिक बढ़ गया है। एक कारीगर अपने कार्यभार का स्वयं निरीक्षण व प्रबन्ध कर लेता है परन्तु एक कपड़े के कारखाने, लोहे या इस्पात के कारखाने का प्रबन्ध इतना आसान नहीं होता है और वहाँ उत्पादन इस साधन 'संगठन' के निरीक्षण और आदेशानुसार किया जाता है। यह भी एक प्रकार का श्रम ही है परन्तु कार्य-प्रणाली में दोनों में विशेष अन्तर है जिसका वर्णन अन्यत्र किया गया है।

साहस (Enterprise) :—साहस का विशेषकर उत्पादन के पैमाने से सम्बन्ध होता है। छोटे-मोटे उत्पादन-कार्यों के लिये, जैसे कुम्हार, मोची या दर्जी के कार्यों में कुछ विशेष जोखिम नहीं उठानी पड़ती है (परन्तु यदि कुम्हार, मोची, दर्जी के दृष्टिकोण से देखा जाय तो उनकी स्थिति के लिये यह अवश्य जोखिम है) परन्तु बड़े पैमाने के उत्पादन-कार्य में पूंजी लगाना अवश्य एक बड़े जोखिम का काम है जिसमें लाभ के साथ-साथ हानि की भी बड़ी सम्भावना रहती है। इस 'सम्भावना' के लिये तैयार रहना ही 'साहस' है।

अभ्यास के प्रश्न

१. उत्पादन के साधन कौन कौन से हैं? प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

अध्याय ३९

भूमि (Land)

उत्पादन के पाँच साधनों भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन और साहस में भूमि प्रमुख साधन है। भूमि के बिना उत्पादन कर सकना नितान्त असम्भव है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु जितने भी पदार्थ उपयोग में लाता है वह सब उसे भूमि से ही प्राप्त होते हैं। यदि आश्रय के हेतु एक घर की आवश्यकता अनुभव की जाय तो इसकी तृप्ति के लिये पहले कुछ भू-भाग की आवश्यकता होती है। दरवाजे, खिड़कियों और छत के लिये लोहे की कीलों, लोहे के छड़ों व लोहे की चादरों की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही घर के निर्माण के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन तख्तों व बल्लियों की आवश्यकता होती है। इन सबकी प्राप्ति के लिये मनुष्य भूमि का सहारा लेता है। भू-भाग के साथ ही लोहा उसे भूमि के अन्दर से मिलता है, तख्ते व बल्लियों के लिये उसे जंगलों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार की आवश्यकताएँ उत्पादन के सभी कार्यों के लिये पड़ती हैं जिनकी पूर्ति का स्रोत भूमि ही है। इससे स्पष्ट है कि भूमि उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार भूमि प्रकृति का ही दूसरा नाम है। वे समस्त चीजें जो मनुष्य को प्रकृति की देन कही जाती हैं, जैसे हवा, पानी, जलवायु, पेड़, खनिज-पदार्थ इत्यादि, सब भूमि ही हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार भूमि का तात्पर्य केवल भूमि की ऊपरी सतह ही नहीं है वरन् प्रकाश, गर्मी एवं मनुष्य की सहायता के लिये प्रकृति द्वारा भूमि में, जल में और वायु में दी गई समस्त शक्तियाँ भी भूमि ही हैं। भूमि की इस परिभाषा के अनुसार भूमि और प्रकृति में बहुत कम अन्तर रह जाता है। प्रायः भूमि के स्थान पर कई अर्थशास्त्री 'प्रकृति की देन' वाक्यांश का ही प्रयोग करते हैं जिसका प्रचलन अब कम होता जा रहा है।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। भूमि की सतह के ऊपर तथा भूमि के गर्भ में जितने पदार्थ होते हैं, जितनी शक्तियाँ होती हैं सब भूमि हैं। [illegible]न्तु जब मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु उनकी प्राप्ति में अपने श्रम का प्रयोग करता है तो वे पदार्थ फिर भूमि नहीं रह जाते हैं। वे उत्पादन के अन्य साधन 'पूँजी' का रूप ले लेते हैं।

अर्थात् यदि कोई फर्नीचर बनानेवाला जंगल से लकड़ी लाकर उससे अपने श्रम के प्रयोग से मेज, कुर्सी इत्यादि बनायेगा तो वह मेज, कुर्सी भूमि नहीं होंगे वरन् फर्नीचर वाले की पूँजी बन जायेंगे।

भूमि के लक्षण (Characteristic Features of Land)

(१) भूमि का परिमाण स्थिर है। जब से मनुष्य उत्पन्न हुआ उसके सामने भूमि का विस्तार फैला हुआ था, तब से आज तक मनुष्य उसके परिमाण में कुछ भी वृद्धि नहीं कर सका है न ह्रास ही उसकी सामर्थ्य में है। वह अपने विज्ञान की समस्त शक्ति का प्रयोग करके भी भूमि के स्थिर परिमाण को नहीं बदल सकता है। भूमि के साथ ही उसके गर्भ में पाये जानेवाले पदार्थ, धातु व अन्य शक्तियाँ सभी एक निश्चित परिमाण में हैं। बहुत सी कोयले की खानें अब अधिक कोयला दे सकने में असमर्थ हैं यही बात तेल के कूओं तथा अन्य धातुओं की खानों के विषय में भी सच है। समुद्र की लहरें अपने तट को लगातार काटती रहती हैं, नदियाँ अपने साथ बहुत सी मिट्टी समुद्र में बहा ले जाती हैं पर इससे भूमि के परिमाण में कुछ अन्तर नहीं आता है क्योंकि भूमि की परिभाषा के अनुसार समुद्र व नदी अपनी समस्त शक्तियों के साथ भूमि ही हैं, कुछ और नहीं। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भूमि का परिमाण स्थिर है।

(२) भूमि का उत्पादन नहीं किया जा सकता। यह पहले बताया जा चुका है कि भूमि का अस्तित्व अनादिकाल से है। मनुष्य इसका निर्माण या उत्पादन नहीं कर सकता है। भूमि का जन्म प्रकृति से हुआ। अतएव इसके उत्पादन में कुछ व्यय नहीं हुआ, न मनुष्य को इसके लिए कुछ परिश्रम करना पड़ा। परन्तु व्यावहारिक जगत् में सत्य यह है कि कुछ मनुष्यों ने भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया है और अधिकारी होने के नाते अन्य मनुष्यों से वे उसका क्रय-विक्रय करते हैं। आधुनिक प्रगतिशील विचार-धाराएँ इस स्वामित्व को अनुचित समझती हैं और भूमि पर सब मनुष्यों के बराबर अधिकार का प्रचार करती हैं।

(३) उत्पादन की दृष्टि से भूमि निष्क्रिय होती है। मनुष्य भूमि की सहायता से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के हेतु उत्पादन करता है। इस उत्पादन-क्रिया में भूमि स्वयं क्रियाशील होकर भाग नहीं लेती परन्तु भूमि में वे समस्त गुण वर्तमान रहते हैं जैसे, खनिज पदार्थ, विद्युत् शक्ति इत्यादि, जिनमें मनुष्य अपने परिश्रम और कौशल का प्रयोग करके उत्पादन करता है। भूमि के अभाव में उत्पादन हो सकना असम्भव है।

(४) भूमि सर्वत्र समान नहीं होती। खनिज पदार्थों, जलवायु और नदी इत्यादि के दृष्टिकोण से भूमि की उपयोगिता विभिन्न होती है।

उत्पादन के हेतु भूमि के इस पक्ष से पूर्ण परिचित होना आवश्यक है। यदि किसी स्थान पर खनिज पदार्थ बहुतायत से पाये जाते हैं तो उस स्थान पर उद्योग-धन्धों का स्थापित करना हितकर होता है और जहाँ की भूमि उपजाऊ होती है वहाँ खेती करना हितकर होता है। यही कारण है कि देश के कुछ भागों में उद्योग-धन्धों के कारखानों का समूह होता है, कहीं चावल की ही और कहीं गेहूँ, कपास इत्यादि की ही पैदावार होती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि भूमि सर्वत्र उपयोगी ही हो, वह अनुपयोगी भी होती है और उसकी उपयोगिता की भी श्रेणियाँ होती हैं।

(५) भूमि स्थिर होती है और उसकी स्थिति का भी विशेष महत्त्व होता है। भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता न किसी स्थान पर उसका नाश ही किया जा सकता है। मनुष्य को उत्पादन की आवश्यकता होती है जिसके लिए उसे उत्पादन सम्बन्धी स्रोतों के समीप जाना पड़ता है अथवा उन स्रोतों को किसी तरह अपने पास तक लाना पड़ता है। इस सम्बन्ध में स्थिति के महत्त्व की ओर ध्यान देना आवश्यक है। उत्पादन-कार्य में भूमि की स्थिति उसकी उपादेयता में वृद्धि भी कर सकती है और कमी भी। उत्पादन के केन्द्रों, पदार्थों के स्रोतों और बाजारों की स्थिति के महत्त्व को बढ़ाने के लिए यातायात के साधनों की ओर भी ध्यान देना विशेष आवश्यकीय है।

(६) भूमि का मूल्य उसकी उर्वरता पर निर्भर है। यह बात भूमि के उक्त लक्षणों में स्पष्ट कर दी गई है कि उत्पादन के हेतु भूमि की स्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण है। बाजार और यातायात केन्द्रों के निकट यदि उत्पादन के केन्द्र स्थापित हों तो भूमि के उस भाग की उर्वरता की वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप उस भूमि के मूल्य में भी वृद्धि होती है। यही कारण है कि भूमि कहीं पर अधिक मूल्य की और कहीं कम मूल्य की होती है। प्रायः इसी कारण शहर के निकट की भूमि अधिक मूल्यवान् होती है और गाँवों की कम मूल्यवान्।

अभ्यास के प्रश्न

१. अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से भूमि का अर्थ समझाइये।
२. भूमि के मुख्य लक्षण बतलाइये। भूमि उत्पादन के अन्य साधनों से किस प्रकार भिन्न है?

अध्याय ४०

श्रम

श्रम उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम का प्रयोग किया। मानसिक और सामाजिक विकास के साथ-साथ आवश्यकताओं में व उनके प्रकारों में वृद्धि होती गयी। इसी क्रम से इनकी पूर्ति के ढगों में भी परिवर्तन और विकास होता गया। श्रम के कई रूप हो गये। आज एक साधारण सी लोहार की दुकान में श्रम का एक रूप है और टाटा के लोहे के कारखाने में श्रम के अनेक रूप दिखलायी पड़ते है।

साधारणतया 'श्रम' का अर्थ 'काम करना' समझा जाता है; जैसे खेत खोदना, बढ़ई, राज इत्यादि का काम करना। परन्तु अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में श्रम के विशेष अर्थ होते है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मनुष्य के मानसिक व शारीरिक वे सभी प्रयत्न जो धन की उपलब्धि के लिये किये जाते है श्रम कहलाते है। उनके मत से वे सभी कार्य जिनको करने से धन की प्राप्ति नही होती या जिनका उद्देश्य धन प्राप्त करना नही होता, श्रम की कोटि में नही आ सकते है। जैसे यदि कोई संगीतज्ञ या चित्रकार अनेक वर्षो की कठिन तपस्या के पश्चात् अपनी कला में कुछ विशेषता प्राप्त करके उसका उपयोग कला-प्रदर्शनी इत्यादि के द्वारा धन-प्राप्ति के लिए नही करता है तो उसकी कठिन मेहनत को आर्थिक दृष्टि से श्रम नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टिकोण को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो 'श्रम' का क्षेत्र संकुचित सा प्रतीत होता है। मनुष्य के प्रयत्नों के मूल में आवश्यकता की पूर्ति की समस्या होती है। उसकी आवश्यकताएँ बहुत अधिक होती है और पूर्ति के साधन उस अनुपात में बहुत ही कम होते है। वह इन्हीं सीमित साधनों की सहायता से आवश्यकता पूर्ति के प्रयत्न करता है। अतएव ज्यों ही सीमित साधन उसकी आवश्यकता पूर्ति के प्रयत्नों को प्रभावित करते है उसकी क्रिया का क्षेत्र अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय बन जाता है। दूसरी ओर हम किसी भी व्यक्ति के प्रयत्नों को आर्थिक या अनार्थिक कोटि में आसानी से नहीं रख सकते क्योंकि उसके प्रयत्नों का क्षेत्र विस्तृत होता है।

श्रम के लक्षण :—श्रम के मुख्य लक्षण निम्नलिखित है :—

(१) श्रम की उत्पत्ति कर सकना सम्भव है। श्रम व्यक्ति के साथ

ही आता है, उससे विच्छिन्न होकर श्रम का कोई रूप शेष नहीं रहता है। अतएव यह स्पष्ट है कि श्रम का जनसंख्या से सीधा सम्बन्ध है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही श्रम की वृद्धि होना और उसके ह्रास के साथ ही श्रम का ह्रास होना अनिवार्य और अवश्यम्भावी है। दूसरी ओर श्रमिक का मानसिक विकास होने से, या ट्रेनिङ्ग देकर उसकी कुशलता में वृद्धि करके हम श्रम की एक निश्चित मात्रा को बढ़ा सकते हैं अर्थात् श्रम की एक नई मात्रा की उत्पत्ति कर सकते हैं। यही कारण है कि श्रम सदा विकासशील रहा है।

(२) श्रम व्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण गतिशील है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता है। श्रमिक को कार्य करने के लिये विभिन्न स्थानों पर जाना पड़ता है, यह सदा संभव नहीं है कि उसे घर बैठे काम मिल जाय। अतएव श्रमिक को उस स्थान पर जाना अनिवार्य होता है जहाँ श्रम की आवश्यकता हो; इससे श्रम गतिशील रहता है। परन्तु इसे हम पूर्ण गतिशील नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रायः श्रमिक अनेक स्थानों पर जहाँ श्रम की आवश्यकता होती है कई कारणों से नहीं जाना चाहता है और नहीं भी जाता है और उसकी अपेक्षा घर में ही रहना पसन्द करता है। इस कारण श्रम की गतिशीलता में बाधा पड़ती है।

(३) श्रम अस्थायी है। मनुष्य पूँजी इत्यादि को भविष्य के उपयोग के हेतु एकत्रित करके रखता है परन्तु इसी रीति से वह श्रम को एकत्रित नहीं कर सकता है। यह सम्भव नहीं है कि आज का श्रम कल के उपयोग के लिए संचित किया जा सके। श्रमिक यदि आज अपने श्रम का उपयोग नहीं करता है तो उसका एक दिन का श्रम व्यर्थ नष्ट हो जायेगा।

श्रम का यह लक्षण श्रमिक के लिये बड़ा घातक सिद्ध हुआ है। मिलमालिक या उद्योगपति इसका सदा अनुचित लाभ उठाते हैं। श्रमिक का जीवन उसके 'श्रम' पर निर्भर है और आर्थिक दृष्टि से वह इस योग्य नहीं है कि कुछ दिनों तक बिना श्रम का उपयोग किये कुटुम्ब का पालन-पोषण कर सके। दूसरी ओर श्रमिकों की संख्या भी अधिक है। इससे मिलमालिक या उद्योगपति इत्यादि उसकी इस कठिनाई के आधार पर उसके 'श्रम' को बहुत सस्ते दामों में खरीद लेते हैं। श्रम की माँग कम होती है और उसकी पूर्ति अधिक है इस कारण श्रमिक जो कुछ मूल्य मिल जाय उसी पर काम करने को तैयार हो जाता है। इससे श्रमिक समुदाय के रहन-सहन का स्तर बहुत गिर जाता है। कभी-कभी वेतन आवश्यकता से [illegible] ही कम होता है इससे श्रमिक के स्वास्थ्य तथा उसकी कार्यक्षमता व कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

(४) श्रम का प्रयोग मुख्यतया उत्पत्ति के लिये किया जाता है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बहुत से पदार्थों व वस्तुओं के रूप में परिवर्तन करना पड़ता है जिससे उनके गुणों में भी परिवर्तन आ जाता है। बिना श्रम के इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। दूसरी ओर भूमि के गर्भ में अनेक खनिज पदार्थ हैं जिनके प्रयोग से बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। यदि इन खनिज पदार्थों को भूमि के गर्भ से निकालने तथा उसका उपयोग करने में श्रम का प्रयोग न किया जाय तो वस्तुओं का उत्पादन असम्भव हो जायेगा। अर्थात् श्रम के प्रयोग से ही सम्पत्ति का उत्पादन किया जा सकता है जिससे देश के गौरव के साथ ही रहन-सहन के दर्जे को भी ऊँचा उठाया जा सकता है।

श्रम में भेद :—अर्थशास्त्र के अनुसार श्रम से हमारा तात्पर्य मनुष्य के उन प्रयत्नों से होता है जो वह किसी वस्तु के उत्पादन के हेतु करता है। इस प्रकार के प्रयत्नों में बुद्धि और शरीर दोनों का सहयोग रहता है। परन्तु दोनों के अधिक या कम प्रयोग से श्रम में भेद उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से श्रम के निम्न भेद किये जा सकते हैं :—

(१) **मानसिक और शारीरिक श्रम** :—किसी भी श्रम को हम पूरी निश्चितता से मानसिक श्रम ही या शारीरिक श्रम ही नहीं कह सकते हैं। कोई भी व्यक्ति श्रम करते समय बुद्धि व शरीर दोनों से सहायता लेता है। प्रायः बुद्धिप्रधान श्रम जिसमें शारीरिक शक्ति का बहुत कम प्रयोग करना पड़ता है मानसिक श्रम कहलाता है। एक इन्जीनियर का कार्य शरीर की शक्ति से अधिक बुद्धि की शक्ति का कार्य है, अतएव उसके कार्य को मानसिक श्रम कहेंगे। शारीरिक शक्तिप्रधान श्रम जिसमें बुद्धि का कम प्रयोग करना पड़ता है शारीरिक श्रम कहलाता है। एक रेलवे कुली का मुख्य कार्य बोझा ढोना है; परन्तु वह प्लेटफार्म, गाड़ी के छूटने के समय इत्यादि का भी ध्यान रखा करता है। इसमें उसे बुद्धि का प्रयोग कम करना पड़ता है और बोझा ढोने में शारीरिक शक्ति का प्रयोग अधिक। अतएव बुद्धि का प्रयोग करते हुए भी उसका श्रम शारीरिक ही कहा जायेगा। इससे स्पष्ट है कि मानसिक और शारीरिक श्रम का भेद दोनों के प्रयोग में लाई गयी मात्रा पर निर्भर है।

(२) **कुशल और अकुशल श्रम** :—प्रत्येक प्रकार के श्रम में अपनी एक विशेषता होती है। जिसमें जितनी अधिक विशेषता होगी वह उतना ही कुशल श्रम समझा जाता है, परन्तु अर्थशास्त्र में इन शब्दों के विशेष अर्थ होते हैं। कुशल श्रम प्रायः मानसिक श्रम का पर्यायवाची शब्द है। वह श्रम जिसमें सोच-विचार व अध्ययन की आवश्यकता होती है, जैसे इन्जीनियरी, डाक्टरी इत्यादि, उसे कुशल श्रम कहते हैं। इसके विपरीत

अकुशल श्रम शारीरिक श्रम का ही दूसरा नाम है। इसमें अधिक मानसिक व्यायाम की व अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती। कुली, बैरे, चपरासी इत्यादि का श्रम अकुशल श्रम कहलाता है।

(३) **उत्पादक और अनुत्पादक श्रम**:—श्रम के इस भेद पर काफी वादविवाद होता रहा है। १८वीं शताब्दी के फिजियोक्रेट्स ने सबसे प्रथम इस प्रश्न को उठाया था। उनके मतानुसार केवल कृषक का श्रम ही उत्पादक श्रम था और अन्य सब अनुत्पादक। इसकी प्रतिक्रिया हुई और फिर दूसरे पक्ष ने केवल दुकानदारों या व्यापारियों का श्रम ही एकमात्र उत्पादक श्रम माना। एडम स्मिथ व उनके साथियों के मत से उत्पादक श्रम में कुछ भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति आवश्यक थी। अध्यापकों, संगीतज्ञों इत्यादि का श्रम उनकी दृष्टि में अनुत्पादक श्रम था।

उत्पादक और अनुत्पादक शब्द श्रम के परिणाम की ओर संकेत करते हैं। प्रायः प्रत्येक प्रकार के श्रम का उद्देश्य 'उत्पत्ति' होता है। इस दृष्टि से प्रायः सभी श्रम उत्पादक श्रम कहे जायेंगे। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि श्रम के उद्देश्य की पूर्ति न हुई तो क्या श्रम उत्पादक कहा जायेगा? आचार्य मार्शल उस श्रम को उत्पादक श्रम नहीं कहते हैं जिसके उद्देश्य की पूर्ति न हुई हो। यदि १०० मजूरों से एक इमारत बनाने का काम लिया जाय परन्तु प्रयोग में आने से पहले ही इमारत टूट जाय तो मार्शल के मत से उन १०० मजूरों का श्रम अनुत्पादक श्रम है। परन्तु आधुनिक मत इससे भिन्न है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कथन है कि उन १०० मजूरों को उनके श्रम के बदले में मजूरी दी गई जिससे उनकी आवश्यकताओं की तृप्ति होती है, उससे उनकी क्रय-शक्ति बढ़ती है अर्थात् वस्तुओं की माँग बढ़ती है जिसके फलस्वरूप उत्पादन केन्द्रों में उत्पादन की मात्रा बढ़ती है। तात्पर्य यह है कि १०० मजूरों के श्रम के परिणामस्वरूप उत्पादन में अवश्य वृद्धि हुई है, अतएव उनका श्रम अवश्य उत्पादक श्रम है। यदि श्रम के अन्त में कुछ पुरस्कार मिलता है या किसी अन्य रूप में धन की प्राप्ति होती है जिससे आवश्यकता की पूर्ति और सन्तोष होता है तो वह श्रम उत्पादक श्रम है अन्यथा वह श्रम की कोटि में आ ही नहीं सकता। इसके अनुसार समाज को हानि पहुँचानेवाले चोर, डाकुओं, ठगों इत्यादि का श्रम भी उत्पादक श्रम है और अर्थशास्त्र उसका भी अध्ययन करता है क्योंकि वह रीति या आचार का नहीं वरन् परिणाम या फल का अध्ययन करता है।

दूसरी ओर ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से विदित होगा कि वह क्रिया जिसके करने से उत्पत्ति नहीं होती वरन् उसमें ह्रास होता है उत्पादन

न होकर उपभोग की क्रिया कहलाती है। अतएव वह श्रम जिससे उपयोगिता में ह्रास होता है उपभोग क्रिया हुई, न कि अनुत्पादक श्रम।

श्रम और भूमि :—श्रम और भूमि दोनों ही उत्पादन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। उत्पादन तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों अंगों का प्रयोग किया जाय। 'श्रम' और 'भूमि' दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु दोनों में विशेष अन्तर भी है।

भूमि 'प्राकृतिक देन' कही गयी है। अतएव भूमि को उत्पन्न नहीं किया जा सकता और इस कारण उस पर उत्पादन व्यय भी कुछ नहीं होता है। श्रम की उत्पत्ति सम्भव है और उसके उत्पादन में व्यय भी होता है। भूमि स्थायी वस्तु है। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। इसके विपरीत श्रम गतिशील है। उसे अनावश्यक स्थानों से उन स्थानों पर ले जाया जा सकता है जहाँ उसकी आवश्यकता हो। इससे उसका महत्त्व बढ़ जाता है और उत्पादन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भूमि अविनाशी है। मनुष्य उसका नाश नहीं कर सकता है। वह केवल उसका रूप बदलकर उसकी उपयोगिता में वृद्धि कर सकता है परन्तु श्रम नाशवान् है। इसे भविष्य के प्रयोग के हेतु संचित नहीं किया जा सकता। भूमि की उपयोगिता में तो मनुष्य परिवर्तन कर सकता है, परन्तु उसको घटाना-बढ़ाना उसकी शक्ति के बाहर है। श्रम को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। प्रायः अकुशल श्रमिक को ट्रेनिंग देकर कुशल श्रमिक बनाया जाता है जिसका तात्पर्य श्रमिक के पूर्व श्रम में वृद्धि है। 'भूमि' के अध्याय में यह बताया गया है कि भूमि उत्पादन कार्य में सक्रिय भाग नहीं लेती है वरन् एक साधन मात्र बनी रहती है। परन्तु श्रम इसके विपरीत उत्पादन में सक्रिय भाग लेता है। भूमि पर जब श्रम का प्रयोग किया जाता है तभी उत्पादन सम्भव होता है, पृथक् करने से श्रम और भूमि दोनों निष्क्रिय रहते हैं।

उक्त विवेचन से यह विदित होता है कि श्रम और भूमि में उत्पादन की दृष्टि से गहरा सम्बन्ध होते हुए भी दोनों के लक्षणों में पर्याप्त असमानता है।

श्रम और पूंजी:—'पूँजी' के अध्याय में यह बताया जायेगा कि पूँजी के मूल में श्रम ही है। मनुष्य अपने श्रम और भूमि का प्रयोग करके सम्पत्ति उत्पन्न करता है। जब यह सम्पत्ति और अधिक उत्पादन में लगायी जाती है तो पूँजी कहलाती है। परन्तु हम नीचे श्रम और पूँजी के मुख्य अन्तर का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

श्रम गतिशील है पर पूर्णतया नहीं। यद्यपि श्रमिक से अविच्छिन्न सम्बन्ध होने से श्रम उत्पादन के केन्द्रों के प्रति आकर्षित होता है परन्तु

श्रमिक की इच्छा का प्रभाव भी उस पर कम नहीं होता। पूँजी श्रम से कहीं अधिक गतिशील है। जहाँ पूँजी होगी वहाँ उत्पादन होगा और जहाँ उत्पादन होगा वहाँ श्रम का होना आवश्यक है। यदि केवल श्रम ही हो, पूँजी नहीं, तो उत्पादन नहीं हो सकता; जैसे भारतवर्ष के अनेक भागों में श्रम की अधिकता है परन्तु पूँजी न होने से श्रम व्यर्थ नष्ट होता है। यह श्रम की अपूर्ण गतिशीलता का परिणाम है जब कि उसी प्रकार एक स्थान पर श्रम की अपेक्षा पूँजी अधिक हो तो पूँजी का पूर्ण उपयोग करने के हेतु उसे देश के किसी भी कोने में भेज सकते हैं। भारतवर्ष का श्रम इंगलैण्ड के उद्योग-धन्धों में प्रयुक्त नहीं हो सकता है जब कि वहाँ की पूँजी भारत के अनेक भागों में रेल, जलयान, खानों तथा बड़े उद्योगों व बैंकों के हिस्सों (Shares) में लगी है। यह उसकी गतिशीलता का फल है।

श्रम अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है। यदि श्रमिक एक घण्टे अपने श्रम का प्रयोग न करके चुपचाप बैठा रहे तो मनुष्य की कोई शक्ति उस एक घण्टे के नष्ट हुए श्रम को लौटा नहीं सकती है। मनुष्य अपने श्रम को संचित करके सुरक्षित भी नहीं रख सकता है। श्रम का संचय उसके प्रयोग के द्वारा ही किया जा सकता है जिसका रूप सम्पत्ति होता है। पूँजी शीघ्र नष्ट नहीं होता है क्योंकि उसका संचय किया जा सकता है। अपने संचित रूप में पूँजी सम्पत्ति कहलाती है जिसका समयानुसार तथा इच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता है। जुलाहे का कर्घा कपास के अभाव में कुछ समय तक सम्पत्ति अथवा निष्क्रिय पूँजी के रूप में रह सकता है परन्तु कपास मिलते ही वर्ष के किसी भी भाग में जुलाहा उससे कपड़ा बुनता दिखायी देगा। समयानुसार पूँजी की कार्यक्षमता अपने संचित हो सकने के कारण भी बढ़ जाती है।

दीर्घकालीन दृष्टिकोण से श्रम और पूँजी दोनों नष्ट हो जाते हैं अथवा दोनों सम्पत्ति के रूप में अपनी निष्क्रिय अवस्था में पड़े रहते हैं। परन्तु यदि श्रमिक की बीमारी के कारण या मृत्यु से श्रम में कमी आ जाती है तो इसकी पूर्ति शीघ्र नये श्रमिक की नियुक्ति करके की जा सकती है। यदि किसी कारखाने की मुख्य मशीन जो पूँजी है आग लगने या किसी अन्य कारण से नष्ट हो जाती है तो उसकी क्षति-पूर्ति में अधिक समय लग सकता है या संभव हो वह पूँजी उपलब्ध ही न हो सके और इस प्रकार पूँजी नष्ट हो सकती है।

यह कहा जा[illegible] है कि पूँजी अपने क्रियाशील रूप में उत्पादन करती है और श्रम भी। परन्तु यदि किसी उद्योग-धन्धे में कई हिस्सेदारों की पूँजी लगी है और वह उद्योग-धन्धा किन्हीं कारणों से असफल हो जाय

तो पूँजी की अधिकांश मात्रा वापस प्राप्त की जा सकती है। बीमा कम्पनियों ने इस पक्ष को और भी जान दे दी है। यदि आग लगने या जहाज डूबने से किसी व्यापारी या पूँजीपति की बड़ी हानि हो जाती है तो बीमा कम्पनियों से उस हानि की बहुत कुछ पूर्ति भी हो जाती है। परन्तु श्रम असफल होकर या श्रम नष्ट होकर फिर वापस नहीं किया जा सकता। बैंक की आर्थिक स्थिति आशाजनक न होने से मनुष्य अपनी पूँजी को वहाँ से निकालकर किसी दूसरे बैंक में या व्यापार इत्यादि में लगा सकते हैं परन्तु यदि कोई श्रमिक अपने श्रम से एक दीवाल खड़ी करे पर वह दीवाल किसी कारण से ढहने लगे तो श्रमिक उसके निर्माण में लगाये अपने श्रम को वापस नहीं ले सकता है। श्रमिक की मृत्यु या उसके अपंग हो जाने के कारण भी श्रम की प्राप्ति हो सकना असम्भव है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि श्रम और पूँजी में आन्तरिक समानता होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है जिसका अनुमान भारत की आर्थिक दशा को देखकर लगाया जा सकता है। भारत में श्रम की अधिकता है और पूँजी की कमी है जिसका परिणाम श्रमिकों की असह्य निर्धनता और भारत की आर्थिक स्थिति की दुर्बलता है। किसी भी देश की उन्नति के लिये पूँजी और श्रम का पर्याप्त मात्रा में होना अत्यन्त आवश्यक है।

अभ्यास के प्रश्न

१. उत्पादन में श्रम का क्या महत्त्व है? 'श्रम की पूर्ति' का अर्थ समझाइये।

२. उत्पादक और अनुत्पादक श्रम में अन्तर समझाइये। क्या यह अन्तर उत्पादन-क्रिया के लिये महत्त्वपूर्ण है?

३. श्रम के मुख्य लक्षणों को समझाइये और भूमि तथा पूँजी से श्रम की तुलना कीजिये।

अध्याय ४१

जनसंख्या के सिद्धान्त

जनसंख्या की घटती-बढ़ती का समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक वातावरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या किसी भी देश की महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। जनसंख्या का घटना-बढ़ना एक प्राकृतिक क्रिया है और मनुष्य दूसरे मनुष्य के जन्म का विरोध नहीं कर सकता है। परन्तु बहुत से विद्वानों ने समाज के इस पक्ष का अध्ययन किया है और समाज की उन्नति का जनसंख्या की घटती-बढ़ती से सम्बन्ध खोज निकाला है। उनमें से विशेषकर माल्थस का सिद्धान्त अधिक प्रसिद्ध है।

माल्थस अपने समय का अर्थशास्त्र और राजनीति का प्रसिद्ध विद्वान् था। उससे पहले नेपोलियन की शक्ति से टक्कर ले-लेकर योरोप का आर्थिक ढाँचा ही बदल गया था। उसके बाद औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने विशेषकर इंगलैण्ड में एक हलचल सी मचा दी थी। बेकारी और भुखमरी की संख्या बढ़ती जा रही थी परन्तु उसके साथ ही जनसंख्या में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। मनुष्य को जीवित रहने के लिये भोजन की आवश्यकता होती है परन्तु तब बढ़ती जन-संख्या को जीवित रखने के लिये खाद्य-पदार्थों इत्यादि का उत्पादन आवश्यकता से बहुत कम था। माल्थस ने इस स्थिति पर विचार किया और इतिहास से अपने विचारों की पुष्टि करने के लिये प्रमाण खोज निकाले। वह इंगलैण्ड की बढ़ती हुई जनसंख्या के भयंकर परिणामों से जनता को सावधान कर उसकी रक्षा करना चाहता था। सन् १७९८ में इसी विचार से प्रेरित होकर उसने जनसंख्या सम्बन्धी अपने मत को "जनसंख्या के सिद्धान्त" (Principles of Population) नामक एक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया।

माल्थस का सिद्धान्त :—माल्थस के अनुसार जनसंख्या जीवित रहने के साधनों की अपेक्षा अधिक शीघ्र बढ़ती है। इसको स्पष्ट करने के लिये उन्होंने कहा कि जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक वृद्धि (Geometrical Progression) के अनुसार बढ़ती है अर्थात् २, ४, ८, १६, ३२ की गति से; और जीवित रहने के साधन मुख्यतः खाद्यान्न में वृद्धि अंकगणित वृद्धि (Arithmetical Progression) के अनुसार होती है अर्थात् १, २, ३, ४, ५, ६ की गति से। उन्होंने इतिहास से इस कथन को प्रमा-

णित किया। यदि किसी देश की जनसंख्या को दुर्भिक्ष, क्रान्ति या युद्ध इत्यादि से हानि न पहुँची और उसकी वृद्धि में किसी प्रकार की बाधा न पड़ी तो अवश्य ही कुछ समय में उस देश की जनसंख्या का एक बड़ा भाग ऐसा हो जायेगा जिसके जीवित रहने के लिये खाद्यान्न इत्यादि सामग्री पर्याप्त न होगी। खेतों की उत्पादन-शक्ति निश्चित होती है और वे उससे अधिक एक समय में नहीं उपजा सकते हैं। साथ ही नयी भूमि में खेती करके या अन्य विधियों से उसमें कुछ वृद्धि भी की गयी तो वह जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में बहुत कम होती है। अतएव बढ़ती हुई जनसंख्या का वह भाग उपयुक्त भोजन इत्यादि न मिलने से—अकाल पड़ने से—दुर्बल और रोगी होकर नष्ट हो जाता है।

इसके साथ ही उनका यह भी मत था कि यद्यपि किसी सामान्य स्थिति में तो जनसंख्या में वृद्धि होती ही है परन्तु यदि मनुष्य की उस सामान्य स्थिति में अधिक वेतन और अधिक सुविधाएँ देकर कुछ सुधार किया जायेगा तो उसकी जनसंख्या में वृद्धि पहले से अधिक और शीघ्र होगी। अपने रहन-सहन के स्तर में उन्नति होने से मनुष्यों में भविष्य के प्रति विश्वास जगेगा और इस आशावाद के कारण उनको बढ़ती हुई बच्चों की संख्या का भरण-पोषण करने की कठिनाइयों का अधिक अनुभव न होगा।

तीसरी मुख्य बात माल्थस ने जनसंख्या की इस अवांछित वृद्धि को रोकने के विषय में कही। उनका मत था कि यदि मनुष्य अपनी जनसंख्या को अबाध रूप से बढ़ाते चलेंगे तो अवश्य जनसंख्या का एक बड़ा भाग भोजन न मिलने से, पर्याप्त देखभाल न होने से और विभिन्न रोगों से नष्ट हो जायेगा। उनका विचार था कि जब मनुष्य स्वयं कुछ न करेगा तो प्रकृति स्वयं यह कार्य करने लगेगी। बाढ़, महामारी, युद्ध, क्रान्ति, भूकम्प और दुर्भिक्ष इत्यादि से अवांछित जनसंख्या का भाग स्वयं समाप्त हो जायेगा। समय-समय पर जो ये घटनाएँ होती हैं प्राकृतिक रूप से अनिवार्य होती हैं और इनका उद्देश्य जनसंख्या में कमी करना होता है। माल्थस ने इन्हें 'नैसर्गिक-रोक' (Positive Checks) कहा है। जनसंख्या की वृद्धि को रोकने की दूसरी विधि को 'प्रतिबन्धक-रोक' (Negative Checks) कहते हैं। इसके अन्तर्गत आत्मसंयम, औषधियाँ इत्यादि आती हैं। यदि मनुष्य इतना विचारवान् हो जाय कि जनसंख्या की वृद्धि से अपने परिवार या समाज का लाभ नहीं वरन् हानि समझ सके तो वह संयम से जीवन व्यतीत कर सकता है जिसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य और रहन-सहन के दर्जे पर अच्छा पड़ेगा। भारतवर्ष में बाल-विवाह की प्रथा अब भी प्रचलित है। यद्यपि शारदा ऐक्ट के बन

जाने से इसमें कुछ कमी आयी है परन्तु प्रभावोत्पादक नहीं। बाल-विवाह होने से लड़कियों को छोटी आयु में ही माँ बनना पड़ता है; धार्मिक विचार से प्रभावित होकर भी लोग दो, तीन विवाह कर लेते हैं; इससे जनसंख्या की वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती है। अतएव प्रतिबन्धक-रोक के अनुसार बड़ी आयु में विवाह करके और धार्मिक अंधविश्वास से मुक्त होकर भी जनसंख्या की अवांछित वृद्धि को रोका जा सकता है। भारतवर्ष में जन्मसंख्या और मृत्युसंख्या दोनों अधिक हैं। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में बढ़ी हुई जनसंख्या को जीवित रखने के साधन अप्राप्य हैं। भारतवर्ष में अनेक सामाजिक कुरीतियाँ भी फैली हुई हैं और अंधविश्वास भी बहुत है। भारतवर्ष के इस पिछड़ेपन को दूर करने का सबसे प्रमुख उपाय समाज को प्रतिबन्धक-रोक से परिचित कराना है। यदि ऐसा न किया जायेगा तो नैसर्गिक-रोक से बढ़ी हुई जनसंख्या नष्ट हो ही जायेगी। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि माल्थस ने अपने निबन्ध में प्रतिबन्धक-रोक के अन्तर्गत किसी भी कृत्रिम उपाय का उल्लेख नहीं किया है। वह आत्मसंयम पर अधिक जोर देता था। भारतवर्ष में महात्मा गाँधीजी ने भी संयम का प्रचार किया था क्योंकि इससे मनुष्य के आत्मिक बल का विकास होता है, उच्च विचारों को प्रश्रय मिलता है और जनसंख्या पर नियन्त्रण होने के साथ ही समाज की बहुमुखी उन्नति होती है।

यद्यपि माल्थस ने अपने सिद्धान्त को जीव-विज्ञान की सहायता से वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया था पर वह पूरी तरह से सफल न हो सका। उसके अध्ययन की छाप इस सिद्धान्त में अवश्य है पर वह अपने युग से आगे की बातें, उसके परिवर्तन और मनुष्य की बदली हुई परिस्थितियों के विषय में नहीं सोच सका। तात्पर्य यह है कि उसकी अदूरदर्शिता के कारण उसका सिद्धान्त संकीर्ण हो गया है।

माल्थस के सिद्धान्त में जनसंख्या की वृद्धि और उसके ह्रास का सम्बन्ध जीवित रहने के साधनों अर्थात् खाद्यान्नों के अनुपात से स्थिर किया गया है। दूसरी ओर उसने यह भी बताया है कि रहन-सहन के दर्जे में थोड़ी सी उन्नति होने पर जनसंख्या में वृद्धि होने की प्रवृत्ति आ जाती है। माल्थस की उक्त दोनों भूलों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित अवतरणों में किया गया है।

माल्थस के जीवनकाल में विज्ञान की उन्नति आरम्भ ही हो रही थी। मनुष्यों का दृष्टिकोण भी संकीर्ण राष्ट्रीयता से प्रभावित था। यातायात की असुविधाओं, सम्वाद की अव्यवस्था और शिक्षा के अभाव से मनुष्य की सहिष्णुता और उसकी ग्राह्यशक्ति अविकसित रूप में थी। इन्हीं सब

परिस्थितियों के बीच माल्थस स्वाभाविक ही आज के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की बात नहीं कह सकता था। उसने यह मान लिया था कि राष्ट्र अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं अपने साधनों से करता है और राष्ट्र के सभी साधन सीमित होते हैं केवल जनसंख्या को एक निश्चित संख्या में स्थिर नहीं किया जा सकता है। अतएव इसी दृष्टिकोण से अध्ययन करके माल्थस इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जनसंख्या में वृद्धि खाद्यान्न की वृद्धि से अधिक और शीघ्र होती है। परन्तु आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के नवीन और आश्चर्यजनक आविष्कारों से संसार का प्रत्येक देश प्रभावित है। उत्पादन की दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र की उत्पादन विधि विशिष्टता (Specialisation) की ओर बढ़ रही है। यदि एक देश में खाद्यान्न की कमी होती है तो ठीक समय में आवश्यक खाद्यान्न का दूसरे देशों से आयात किया जा सकता है। यातायात और संवाद के साधनों से एक स्थान की कमी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करके अवांछित परिणाम को रोका जा सकता है। खाद्यान्न की मात्रा निश्चित नहीं है। उसे बढ़ाया जा सकता ह। विज्ञान की सहायता से कई सहस्र एकड़ बंजर भूमि को उपजाऊ बनाया जा चुका है। नयी विधियों से, वैज्ञानिक खाद के प्रयोग से और सिंचाई के उचित प्रबन्ध से खेतों की उत्पादन-शक्ति को भी काफी बढ़ाया गया है। गहरी और विस्तृत खेती करके अधिक से अधिक अन्न उगा सकने में कई देश सफल हुए हैं। अमेरिका में प्रतिवर्ष कई लाख टन अनाज शराब बनाने के प्रयोग में लाया जाता है और कई लाख टन जला दिया जाता है। आलू की अधिक पैदावार को समुद्र में डुबाकर नष्ट कर दिया जाता है। इससे विदित होता है कि संसार में अनाज की कमी नहीं है। उससे बढ़ती हुई जनसंख्या की पूर्ति की जा सकती है। परन्तु माल्थस ने वैज्ञानिक रीति से उत्पादन की ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने जनसंख्या की समस्या को राष्ट्र की सीमा के अन्दर ही देखने का प्रयत्न किया और समाज के अन्य पक्षों के विकास की ओर ध्यान न देकर केवल जनसंख्या में वृद्धि और उत्पादन के तत्कालीन साधनों की कार्यक्षमता तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखा। उन्होंने देश की अन्य सम्पत्ति पर विचार नहीं किया केवल जिनकी शक्ति पर आज संसार के कुछ देश अपनी बढ़ती जनसंख्या का निर्वाह कर रहे हैं। उन्होंने समाज की स्थिरता पर अपनी खोज को आधारित किया, न कि हर पल परिवर्तन होनेवाले समाज पर। वर्तमान समय में यदि कोई देश अन्य उद्योग-धन्धों से पर्याप्त सम्पत्ति का अर्जन कर लेता है तो वह अन्य देशों से अपनी जनसंख्या के लिये पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न प्राप्त कर सकता है, जैसे इंगलैण्ड। परन्तु माल्थस की दृष्टि इतनी दूर तक नहीं गयी।

लोगों के रहन-सहन का स्तर सदा परिवर्तित होता रहा है। समय और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन होता है। परन्तु माल्थस के दृष्टि-कोण से लोगों के रहन-सहन के स्तर पर शीघ्र परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी कारण उनका मत था कि यदि एक विशेष रहन-सहन के स्तर में मनुष्यों के वेतन में वृद्धि कर दी जाय तो उससे जनसंख्या में भी वृद्धि की प्रवृत्ति होगी। पर बात वास्तव में इसके विपरीत है।

देश में ज्ञान-विज्ञान और सम्पत्ति की वृद्धि के साथ-साथ सभ्यता का विकास हुआ है। अधिकतर शिक्षित समाज में पुत्र का विवाह तब तक नहीं किया जाता है जब तक वह कुछ द्रव्य न कमा ले या उसका भविष्य उज्ज्वल न हो। प्रत्येक शिक्षित स्त्री को सुख और आनन्द का जीवन अधिक पसन्द होता है। ऐसे समाज में विवाह के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि उनकी गोद में बालक हो या घूमने के लिये कार। प्रायः यदि आर्थिक स्थिति अच्छी है तो कार का पक्ष जीत जाता है। मध्यवर्ग के परिवारों में भी यही विचारधारा अपना प्रभाव जमाती जा रही है। आर्थिक स्थिति में सुधार होते ही उनकी रेडियो, कपड़े इत्यादि की माँग बढ़ जाती है और अपने दो, तीन बच्चों को उच्च शिक्षा का विचार आता है। तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति में वृद्धि के साथ ही सभ्य समाज सुख और आनन्द में वृद्धि चाहता है, न कि परिवार की संख्या में। पाश्चात्य देशों में इस ओर विशेष प्रगति हुई है। यहाँ तक कि कुछ देशों में जनसंख्या में वृद्धि की आवश्यकता का अनुभव हुआ है। पाश्चात्य देशों के रहन-सहन का स्तर काफी ऊँचा है और माल्थस के सिद्धान्तानुसार वहाँ की जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिये थी, पर नहीं हुई।

आधुनिक काल में राष्ट्रों का ध्यान जनता को शिक्षित बनाने की ओर है। यदि यह योजना सफल हो जायेगी तो निकट भविष्य में वे निर्धन परिवार जिन पर अधिक सन्तानोत्पत्ति करने का आरोप लगाया जाता है सभ्य समाज के उक्त दृष्टिकोण को शीघ्र अपना लेंगे इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है। उनमें जनसंख्या की वृद्धि का कारण उनकी गिरी हुई आर्थिक अवस्था है जिसने उन्हें जीवन की आशाओं के प्रति निराशावादी बना दिया है। इसीलिये उनका प्रधान तर्क यह होता है कि "भगवान् की देन कौन रोक सकता है, जिसने पेट दिया है वह उसका प्रबन्ध भी करेगा।" समाज के एक बड़े भाग की आत्मसम्मानहीन इस भावना को दूर करने का संसार के अनेक देशों ने प्रयत्न किया है और समाज को वर्ग-विहीन बनाने और सम-वितरण करने की ओर उनके प्रयत्न सफल हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सभ्यता और शिक्षा के प्रसार से,

उच्चाभिलाषाओं और आत्मसम्मान की भावना से निकट भविष्य में 'छोटा और सुखी परिवार' के आदर्श को ये स्वयं अपनाने लगेंगे।

अधिकतम जनसंख्या का सिद्धान्त

(Cptimum Theory of Population)

जनसंख्या के आधुनिक सिद्धान्त को 'अधिकतम जनसंख्या का सिद्धान्त' कहते है। माल्थस ने अपने सिद्धान्त में जनसंख्या का सीधा सम्बन्ध खाद्यान्न की मात्रा से स्थापित किया था। देश की सम्पत्ति के अन्य स्रोतों को त्याग देने से उनका सिद्धान्त संकीर्ण हो गया। परन्तु आधुनिक जनसंख्या के सिद्धान्त के अनुसार देश की अधिकतम जनसंख्या उस देश की आय के कुल स्रोतों पर निर्भर है। इसके अनुसार मनुष्य के उपभोग की वस्तुओं के परिमाण इत्यादि का अध्ययन नहीं किया जाता है वरन् मनुष्य की कुल उत्पादन शक्ति (Total Productivity) का अध्ययन किया जाता है। किसी भी देश की वास्तविक आय उस देश के श्रम-कौशल पर और उसकी क्षमता पर निर्भर होती है। यह सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त से अधिक वैज्ञानिक और आशावादी सिद्धान्त है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत से अधिकतम जनसंख्या उसे कहते हैं जो किसी देश के सम्पूर्ण प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग कर सके। प्रत्येक देश के प्राकृतिक साधनों का परिमाण, उनकी अधिकतम उपयोगिता, उनकी स्थिति इत्यादि विभिन्न होते हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि अधिकतम जनसंख्या कितनी होनी चाहिये वरन् यह कहना अधिक उचित होगा कि किसी देश की एक जनसंख्या अपने आर्थिक विकास के विशेष स्तर पर अपने ज्ञान-विज्ञान की सहायता से यदि उस देश के प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग कर सकती है तो वह उस देश की अधिकतम जनसंख्या होगी। यदि जनसंख्या इससे कम है तो प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकेगा और यदि जनसंख्या इससे अधिक होगी तो प्राकृतिक साधनों की कमी पड़ जायेगी। केवल अधिकतम जनसंख्या की स्थिति में ही प्रतिव्यक्ति आमदनी भी अधिकतम होती है।

जब जनसंख्या अधिकतम जनसंख्या से कम होती है तब उसे 'कम जनसंख्या' (Under Population) कहते हैं। ऐसी स्थिति में देश के अधिकांश प्राकृतिक साधन व्यर्थ पड़े रहते हैं। उ...ा उपयोग नहीं किया जा सकता है। यदि एक कम जनसंख्या वाले देश में अनेक लोहे और कोयले की खानें हों तो वह उनकी उपयोगिता का लाभ नहीं

उठा सकते हैं। उनके देश को इनसे हो सकनेवाली आय से वंचित रहना पड़ेगा और इससे उस देश में निर्धनता होगी। प्रायः नये बसनेवाले स्थानों में द्वीपों और महाद्वीपों में उक्त स्थिति होती है। आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों में प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं परन्तु उनका पूरा उपयोग करने योग्य जनसंख्या वहाँ नहीं है। वहाँ बेकारी (Unemployment) नहीं है परन्तु प्रतिव्यक्ति आमदनी उतनी अधिक नहीं है जितनी होनी चाहिये थी, क्योंकि कुल आय कम है।

जब जनसंख्या अधिकतम जनसंख्या से अधिक होती है तब उसे 'अधिक जनसंख्या' (Over-population) कहते हैं। इस स्थिति में प्राकृतिक साधनों की कमी हो जायेगी। जनसंख्या के अनुपात में भूमि इत्यादि न होगी। इससे बेकारी भी होगी और अनेक प्रत्येक साधन की उत्पादन-शक्ति भी कम होगी। अतएव देश की कुल आय कम होगी और प्रति-व्यक्ति की आमदनी भी कम होगी। ऐसी स्थिति में देश में निर्धनता फैलती है। इससे समाज में ईर्ष्या, असन्तोष फैलते हैं। युद्ध और रोग-व्याधि के साथ ही मृत्युसंख्या भी बढ़ती है।

परन्तु इनके आधार पर किसी देश को कम जनसंख्या या अधिक जनसंख्या वाला एकदम नहीं कह सकते हैं। किसी भी देश की जन-संख्या की स्थिति का परीक्षण करने के लिये कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। जब हम किसी देश के उत्पादन के सभी प्राकृतिक साधनों की उप-योगिता का अनुमान लगा लें, श्रमिकों की सीमान्त उत्पादन-शक्ति और उनके पारिश्रमिक इत्यादि अनेक बातों का पता लगा लें तब कहीं उसकी जनसंख्या के विषय में अपना मत प्रकट कर सकते हैं। इसके साथ ही यह ध्यान देने योग्य बात है कि किसी भी देश में उक्त दोनों में से कोई भी स्थिति स्थिर नहीं रहती है। अधिक और कम जनसंख्या पर विचार करने के लिये साधनों पर भी विचार करना आवश्यक है। यदि आस्ट्रेलिया में संसार भर से बेकारों में से कुछ श्रमिक चले जायें और वहाँ के प्राकृतिक साधनों की कुल उत्पादन शक्ति बढ़ती ही जाय तो जनसंख्या में वृद्धि हो जाने से उसे अधिक जनसंख्या वाला (Over-populated) देश नहीं कहेंगे। और यदि प्राकृतिक साधनों की उत्पादन-शक्ति में कमी हुई तो वहाँ की जनसंख्या अवश्य अधिक कही जायेगी। पहली स्थिति में बेकारी नहीं होगी पर कुल आय कम होने से प्रतिव्यक्ति आमदनी कम होगी। दूसरी स्थिति में बेकारी होगी और प्रतिव्यक्ति आमदनी भी कम होगी। युद्ध के दिनों में भारतवर्ष को कम जनसंख्या वाला देश कहा जाता था क्योंकि इसके सिपाहियों की माँग अधिक थी और साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता था। परन्तु युद्ध के पश्चात् भारतवर्ष

अधिक जनसंख्या वाला देश कहा जाता है। अतएव यह निश्चित करना कठिन है कि भारतवर्ष की जनसंख्या की स्थिति क्या है।

भारतवर्ष की जनसंख्या और माल्थस का सिद्धान्तः—भारतवर्ष में कुछ घटनाएँ ऐसी घटी है जिनके आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि भारतवर्ष में माल्थस का सिद्धान्त लागू होता है। इसके निम्न-लिखित कारण हैं:—

भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है। परन्तु वैज्ञानिक सभ्यता का इसके कृषिक्षेत्र में बहुत कम प्रभाव पड़ा है। अपनी पुरानी प्रथा के अनुसार जोतने-बोने से वे पर्याप्त खाद्यान्न की पैदावार नहीं कर सकते हैं। इसी कारण यहाँ की भूमि की उत्पादन-शक्ति भी बहुत कम है। भारतवर्ष में जनसंख्या और मृत्युसंख्या दोनों अधिक हैं। अधिकांश परिवार बड़े हैं। सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वास से यहाँ बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित है जिससे कम आयु में बालक उत्पन्न होने से बहुत दुर्बल होता है। माँ का स्वास्थ्य किसी भी प्रकार अच्छा नहीं कहा जा सकता है। वह अपनी कुल आयु १०, ११ बच्चों को सँभालने में ही बिता देती है। आर्थिक स्थिति शोचनीय होने से अधिकतर बाल-मृत्यु होती हैं, बाल-विधवाओं की संख्या भी बहुत है। इसके साथ ही बंगाल का दुर्भिक्ष, आपसी झगड़े, साम्प्रदायिक दंगे, विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ इत्यादि को देखने से विदित होता है कि माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त पूर्णतया गलत नहीं था। उसमें अवश्य कुछ सच्चाई थी जिसके प्रमाण भारतवर्ष की घटनाओं से मिल सकते हैं।

भारतवर्ष में शिक्षा का बहुत कम प्रचार हो सका है। अधिकतर जनता प्राचीन परम्परा के अनुसार ही जीवन बिताती है। उसके रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन बहुत देर में होता है। बहुत कम शिक्षित परिवारों का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा उठा है अन्यथा आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हो जाने के पश्चात् भी भारतवासी अपनी प्राचीन रीति से रहना ही उचित समझता है। वह जीवन का बहुमुखी विकास करने में अपने द्रव्य को व्यय न करके धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों में व्यय करता है। इससे उसका वातावरण और दृष्टिकोण संकीर्ण होता जाता है। नये आदर्शों के प्रति उसे घृणा होती है और सन्तान को भगवान् की देन समझकर प्रसन्न रहता है। सामाजिक कुरीतियों को जीवित रखकर अधिक-तर बेकारी, भुखमरी इत्यादि में जीवन व्यतीत करता है। इन्हीं सब कारणों से माल्थस के सिद्धान्त की अधिकतर बातें भारत में लागू होती हैं।

परन्तु अब यह भी विश्वास किया जाने लगा है कि माल्थस का सिद्धान्त सारे संसार पर भी लागू हो सकता है। संसार भर की सारी

खाद्यान्न मात्रा सारे प्राणियों के लिये पर्याप्त नहीं होगी। इस ओर यू० एन० ओ० के Population Inquiry Committee ने खोज की है और दो विचार विश्व के सामने रखे हैं।

पहली विचारधारा के अनुसार उनका मत है कि यदि संसार के लोग एशिया के रहन-सहन के स्तर से जीवन व्यतीत करें तो भी माल्थस का सिद्धान्त कुछ समय बाद अवश्य लागू होगा। संसार भर में जितना अन्न पैदा होता है वह केवल २८० करोड़ आदमियों के लिये ही पर्याप्त होगा। परन्तु संसार में इस समय २४० करोड़ व्यक्ति हैं और २ करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष बढ़ रहे हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि बहुत शीघ्र संसार की जनसंख्या खाद्यान्न की कुल मात्रा से कहीं अधिक बढ़ जायेगी और सारे संसार में माल्थस का निराशावादी सिद्धान्त लागू हो जायेगा।

दूसरी विचारधारा के अनुसार उनका मत है कि यदि मनुष्य वैज्ञानिक विधियों से भूमि की उत्पादन-शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ले तो संसार भर में कुल इतना खाद्यान्न उत्पन्न हो सकता है जिससे न्यूनतम ७७० करोड़ व्यक्तियों और अधिकतम ६,००० करोड़ व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है। यदि यह विचार मान लिया जाय तो माल्थस का निराशावादी सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. जनसंख्या का श्रम के दृष्टिकोण से क्या महत्त्व है? संक्षेप में समझाइये।
२. माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त का वर्णन कीजिये। आधुनिक दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त किस सीमा तक मान्य है?
३. यह बतलाइये कि माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त भारतवर्ष में कहाँ तक लागू होता है? उदाहरण देकर समझाइये।
४. अधिकतम जनसंख्या के सिद्धान्त को समझाइये और यह बतलाइये कि यह माल्थस के सिद्धान्त से किस प्रकार श्रेष्ठ है?

अध्याय ४२

जनसंख्या

अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से जनसंख्या की घटती-बढ़ती का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक देश की जनसंख्या उसकी प्राकृतिक स्थिति, उसके क्षेत्रफल और उसकी उत्पादन-शक्ति के अनुसार विभिन्न है, परन्तु वह स्थिर नहीं है। प्राकृतिक और अप्राकृतिक रीतियों से उसमें सदा वृद्धि और ह्रास होता रहता है। युद्ध, विश्व-युद्ध, महामारी, भूकम्प, बाढ़ और दुर्भिक्ष इत्यादि से प्रतिवर्ष संसार की कुल जनसंख्या का एक बड़ा भाग नष्ट हो जाता है परन्तु उसमें दूसरी ओर जनसंख्या के बढ़ने से उतनी ही या उससे अधिक वृद्धि हो जाती है। प्रकृति का यह नियम है कि किसी भी वस्तु या शक्ति को पूर्णतया नष्ट नहीं किया जा सकता है। विनाश की कोख से ही निर्माण का जन्म होता है। अतएव हमें यह जानना आवश्यक है कि किसी भी देश की जनसंख्या किन बातों पर निर्भर करती है। स्थूल रूप से जनसंख्या चार बातों पर निर्भर है :—(१) जन्मसंख्या (२) मृत्युसंख्या (३) आवास (४) प्रवास। इन चारों बातों को भी अनेक कारण प्रभावित करते हैं जिनका निम्नलिखित वर्णन किया गया है:—

जलवायु :—किसी भी स्थान की जलवायु का वहाँ के सम्पूर्ण वातावरण पर प्रभाव होता है। समाज के बहुत से नियम और परम्पराएँ इसी पर आधारित होती हैं। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव देश की उत्पादन-शक्ति पर पड़ता है। अत्यन्त गर्म प्रदेश में मनुष्य के उपयुक्त परिस्थितियाँ नहीं होती हैं, वह अधिक समय तक रेगिस्तान या अफ्रीका के घने वन-प्रदेश में जीवित नहीं रह सकता है और न उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों की हिम से ढकी भूमि पर ही बस सकता है। अतएव जिस प्रदेश की जलवायु अधिक गर्म या अधिक ठंडी होगी वहाँ मनुष्यों की संख्या न्यूनतम होगी। उसकी संख्या उन्हीं प्रदेशों में अधिक होती है जहाँ न अधिक गर्म है न अधिक शीत वरन् ऋतुएँ अपने क्रम से आती-जाती रहती हैं। ऐसे प्रदेशों के मनुष्यों में स्फूर्ति की मात्रा अधिक होती है, वे अधिक काम कर सकते हैं, दिन के अधिकांश भाग को उत्पादन-कार्यों में ही व्यतीत कर अपनी कार्यक्षमता और कार्यकुशलता में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं और जीवित रहने के साधनों का संग्रह भी सरलता से कर सकते हैं। अन्य अनुपयुक्त प्रदेशों से मनुष्य सदा ऐसे भागों में ही आकर बसने का प्रयत्न करते हैं; इससे जनसंख्या में वृद्धि होती है और साथ ही जन्मसंख्या में।

धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रिवाज :—जन्मसंख्या की वृद्धि होने के पर्याप्त कारण उस प्रदेश के धर्म और सामाजिक रीतियों में भी पाये जाते है। धर्म और रूढ़ि अति प्राचीन हैं जब न आधुनिक रूप में मानसिक प्रगति हो सकी थी, न वैज्ञानिक। उनकी आवश्यकताएँ हमसे भिन्न थीं। धर्म और सामाजिक रीतियाँ उन्होंने अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप निर्धारित की थीं। परन्तु आधुनिक समाज अब भी बिल्कुल भिन्न परि-स्थितियों में उन्हींके अनुसार जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करता है। भारतवर्ष में बड़े परिवार को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। जिस व्यक्ति के अधिक पुत्र हों वह भूखा रहने पर भी अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है और प्रत्येक व्यक्ति का कम से कम एक पुत्र होना आव-श्यक है अन्यथा धार्मिक दृष्टिकोण से उसकी आत्मा को शान्ति नही मिल सकती है और वह धार्मिक क्रियाओं के पूर्ण न होने से मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि उसको सन्तानोत्पत्ति करना आवश्यक होता है और पुत्र प्राप्ति के लिये दो, तीन विवाह तक किये जा सकते हैं। मुसलमानों में चार विवाह तक करने धार्मिक दृष्टि से अनुचित नहीं माने जाते है। प्रायः इस विश्वास और रीति का मुख्य अर्थ सन्तानोत्पत्ति करके जनसंख्या बढ़ाना होता है। इसीके साथ बाल-विवाह भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। कानून का भय भी इस प्रथा में कुछ अन्तर नहीं डाल सका है। चौदह से सोलह वर्ष के अन्दर ही भारतवर्ष की अनेक लड़कियाँ माँ बन जाती हैं और अपने जीवनकाल में कई बच्चों की माँ बन जाना उनके लिये साधारण सी बात है। आर्थिक अभाव से मनुष्यों का जीवन के प्रति एक निराशावादी दृष्टिकोण पनपने लगता है; संघर्ष और बारम्बार प्रताड़ित होते रहकर भी उनमें साहसी-प्रवृत्ति जाग जाती है; वे परिणाम सोचे बिना कार्य करने लगते हैं। इस प्रवृत्ति का प्रभाव जन्मसंख्या बढ़ाने में विशेष सहायक हुआ है। 'भगवान् की देन' और 'भाग्य का लिखा' यह दो वाक्यांश बढ़ती हुई जनसंख्या के दुष्परिणामों की ओर से उनका ध्यान हटा देते हैं।

रहन-सहन का स्तर :—योरोप के अधिकांश देशों में रहन-सहन के स्तर का विशेष ध्यान रखा जाता है। वहाँ के मनुष्य प्रायः अपने आराम की, वैभव-विलास की और प्रतिष्ठा को बढ़ानेवाली वस्तुओं को प्राप्त करने और उनका अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। शारीरिक सौन्दर्य और शारीरिक सुख उनकी दृष्टि में प्रधान होते हैं जिससे उनकी सभ्यता का विकास एक विशेष प्रकार से होता है जिसे भौतिकवादी सभ्यता कहकर भारतीय समाज उससे पृथक् रहना चाहता है। रहन-सहन के स्तर को निरन्तर बढ़ाने की प्रवृत्ति से स्वभावतः परिवार को छोटा

और सुखी बनाने का आदर्श सामने रहता है। विवाह के पश्चात् सबसे पहला प्रश्न समाज में अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ़ और सम्माननीय बनाने का होता है। सुन्दर बंगला, कारें और बैंक-बैलेन्स की चिन्ता होती है और बच्चे का ध्यान सदैव गौण रहता है। इससे वहाँ जन्मसंख्या सीमित होती है। परन्तु भारत और एशिया के अन्य देशों में स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। इन प्रदेशों में रहन-सहन के स्तर की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। अधिक सम्पत्ति का अर्जन करने के पश्चात् भी उनके जीवन के भौतिकवादी पक्ष में प्रभावोत्पादक परिवर्तन नहीं होने पाता। इन प्रदेशों की धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों की कट्टरता से जन्मसंख्या में वृद्धि होती रहती है। विवाह के बाद परिवार के अन्य सदस्य बालक को देखने को लालायित रहते हैं, आशीर्वाद में स्त्री को 'पुत्रवती' ही कहा जाता है। सामाजिक आदर्शों में यद्यपि स्त्री को अत्यन्त सम्माननीय स्थान दिया गया है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका कार्य अधिक बच्चों की माँ बनने के सिवाय अधिक कुछ नहीं है। समाज उस स्त्री को जिससे सन्तान उत्पन्न नहीं होती है स्त्री होते हुए भी आदर की दृष्टि से नहीं देखता है और प्रायः उसके सुख-दुख की भी विशेष चिन्ता नहीं की जाती है। इस प्रकार भी जन्मसंख्या की निरन्तर वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

राजनैतिक कारण :—देश की सुरक्षा वहाँ के निवासियों की संख्या पर भी निर्भर होती है। आधुनिक युद्धों में मनुष्यसंख्या का विशेष महत्त्व होता है। इन्हीं युद्धों की आवश्यकता के लिये जर्मनी, इटली इत्यादि देशों ने अपनी जनसंख्या को बढ़ाने के लिये आन्दोलन किया; बड़े परिवारों को सरकारी सहायता इत्यादि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया। कुछ प्रदेशों में वहाँ के उत्पादन के प्राकृतिक साधनों का अधिक उपयोग करने के लिये, युद्ध सामग्री का अधिक उत्पादन करने के लिये जन्मसंख्या को बढ़ाने में उन राज्यों ने काफी व्यय भी किया।

औद्योगिक विकास :—प्रायः उत्पादन केन्द्रों में पर्याप्त श्रमिक न मिलने से यह आवश्यक हो जाता है कि श्रमिकों को सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रोत्साहन दिया जाय। बहुत से ऐसे उत्पादन केन्द्र होते हैं जहाँ श्रमिक नहीं जाना चाहते हैं। श्रम पूर्णतया गतिशील नहीं है परन्तु औद्योगिक विकास के हेतु श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक है; इसी प्रकार कम बसे हुए प्रदेशों में जहाँ उत्पादन के प्राकृतिक साधनों की बहुतायत है, वहाँ के निवासियों को सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रोत्साहन दिया जरूरी है।

आर्थिक स्थिति :—निर्धनों पर यह आरोप लगाया जाता है कि जनसंख्या में वृद्धि करने की सारी प्रवृत्तियाँ उन्हीं में पाई जाती हैं। परन्तु

यदि निर्धनों की इस प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो यह भी विदित होता है कि सन्तानोत्पत्ति अधिक करने का प्रमुख कारण उनकी शोचनीय आर्थिक स्थिति होती है। अपने श्रम से भरण-पोषण न कर सकने पर उन्हें अपने छोटे-छोटे बच्चों तक को मजूरी करने भेजना पड़ता है। वे सदा यह चाहते हैं कि यदि एक लड़का और होता तो वह द्रव्य की अमुक मात्रा की सहायता कर सकता। इसके साथ ही बुढ़ापे के सहारे की इच्छा भी इस ओर प्रवृत्त करती है। भंगी वर्ग में अधिक सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रोत्साहन दिया जाता है। काम न कर सकनेवाले बच्चों को भी थोड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता दी जाती है जिससे भंगी-वर्ग की आय बढ़ती है। अपनी अशिक्षित अवस्था के कारण वे अपने भविष्य की बात नहीं सोच सकते हैं और न अपनी स्थिति से ऊपर उठ सकने की ही उन्हें आशा होती है। इस प्रकार आर्थिक अभाव भी सन्तानोत्पत्ति में सहायक होकर जन्मसंख्या में वृद्धि करता है।

शिक्षा का अभाव:—इसका सम्बन्ध रहन-सहन के स्तर से है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति छोटा और सुखी परिवार चाहता है, धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों से वह अधिक दूर रहकर अपने रहन-सहन के स्तर को सदैव ऊँचा उठाकर सम्मान और प्रतिष्ठा पाने का प्रयत्न करता है। अशिक्षित व्यक्ति शीघ्र धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों का शिकार बन जाता है, अन्धविश्वास उसके प्रत्येक कार्य को प्रभावित करता है और उसके रहन-सहन के स्तर में आर्थिक समृद्धि होने पर भी अधिक परिवर्तन नहीं होता है। यही कारण है कि भारत की जन्मसंख्या संसार में सबसे अधिक है और इसी प्रकार एशिया के अन्य प्रदेशों की भी यही स्थिति है।

जनसंख्या में सदैव वृद्धि ही नहीं होती रहती वरन् मृत्यु से उसमें ह्रास भी होता है। अतएव किसी देश की जनसंख्या जानने के लिये उसकी मृत्युसंख्या को जानना भी आवश्यक है जो निम्नलिखित कारणों पर निर्भर है :—

सामाजिक कुरीतियाँ:—जन्मसंख्या के अन्तर्गत धार्मिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों का वर्णन किया जा चुका है। मृत्युसंख्या भी उन्हीं रीति-रिवाजों पर निर्भर होती है। प्राय: बाल-विवाह के परिणाम समाज के विकास के लिये बहुत हानिकारक होते हैं। छोटी आयु में विवाह करने से बच्चे भी शीघ्र उत्पन्न होते हैं। उनका स्वास्थ्य खराब होता है। दुर्बल होने से वे सदा किसी न किसी रोग से पीड़ित रहते हैं और अधिकतर माँ की गोद में ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। अशिक्षित अवस्था का भी इस स्थिति में विशेष प्रभाव पड़ता है। दाइयाँ प्राय: अशिक्षित होती हैं, केवल अनुमान और अभ्यास के बल पर कार्य करती हैं। उनकी संख्या

भी अत्यन्त कम है। वे प्रायः गन्दे और अनुपयुक्त उपकरण सन्तानोत्पत्ति के समय व्यवहार में लाती हैं। सारी क्रिया अवैज्ञानिक होने से माँ और बच्चे का जीवन सदा मृत्यु के चंगुल में फँसा रहता है। माँ कम आयु और अवैज्ञानिक रीतियों के व्यवहार के कारण सैप्टिक (विष फैलने) से मर जाती हैं। इसके साथ ही धार्मिक और सामाजिक रीतियों के अनुसार होनेवाली माँ के स्वास्थ्य तथा उसकी आवश्यकताओं की अधिक चिन्ता नहीं की जाती है। वह अँधेरी कोठरी में पड़ी कराहती रहती है परन्तु छूत इत्यादि के भय से परिवार के अन्य सदस्य दूर से ही उसका समाचार पूछते रहते हैं। भावी माँ पर इन कठोर और मूर्खता के व्यवहारों का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और साथ ही बालक पर भी। इससे अधिक मृत्यु होती हैं।

आर्थिक स्थिति:—आर्थिक स्थिति शोचनीय होने से माँ और बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् माँ को अनेक प्रकार के पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है जिसके न मिलने से वह अनेक रोगों से पीड़ित होकर शीघ्र मर जाती है। बालकों को पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता। माँ की दुर्बलता से बालक अधिक समय तक माँ का दूध भी नहीं पी पाता है वरन् माँ के रोगों के कीटाणु उसके शरीर में भी प्रवेश पा जाते हैं। बालकों की देखभाल अच्छी प्रकार नहीं की जाती है जिससे उनका विकास ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है, उनमें शक्ति नहीं होती और किसी भी रोग से शीघ्र पीड़ित हो जाते हैं। इनसे उत्पन्न हुई सन्तान की अवस्था का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है। आवश्यकता से कम खाने के कारण तथा पौष्टिक पदार्थ न मिलने से शारीरिक और मानसिक दुर्बलताएँ घेर लेती हैं, शरीर के पौष्टिक तत्वों के अभाव में वह रोगों के आक्रमण से बच नहीं सकते हैं। आर्थिक अभाव के कारण छोटे-छोटे छप्परों में, गन्दगी और कूड़े के ढेरों के बीच में, पशुओं के साथ एक ही कमरे में रहने से मृत्युसंख्या काफी रहती है। इसी आर्थिक अभाव के कारण श्रमिक अपनी स्त्री को पर्याप्त विश्राम नहीं दे पाता है। उसे माँ बनने के कुछ दिन पहले और माँ बनने के कुछ दिन बाद एक, डेढ़ सप्ताह में मिलों, कारखानों तथा खानों में काम करने जाना पड़ता है जिससे मृत्यु समीप आती जाती है।

परदा प्रथा:—इस प्रथा का धार्मिक और सामाजिक महत्त्व चाहे कुछ भी हो परन्तु स्वास्थ्य के लिये यह बहुत हानिकारक प्रथा है। स्त्री के प्रति यह पुरुष का धर्म या रूढ़ि का अनाचार कहा जा सकता है। परदे के अन्दर बन्द स्त्री की शक्ति क्षीण होती जाती है। उसे प्रायः तपेदिक इत्यादि भयंकर रोग हो जाते हैं जिससे उसके साथ ही सारे परिवार पर

उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। यद्यपि इसका वर्णन सामाजिक कुरीतियों के अन्तर्गत किया जा सकता है परन्तु इसका पृथक् वर्णन करने का मुख्य कारण इसका प्रभाव-क्षेत्र है। यदि स्त्री समुदाय की रुग्णता का कारण खोजा जाय तो मुख्य कारण यह परदा-प्रथा है। समस्त रोगों का स्रोत यही है क्योंकि स्वास्थ्य पर सबसे पहले इसी का घातक प्रहार होता है। यदि पौष्टिक भोजन न भी मिलें तो भी स्वच्छ वायु और खुले वातावरण में मनुष्य का जीवन अधिक स्वस्थ हो सकता है, उसकी आयु बढ़ सकती है। स्त्री अपने इस बन्धन के साथ ही जननी भी है। माँ स्वयं रोग, दुर्बलता तथा अनेकों मानसिक कष्टों से घुल-घुलकर जिस पुत्र या पुत्री को जन्म देती है उनके भविष्य को भी अंधकारमय समझना चाहिये। यद्यपि शिक्षित समाज में और श्रमिक समाज में यह प्रथा निरन्तर कम होती जा रही है परन्तु मध्यम श्रेणी के अशिक्षित परिवारों में इसका काफी प्रभाव है। यह प्रथा बुर्के के रूप में मुसलमानी-समाज में अधिक है। उनके शिक्षित परिवारों में से भी अत्यन्त न्यून संख्या में इस प्रथा का पालन नहीं करते हैं। इसके फलस्वरूप दिक़ इत्यादि प्रकार के रोगों से अधिकतर परिवार पीड़ित रहते हैं। मृत्युसंख्या को बढ़ाने में इस प्रथा का विशेष हाथ है।

प्राकृतिक कारण:—जनसंख्या की वृद्धि को प्रायः आकस्मिक प्राकृतिक कारण रोक देते हैं परन्तु ऐसे प्राकृतिक प्रहार थोड़े समय में बहुत से प्राणियों को काल का ग्रास बना देते हैं। दुर्भिक्ष से मनुष्यों की एक बड़ी संख्या नष्ट हो जाती है। भूकम्प के कुछ मिनटों में शहर के शहर ध्वस्त खण्डहर हो जाते हैं। अतिवृष्टि से बाढ़ गाँव के गाँव बहाकर काफी संख्या में मनुष्य के प्राणों की हानि कर देती है। महामारी, हैजा, प्लेग इत्यादि प्रकार के भीषण रोगों से भी बहुत मृत्यु होती हैं। आधुनिक युद्ध प्रणाली से बहुत अधिक संख्या में मनुष्य मारे जाते है, मीलों तक की आबादी नष्ट हो जाती है जिसके प्रमाण प्रथम और द्वितीय महायुद्ध दे चुके हैं और कोरिया का युद्ध भी इसी का एक प्रमाण है। साम्प्रदायिक दंगों और राजनैतिक क्रान्तियों से भी जनसंख्या का काफी संहार होता है।

आवास:—आवास, एक देश के निवासियों के दूसरे देश में बस जाने को कहते हैं। यह अत्यन्त प्राचीन प्रथा है। अनेक देशों और अनेक समुदाय के सहस्रों व्यक्ति भारत में आकर बस गये। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका इत्यादि देशों में भी प्रायः दूसरे देशों के व्यक्ति आकर बस गये हैं। प्रथम तीन देशों में तो अधिकांश जनता पहले अन्य देशों की थी। आज भी आर्थिक अभाव को दूर करने के लिये, व्यापार के लिए या श्रमिकों की पूर्ति करने के लिए व्यक्ति एक देश से दूसरे

देशों में जाकर बसते हैं। कुछ व्यक्ति जलवायु की सुन्दरता या अध्ययन की इच्छा से भी दूसरे देशों में बस जाते हैं। इससे जनसंख्या में वृद्धि होती है।

प्रवास :—यदि एक देश के निवासी दूसरे देशों में जाकर बस जाते हैं तो इस क्रिया को प्रवास करना कहते हैं। जैसे भारत के बहुत से श्रमिक अफ्रीका, अमेरिका में जाकर बस गये हैं उन्हें प्रवासी भारतीय कहेंगे।

भारतवर्ष प्राचीनकाल में सदा प्रवासियों का शरण-स्थल रहा। भारतवर्ष की सम्पत्ति, इसके प्राकृतिक-शक्ति-स्रोतों ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। परन्तु अब स्थिति बदल चुकी है। सम्पत्ति और वैभव का देश भारतवर्ष अब दुर्भिक्ष, महामारी, बेकारी और रूढ़ियों का देश हो चुका है। यहाँ के अनेक व्यक्ति रोटी की खोज में, अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने तथा व्यापार करने के लिये संसार के अन्य देशों में गये हैं। आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिणी-अमेरिका, अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड इत्यादि देशों में खानों में काम करनेवाले तथा अन्य प्रकार के श्रम करनेवाले बहुत से भारतीय हैं। विदेश में इनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता है। वहाँ की सरकारों ने इनके विरुद्ध कानून तक बना दिये हैं। अफ्रीका में भारतीयों के साथ अधिक बुरा बर्ताव किया जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से भारतीय सरकार प्रवासी भारतीयों के अधिकारों के लिये काफी प्रयत्न कर रही है।

भारतवर्ष में आवास के दृष्टिकोण से बहुत कम व्यक्ति आते हैं। कुछ ईसाई मिशनरी अपने धर्म का प्रचार करने के लिये स्थायी रूप से यहीं बस गये हैं और कुछ कला और संस्कृति का अध्ययन करने के लिये। परन्तु इसका भारतीय जनसंख्या पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

देश-विभाजन और पाकिस्तान बन जाने के बाद जन-संख्या में काफी परिवर्तन आ गया है। भारत के बहुत से मुसलमान पाकिस्तान में चले गये हैं और पाकिस्तानी क्षेत्र के हिन्दू, सिख इत्यादि भारत में आकर बस गये हैं। दोनों देशों में अभी स्थिति सुधरी नहीं है और पाकिस्तान से शेष हिन्दू और मुसलमान भारतवर्ष में थोड़ी-थोड़ी संख्या में आते जा रहे हैं। भारत सरकार ने इस आवास-प्रवास पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये हैं।

भारतीय जनसंख्या और उसकी समस्याएँ

भारतवर्ष में जनसंख्या बढ़ती जा रही है। उक्त विवरण में इस इस वृद्धि की ओर संकेत किया जा चुका है। भारत की जलवायु का भी इस वृद्धि में प्रभाव पड़ता है। ठंडे प्रदेशों की अपेक्षा यहाँ के निवासी शीघ्र विवाह के योग्य हो जाते हैं। धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों

के प्रति यहाँ विशेष अनुराग है। वे इन रीतियों के विरुद्ध कार्य करने से भयभीत होते हैं। मुल्ला और पंडितों का भारतवर्ष के अधिकांश अशिक्षित समाज में पूरा नियन्त्रण है और शारदा एक्ट के लागू हो जाने के पश्चात् भी बाल-विवाह नहीं रुक सका है। सामाजिक प्रथाओं को नियमों से नहीं बदला जा सकता है। उसके लिये शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता है परन्तु भारतवर्ष की अधिकांश अशिक्षित जनता को उचित शिक्षा देने के प्रबन्ध अब तक व्यवस्थित नहीं हो पाये हैं। इसी कारण उनमें, उनके रहन-सहन और विचारों तथा कार्यों में अपरिवर्तनशीलता की गंभीर छाप है। वे भाग्यवादी दृष्टिकोण से अपने जीवन को समझने का प्रयत्न करते हैं, अवैज्ञानिक वातावरण के कारण परिवर्तन से घृणा करते हैं, नवीन विधियों के प्रयोग से घबराते हैं, यहाँ तक कि हल के स्थान में ट्रैक्टर का प्रयोग करने से उन्हें अनेक प्रकार की धार्मिक-आशंकाएँ घेर लेती हैं। वे प्रतिबन्धक-रोक—जन्म-निरोध के साधनों से अपरिचित होने से तथा संयम का अभाव होने से निरन्तर जन्मसंख्या में वृद्धि करते जाते हैं।

शिक्षा का प्रसार धीरे-धीरे हो रहा है। इससे शिक्षित समाज में अधिक आयु में विवाह और 'छोटे परिवार' की भावना काम कर रही है। उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ रहा है और वे प्रतिबन्धक-रोक के साधनों का भी प्रयोग करते हैं। इसका जन्मसंख्या पर काफी प्रभाव पड़ रहा है। १९०१ से १९१० तक जन्मसंख्या प्रति हजार ३८ थी, १९११ से १९२० तक ३७, १९२१ से १९३० तक ३५, १९३१ से १९४० तक ३४ थी, १९४१ में ३२ और १९४७ में यह घटकर २६·६ हो गई। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे-जैसे देश विज्ञान के प्रभाव में आता जाता है और उसमें शिक्षा का प्रसार हो रहा है उसकी जन्मसंख्या में निरन्तर कमी हो रही है। यद्यपि १० वर्ष के अन्तर में होनेवाली इस कमी की गति शिथिल है परन्तु भविष्य के प्रति आशाजनक संकेत करती है। हम इस क्रमशः घटती को पूर्णतया विज्ञान और शिक्षा का प्रभाव ही नहीं कह सकते हैं क्योंकि इस बीच में अनेक घटनाएँ घटी हैं जिन्हें प्राकृतिक रोक भी कहा जा सकता है जैसे, साम्प्रदायिक दंगे, दुर्भिक्ष और विभिन्न प्रकार के रोग।

यदि भारतवर्ष की मृत्युसंख्या की ओर दृष्टिपात करें तो यह विदित होगा कि वह संसार के अन्य देशों से कहीं अधिक है। मृत्युसंख्या के विभिन्न कारणों के अन्तर्गत हम भारतवर्ष की स्थिति की ओर भी संकेत कर चुके हैं। भारतवर्ष में निर्धनता और बेकारी अधिक है; शिक्षा का अभाव है; सामाजिक और धार्मिक बन्धनों के बीच अपने ह्रास के कार्यों को करके एक अद्भुत सन्तोष प्राप्त करती है। बाल-विवाह, माता

और बच्चों के स्वास्थ्य की ओर से उदासीनता और विवशता, गाँवों में औषधालयों की अत्यन्त कमी, ट्रेनिंग न पाई हुई दाइयाँ, पर्दे की प्रथा, विभिन्न रोगों इत्यादि कारणों से मृत्युसंख्या अधिक होती है। भारतवर्ष में जन्म लेनेवाले प्रति हजार बालकों में १६४२ में १६३, '४३ में १६५, '४४ में १५१, '४५ में १५१, '४६ में १३६ और '४७ में १४६ बालक मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं। भारतवर्ष के निवासियों की औसत आयु २२ वर्ष है जब कि जापान की ४८ वर्ष, अमेरिका की ५८ वर्ष, इगलैण्ड की ४९ वर्ष और न्यूजीलैण्ड की ६५ वर्ष हैं। भारतवर्ष की इस शोचनीय अवस्था से उसकी आधुनिक स्थिति का, उसकी उत्पादन-शक्ति का, उसकी सभ्यता एवम् संस्कृति के विकास का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। भारतवर्ष की मृत्युसंख्या प्रति हजार १६०१ से १९१० में ३४, १६११ से १६२० तक ३४, १६२१ से १६३० तक २६, १९३१ से १६४० तक २३ थी और १९४१ में २२ और १६४७ में यह घटकर १६·७ हो गयी है। यद्यपि इस संख्या में क्रमशः कमी होती जा रही है परन्तु अन्य देशों की अपेक्षा यह बहुत अधिक है। इंगलैण्ड की मृत्युसंख्या प्रति हजार १२·० है, जर्मनी की १२·३, फ्रान्स की १५·३, जापान की १७·६ और अमेरिका की १०·६ है। इस दृष्टि से भारतवर्ष अभी जापान से भी बहुत पीछे है।

भारतवर्ष की इस स्थिति में सुधार करने के लिये बहुत बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है। जिस गति से अभी सुधार की व्यवस्था की जा रही है उसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। स्थिति में सुधार केवल माह में एक बार औषधि बाँटने या स्वास्थ्य-निरीक्षक के दौरे से नहीं किया जा सकता है। इसके लिये सच्ची लगन और सच्ची सेवा का भाव होना आवश्यकीय है। देश की अन्य सब स्थितियाँ आर्थिक स्थिति पर निर्भर होती हैं। भारतवर्ष दुनिया का सबसे अधिक निर्धन देश है। यदि वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से यहाँ के प्राकृतिक-शक्ति-स्रोतों का उपयोग किया जाय; नये उद्योग-धन्धों का आरम्भ और पुराने उद्योग-धंधों की उचित व्यवस्था की जाय, कृषि इत्यादि में वैज्ञानिक विधियों से उत्पादन किया जाय, शोषण को रोककर वितरण की उचित व्यवस्था की जाय, यातायात और संवाद के साधनों में सुधार तथा उनके प्रसार की योजनाओं को कार्यान्वित करने के साथ ही देश में उपयुक्त शिक्षा के प्रसार का दृढ़ निश्चय किया जाय तो अवश्य देश की उत्पादन शक्ति बढ़ सकती है। जीवित रहने के साधनों में अवश्य वृद्धि हो सकती है। लोगों को काम मिल सकता है और उनमें उनके भविष्य के प्रति विश्वास पैदा करके आत्मसम्मान और स्वावलम्बन का भाव भरा जा सकता है।

उनकी कार्यकुशलता और कार्यक्षमता में वृद्धि की जा सकती है जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके। उनके रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन होने से उनके जीवन में सुधार हो सकता है।

भारतवर्ष के ग्रामों में चिकित्सा का उचित प्रबन्ध नहीं है; ट्रेण्ड नर्स और डाक्टर नहीं हैं, आयुर्वेदिक तथा यूनानी वैद्यों की आर्थिक स्थिति बिगड़ी होने से उनकी सहायता की अधिक आशा नहीं की जा सकती है। अतएव इस ओर विशेष ध्यान देकर मृत्युसंख्या में कमी की जा सकती है। आयुर्वेदिक और यूनानी औषधालयों को आर्थिक सहायता देकर जनता के स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाया जा सकता है।

शिक्षा का प्रचार अत्यन्त आवश्यक है। बिना इसके बाल-विवाह, पर्दे की प्रथा, छुआछूत का घातक भाव इत्यादि दूर नहीं किये जा सकते। इन सुधारों को कानूनों से दूर नहीं किया जा सकता है वरन् जब समाज को स्वयं इन्हें करने की प्रेरणा प्राप्त होगी तभी यह सफल हो सकते हैं। अतएव सरकार को अन्य सामाजिक संस्थाओं के सहयोग से ऐसी स्थिति का निर्माण करना आवश्यक है और इसका एकमात्र साधन शिक्षा है।

स्त्रियों के प्रति जो व्यावहारिक दृष्टिकोण समाज में व्याप्त है उसमें परिवर्तन करना अनिवार्य है। स्त्री के स्वास्थ्य, उसकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध, उसके शारीरिक और मानसिक विकास की उचित व्यवस्था के प्रति जब तक समाज एकमत होकर कार्य नहीं करेगा देश की मृत्युसंख्या को नहीं रोका जा सकता है। होनेवाली सन्तान के पूर्ण विकास की आशा नहीं की जा सकती है। समाज की दशा को सुधारनेवाले पुत्रों और पुत्रियों की कर्मशक्ति और विचार-शक्ति माँ के विचारों से प्रभावित होती है। उसीसे उन्हें प्रेरणा मिलती है।

मृत्युसंख्या और जन्मसंख्या पर नियन्त्रण रखने के लिये श्रमिक वर्ग का विशेष ध्यान रखना अनिवार्य है। उत्पादन की कुंजी वास्तव में श्रमिक ही हैं। उनके निवासस्थानों की शोचनीय अवस्था में सुधार, सफाई इत्यादि का प्रबन्ध तथा उनके विश्राम के समय का सदुपयोग करने के लिये मनोरंजन के साधन तथा उनके योग्य पुस्तकालयों का होना आवश्यक है। उनकी स्त्री एवं बच्चों को उक्त सभी सुविधाएँ मिलनी चाहिये। एक कोयला ढोनेवाले मजूर का पुत्र अच्छे वातावरण में रखकर योग्य व्यवस्थापक बनाया जा सकता है। उनके वर्ग से महान् व्यक्ति पैदा हो सकते हैं। यदि उनकी अभावग्रस्त अवस्था में सुधार कर आवश्यक शिक्षा दी जायेगी तो इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि उनको अधिक जन्मसंख्या और मृत्युसंख्या वाले वर्ग के होने का लांछन न सहना पड़ेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१. जनसंख्या की वृद्धि किन बातों पर निर्भर है? प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण दीजिये।
२. भारतवर्ष की जनसंख्या पर जन्मसंख्या और मृत्युसंख्या का क्या प्रभाव पड़ा है?
३. जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के साधनों का वर्णन कीजिये। इसमें प्रतिबन्धक रोक का महत्त्व समझाइये।

अध्याय ४३

भारत की जनसंख्या पर एक दृष्टि

भारतवर्ष संसार का एक विशाल देश है। इसकी जनसंख्या विभाजन से पहले संसार की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग थी। विभाजन के पश्चात् जनसंख्या में काफी परिवर्तन हो गया है।

देश की उन्नति की योजनाओं की सफलता उसकी आन्तरिक स्थिति के पूर्ण ज्ञान पर निर्भर होती है। आज स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद देश के उज्ज्वल भविष्य की नींव के रूप में अनेक योजनाएँ बनायी जा रही हैं। अतएव देश में जनसंख्या के श्रम, पेशे, धर्म इत्यादि के रूप में विभाजित संख्या का ज्ञान होना आवश्यक है। अब तक किसी भी वस्तु का, उद्योग का वितरण किसी ठोस योजना के अनुसार नहीं किया गया था। उत्पादक का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना और अधिकतम श्रम करवाना था; देश की अधिकांश प्राकृतिक सम्पत्ति का पूरा उपयोग नहीं किया जा सका, इससे निर्धनता फैली और उसकी स्थिति का वर्णन पहले किया जा चुका है। यद्यपि देश की जन्मसंख्या और मृत्युसंख्या में क्रमशः कमी हो रही है परन्तु फिर भी जो वृद्धि वास्तविक जनसंख्या में हो रही है वह जीवित रहने के साधनों की वृद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक है। उत्पादन बहुत कम है; उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने के लिये अधिक प्रयत्न नहीं किये गये हैं। भारत की $\frac{3}{4}$ से अधिक जनता कृषि पर निर्भर रहती है परन्तु उत्पादन में अधिक वृद्धि न करने से उसमें निर्धनता फैली हुई है।

सन् १९४१ में भारत में जनगणना की गयी। इसमें बर्मा का क्षेत्र सम्मिलित नहीं था। उस समय कुल जनसंख्या ३८८,९९७,९९५ थी। भारत के विभाजन के पश्चात् भारतवर्ष में हुई जनगणना के अनुसार जिसमें जम्मू और काश्मीर की रियासतों को सम्मिलित नहीं किया गया कुल जनसंख्या ३५,६८,९१,६२४ है। अप्रेल १९५१ में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार इनमें से १८,३३,८४,८०७ पुरुष और १७,३५,०६,८१७ स्त्रियाँ हैं। इस जनगणना में आसाम के एक भाग को (Part B, Tribal Areas) को सम्मिलित नहीं किया गया था परन्तु सिक्किम (Sikkim) को इस जनगणना में सम्मिलित किया गया है। यदि जम्मू, काश्मीर और आसाम की अनुमानित जनसंख्या को भी मिला लिया जाय तो भारतवर्ष की कुल जनसंख्या ३६ करोड़ से अधिक हो जायेगी। सन् १९४१ की जनसंख्या

से इसमें १३·४% की वृद्धि हुई है। यह जनगणना भारतवर्ष के कुल १,१३८,८१४ वर्ग मील में हुई।

इस जनगणना से कुछ विशेष बातें मालूम हुयी हैं। ट्रावनकोर-कोचीन, मद्रास, उड़ीसा, कच्छ और मनीपुर में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक हैं जिसको निम्न तालिका में स्पष्ट किया गया है :—

	स्त्रियाँ	प्रति १,००० पुरुषों में
ट्रावनकोर-कोचीन	१,००७	,,
मद्रास	१,००४	,,
उड़ीसा	१,०२३	,,
कच्छ	१,०७७	,,
मनीपुर	१,०३४	,,

यदि उक्त पाँचों प्रदेशों की पुरुष-स्त्रियों के इस अनुपात का १९४१ की जनगणना से प्राप्त अंकों से मिलान करें तो विदित होगा कि ट्रावनकोर-कोचीन में स्त्रियों की संख्या में पुरुषों की संख्या के अनुपात में अधिक वृद्धि हुई है। १९४१ में ट्रावनकोर-कोचीन में पुरुषों की प्रति हजार संख्या के पीछे १,००२ स्त्रियाँ थीं और १९५१ में पुरुषों की प्रति हजार संख्या के पीछे १,००७ स्त्रियाँ हैं; परन्तु मद्रास, उड़ीसा, कुच्छ और मनीपुर में स्त्रियों की संख्या में कमी हुई है।

१९४१ की जनगणना से १९५१ की जनगणना का मिलान करने से ज्ञात हुआ है कि इन १० वर्षों में निम्न प्रदेशों की जनसंख्या में वृद्धि हुई है :—

पंजाब, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, हैदराबाद, पैप्सू (PEPSU), राजस्थान, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर-कोचीन, अजमेर, विलासपुर कुर्ग, दिल्ली, हिमाँचल प्रदेश, त्रिपुरा और अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह।

परन्तु बिहार की जनसंख्या में विशेष अन्तर नहीं आया है और अन्य प्रदेशों की जनसंख्या में कमी हुई है। इस मिलान से यह भी ज्ञात हुआ है कि दिल्ली की जनसंख्या में इन १० वर्षों में ९०% की वृद्धि हुई है जो सबसे अधिक है और सबसे कम वृद्धि पंजाब में ०·४% हुई है। अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह की जनसंख्या में ८·३% की कमी हुई है।

देश-विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान से बहुत अधिक संख्या में लोग भारतवर्ष में आये। ये शरणार्थी भारत के अनेक प्रदेशों में बस गये हैं जिसका विवरण निम्न तालिका में दिया गया है।

प्रदेश	शरणार्थी संख्या	प्रदेश	शरणार्थी संख्या
आसाम	२,७६,८२४	सौराष्ट्र	६०,५२५
बिहार	७८,६४१	ट्रावनकोर-कोचीन	३५४
बम्बई	३,४१,०८१	अजमेर	७१,८२४
मध्य प्रदेश	१,२०,८८६	भूपाल	१७,९३३
मद्रास	९,९२६	बिलासपुर	१८७
उड़ीसा	२०,९२६	कुर्ग	११
पंजाब	२४,६८,४९१	दिल्ली	५,०९,७६७
उत्तर प्रदेश	४,७५,८२२	हिमांचल प्रदेश	५,२४८
पश्चिमी बंगाल	२१,१७,८९५	कच्छ	११,९९१
हैदराबाद	४,०३५	मनीपुर	१,२००
मध्य भारत	६१,४५७	त्रिपुरा	१,००,२५१
मैसूर	७,८९१	विंध्य प्रदेश	१४,६२६
पेप्सू (PEPSU)	३,८० १५९	अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह	१,५४५
राजस्थान	३,१२,७४२	सिक्किम (SIKKIM)	३९

जनसंख्या का पूरा विवरण निम्न तालिका में दिया गया है :—

प्रदेश	पुरुष	स्त्री	कुल जनसंख्या	वृद्धि का प्रतिशत
आसाम	४८,६९,८७८	४२,५९,५६४	९१,२९,४४२	२०·२
बिहार	२,०१,७२,५६७	२,००,४६,३४९	४,०२,१८,९१६	१०·१
बम्बई	१,८६,३१,८८३	१,७३,११,६.७६	३,५९,४३,५५९	२१·८
मध्य प्रदेश	१,०६,८८,८११	१,०६,३९,०८७	२,१३,२७,८९८	८·६
मद्रास	२,८४,१३,६६१	२,८५,३८,६७१	५,६९,५२,३२२	१४·३
उड़ीसा	७२,४०,००८	७३,९८,६०३	१,४६,४४,२९३	६·४
पंजाब	६७,८०,७७०	५८,५७,९४१	१,२६,३८,६११	०·४
उत्तर प्रदेश	३,३१,४२,४५७	३,०१,११,६६१	६,३२,५४,११८	११·९
पश्चिमी बंगाल	१,३३,१९,९४१	९४,६६,७४२	२,४७,८६,६८३	१३·५
हैदराबाद	९४,६४,४९५	९१,८८,४६९	१,८६,५२,९६४	१४·२
मध्य भारत	४१,२८,३०८	३८,१३,३३४	७९,४१,६४२	११·१
मैसूर	४६,६३,८५८	४४,०७,८२५	९०,७१,६७८	२३·८
पेप्सू (PEPSU)	१८,७३,२०५	१५,९५,४२६	३४,६८,६३१	१·३
राजस्थान	७९,६६,२०८	७३,३१,७७१	१,५२,९७,९७९	१५·२
सौराष्ट्र	२०,९४,९६८	२०,४१,०३७	४१,३६,००५	२०·५

प्रदेश	पुरुष	स्त्री	कुल जनसंख्या	वृद्धि का प्रतिशत
ट्रावनकोर-कोचीन	४६,१५,३३५	४६,४६,८२२	६२,६५,१५७	२३·०६
दिल्ली	६,६०,४४३	७,५३,५४६	१७,४३,६६२	६०·०
अजमेर	३,५६,५७२	३,३२,६३४	६,६२,५०६	१७·०५
विलासपुर	६५,३३२	६२,२३४	१,२७,५६६	१६·४
कुर्ग	१,२५,३३३	१,०३,६२२	२,२६,२५५	३५·५
हिमांचल प्रदेश	५,१६,३१७	४,७३,१२०	६,८६,४३७	५·८
कुच्छ	२,७३,३६३	२,६४,४६२	५,६७,८२५	१३·४
मनीपुर	२,८४,७४७	२,६४,३११	५,७६,०५८	१३·१
त्रिपुरा	३,३६,६६२	३,०६,६६८	६,४६,६३०	२६·७
विन्ध्य प्रदेश	१८,३४,६१०	१७,४२,८२१	३५,७७,४३१	६·७
भूपाल	४,३८,७७८	३,६६,३२६	८,३८,१०७	६·८
				घटती की प्रतिशत
अण्डमान और निकोबार	१६,०३६	११,६२७	३०,६६३	८·३
सिक्किम (SIKKIM)	७०,६६१	६४,६८५	१,३५,६४६	११·५

जन-संख्या का घनत्व (Density of Population):—किसी देश के १ वर्ग मील के अन्दर जितनी जन-संख्या होती है उसे उस देश की जनसंख्या का घनत्व कहते हैं। किसी भी देश में प्रति वर्ग मील में समान संख्या में लोग नहीं रहते हैं। उनकी इस विभिन्नता के अनेक कारण हैं जिनका संक्षेप में निम्नलिखित वर्णन किया गया है:—

वर्षा और जलवायु:—जिस प्रकार जलवायु जन्मसंख्या का प्रभावित करती है उसी प्रकार जनसंख्या को भी प्रभावित करती है। जिस स्थान की जलवायु अच्छी होगी वहाँ अधिक लोग बसना चाहेंगे। मनुष्य केवल जलवायु से ही जीवित नहीं रह सकता है। उसे भोजन इत्यादि की आवश्यकता होती है। अतएव अच्छी जलवायु और उचित समय पर वर्षा होने के साथ ही उपजाऊ भूमि होना भी आवश्यक है। पर्वतीय प्रदेश की जलवायु भी सुन्दर होती है और वर्षा भी पर्याप्त हो जाती है परन्तु पहाड़ी, पथरीली भूमि होने से लोग अधिकतर गंगा-जमुना के मैदानों में बसना उचित समझते हैं। इसीलिये उपजाऊ भूमि की जनसंख्या अधिक होती है और उसका घनत्व भी अधिक होगा। भूमि की उत्पादन-शक्ति प्रकृति से ही होती है परन्तु उसको बढ़ाया भी जा सकता है।

सिंचाई के साधन:—यदि भूमि पहाड़ी है तो उसमें सिंचाई का प्रबन्ध सरलता से नहीं हो सकता है और कहीं मिट्टी टिकाऊ नहीं होती है

और वर्षा से धुल जाती है। अतएव सिंचाई के लिये अधिकतर समतल भूमि ही चाहिये। कृत्रिम साधनों, जैसे, वैज्ञानिक खाद, ट्रैक्टर से जुताई इत्यादि से भी भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ायी जा सकती है। भारत में जहाँ-जहाँ सिंचाई के साधनों की उचित व्यवस्था की जा सकी है वहाँ की जनसंख्या में वृद्धि हुई है।

यातायात और संवाद-साधन :—किसी भूमि में खनिज पदार्थों की बहुतायत होती है और आधुनिक उत्पादन प्रणाली के अनुसार प्रत्येक उत्पादक अपने कारखाने कच्चे माल के स्रोत के समीप ही बनाना चाहता है। स्थानीयकरण की प्रवृत्ति को यातायात और संवाद-साधनों से काफी सहायता मिलती है। श्रम गतिशील होता है और उसकी प्रवृत्ति सदा उत्पादन के केन्द्रों की ओर ही होती है। उद्योग-धन्धों की स्थापना होते ही उस प्रदेश में श्रमिकों की संख्या बढ़ने लगती है, छोटे-छोटे अन्य कई कारोबार और चालू हो जाते हैं। जमशेदपुर, बम्बई, कानपुर इत्यादि स्थानों में इसी कारण जनसंख्या का घनत्व अधिक है। इसी प्रकार व्यापारिक नगरों की जनसंख्या भी अधिक होती है। भारत एक कृषिप्रधान देश है और किसान वर्ष में कुछ मास बेकार रहते हैं और कृषि-मजूरों की भी संख्या काफी है। अतएव भारत में जिन-जिन प्रदेशों में कृषि की अच्छी सुविधाएँ हैं और जहाँ-जहाँ उद्योग-धन्धों की स्थापना हो चुकी है वहीं अधिक जनसंख्या है, पहाड़ी प्रदेशों और अर्ध-रेगिस्तानों में नहीं।

सुरक्षा :—प्रत्येक मनुष्य जीवन को बनाये रखना चाहता है और श्रम से अर्जित सम्पत्ति की सुरक्षा चाहता है। अतएव वह ऐसे स्थानों में रहना पसन्द करेगा जहाँ उसे सुरक्षा मिल सके। जनता प्रायः ऐसे स्थानों को निर्जन छोड़ देती है जहाँ लूट-मार, डाके इत्यादि का भय होता है।

इन सब कारणों के साथ ही जन्मभूमि का प्रेम भी महत्त्वपूर्ण कारण हो सकता है। मनुष्य शीघ्र अपने पूर्वजों के स्थान को छोड़कर दूर जाना पसन्द नहीं करता है। विभिन्न प्रदेशों के रीति-रिवाजों में विभिन्नता होने से भी जन्मस्थान छोड़ने से कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतएव ऐसे स्थान जहाँ पूर्वज किन्हीं कारणों से बस गये थे परिस्थितियाँ अनुकूल न होने पर भी वे उसी स्थान पर बसे रहते हैं। इसे प्रान्तीयता की भावना भी कह सकते हैं।

सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या का घनत्व २४६ है।

यदि प्रत्येक प्रान्त के अनुसार देखें तो जनसंख्या का घनत्व निम्न प्रकार से है:—

प्रान्त	जनसंख्या का घनत्व	प्रान्त	जनसंख्या का घनत्व
बंगाल	७७९	सिन्ध	९४
बिहार	५२१	मध्य प्रान्त और बरार	१७०
उड़ीसा	२७१		
उत्तर प्रदेश	५१८	आसाम	१८६
सीमाप्रान्त	२१३	राजपूताना	९१
मद्रास	३९१	मध्य भारत	१०० से ऊपर
पंजाब	२८७		
बम्बई	२७२		

पेशों के अनुसार सबसे अधिक जनसंख्या खेती करती है। इसके पश्चात् उन श्रमिकों की संख्या है जो विभिन्न उद्योग-धन्धों में कार्य करते हैं। परन्तु देश के विभाजन और नवीन उद्योगों के खुलने से जनसंख्या के इस विभाजन में भी काफी अन्तर आ गया है परन्तु कृषि पर काम करने-वालों की संख्या में कमी संभव नहीं है।

अभ्यास के प्रश्न

१. पिछले दस वर्षों में भारतवर्ष की जनसंख्या में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं ? इसका संक्षेप में वर्णन कीजिये।

२. जनसंख्या के घनत्व से आप क्या समझते हैं ? जनसंख्या का घनत्व किन बातों पर निर्भर होता है ?

अध्याय ४४

श्रम-विभाजन

श्रम-विभाजन मनुष्य की सहयोग भावना का फल है। मनुष्य के आर्थिक जीवन के आरम्भ में अति न्यून आवश्यकताएँ थीं जिनकी पूर्ति वह अपने ढंग से कर लेता था। परन्तु समय के साथ-साथ उसका गतिशील जीवन प्रगति करता गया और नयी समस्याओं, नयी रीतियों का उसकी उत्पादन प्रणाली पर पूर्ण प्रभाव पड़ता रहा। क्रमशः उसका सहयोगी जीवन आरम्भ हुआ और अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने सामूहिक प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। समूह के सदस्यों को विभिन्न कार्यों या कार्यों के अंग-उपांगों की व्यवस्था करने के लिये विभाजित किया जाने लगा। यह श्रम-विभाजन का पूर्व रूप था। इसका विकास तब एक सीमा पर पहुँच गया था जब समाज के स्तम्भों ने उचित व्यवस्था के हेतु समाज में चार वर्णों को जन्म दिया। नीति, रक्षा, वाणिज्य और सेवा के चार रूप समाज-शासन के चार अंग बने जिनका महत्त्व श्रम-विभाजन पर आधारित था।

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। मनुष्य ने अपनी आवश्यकता के अनुसार अनेक मशीनों का आविष्कार कर लिया है जो उसके लिए श्रम करती हैं। जनसंख्या में वृद्धि, आवश्यकताओं में वृद्धि और मनुष्य के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ने श्रम-विभाजन के प्राचीन रूप को पूर्णतया तिलांजलि दे दी है। वह आज उत्पादन केवल वर्तमान की पूर्ति के लिये ही नहीं वरन् भविष्य की पूर्ति के लिये भी करता है। तात्पर्य यह है कि उत्पादन अधिक परिमाण में किया जाता है। इस प्रवृत्ति के अनुसार एक छोटी सी वस्तु के उत्पादन-श्रम को कई भागों में विभाजित कर दिया गया है जिससे सरलता, परिमाण और गुणों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिये पहले कपड़े का उत्पादन एक-एक व्यक्ति या उनका एक समूह करता था। वह रूई पैदा करने से लेकर चर्खे-कर्घे में कपड़ा बुनने तक का काम स्वयं करता था। परन्तु आज उत्पादन का यह ढंग कदापि सफल नहीं हो सकता है। वर्तमान में रूई का उत्पादन, उसका धुनना, कतना और उससे विभिन्न प्रकार के कपड़ों का बुना जाना कई भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ है, केवल एक कपड़े की मिल में यदि इस प्रणाली का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन के ये अंग-उपांग विभिन्न प्रकार के होते हुए भी एक सूत्र में बँधे होते हैं। एक कोने में रूई धुनी जाती है और मशीनों के द्वारा दूसरे कोने में तैयार कपड़े

के लिपटे थान निकाले जाते हैं। इसी प्रकार जूते के कारखाने में जूते बनाने का काम भी इसी प्रणाली से होता है। एक-एक मोची को एक-एक जोड़ा जूता बनाने के लिये नियुक्त नहीं किया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान उत्पादन प्रणाली के अनुसार एक वस्तु का उत्पादन अनेक छोटे-छोटे भागों में बाँटा जाता है और इन विभिन्न भागों अथवा क्रियाओं में मज़दूरों के अनेक समूह श्रम करते हैं। एक वस्तु के उत्पादन में श्रम को इस प्रकार विभाजित करना ही श्रम-विभाजन कहलाता है।

श्रम-विभाजन प्रायः तीन मुख्य भागों में बाँटा जाता है। साधारण श्रम-विभाजन श्रम के उस रूप की ओर संकेत करता है जहाँ कई मनुष्य मिलकर किसी कार्य को करते हैं। इस सहयोग में मनुष्यों अथवा समूहों की सम्मिलित शक्ति का प्रयोग किया जाता है। यदि वह कार्य केवल एक व्यक्ति को सौंप दिया जाय तो वह उसे सम्पन्न कर सकने में असमर्थ रहेगा। उदाहरण के लिये सड़क कूटनेवाले रोलर को ढकेलकर सड़क बराबर करने का काम एक व्यक्ति को दे दिया जाय तो वह उसे नहीं कर सकता है। परन्तु यदि श्रमिकों का एक समूह केवल इस बात के लिये नियुक्त कर दिया जाय तो सड़क कूटने व बराबर करने का कार्य अधिक सरलता से सम्पन्न हो सकेगा। यह साधारण श्रम-विभाजन का रूप है।

परन्तु मशीनों के प्रयोग से उत्पादन-कार्य का विभाजन अनिवार्य हो गया है। अब किसी कार्य को पूरा करने के लिए कई प्रकार की मशीनें व मनुष्य लगाये जाते हैं और प्रत्येक को कार्य का एक भाग सौंप दिया जाता है। श्रम-विभाजन का यह वास्तविक रूप है। उदाहरणार्थ एक कपड़े की मिल में श्रमिकों को कई समूहों में विभक्त किया जाता है जो कार्य के एक भाग को पूर्ण रूप से करने के लिये बने होते हैं। एक समूह केवल रूई धुनने का कार्य, दूसरा धुनी रूई से मशीनों की सहायता से सूत कातने का कार्य, तीसरा बुनने का कार्य इत्यादि पूर्ण रूप से सम्पन्न करता है। इसे श्रम-विभाजन का विषम रूप कहते हैं।

श्रम प्रायः गतिशील होता है और उसकी प्रवृत्ति सदा उत्पादन केन्द्रों की ओर ही आकृष्ट होती है। उत्पादन केन्द्र उद्योगपति साधारणतया ऐसे स्थानों पर स्थापित करते हैं जहाँ उत्पादन की जानेवाली वस्तु के उपयुक्त सामग्री—जैसे खनिज पदार्थ, श्रम, पूँजी, यातायात की सुविधाएँ इत्यादि सरलता से उपलब्ध हो सकें। इसका विस्तृत वर्णन 'उद्योग-धन्धों का स्थानीय-करण' शीर्षक अध्याय में किया गया है। इस उत्पादन-प्रवृत्ति में जलवायु का भी प्रमुख स्थान होता है। ऐसी स्थिति में अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे स्थापित किये जाते हैं और उद्योग-धन्धों के इस प्रकार

के विभाजन के फलस्वरूप श्रम का भी उक्त आधार पर ही विभाजन हो जाता है जैसे, दार्जिलिंग में केवल चाय का उत्पादन होता है और वहाँ के श्रमिक इस उत्पादन-प्रणाली में चतुर होते हैं। जमशेदपुर में लोहे व इस्पात का उत्पादन करनेवाले चतुर श्रमिक होते हैं। श्रम के इस विभाजन को, जो प्रायः स्थानीयकरण का ही दूसरा रूप है प्रादेशिक अथवा भौगोलिक श्रम-विभाजन कहते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि श्रम-विभाजन का विचार अत्यन्त प्राचीन मनुष्य जाति में भी था और मनुष्य के मानसिक व सामाजिक विकास के साथ इसका भी विकास हुआ। आधुनिक काल में मशीनों के आविष्कार और मनुष्य के व्यवहार का व्यापक क्षेत्र होने से श्रम-विभाजन अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है। इन क्रमिक विकास की श्रेणियों पर विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

(१) आर्थिक जीवन का इतिहास इस तथ्य की स्थापना करता है कि जब समाज साधारण से विषम की ओर बढ़ रहा था तब श्रम का विभाजन जो समाज व शासन की उचित व्यवस्था के लिये उचित था पेशों के आधार पर निश्चित किया गया। समाज के चार प्रधान पेशे चार जातियों के रूप में आज भी अपने उस विभाजन का स्थूल परिचय देते हैं। यह पेशेवार श्रम-विभाजन आज भी वर्तमान है। इस पेशेवार श्रम-विभाजन का महत्त्व अदल-बदल (Barter) की प्रणाली में अधिक लाभकर सिद्ध हुआ। मनुष्यों के विभिन्न समूहों ने साधारणतया उन पेशों को अपना प्रधान कार्य समझा जिनको वे सुगमता और अच्छी तरह से कर सकते थे। इस प्रकार किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन में दक्षता प्राप्त करना सरल भी था। जूते बनाने का श्रम करनेवाला समूह चमार, कपड़े बनानेवाला जुलाहा, कपड़ा धोनेवाला धोबी इत्यादि पेशेवार नामकरण भी हो गया। आज समाज में ये विभिन्न नाम के श्रमिक-समूह वर्तमान हैं और केवल नाम ही से जो इनके पेशों का द्योतक है हम श्रम के प्रकारों का अनुमान लगा सकते हैं। पेशेवार श्रम-विभाजन का देश के आर्थिक व सामाजिक इतिहास में बड़ा महत्व है। पेशेवार श्रम-विभाजन का जातियों का रूप लेना व इनमें परस्पर आन्तरिक संघर्ष होना सभ्यता के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है जिसका प्रभाव आज भी यथावत् वर्तमान है।

(२) दूसरे प्रकार का श्रम-विभाजन उद्योग-धन्धों के अनुसार किया गया है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ लोगों की माँग भी बढ़ने लगी जिसकी पूर्ति एक पेशेवर या उनका एक बिखरा समूह नहीं कर सकता था। अतएव धनी व्यक्तियों ने इस अवसर का लाभ उठाया। उन्होंने इन पेशेवर श्रमिकों को कुछ वेतन पर अपने कारखानों में नियुक्त कर दिया।

इस प्रकार कई चमड़े के कारखाने खुल गये जिनमें काफी संख्या में चमड़े के काम में दक्ष मजूर कार्य करने लगे। इससे पहले मजूर को एक छोटी कील से लेकर बड़े से बड़ा सामान स्वयं खरीदना पड़ता था और सामान तैयार करके स्वयं बेचना भी पड़ता था। परन्तु अब कारखानों में उन्हें केवल अपना काम करना पड़ता है और अन्य आवश्यक सामान कारखाने का मालिक दिया करता है। एक मोची यदि दिन भर कारखाने में दो जोड़ा जूता बनाता है या एक बढ़ई चार मेज बनाता है तो उनका वेतन उनके इस काम के अनुसार घटता-बढ़ता नहीं है वरन् वह निश्चित है। कारखाने का स्वामी इनसे अधिक से अधिक काम लेना चाहता है और कम से कम वेतन देना। वह तैयार माल को जब उनकी माँग बढ़ेगी ऊँचे दामों पर बेच सकता है या कुछ दिनों न वेचकर माँग को और बढ़ने दे सकता है परन्तु मजूरों का इससे कुछ सम्बन्ध नहीं होता है और न वे कारखाने के मालिक के हानि-लाभ में हिस्सेदार ही होते हैं।

पूर्व विभाजन में मजूर अपने श्रम से तैयार वस्तु का विक्रय करते थे परन्तु अब अपने समय और श्रम का विक्रय करते हैं। पहले वे स्वतन्त्रता से उत्पादन कर सकते थे परन्तु अब उनकी वह स्वतन्त्रता नहीं रही क्योंकि वे मजूरी करते हैं। इससे हानि और लाभ दोनों हैं। स्वतंत्र रूप से उत्पादन करने में यह संभव हो सकता है कि श्रमिक अपना काम पूरा करने के लिये पूँजी एकत्र न कर सके या तैयार माल को उचित मूल्य से कम में बेचने को विवश हो जाय। इससे उसे हानि होती। परन्तु कारखाने में जब तक वह कार्य करेगा उसका वेतन निश्चित होगा। इससे उसके तथा उसके परिवार के जीवन में कुछ स्थिरता आ जायेगी तथा अनेक श्रमिकों से मिलकर उसको अपने श्रम की नयी विशेषताओं का भी अनुभव होगा।

(३) तीसरे प्रकार का श्रम-विभाजन, श्रम-विभाजन की आधुनिक प्रणाली कही जा सकती है। आज पहले से कई गुना उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता है। विज्ञान के नवीन आविष्कारों ने जहाँ मनुष्य को एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण दिया है वहाँ उत्पादन के क्षेत्र में बड़े-बड़े परिवर्तन कर दिये हैं। सभ्यता के विकास के साथ लोगों की रुचियों में भी विशेष अन्तर आ गया है। इससे अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे चल पड़े हैं। कपड़े के विभिन्न प्रकारों का उत्पादन करने के लिये अनेक कारखाने हैं। उत्पादन-प्रणाली में मशीनों का अधिक प्रयोग किया जाता है और प्रत्येक उत्पादक न्यूनतम व्यय में अधिकतम उत्पादन करना चाहता है। इसलिये इस उत्पादन-प्रणाली में श्रम-विभाजन भी विशेष प्रकार से किया गया है।

आज देश में अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे स्थापित हैं जैसे, कपड़े

चीनी, लोहे इत्यादि के। प्रत्येक उद्योग-धन्धे में हजारों श्रमिक काम करते हैं जिन्हें एक निश्चित वेतन मिलता है। श्रमिकों से उत्पादन की किसी लम्बी क्रिया में काम नहीं लिया जाता है वरन् उस क्रिया के कई भाग कर दिये जाते हैं और प्रत्येक भाग में मजूरों का एक समूह मशीन की सहायता से अपना काम करता है। कपड़े के कारखाने में कुछ मजूर केवल रूई की गाँठें उतारते-चढ़ाते हैं, कोई रूई मशीन से धुनते हैं, कुछ उससे विभिन्न प्रकार का सूत कातनेवाली मशीन में काम करते हैं, कुछ केवल रंग की व्यवस्था करते हैं तथा कुछ श्रमिक कपड़े के थानों की गाँठों को सीते-सँभालते हैं इत्यादि। ये अनेक समूह परस्पर के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते हैं और इस प्रकार एक उद्योग के लिये आवश्यक विभिन्न उत्पादन-क्रिआओं में विशेषता प्राप्त कर लेते हैं। इन विभिन्न विभागों का निरीक्षण भी सरलता से किया जा सकता है। इसी प्रकार लोहे और इस्पात के कारखानों में, चाय और चीनी के कारखानों में मजूरों का अथवा श्रम का विभाजन किया जाता है। इससे काम शीघ्र होता है।

(४) चौथे प्रकार का श्रम-विभाजन उक्त श्रम-विभाजन का विकसित रूप है। बड़े-बड़े कारखानों में इसका प्रयोग किया गया है। श्रमिक का अधिकांश कार्य तो केवल मशीन ही कर लेती है तथापि उत्पादन की एक सम्पूर्ण क्रिया के कई भागों में श्रमिक एक छोटी पूर्ण क्रिया को करते हैं जैसे पूर्व के श्रम-विभाजन में बताया गया है। एक समूह केवल रूई धुनने, दूसरा कातने, तीसरा बिनने का कार्य करता है। परन्तु इस नवीन श्रम-विभाजन के अनुसार इन छोटी पूर्ण क्रियाओं को भी अनेक छोटी अपूर्ण क्रियाओं में विभाजित कर दिया गया है। इसका प्रयोग विशेषकर इस्पात के कारखानों में किया जाता है तथा बड़ी-बड़ी मशीनों में। तात्पर्य यह है कि उत्पादन की छोटी से छोटी क्रिया को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग रखने की चेष्टा की जा रही है जिससे काम सुचारू रूप से चल सके और मशीनों में थोड़ी सी भी गड़बड़ी होते ही एकदम ठीक की जा सके। यह श्रम-विभाजन औरों से अधिक वैज्ञानिक है और श्रमिक को अधिक काम नहीं करना पड़ता है।

श्रम-विभाजन से लाभ और हानियाँ

उत्पादन के दृष्टिकोण से आधुनिक उत्पादन-प्रणाली की श्रम-विभाजन एक अत्यावश्यक क्रिया है। श्रम-विभाजन की क्रिया से हुई लाभ और हानियों पर एकदम मत प्रकट करने से पहले इस क्रिया के विकास के इतिहास पर एक दृष्टि डालना अधिक उपयुक्त होगा। श्रम-विभाजन का भाव आर्थिक इतिहास के आरम्भ में अवश्य था; मनुष्य की आर्थिक,

सामाजिक एवं राजनैतिक प्रगति हुई; परिस्थितियों और साधनों के अनुकूल सभ्यता का विकास हुआ; जनसंख्या में वृद्धि हुई और मनुष्य गाँव से देश एवं देश से अन्तर्देशीय दृष्टिकोण को अपनाने लगा। इस विकास के साथ-साथ समाज के हर पक्ष को प्रभावित करता हुआ श्रम-विभाजन का पूर्व-भाव विकसित हुआ, आवश्यकतानुसार इसमें गंभीर परिवर्तन हुए; औद्योगिक क्रान्ति से श्रम की महत्ता बढ़ी और साथ ही इसके आधुनिक रूप की नींव पड़ी। अतएव जो क्रिया इस प्रकार समाज के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करती आई हो और स्वयं समयानुसार प्रभावित और परिवर्तित होती रही हो एकदम लाभदायक या हानिकारक नहीं कही जा सकती है। गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने से विदित होगा कि विशेषकर श्रम-विभाजन की हानियों को लाभ में बदला जा सकता है। ये हानियाँ समाज के पूर्ण विकास के अभाव पर टिकी हैं; जिस दिन समाज उन अभावों को दूर कर देगा ये हानियाँ लाभ में बदल जायेंगी। परन्तु अल्पकालीन दृष्टिकोण से ये हानियाँ समाज के हेतु अहितकर प्रतीत होती हैं। यह इसलिये होता है कि हम उत्पादन-क्रिया को समाज से पृथक् करके देखते हैं जो अनुचित है। श्रम-विभाजन से लाभ और हानियों का संक्षेप में निम्नलिखित वर्णन किया गया है :—

आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। मनुष्य ने अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सदा प्रयत्न किया और विज्ञान की सहायता से नवीन आविष्कार किये। उत्पादन के क्षेत्र में श्रम-विभाजन का इन आविष्कारों से विशेष महत्व बढ़ा। इन आविष्कारों का सारा श्रेय श्रम-विभाजन की क्रिया को दिया जाना चाहिये। उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया के अनेक उपविभागों में काम करनेवाले चतुर श्रमिक सदा इस प्रयत्न में रहे हैं कि उनके काम में सरलता किस प्रकार आ सकती है। वे प्रायः जिस मशीन पर कार्य करते हैं उसमें सुधार करते रहते हैं। प्रत्येक श्रमिक यही चाहता है कि उसे शारीरिक श्रम अधिक न करना पड़े और इसके लिये उसे मशीनों की सहायता लेनी पड़ती है। श्रम-विभाजन के कारण श्रमिक किसी न किसी प्रकार के श्रम में दक्ष होता है, उसकी छोटी से छोटी कठिनाइयों और जटिलताओं को समझता है। इनको सुलझाने में ही वह नवीन मशीन का आविष्कार कर लेता है।

बढ़ती हुई माँग की पूर्ति उत्पादन की पुरानी रीति से नहीं की जा सकती है। उत्पादन के क्षेत्र में सबसे बड़ी समस्या अधिक उत्पादन करने की है। श्रम-विभाजन से अधिक उत्पादन करने में काफी सहायता मिली है। प्रत्येक उत्पादक आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों का, मशीनों तथा विधियों का प्रयोग करने का प्रयत्न करता है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रणालियाँ श्रम-

विभाजन के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। श्रम की पूर्ण क्रिया के अनेक उपविभागों का कार्य करने के लिये अनेक छोटी-छोटी मशीनें बनी हैं जिनकी उत्पादन-शक्ति बहुत होती है और कम समय में प्रति इकाई कम व्यय करने पर अधिक उत्पादन किया जा सकता है। अतएव बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिये, जो आधुनिक माँग की वृद्धि के अनुकूल पूर्ति कर सकने के लिये उपयुक्त विधि है, प्रत्येक उत्पादक अनेक प्रकार की मशीनों का अधिक से अधिक प्रयोग करता है जिससे श्रम-विभाजन का सिद्धान्त कारखानों में स्वयं लागू हो जाता है। दियासलाई के कारखानों में पहले बहुत बड़ी संख्या में मजूर काम करते थे। कुछ तख्ते चीरते, कुछ मशीन की सहायता से छोटी सीकें तैयार करते, कुछ उनमें मसाला लगाते और कुछ उनको रखने के लिये डब्बे बनाकर उनमें कागज इत्यादि लगाते थे। यद्यपि श्रम-विभाजन इस प्रकार की क्रिया में भी था परन्तु उसे पूर्ण-क्रियावार श्रम-विभाजन कह सकते हैं। इससे उत्पादन शीघ्र और बड़ी मात्रा में नहीं हो पाता था साथ ही उत्पादन व्यय भी अधिक होता था। परन्तु नवीन मशीनों की सहायता से यह कार्य अतिशीघ्र हो जाता है। श्रमिकों की संख्या घट गयी है परन्तु जो श्रमिक कार्य करते हैं उनकी शारीरिक-श्रम की मात्रा पहले से घट गयी है। वे केवल मशीन के कार्य का निरीक्षण करते रहते हैं तथा मशीन में कच्चे माल की पूर्ति में सहायता देते हैं।

उक्त क्रिया से यह स्पष्ट हो गया है कि श्रमिक उत्पादन-क्रिया के उपविभागों में बिना अधिक परिश्रम किये उत्पादन कार्य करते हैं। इस प्रकार के विभाजन से समय की बड़ी बचत होती है। जिस कार्य को करने के लिये ६ घण्टे की आवश्यकता थी, श्रम-विभाजन से वह कार्य १ घण्टे में बड़ी सरलता और सुन्दरता से हो जाता है। आधुनिक काल में समय का विशेष मूल्य है। प्रत्येक उत्पादक कम से कम समय में अधिक से अधिक उत्पादन करना चाहता है जिससे उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे और उसके बाजार पर दूसरा उत्पादक अपना प्रभाव न जमा ले। इससे श्रमिकों को भी लाभ पहुँचता है। पहले उन्हें जितने घण्टे काम करना पड़ता था उसी वेतन पर वे अब उसके आधे समय काम करते हैं और खाली समय को अपने स्वास्थ्य, सम्पत्ति इत्यादि को बढ़ाने में लगा सकते हैं। इस खाली समय में उचित व्यवस्था की जाने पर उनका मानसिक विकास भी हो सकता है तथा उनकी कार्यक्षमता भी बढ़ सकती है।

श्रमिक को उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया को पूरी तरह से समझना नहीं पड़ता है। वह थोड़े ही समय में अपने उपविभाग के काम में दक्षता

प्राप्त कर लेता है। उस उपविभाग में प्रयोग की जानेवाली मशीनों का उसे पूरा ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार थोड़े ही समय में वह अकुशल श्रमिक से कुशल श्रमिक बन जाता है और श्रम की माँग के दृष्टिकोण से उसका मूल्य भी बढ़ जाता है। यदि श्रम-विभाजन की यह सुविधा न होती तो श्रमिक जीवन भर मशीन के विशाल घेरे में चक्कर काटता रहता, उसकी अनेक क्रियाओं का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर भी लेता परन्तु उसे कुशल श्रमिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वह किसी भी उपविभाग को संभालने में असमर्थ रहता। श्रम-विभाजन से अकुशल श्रमिक इस प्रकार चाहे वह अनेक क्रियाओं से भलीभाँति परिचित न हो पर एक विशेष कार्य में दक्ष हो सकता है और अपनी चतुरता से उसमें सुधार करके अपने श्रम के महत्त्व को बढ़ा सकता है।

उत्पादक के दृष्टिकोण से श्रम-विभाजन से उत्पादन व्यय न्यूनतम किया जा सकता है। श्रम-विभाजन की पूर्व स्थिति में उसे श्रमिकों की अधिक संख्या नियुक्त करनी पड़ती थी, अधिक घण्टे काम कराना पड़ता था जिससे निरीक्षण इत्यादि का अतिरिक्त व्यय बढ़ता था। इसके साथ ही प्रत्येक श्रमिक एक पूर्ण-क्रिया को करता था इससे प्रत्येक श्रमिक के पास आवश्यक यन्त्रों और औजारों का होना आवश्यक था। परन्तु श्रम-विभाजन की आधुनिक प्रणाली से यह अतिरिक्त व्यय कम हो गया है। यन्त्रों और औजारों के एक सेट से श्रमिकों का एक समूह काम कर सकता है।

श्रम-विभाजन से बड़ी मात्रा में उत्पादन करने में बड़ी सहायता मिली है। आन्तरिक और बाह्य मितव्ययता (Internal and External Economics) का पूरा लाभ उत्पादक के नियन्त्रण में है जिसका वर्णन उत्पादन के क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि-नियम (Law of Increasing Returns) के अन्तर्गत किया गया है।

यदि उत्पादन क्षेत्र में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त लागू न किया जाता तो उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुएँ सस्ते दामों पर न मिल पाती। द्रव्य के अभाव में उपभोक्ता अपनी बहुत सी आवश्यकताएँ अतृप्त ही रखते; माँग घटने से उन वस्तुओं का उत्पादन भी कम होता और श्रमिकों की एक बड़ी संख्या बेकार हो जाती। इन अभावग्रस्त प्राणियों का समाज के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता। आर्थिक अभाव से रहन-सहन का दर्जा गिरता जाता जिससे लोगों का मानसिक विकास एक सीमा तक रुक जाता। परन्तु श्रम-विभाजन के विकास ने इन समस्याओं को बहुत कुछ हल कर दिया है। वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में, सस्ते मू॰ पर और अधिक अच्छे गुण (Quality) वाली प्राप्त हो सकती हैं। उपभोक्ता अपनी निर्वाचन-शक्ति (Choice) का प्रयोग कर सकता है और न्यूनतम व्यय

से अधिकतम उपयोगिता ग्रहण कर सकता है। वस्तुओं के सरलता से प्राप्त हो सकने से, श्रमिकों और उपभोक्ताओं के समय में बचत होने से और समाज की आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि होने से सारे समाज के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा उठा है और मानसिक विकास में पर्याप्त सहायता मिली है। इससे श्रमिकों में सहयोग-भावना का प्रचार भी सम्भव हो सका है। यदि उचित व्यवस्था की जाय तो उनकी इन सुविधाओं से उनके जीवन के प्रत्येक पक्ष का विकास किया जा सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण से इसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

लाभ के साथ ही श्रम-विभाजन से अनेक हानियाँ भी बतलायी गयी है जिनका विवरण नीचे दिया जाता है।

श्रम-विभाजन की प्रणाली में श्रमिक को उत्पादन-क्रिया के एक उप-विभाग में निरन्तर काम करना पड़ता है। उसकी कार्य-प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्तन शीघ्र नहीं होता है। परिवर्तन तभी सम्भव होता है जब श्रमिक उस कारखाने में काम करना छोड़कर अन्य किसी दूसरी वस्तु के कारखाने में काम करने लगे या अपनी विशेष कुशलता का परिचय देकर उसी कारखाने के किसी अन्य अच्छे विभाग में नियुक्त कर दिया जाय। परन्तु साधारण रूप से ऐसा कम होता है। श्रमिक निरन्तर एक ही प्रकार का काम करने से ऊब जाता है, उसकी गति में शिथिलता आ जाती है और उसका जीवन नीरस एवं शुष्क हो जाता है। मनुष्य जीवन में एकरसता नहीं चाहता है। उसे परिवर्तन प्रिय है। जीवन की इसी विभिन्नता-प्रिय प्रवृत्ति के बल पर मनुष्य उन्नति करता है। परन्तु श्रम-विभाजन जीवन के इस प्राकृतिक विकास को रोक देता है।

परिवर्तन से ही मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ती है। वह वातावरण के उपयुक्त अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में ही वह नवीन आविष्कार करता है, नये विचारों को जन्म देता है और नये वातावरण से बहुत कुछ सीखकर अपने ज्ञान में वृद्धि करता है। परन्तु श्रम-विभाजन से परिवर्तन का अभाव हो जाता है। श्रमिक नित्य एक ही प्रकार से काम करने के कारण अपने कर्तव्य के प्रति सजग न रहकर उदासीन हो जाता है। उसी जानी-पहिचानी मशीन से अधिक कुछ नहीं सीख सकता है वरन् स्वयं मशीन के एक पुर्जे की तरह काम करने लगता है। इस प्रकार के निरन्तर अभ्यास से उसकी प्रकृति भी इसी प्रकार की उदासीन, अपरिवर्तनशील हो जाती है। उसका मानसिक विकास रुक जाता है। यह श्रमिक और समाज के लिये बहुत हानिकारक बात है।

यदि श्रमिक वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करता तो वह उसमें इच्छा-

नुसार परिवर्तन कर सकता था। अपनी कार्यक्षमता और कार्यकुशलता का परिचय देकर वह श्रम के महत्त्व को बढ़ा सकता था। प्राचीन कारीगर अपने कौशल का विकास इसी कारण कर सके क्योंकि वे स्वतन्त्र रूप से अपनी वस्तु का उत्पादन करते थे। नित्य नये प्रयोग करके वस्तु को अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते थे इससे उनका मानसिक विकास भी होता था और उनकी निरीक्षण-शक्ति भी बढ़ती थी। श्रम-विभाजन से श्रमिक के जीवन का यह पक्ष एक प्रकार से नष्ट ही हो गया है। उसे विज्ञान के आविष्कारों के सहारे नियमित रूप से एक विशेष प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करना पड़ता है जिसमें वह स्वयं कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता है। अपनी इच्छा के अनुरूप उसे सुन्दर (Artistic) नहीं बना पाता है। एक क्रिया के उपविभाग करके श्रमिक की शेष कुशलता भी नष्ट हो गयी है। वह पूर्ण क्रिया से अपरिचित होता है। केवल अपने विभाग के कार्य को जानता है। उदाहरणार्थ एक कपड़े की मिल का मजूर यदि वह सूत कातने के विभाग में काम करता है तो कपड़ा बुनने की क्रिया से अपरिचित रहता है या एक जूते के कारखाने का मजूर यदि टाँका लगाने में दक्ष है तो जूते की कटाई व डिजाइन के विषय में पर्याप्त नहीं जानता है। श्रम-विभाजन की आधुनिक प्रणाली से श्रमिक की कुशलता एकांगी हो गई है जो उसके लिये हानिकारक है।

श्रमिक की एकांगी कुशलता का उसके रोजगार पर भी प्रभाव पड़ता है। उसे एक कारखाने से अलग होने पर शीघ्र दूसरे कारखाने में काम मिलना सम्भव नहीं है। यह हो सकता है कि जिस क्रिया में वह दक्ष हो दूसरे कारखानों के उस विभाग में कोई रिक्त स्थान न हो। इस कारण श्रम की गतिशीलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रमिक की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उसे विवश होकर अपने एक ही स्थान पर कार्य करना पड़ता है।

श्रम-विभाजन से उत्पादन की पूर्ण क्रिया के कई ऐसे उपविभाग भी कर दिये जाते हैं जहाँ काम विशेष जटिल नहीं होता है। ऐसे उपविभागों में उत्पादक सदा बच्चों और स्त्रियों को कम वेतन पर नियुक्त करते हैं और श्रम अधिक करवाते हैं। इससे बच्चों और स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, उनका शारीरिक और मानसिक विकास रुक जाता है। श्रमिकों में इससे भ्रष्टाचार फैलता है। ऐसे स्थानों में विशेषकर श्रमिक अपनी स्त्री और बच्चों की नियुक्ति करवाते हैं जिससे परिवार के भरण-पोषण के लिये अधिक द्रव्य कमाया जा सके। परन्तु इससे श्रमिक के गृह-जीवन में अशान्ति फैलती है जिससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। भारतवर्ष के श्रमिक-समाज का गृह-जीवन इसी कारण बहुत गिरा हुआ है।

आधुनिक उत्पादन-प्रणाली में उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण का विशेष महत्त्व है। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिये उत्पादक अपने कारखानों को ऐसे स्थानों पर स्थापित करते हैं जहाँ, श्रम, पूँजी, कच्चा माल, खनिज-पदार्थ इत्यादि सरलता से मिल सकें और जहाँ संवाद और यातायात की सुविधा से उत्पादन के अतिरिक्त-व्यय कम किये जा सकें तथा आन्तरिक और बाह्य मितव्ययता (Internal & External Economics) का पूरा लाभ उठाया जा सके। इससे प्रायः उस स्थान के श्रमिक एक ही प्रकार के कारखानों की विभिन्न क्रियाओं में अभ्यस्त हो जाते हैं और उन्हीं पर पूर्णतया निर्भर भी रहते हैं। यदि किसी कारण उद्योग-धन्धे की योजना असफल हो जाय तो उस क्षेत्र के सारे श्रमिक बेकार हो जाते हैं। एकांगी ज्ञान के कारण दूसरे अन्य कारखानों में उनकी नियुक्ति शीघ्र नहीं हो सकती है। कम पारिश्रमिक पर उन्हें दूसरा काम एक अकुशल श्रमिक की तरह करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि श्रम-विभाजन की इस प्रणाली से श्रमिक की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गई है। उसका जीवन उत्पादक की दया पर निर्भर हो गया है। श्रमिक में काम करने का उत्साह नहीं रहा है।

श्रम-विभाजन से हुई हानियों का विवेचन कर चुकने के उपरान्त इस बात पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा कि क्या उक्त हानियों का कारण श्रम-विभाजन है? यदि गंभीरतापूर्वक उक्त हानियों पर विचार करें तो विदित होगा कि उनका कारण श्रम-विभाजन नहीं वरन् कुछ और है।

श्रम-विभाजन के अनुसार काम करने से प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य में थोड़े ही समय में दक्षता प्राप्त कर लेता है। इससे उसे अवश्य अकुशल मजूर से अधिक पारिश्रमिक मिलता है। यदि उसकी नियुक्ति नये-नये कामों में कर दी जाय तो सब क्रियाओं को पूरा-पूरा समझ सकना उसके लिये दुष्कर हो जायेगा। यदि वह किसी कारणवश कारखाने से अलग हो जाय तो उसकी स्थिति एक अकुशल श्रमिक के समान ही होगी। उसे वेतन कम मिलेगा जिससे उसके जीवन में अनेक नयी समस्याएँ उत्पन्न हो जायेंगी। परन्तु एक कुशल श्रमिक यदि बेकार है तो अकुशल श्रमिक के बराबर अवश्य अर्जन कर सकता है परन्तु अपनी कुशलता के कारण उसकी नियुक्ति शीघ्र हो सकती है और उसे वेतन भी अधिक मिलेगा। किसी कार्य में, चाहे वह पूर्ण क्रिया का एक उपविभाग ही क्यों न हो; विशेष योग्यता (Specialisation) प्राप्त करना सदा लाभदायक सिद्ध होगा और इसीसे वह सफल-श्रमिक भी हो सकता है। जहाँ तक जीवन में परिवर्तन और भिन्नता (Variety) होने का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन और भिन्नता बाह्य-जीवन की आवश्यकताएँ हैं

जिनकी पूर्ति तब तक नहीं की जा सकती है जब तक जीवन का आधार अर्थात् आर्थिक स्थिति दृढ़ न हो। यदि श्रमिक को द्रव्य का अभाव है, परिवार की समस्या उसके सामने है तो उसको दूर करने के लिये जीवन की परिवर्तनशीलता और भिन्नता सहायक नहीं होती हैं। एक कुशल श्रमिक अपनी विशेष योग्यता के बल पर अधिक पारिश्रमिक लेकर इन समस्याओं की एक अकुशल और भिन्नता-प्रिय श्रमिक से शीघ्र सुलझा लेगा। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन और भिन्नता का श्रमिक के कार्य से कुछ विशेष सम्बन्ध नहीं है। ये श्रमिक के कार्य की सफलता पर निर्भर होते हैं।

यदि श्रमिक को शीघ्र नये काम में नियुक्त किया जाय तो अधिकांश में श्रमिक अपने कार्य के प्रति सजग नहीं रहेगा, उसकी पूर्ण क्रियाओं को समझने का कष्ट नहीं करेगा, क्योंकि उसे मालूम है कि शीघ्र ही उसकी नियुक्ति किसी अन्य विभाग में होगी। इससे उत्पादक की और स्वयं श्रमिक की कार्यक्षमता की हानि होगी। श्रम-विभाजन का मुख्य उद्देश्य है कि उत्पादन अधिक हो, प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम हो और श्रमिकों को अधिक वेतन तथा विश्राम मिल सके। अधिक वेतन और अधिक विश्राम श्रमिक की कार्यकुशलता पर निर्भर हैं और उन्हीं के आधार पर वह अपने जीवन में नवीनता का समावेश कर सकता है।

श्रम-विभाजन से प्रत्येक श्रमिक अपने विभाग के कार्य में दक्ष होता है जिससे उस विभाग द्वारा उत्पादित वस्तु में आकार-प्रकार की सुन्दरता तथा सुडौलता आ जाती है। पूर्ण-क्रिया के उपरान्त जो पूर्ण वस्तु प्राप्त होती है वह काफी आकर्षक होती है। उसके आकार-प्रकार और रंग इत्यादि का निर्माण करने में श्रमिक अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हैं, उनकी दृष्टि सध जाती है और थोड़ी सी भी भूल उन्हें एकदम खटकने लगती है। उनकी विचार-शक्ति और निरीक्षण-शक्ति की यह तीव्रता उनके मानसिक विकास का फल है। नित्य एक प्रकार का काम करने से श्रमिक के जीवन में अनुशासन (Discipline) और नियमितता (Regularity) का भाव आ जाता है। स्वभाव बन जाने से कार्य शीघ्र होता है जिससे उसे मानसिक अशान्ति नहीं सताती है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि श्रम-विभाजन श्रमिक के मानसिक विकास को रोकता है बल्कि श्रम-विभाजन से श्रमिक का जीवन नियन्त्रित और सन्तुलित होता जाता है। इसके फलस्वरूप ही श्रमिक के कार्य के घण्टे कम हो गये हैं। इस खाली समय में यदि उसके मनोरंजन की उचित व्यवस्था नहीं की गयी है, उसके ज्ञानवर्धन के लिये पुस्तकालय नहीं खोले गये हैं, खेल और व्यायाम का ठीक प्रबन्ध नहीं किया गया है तो अवश्य श्रमिक का मानसिक विकास एक सीमा पर रुक जायेगा और वह जीवन में वांछित

प्रगति नहीं कर सकेगा। उसके रहन-सहन के ढंग में उन्नति न हो सकेगी क्योंकि उसकी उन्नति के लिये द्रव्य के साथ उक्त सुविधाओं की भी आवश्यकता होती है। परन्तु इसके लिये श्रम-विभाजन को दोष नहीं दिया जा सकता है। यह हमारे समाज की व्यवस्था का दोष है। संसार के प्रगतिशील देशों में श्रम की महत्ता को स्वीकार किया गया है और उनमें श्रमिक के जीवन के चतुर्मुखी विकास के लिये सफल प्रयत्न भी किये गये हैं।

श्रमिक की सूझ और उसके प्रयत्नों से ही वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं। विभिन्न प्रकार के यन्त्र बने हैं जिनकी सहायता से किया गया काम सुन्दर होता है। उनमें पर्याप्त कलात्मकता अपनी चमक के साथ होती है। विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले श्रमिकों की रुचि पर इसका काफी प्रभाव पड़ता है। उनमें भी कला की भावना जागृत होती है। जितनी भी सुन्दर तथा कलापूर्ण वस्तुएँ आज संसार में प्राप्त हैं सबके निर्माता श्रमिक ही हैं। जब हम यह कहते हैं कि श्रम-विभाजन से श्रमिक की स्वतन्त्र निर्माण-कला और उसकी रुचि का विकास रुक गया है तब हम 'कला' का उचित अर्थ में प्रयोग नहीं करते हैं। एक मूर्तिकार जब एक सुन्दर प्रतिमा का निर्माण करने के लिये अपनी छेनी और हथोड़ी का प्रयोग करता है और अपनी रुचि के अनुकूल पत्थर को विभिन्न सजीव से रूप देता है उस समय श्रम-विभाजन का सिद्धान्त वहाँ लागू नहीं होता है। इसी प्रकार काश्मीर का काढ़नेवाला अपनी इच्छा के अनुसार बेल-बूटे काढ़ता है। इस प्रकार की कला का अपना निजी मूल्य (Personal Artistic Value) है; श्रम-विभाजन से उसका निर्माण नहीं होता है। परन्तु इसी प्रकार की कला का एक दूसरा रूप भी होता है जिसका सामूहिक मूल्य होता है। इसके निर्माण में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त लागू होता है। एक या अनेक अत्यन्त कुशल (Highly skilled) कलाकार (Drafter) अपनी पूरी शक्ति से एक वस्तु-विशेष की डिजाइन बनाते हैं, उसी वस्तु के विभिन्न डिजाइन भी बनाये जाते हैं, जैसे मोटर, कारें इत्यादि। श्रम-विभाजन के द्वारा उन कलापूर्ण डिजाइनों को अनेक श्रमिक पूर्ण रूप देते हैं और अनेक समान, सुन्दर और सुडौल वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जैसे, मोटरकारों की अनेक एक-से-एक आकर्षक और कलापूर्ण डिजाइनें देखने को मिलती हैं। प्रत्येक उत्पादक अधिक से अधिक कलापूर्ण वस्तुओं का निर्माण करना चाहता है और श्रम-विभाजन की प्रणाली से एक कला-कृति के अनेक प्रतिरूपों का सारे संसार में उपभोग किया जाता है। इसी प्रकार फाउन्टेनपेन का उदाहरण ले सकते हैं। कला की दृष्टि से उसकी विभिन्नता का सारा श्रेय श्रम-विभाजन की प्रणाली और उसके श्रमिकों को दिया जाना चाहिये। यह तो निस्सन्देह

सच है कि श्रम-विभाजन द्वारा उत्कृष्ट कलापूर्ण वस्तु का ही उत्पादन किया जाता है। अनेक छोटे-छोटे कलाकारों से कुछ अत्यन्त कुशल कलाकार कहीं अधिक अच्छे और लाभदायक हैं। उनके परिश्रम से ही समाज की कला-भावना को जागृत किया जा सकता है। कला एवं कलाकार का आज व्यक्तिगत नहीं सामूहिक महत्त्व अधिक है जिसे न समझने के कारण ही हम श्रम-विभाजन को श्रमिक की कला के ह्रास का कारण समझते हैं जब कि कला का विकास सदा श्रमिक की सूझ व उसके प्रयत्नों से हुआ है।

यह अवश्य सच है कि श्रमिक श्रम-विभाजन के कारण उत्पादन की क्रिया के एक छोटे भाग को ही जानता है परन्तु इसके साथ ही यह भी कहना चाहिये कि प्रत्येक श्रमिक अपने कार्य को बड़ी कुशलता से करता है। किसी भी वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकना मनुष्य के लिये असम्भव है। वास्तव में सौन्दर्य तो वहाँ है जहाँ कार्य कुशलता से पूर्ण किया जाता है चाहे वह पूरे कार्य का छोटा अंश ही क्यों न हो।

श्रम-विभाजन के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि इससे श्रमिकों के घरेलू-जीवन की शान्ति भंग हो जाती है, श्रमिकों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, भ्रष्टाचार फैलता है और स्त्री व बच्चों का उत्पादक शोषण करते हैं। परन्तु श्रम-विभाजन इसके प्रति उत्तरदायी नहीं है। वह समाज और उत्पादक दोनों के हित के लिये एक उत्पादन-क्रिया है। इसका उतरदायित्व समाज की वर्तमान व्यवस्था पर है, जिसके कारण स्त्री और बच्चों का शोषण संभव हो सका है तथा अन्य बुराइयाँ पैदा हुई हैं। यदि उत्पादन की श्रम-विभाजन की प्रणाली को समाप्त कर दिया जाय और सारे श्रमिकों को एक साथ काम करने को कहा जाय तो क्या उक्त समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं? वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये श्रम-विभाजन-प्रणाली अत्यावश्यक है। श्रमिक-वर्ग को उक्त संकट से बचाने के लिये समाज-व्यवस्था को आवश्यकतानुसार बदलना आवश्यक है।

'स्थानीयकरण' से उत्पन्न हानियों को दूर करने का साधारण ढंग यह है कि एक स्थान पर अनेक प्रकार के कारखानों की स्थापना की जाय जिससे विभिन्न कार्यों में कुशल श्रमिक उत्पन्न हों। परन्तु यदि कोई उद्योग-धन्धा असफल होता है तो फलस्वरूप कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के श्रमिक बेकार हो जाते हैं। श्रम-विभाजन अथवा स्थानीयकरण को हटाकर नहीं वरन् नये उद्योग-धन्धे स्थापित करके बेकार श्रमिकों को काम दिलाने की व्यवस्था की जा सकती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि श्रम-विभाजन को इन कथित हानियों का उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। श्रमिकों के मानसिक तथा शारीरिक विकास, उनके घरेलू जीवन में सुख और शान्ति, उनके रहन-सहन के ढंग में उन्नति और उनकी रुचि परिष्कृत करने के लिये समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है जिससे श्रम-विभाजन के अनेक लाभों का श्रमिक एवं समाज के अन्य वर्ग पूरा लाभ उठा सकें।

अभ्यास के प्रश्न

१. श्रम-विभाजन का क्या अर्थ है? इसके लाभ और हानियों का विस्तृत विवेचन कीजिये।
२. श्रम-विभाजन का वस्तु के उत्पादन-व्यय पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण सहित समझाइये।
३. श्रम-विभाजन की जिन हानियों का साधारणतः वर्णन किया जाता है क्या वास्तव में उन्हें हानियाँ कहा जा सकता है?

अध्याय ४५

श्रमिक और मशीन

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के समय श्रमिकों ने मशीन के विरुद्ध अपने रोष की तीव्रता को प्रकट किया था। उनकी दृष्टि में मशीन उनके जीवित रहने के सभी साधनों को छीनने और उन्हें भूखा मारने के लिये बनायी गयी थी। विज्ञान के अन्य आविष्कारों का प्रारम्भ में स्वागत और प्रयोग एक भयानक ढंग से किया गया जिससे मनुष्य के विवेकी होने पर सन्देह होने लगता है। परन्तु आज पश्चिम में विज्ञान का हर क्षेत्र से स्वागत किया जाता है, मशीनों को बड़े हर्ष के साथ प्रयोग में लाया जाता है, नवीन आविष्कारों के प्रति विशेष स्वागत का भाव समाज में आ चुका है। परन्तु इसके साथ ही औद्योगिक क्रान्ति की वह मशीन-विरोधी-भावना समय-समय पर प्रकट होती रहती है। पूर्व में विशेषकर भारतवर्ष में तो मशीनों के प्रयोग के प्रति एक असन्तोष और विरोध की भावना काफी गहरी है। महात्मा गांधी के मशीन विरोधी होने के प्रमाण देकर उत्पादन के प्राचीन, अविकसित, अनुपयुक्त और पिछड़े हुए साधनों का प्रयोग करने का आन्दोलन ही चल निकला है। यह कहा जाता है कि देश की जनता को आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और सुखी बनाने के लिये मशीनों का कम से कम प्रयोग करना चाहिये और देश के औद्योगीकरण (Industrialisation) को रोकना चाहिये। प्रायः ऐसे व्यक्ति अपने पक्ष की पुष्टि के लिये ढाका की मलमल, काश्मीर की काढ़ने की कला इत्यादि के विकास का रंगीन चित्र जनता के सम्मुख रखकर मशीन के प्रयोग से उनके ह्रास के भयंकर परिणामों, मजूरों की दिन-प्रतिदिन बिगड़ती दशाओं और शोषण की करुण कहानियों का वर्णन करते रहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय पश्चिम में मशीनों के विरुद्ध आन्दोलन का प्रधान तर्क था जीवित रहने के साधनों का छीना जाना, बेकारी और भुखमरी। उनका दृष्टिकोण शुद्ध भौतिकवादी था। परन्तु वही भावना भारतवर्ष में कला के ह्रास और श्रमिकों तथा कलाकारों की विवशता का हृदयस्पर्शी तर्क प्रस्तुत करती है। यदि मशीन के विरुद्ध इस आन्दोलन का विश्लेषण किया जाय, भावुकता, जातीयता और वर्ग-भावना से रहित होकर इस समस्या पर सोचा जाय, तो विदित होगा कि इसके मूल में दो बातें हैं—(१) अवैज्ञानिक दृष्टिकोण और (२) स्वार्थ।

इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है कि उत्पादन की प्रणाली में

हुआ थोड़ा सा परिवर्तन समाज के जीवन और उसकी विचारधारा पर गंभीर प्रभाव डालता है। उत्पादन के लिये मशीनों का प्रयोग करके जनता को हानि अवश्य हुई पर उस हानि के मुख्य स्रोत को न जान केवल साधन को नष्ट कर देने का प्रयत्न जनता की बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती है। उत्पादन कभी जनता के हाथ में नहीं था और वह कभी उसका प्रयोग अपने लाभ के लिये नही कर सकी है। उसे सदा उत्पादन-केन्द्रों पर निर्भर रहना पड़ता है और अपनी अदूरदर्शिता के कारण वह उन केन्द्रों के पीछे काम करनेवाली प्रबल शक्ति को नहीं देख सकी है। इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह उत्पादक के स्वार्थ को नहीं समझ सकती है जिस कारण यदि कोई उसे उसके सुनहले अतीत की याद दिला देता है तो बिना उसकी परीक्षा किये मशीनों के विरुद्ध अपना प्रबल विरोध प्रकट करने से नहीं चूकती है। नीचे हम मशीनों के लाभ एवं हानियों का विवरण देते हैं।

मशीन आज के युग की अपनी विशेषता है जिस कारण उसे मशीन का युग कहा गया है। देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती और बदलती जा रही हैं, वह अपने कार्यों में सरलता चाहता है। यदि ऐसी स्थिति में मशीनें न होतीं तो जुलाहों के चौबीस घण्टे परिश्रम करने पर भी मनुष्यों को पहनने के लिये, सजावट और अन्य प्रयोगों के लिये सैकड़ों प्रकार का करोड़ों गज कपड़ा प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्यों को यदि वे एक बार कपड़ा प्राप्त कर लेते तो महीनों उसी पर निर्भर रहना पड़ता। इससे उनके जीवन में आकर्षण और परिवर्तन का महत्त्व नहीं रहता जिसमें उत्साह और सुरुचि के बीज होते हैं। हजारों लोहार अपनी धौकनी और हथोड़ों से समुद्र के समान फैली जनसंख्या के बर्तनों, हथियारों तथा निर्माण के अन्य साधनों की पूर्ति कर सकते इसमें सन्देह है। यदि मनुष्यों को अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता न रहती तो उसको प्रगतिशील प्राणी नहीं कहा जा सकता। उसमें पशु का सन्तोष होता जिसमें जिज्ञासा नहीं होती है। जिज्ञासा ही समाज के विकास और सभ्यता के विकास का मूल कारण है।

मनुष्य यह कभी नहीं चाहता है कि वह दिन और रात के हर घण्टे परिश्रम और चिन्ता में बिताये। वह स्वभाव से विश्राम चाहता है। शारीरिक परिश्रम की भी एक सीमा होती है। अधिक शारीरिक परिश्रम करने से मनुष्य का मानसिक विकास नहीं हो सकता है। उसमें और मशीन में कुछ [illegible] अन्तर नहीं रह जाता है। परन्तु यदि मशीन के स्थान पर वह अपने [illegible]विकसित, अवैज्ञानिक औजारों से उत्पादन करेगा तो निश्चय ही उसे विश्राम करने के लिये समय कम मिलेगा साथ ही माँग पूरी न

कर सकने की चिन्ता में भी डूबा रहेगा। इसमें उसका जीवन नीरस और दुखी रहेगा। परन्तु मशीनों के प्रयोग से मनुष्य के शारीरिक श्रम की मात्रा अत्यन्त कम हो गयी है। उसके काम के घण्टे कम कर दिये गये हैं। वह अपने विश्राम के समय अपने परिवार के साथ, अन्य सब समस्याओं से दूर होकर, कुछ क्षण आनन्द मना सकता है, पुस्तकालयों और अन्य अच्छे मनोरंजन के साधनों का उपयोग कर सकता है, क्लबों में अपनी अन्य समस्याओं पर विचार-विमर्श करके उनको हल कर सकता है। वह कुछ घण्टे मशीन के साथ काम करने के बाद सभ्य समाज के बीच अपने लिये स्थान बना सकता है। भारत के किसान लू के थपेड़ों को सहते हुए दोपहर में नंगे बदन हल और बैलों के पीछे अपनी अधिकांश शक्ति का व्यय करके कुछ खेत जोत पाते हैं। इतने परिश्रम से भी जुताई अच्छी नहीं हो पाती। परन्तु यदि वही किसान ट्रैक्टर की सहायता से खेत जोते तो समय भी कम लगेगा और जुताई अच्छी होगी। कम समय में कई एकड़ बंजर भूमि को जोतकर वह आबाद कर सकता है। भूगर्भ से तेल निकालने के लिये मशीनों का प्रयोग आवश्यक है। एक ही खनिज पदार्थ को निकालने, उसे साफ करने और उसका उत्पादन में प्रयोग करने में मशीनों की सहायता अनिवार्य है क्योंकि उन क्रियाओं में प्रायः ऐसी गैस या ऐसे अन्य पदार्थ (बाइ-प्रॉडक्ट) मिलते हैं जिनसे बहुत लाभ होता है। इसमें समय भी कम लगता है और नयी वस्तुओं की खोज भी हो जाती है। मशीनों के साथ श्रमिक को केवल निरीक्षण और नियन्त्रण का काम अधिक करना पड़ता है जिससे उसकी विचार-शक्ति तीव्र होती है और वह तुरन्त परिणाम पर पहुँच सकता है। उदाहरणार्थ नगर में बिजली व पानी देनेवाली कम्पनियों में श्रमिक को मशीनों में शारीरिक परिश्रम कम और मानसिक परिश्रम अधिक करना पड़ता है।

मशीनों की सहायता के बिना बड़ी मात्रा में उत्पादन नहीं किया जा सकता है जिसकी आधुनिक युग में परम आवश्यकता है। बड़ी मात्रा में उत्पादन करने से स्थानीयकरण की एवं आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययताओं की सुविधा मिलती है। प्राकृतिक शक्तियों और भू-गर्भ के खनिज पदार्थों का पूरा-पूरा उपयोग करके देश की सम्पत्ति को बढ़ाया जा सकता है। उत्पादन-व्यय प्रति इकाई कम होता है जिससे उपभोक्ता को वे वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर मिल जाती हैं। इसके साथ ही मशीनों के द्वारा एक वस्तु का उत्पादन चाहे उसकी मात्रा कितनी ही हो एक समान, सुडौल, आकर्षक और एक गुण का होता है जिससे उपभोक्ता को धोखे की आशंका नहीं होती है। यदि ये वस्तुएँ हाथ से बनाई जातीं तो उनमें

इतनी सुडौलता, चिकनापन इत्यादि गुण नहीं हो सकते हैं क्योंकि सभी श्रमिक समान नहीं होते हैं और केवल एक श्रमिक सारी माँग की पूर्ति नहीं कर सकता है। पाश्चात्य देशों में भोजन बनाने, बर्तन धोने, कपड़े धोने, सफाई करने इत्यादि छोटे-छोटे काम मशीनों द्वारा किये जाते हैं। वहाँ मनुष्य का सारा काम मशीन से लिया जाता है परन्तु कमी इतनी ही है कि मशीन सोच नहीं सकती हैं।

विज्ञान के द्वारा मशीनों का आविष्कार करके मनुष्य ने क्रमशः प्रकृति की बहुत सी शक्तियों पर अधिकार कर लिया है। यदि वह इन शक्तियों को अपने जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने के लिये प्रयोग नहीं करता है तो यह उसकी मूर्खता होगी। आकाश के विस्तार पर हवाई जहाजों के द्वारा और समुद्र के विस्तार पर जलयानों के द्वारा विजय प्राप्त कर ली है। रेडियो, टेलीविजन इत्यादि से संसार का एक कोना दूसरे कोने से जुड़ा हुआ है। मनुष्य समय पर नियन्त्रण रख सकता है और प्रति मिनट की अधिकतम उपयोगिता का लाभ उठा सकता है। व्यापार, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य इत्यादि देश की सीमा कभी लाँघ चुके थे। आज उनको अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के बिना समझा नहीं जा सकता है। इससे मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक होता जाता है। यदि मशीन की सहायता से यथार्थ में विश्वबन्धुत्व की प्राप्ति हो सके और परस्पर सम्पर्क से जीवन का बहुमुखी विकास हो सके तो इससे अधिक लाभ और क्या हो सकता है? यही तो मनुष्यता का आदर्श रहा है।

मशीनों के प्रयोग से विभिन्न प्रकार के उद्योग चलाये जाते ह और उनमें अनेक प्रकार की मशीनों का प्रयोग किया जाता है। इससे श्रमिक अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी प्रकार के उद्योग में काम कर सकता है। अनेक प्रकार के उद्योग होने से बेकारी कम होती है। श्रमिक श्रम-विभाजन के अनुसार काम करते हैं जिससे बहुत शीघ्र वे अपने काम में कुशल हो जाते हैं। कुशल श्रमिक की सभी जगह माँग रहती है और वह अधिक पारिश्रमिक पर दूसरे उद्योग में काम कर सकता है।

मशीनों के प्रयोग से यातायात और संवाद की बड़ी उन्नति हुई है। अनेक मील दूर से कच्चा माल कम व्यय पर रेलगाड़ियों द्वारा उत्पादन केन्द्रों तक पहुँचाया जा सकता है। तार, टेलीफोन के द्वारा एक व्यापारी दूसरे से कुछ क्षणों में समझौता कर सकता है तथा इनके द्वारा उत्पादकों को वस्तुओं के चढ़ते-गिरते भावों का भी शीघ्र पता चलता रहता है जिसके अनुसार वे अपने उत्पादन को घटा-बढ़ा सकते हैं।

प्रायः प्रत्येक उत्पादक देश की और अन्तर्देशीय राजनीति में विशेष उत्सुकता दिखलाता है। रेडियो के द्वारा उसे सट्टे-बाजार की स्थिति तथा

युद्ध की सम्भावना पर समाचार आसानी से मिल जाते हैं। यदि संसार में किसी छोटे से भाग में भी युद्ध हुआ तो वह उत्पादन में घटती-बढ़ती करके अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

मशीन के द्वारा उत्कृष्ट कला का (जिसका उपभोग पहले कुछ गिने-चुने लोग कर सकते थे) अधिक प्रचार किया जा सकता है। सस्ते मूल्य में अधिक उपभोक्ता उसका क्रय करके कला के विकास में सहायता कर सकते हैं। दूर-दूर देशों के चित्रकारों, नक्काशी करनेवालों इत्यादि की कला का हम मशीनों और श्रम-विभाजन की सहायता से घर बैठे उपभोग कर सकते हैं। यदि मशीनों का प्रयोग न किया जाय तो कलाकार या तो अज्ञात ही मर जायेगा या उसकी कला कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रह जायेगी जो उसका शोषण भी कर सकते हैं। इससे सर्वसाधारण में कलाप्रियता का प्रचार एवं प्रसार नहीं किया जा सकेगा। आज मशीनों की सहायता से ही विश्व के उच्चकोटि के संगीतज्ञों, नाटककारों, कवियों इत्यादि से हम अपने जीवन को प्रभावित पाते हैं। इनसे हमारे अन्दर भी कुछ करने का उत्साह जागता है, इनसे प्रेरणा पाकर हम अपने देश के सांस्कृतिक जीवन का विकास कर सकते हैं।

हानियाँ—मशीन से अनेक हानियाँ भी बताई जाती हैं। भारतवर्ष में मशीन कलाकारों की दुश्मन मानी गयी है। बहुत से व्यक्तियों का विचार है कि यदि मशीन न होती तो भारतवर्ष की हस्तकला का विकास आज बहुत अधिक हो गया होता। ढाके की मलमल के कई गज का थान बाँस की छोटी सी नली के अन्दर आसानी से समा सकता था। मशीनों के प्रयोग से उनकी इस कला का ह्रास हो गया। प्रायः उपभोक्ता मशीन से बनी सस्ती वस्तुओं का उपभोग करने लगे।

पहले श्रमिक स्वावलम्बी था और अपने उत्पादन के विकास में लगा रहता था जिससे उसको भी लाभ होता था और समाज में उसका आदर भी होता था। परन्तु मशीनों के प्रयोग से उसके उद्योग का पनप सकना असम्भव हो गया। वह पारिश्रमिक पर मशीन के पुर्जे की तरह कारखानों में काम करने के लिये विवश हो गया। मशीनों के प्रयोग से उसका स्वतन्त्र विकास रुक गया और व्यक्तिगत गुणों का कुछ महत्त्व शेष नहीं रहा।

मशीनों के प्रयोग से प्रति इकाई उत्पादन व्यय घटाया जा सकता है और बड़ी मात्रा में उत्पादन करके उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य में वस्तु दी जा सकती हैं। इससे घरेलू उद्योग-धन्धों को गहरी हानि पहुँची है। जो गाँव पहले स्वावलम्बी थे अब उत्पादकों पर निर्भर हो गये हैं।

मशीनों का प्रयोग होने से पहले कारखानों में श्रमिकों की माँग अधिक

थी और उन्हें पारिश्रमिक भी उचित मिलता था। परन्तु मशीनों के लग जाने से बहुत अधिक श्रमिक बेकार हो गये हैं। नये-नये आविष्कारों से बेकारों की संख्या बढ़ती जा रही है। इस कारण समाज में गरीबी बढ़ती है जिससे श्रमिकों का शारीरिक और मानसिक पतन हो जाता है। उनमें भ्रष्टाचार फैलता है। इसके साथ ही मशीनों में श्रम-विभाजन प्रणाली के अनेक दोष हैं जिनका वर्णन हम 'श्रम-विभाजन' शीर्षक में कर चुके हैं। उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण से भी जिसका एक कारण मशीनों का प्रयोग है श्रमिकों को अनेक हानियाँ होती हैं। उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, स्त्री, बच्चों से अत्यधिक परिश्रम कराया जाता है, अनेक मजूरों के एक स्थान पर एकत्रित होने से उनमें विभिन्न बुराइयाँ फैलती हैं जिससे सारे देश को हानि होती है।

मशीन के विरुद्ध सबसे बड़ा आरोप यह है कि इसके प्रयोग से विश्व की शान्ति भंग हुई है। मनुष्य में सन्तोष नहीं रहा है। स्वार्थ की प्रबलता से वह परस्पर युद्ध करता है। इसका अधिक प्रयोग करके पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता कई बार रक्त से नहा चुकी है और मनुष्य की आध्यात्मिक प्रवृत्ति लुप्त हो गयी है। यदि मशीनों का प्रयोग न होता तो समाज में ऐसी दुखद घटनाएँ न घटतीं और प्रत्येक गाँव स्वावलम्बन के तरीकों पर चलकर शान्ति से जीवन व्यतीत करता। परस्पर उत्पादन सम्बन्धी संघर्ष न होते और मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी अधिक न बढ़तीं जिससे सुख और सन्तोष ही न रहे। यदि मनुष्य मशीन को त्याग कर परस्पर समझौता करके अपनी आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा कर लेंगे तो यह भूमि ही स्वर्ग बन जायेगी; मनुष्य की हिंसक प्रवृत्ति लुप्त हो जायेगी और परस्पर शोषण और शोषित का समुदाय न बनेगा।

उक्त सभी हानियाँ अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। मशीन के प्रयोग से ये समाज में सर्वत्र फैल रही हैं। मनुष्य की विचारधारा को इन्होंने विषैला कर दिया है। परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि इस व्याव-हारिक सत्य के पीछे जो वास्तविकता है उसकी ओर मनुष्यों का ध्यान बहुत कम गया है इसी कारण वे मशीन को हटाने की माँग करते हैं। अब यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि उक्त सभी बुराइयों को दूर किया जा सकता है या नहीं।

मशीन से पैदा हुई अधिकांश बुराइयों को समाप्त किया जा सकता है। मशीन स्वयं कुछ नहीं कर सकती है। मनुष्य उससे जैसा चाहे काम ले सकता है। यदि हम उत्पादन क्षेत्र में एक दृष्टि डालें तो यह विदित होगा कि उत्पादक का मुख्य ध्येय नफा कमाना है और वह सदा इसमें

वृद्धि चाहता है। अतएव वह बिना श्रमिक की कठिनाइयों और उनके समाज पर प्रभाव पर ध्यान दिये उत्पादन के ढंग में परिवर्तन करना जाता है। श्रमिकों के स्थान पर अधिक मशीनों के प्रयोग से उसका उत्पादन व्यय कम होता है और उपभोक्ता को वस्तु सस्ते मूल्य पर मिल सकती है। दूसरी ओर एकाधिकार और प्रतिस्पर्धा होने से प्रत्येक उत्पादक बाजार पर अपना प्रभाव अधिक चाहता है। इस संघर्ष में छोटे उद्योग तथा कारखाने बन्द हो जाते हैं जिससे श्रमिकों की बेकारी बढ़ती है। बड़े उत्पादक मशीनों की सहायता से कम समय में इतना अधिक उत्पादन कर देते हैं जितनी कि माँग नहीं होती है। इस कारण अधिक उत्पादन (Over-production) के फलस्वरूप उत्पादक को और उत्पादन बन्द कर देना पड़ता है। इससे वस्तु के मूल्य में कमी आ जाती है पर उद्योग बन्द हो जाने से श्रमिकों की अधिकांश संख्या बेकार हो जाती है। श्रमिकों की माँग कम और पूर्ति बहुत अधिक होने से उनका पारिश्रमिक भी बहुत घट जाता है। एकाधिकारी जनता का शोषण करने में नहीं हिचकता। तात्पर्य यह है वर्तमान उत्पादन प्रणाली में जनता की क्रय-शक्ति घटती जाती है और उत्पादकों के लाभ की पूँजी म निरन्तर वृद्धि होती रहती है। समाज की निर्धनता पर उनका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। उनके लाभ से समाज की आर्थिक दशा सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता है।

यह सब दोष उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था के हैं न कि मशीन के। यदि मशीन का प्रयोग न करने का आन्दोलन चलाया जायेगा तो इससे समाज को तो कुछ लाभ नहीं हो सकता परन्तु परोक्ष रूप से पूँजीवादी व्यवस्था को लाभ पहुँचता है। क्योंकि अब उत्पादन के लिये मशीनों का प्रयोग नहीं छोड़ा जा सकता है, परन्तु शोषित और पीड़ित जनता का ध्यान ठीक लक्ष्य—अर्थात् व्यवस्था में परिवर्तन करने—की ओर से हटाकर एक असम्भव क्रिया की ओर लगा दिया जाता है।

हमें उत्पादन प्रणाली का ऐसे संगठन करना होगा जिससे समाज का अधिकतम लाभ हो, राष्ट्र शक्तिशाली हो सके और व्यक्तिगत लाभ न्यूनतम हो। किसी एक व्यक्ति को पूँजी के बल पर समाज का शोषण करने का अधिकार न रहे। समाज स्वयं अपने लिये उत्पादन करे, उसका वितरण और क्रय-विक्रय करे। इससे राष्ट्र की सभी खनिज पदार्थों की और प्राकृतिक शक्ति की सम्पत्ति का पूरा उपयोग किया जा सकेगा और श्रम की कार्यकुशलता और कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। विशेष योग्यता और कुशलता का प्रयोग कुछ उत्पादकों के लाभ के लिये न होकर सम्पूर्ण समाज के लिये होगा। लाभ से समाज के बहुमुखी विकास की योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सकेगा।

उत्पादक प्रायः राजनीति में उलझे रहते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य राज्य की सरकार पर अपनी पूँजी का अनुचित प्रभाव जमाना होता है। संसार में जितने भी छोटे-बड़े युद्ध होते हैं इनसे जनता की जान और माल की अथाह हानि होती है परन्तु संसार के प्रथम श्रेणी के उत्पादकों तथा पूँजीपतियों को उसी मात्रा में लाभ होता है। अपने लाभ के लिये पूँजी-पति युद्ध की अधिक इच्छा करता है। यदि हम तटस्थ होकर देखें तो अणु की असीम शक्ति और अन्य मशीनों के योग से बड़े-बड़े रेगिस्तानों को उपजाऊ बनाया जा सकता है, बर्फीले भागों में खेती की जा सकती है, नदियों के प्रवाह को रोककर उसका मार्ग बदला जा सकता है और उससे अथाह बिजली की शक्ति प्राप्त की जा सकती है जिससे गाँव के घर-घर में प्रकाश और सफाई की व्यवस्था की जा सकती है। कुछ ही समय में किसी भी विकास की योजना पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विचार-विमर्ष किया जा सकता है। परन्तु समाज की व्यवस्था कुछ ऐसी है कि अणु की तथा अन्य मशीनों की शक्ति से हरे-भरे लहलहाते खेतों, बसे हुए बड़े-बड़े शहरों, सहस्रों नर-नारी एवं बच्चों का क्षण भर में विनाश किया जा रहा है। यह योजनाएँ बनायी जा रही हैं कि इस विनाश को और शीघ्र और अधिक क्षेत्र में कैसे किया जा सकता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के लाभ को अपना बनाना चाहता है। परन्तु समाज या जनता इन योजनाओं की दोषी नहीं है और न मशीनें। इसकी दोषी है पूँजी की व्यवस्था जिसे समाज को अपनी व्यवस्था में बदलना है।

संसार के कुछ प्रगतिशील देशों में मशीन और श्रमिक के इस संघर्ष को समाप्त कर दिया गया है। योजनानुसार उत्पादन करके अधिक उत्पादन और व्यापार की मंदी की समस्याओं को हल कर लिया है। वहाँ का समाज अपने उत्पादन पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। अपने पूर्ण कौशल, योग्यता और अपनी नयी वैज्ञानिक खोजों का समाज के लाभ के लिये उपयोग करता है। रूस की पंचवर्षीय योजना की अपूर्व सफलता ने उसके आलोचकों को सोचने के लिये विवश कर दिया है। यदि मशीन और श्रम के सदुपयोग से संसार का एक भाग लाभान्वित हो सकता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य भागों में भी इस उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की जा सकती है जिसके लिये हमें अपना दृष्टिकोण वैज्ञानिक बनाना पड़ेगा क्योंकि स्वार्थ की शक्ति को भावुकता से पराजित नहीं किया जा सकता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. श्रमिक और मशीन का क्या सम्बन्ध है ? संक्षेप में समझाइये।
२. क्या यह कहा जा सकता है कि मशीनों के प्रयोग से श्रमिकों की व्यक्तिगत कला में ह्रास हुआ है ? उदाहरण देकर समझाइये।
३. श्रमिकों की कार्यकुशलता पर मशीनों का क्या प्रभाव पड़ा है ?

अध्याय ४६

पूँजी (Capital)

भूमि और श्रम के पश्चात् उत्पादन का तीसरा मुख्य साधन पूंजी है। यद्यपि पूँजी में भूमि और श्रम दोनों के तत्व विद्यमान है परन्तु इस पर भी पूँजी अपने महत्व के कारण उत्पादन का एक स्वतन्त्र साधन समझी जाती है।

भूमि या श्रम को स्वतन्त्र रूप से उत्पादन नहीं कर सकते हैं। उनकी निष्क्रियता दोनों के संयोग से ही दूर हो सकती है। प्रायः मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त इन दोनों साधनों का प्रयोग विभिन्न मात्राओं में करता है। जब केवल वर्तमान की आवश्यकता की पूर्ति वांछित है तो इनका प्रयोग कम मात्रा में किया जायेगा; परन्तु यदि वर्तमान के साथ ही भविष्य का भी ध्यान हो तो इनका प्रयोग अधिक मात्रा में होगा। उपभोग करने के पश्चात् जब संचय का भाव आता है तब उत्पादित-वस्तु की संचित की गई मात्रा सम्पत्ति कहलाती है। यदि इस सम्पत्ति को और अधिक उत्पादन करने के लिये प्रयोग में लाया जाय जिससे अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति की जा सके तो यह सम्पत्ति पूँजी बन जाती है। इस सम्पत्ति में उत्पादन करने की शक्ति निहित रहती है और यह उत्पादन मनुष्य की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये होता है।

इस दृष्टि से यदि पूँजी के विकास का अध्ययन करें तो यह प्रतीत होगा कि पूँजी एक विशेष प्रकार की वस्तु नहीं है और न वह एक प्रकार की वस्तुओं का समूह ही है। इसके विपरीत विश्व में श्रम और भूमि के संयोग से, चाहे वह किसी मात्रा में हो या किन्हीं परिस्थितियों में हो, उत्पादन होता है जिससे मनुष्य को अपनी उस स्थिति में लाभ होता है तो निश्चय ही उत्पादन का तीसरा मुख्य साधन पूँजी वहाँ विद्यमान है। श्रम के प्रकारों में परिवर्तन हुआ है और इसी परिवर्तन से कुम्हार का छोटा हथोड़ा टाटा की लोहे व इस्पात की विशालकाय मशीनों में परिवर्तित होकर अपनी पूर्व-शक्ति का हजारों गुना अधिक उत्पादन करने लगा है। घास काटने की छोटी हँसिया के स्थान पर बड़े-बड़े फार्मों में मशीनों का प्रयोग होने लगा है। इसी प्रकार जुलाहे के चर्खे-कर्घे का स्थान अहमदाबाद, बम्बई इत्यादि स्थानों में कपड़ा बुनने की बड़ी-बड़ी मशीनों ने ले लिया है जिनमें सूत कातने से लेकर कपड़े का थान लपेटने तक का सारा कार्य मशीन करती है। इसका अर्थ यह

हैं कि उत्पादन में भूमि और श्रम का प्रयोग आदिकाल से होता आया है परन्तु उत्पादन का तीसरा साधन पूँजी का रूप सदा बदलता रहा है। पत्थर के हथियारों से लोहे और इस्पात की बड़ी-बड़ी मशीनों का काल पूँजी के विकास का काल रहा है।

यह कहा जा चुका है कि भूमि और श्रम के संयोग से पूँजी की उत्पत्ति होती है। जब खानों से मनुष्य अपने श्रम का प्रयोग करके लोहा निकालता है तब वह लोहा पूँजी का रूप ले लेता है। लोहार इसी लोहे को ठोक-पीटकर हथोड़े या अन्य औजार बना लेता है और वह लोहा इस नये रूप में पूँजी बन जाता है। लोहार व बढ़ई इन्हीं हथोड़ों से व अन्य औजारों से पूँजी के अन्य रूपों का उत्पादन करते हैं और वे अन्य उत्पादित वस्तुएँ भी इस उत्पादन की श्रृंखला में पूँजी की एक कड़ी का रूप लेती रहती हैं। अपने इसी गुण के कारण पूँजी श्रम या भूमि से भिन्न है।

पूँजी एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली साधन है। मनुष्य के श्रम से उत्पादित होकर यह उसके सम्पूर्ण समाज के रहन-सहन, सोचने-विचारने और कार्य करने के ढंगों पर अपना पूर्ण प्रभाव डालती है। पूँजी का तथा समाज का विकास लगभग साथ-साथ होता है। पत्थर के युग की सभ्यता की विशेषता उसके नाम से ही स्पष्ट है। उस युग में मनुष्य के उत्पादन में पत्थर के हथियारों और औजारों का प्रयोग होता था जिन्हें उस युग के मनुष्यों की पूँजी कहा जा सकता है। इसके पश्चात् मनुष्य की पूँजी के अन्तर्गत पशुओं की गणना की जाने लगी और उससे प्रभावित एक नयी सभ्यता का जन्म हुआ। आज विज्ञान के विकास से उत्पादन की विधियों में परिवर्तन आ गया है। हजारों मनुष्यों का कार्य अब कुछ मशीनें थोड़े से मनुष्यों की सहायता से बहुत कम समय में करने लगी हैं। पहले पूँजी पर अधिकांश मनुष्यों का अधिकार था जो अपने लिये या अपने परिवार के पालन-पोषण तथा कुछ लाभ कमाने के लिये उसका प्रयोग करते थे। परन्तु आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ ही उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि होना आवश्यक था जिसके फलस्वरूप पूँजी का अधिकतम रूप मशीनों में परिवर्तित हो गया, मनुष्य के श्रम की कम आवश्यकता पड़ने लगी और उत्पादन की विधियाँ जटिल होती गयीं। इससे पूँजी पर कुछ सामर्थ्यवान कुशल और चतुर मनुष्यों का अधिकार हो गया जिसने एक नयी सभ्यता का प्रसार किया जो पूँजीवादी सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। इसी पूँजी के वितरण व अधिकार की एक अन्य भिन्न प्रणाली से प्रभावित सभ्यता साम्यवादी सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव हम कह सकते हैं कि पूँजी के आधार पर देश की समृद्धि नापी जा सकती है और सभ्यता

के विकास की दिशा जानी जा सकती है। जिस देश में पर्याप्त पूँजी है वहाँ के मनुष्यों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है, देश की उन्नति की आर्थिक योजनाओं को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है और आन्तरिक शांति और व्यवस्था स्थापित की जा सकती है जिसका आज अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। जिस देश में पूँजी की कमी होगी वहाँ उत्पादन अवश्य आवश्यकता से कम होगा, उसमें आत्मनिर्भरता और आन्तरिक शान्ति नहीं होगी, बेकारी और अशान्ति के फलस्वरूप देश की सुरक्षा एक गंभीर समस्या बन जायेगी। देश को विदेशों के अनुचित प्रभावों से नहीं बचाया जा सकेगा जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश का मान घट जायेगा।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है। इसके पास पर्याप्त पूँजी नहीं है। इसका यह परिणाम है कि वह आज अन्न की कमी से देश के विकास की अन्य योजनाओं की ओर उचित ध्यान नहीं दे पाता है। देश की औद्योगिक उन्नति का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। देश में बेकारी फैलती जा रही है और देशवासियों में असन्तोष की मात्रा बढ़ रही है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह स्थिति सन्तोषजनक नही कही जा सकती है।

अब प्रश्न उठता है कि पूँजी के अन्तर्गत हम किन-किन वस्तुओं का अध्ययन करते हैं? यह तो स्पष्ट है कि पूँजी उत्पादन का वह उत्पादित साधन है जिसके प्रयोग से मनुष्य को लाभ होता है। अतएव इसके अन्तर्गत वे अन्य सब वस्तुएँ आ जाती हैं जिनकी उत्पत्ति मनुष्य ने भूमि और अपने श्रम के संयोग से की है।

साधारण रूप से पूँजी का अर्थ सम्पत्ति समझा जाता है। यदि किसी मनुष्य के पास सोने की ईंटें हों, बहुत द्रव्य हो, पशु, मोटरें और कई बीघा भूमि हो तो प्रायः इन सब वस्तुओं को उस मनुष्य की पूँजी कहा जाता है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से यह मत शुद्ध नहीं है। यद्यपि पूँजी सम्पत्ति है परन्तु निष्क्रिय नहीं है। वह पूँजी तभी होती है जब मनुष्य अपने श्रम का प्रयोग करके उससे अधिक उत्पादन करता है। यदि सोने की ईंटों की सहायता से वह मनुष्य अपने उद्योग-धन्धे का विस्तार करता है, द्रव्य से अपनी कई बीघा भूमि को जोतने के लिये ट्रैक्टर खरीद लेता है, पशुओं को मेले इत्यादि में लाभ लेकर बेच देता है और मोटरों का सामान ढोने या यात्रियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के कार्य में प्रयोग करता है तो यह सब वस्तुएँ सम्पत्ति होते हुए भी पूँजी बन जाती है क्योंकि उनका प्रयोग करने से मनुष्य द्रव्य इत्यादि का अधिक उत्पादन कर लेता है। परन्तु यदि ये वस्तुएँ केवल अपनी आर्थिक समृद्धि के दिखावे या प्रचार के लिये रखी गयी हों तो उसके अभिमानी हृदय को सन्तोष अवश्य होता है पर इनकी

अपनी उपयोगिता मे कुछ भी वृद्धि नही होती है जो उत्पादन का विशेष गुण है। अतएव इन्हे पूँजी नही कहा जा सकता है, इनको सम्पत्ति ही कहा जा सकता है। यहाँ इस बात पर सक्षेप मे विचार कर लेना लाभदायक होगा कि क्या भूमि को पूँजी कहा जा सकता है ?

पूँजी मनुष्य अपने श्रम के प्रयोग से उत्पन्न करता है परन्तु भूमि को उत्पन्न कर सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। वह 'प्रकृति की देन' कही जाती है। इस कारण इसके निर्माण मे व्यय नही हुआ जब कि पूँजी को उत्पन्न करने मे श्रम, भूमि इत्यादि की शक्तियो को व्यय करना पडता है। भूमि जितनी सृष्टि के आरम्भ मे थी उतनी ही आज भी है और भविष्य मे भी रहेगी। मनुष्य अपनी समस्त ज्ञान-विज्ञान की शक्तियो का प्रयोग करके भी भूमि के परिमाण मे किंचित् मात्र भी वृद्धि नही कर सकता है। परन्तु पूँजी का उत्पादन मनुष्य स्वय करता है और इच्छानुसार उसे घटा-बढा सकता है, उसको नष्ट कर सकता है तथा उसको केवल सम्पत्ति के रूप मे ही रख सकता है। भूमि पर उसकी शक्तियाँ परिवर्तन-परिवर्धन करने मे असमर्थ है। वह सदा सम्पत्ति के रूप मे रहती है। जब मनुष्य उसमे विभिन्न प्रकार से श्रम का उपयोग करके उसकी पैदा करने की शक्ति को (Fertility) बढाता है तो वह शक्ति परिभाषा के अनुसार पूँजी के अन्तर्गत आ जाती है परन्तु भूमि एक निष्क्रिय साधन के रूप मे विद्यमान रहती है।

आधुनिक काल मे भूमि का क्रय-विक्रय होने से वह कुछ मनुष्यो की आमदनी का एक माध्यम बन गयी है। यह अपनी स्थिति और परिमाण के अनुसार बेचनेवाले व्यक्ति को लाभ पहुँचाती है। इस दृष्टिकोण से इसे पूँजी कहा जा सकता है। परन्तु यदि इस ओर गभीरतापूर्वक देखे तो विदित होगा कि जो भी मूल्य खरीदनेवाला मनुष्य देता है वह भूमि का मूल्य नही होता है वरन् उसकी स्थिति और पैदावार की शक्ति का मूल्य होता है जो अन्य मनुष्यो के श्रम का परिणाम है अर्थात् पूँजी है। बेचनेवाला अप्रत्यक्ष रूप से उसी पूँजी को बेचता है जो अपने गुण के अनुसार उसे लाभ पहुँचाती है, उसकी पूर्व-योग्यता मे वृद्धि करती है अर्थात् उत्पादन करती है। समाजवादी, साम्यवादी और पूँजीवादी इत्यादि सभ्यताओ मे भूमि का विशेष महत्त्व है। इसके वितरण व उपयोग की विभिन्न प्रणालियो पर ये सभ्यताएँ स्थिर है। समाजवादी तथा साम्यवादी भूमि के क्रय-विक्रय को अनुचित समझते है और पूँजीवादी सभ्यता मे इसका क्रय-विक्रय साधारण सी बात है। परन्तु जैसे कहा जा चुका है क्रय-विक्रय परोक्ष रूप मे भूमि की उपयोगिता का होता है जो मनुष्य के श्रम का परिणाम होती है। अर्थात् वे मनुष्य भूमि की उपयोगिता का

पूँजी के रूप में लेन-देन करते हैं परन्तु भूमि उस उपयोगिता वृद्धि में एक निष्क्रिय साधन के रूप में रहती है अतएव वह पूँजी नहीं हो सकती।

पूंजी का संचय—पूंजी, मनुष्य के भविष्य की रूप-रेखा की ओर संकेत करती है। मनुष्य वर्तमान की आवश्यकता किसी अस्थायी साधन से पूरी कर सकता है परन्तु विवेकी होने के कारण वह सदा भविष्य की समस्या पर विचारता रहता है। उसने सदा यह चाहा है कि भविष्य का जीवन सुन्दर हो, सुखदायक हो और उसमें अधिक श्रम न करना पड़े। इसी विचार से मनुष्य आविष्कार और खोज-कार्य करता है और वर्तमान के लाभ को भविष्य के उपयोग के हेतु सुरक्षित रखना चाहता है। यही भावना 'संचय' कहलाती है। मनुष्य की पूँजी उसके श्रम पर बहुत-कुछ निर्भर है। यदि पूंजी अर्थात् उत्पादित वस्तु के स्थान पर मूल उत्पादक को भविष्य के लिये सुरक्षित करना चाहे तो मनुष्य सफल नहीं हो सकता है क्योंकि श्रम नाशवान है। उसका संचय नहीं किया जा सकता है। परन्तु पूँजी का विश्लेषण करने पर मनुष्य का श्रम ही उसमें मुख्य रूप से मिलता है। अर्थात् मनुष्य पूंजी का संचय करने के साथ ही अपनी उत्पादक शक्ति श्रम का ही संचय करता है। इसमें उसे सुविधा रहती है।

उक्त विवेचन से विदित होता है कि मनुष्य के 'संचय' करने के मूल भाव निम्न हैं:—

१. भविष्य की सुखमय कल्पना या संचय करने की तीव्र इच्छा। २. संचय करने की शक्ति। ३. संचय करने की सुविधा।

(१) भविष्य की सुखमय कल्पना को हम संचय करने की तीव्र इच्छा भी कह सकते हैं। मनुष्य सदा से यह चाहता आया है कि जो कुछ कार्य वह करता है उसके सुख का दीर्घकाल तक उपभोग करे। पूँजी का मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव है। यही एक सुगम माध्यम है जिसके द्वारा वह अपने भविष्य को व अपने कुटुम्ब के भविष्य को सुखमय बना सकता है। आधुनिक सभ्यता में मनुष्य का मान और प्रभाव उसकी पूँजी पर निर्भर होता है। भारत के रूढ़िवादी पूँजी की बचत केवल इसलिये भी करते हैं कि बुढ़ापे में तीर्थयात्रा करके आत्मा की शान्ति प्राप्त कर सकें। वर्तमान युग औद्योगिक युग है। अतएव पूंजी का संचय करने की इच्छा को इससे काफी बल मिला है। मनुष्य मितव्ययता से भी धन का संचय करते हैं और उद्योग-धन्धों के हिस्से खरीदने में उनका उपयोग करते हैं या बैंकों में जमा कर देते हैं या सरकार से लेकर योग्य व्यक्ति तक को ऋण में देते हैं। इन कार्यों से उसे ब्याज मिलता है और उसकी धन-सम्पत्ति पूँजी बन जाती है। प्रायः पूंजी में वृद्धि करने की ही इच्छा 'संचय' के मूल में निहित है। विदेशों में यह मनुष्यों का स्वभाव ही हो गया है कि वे अपनी अधिक

सम्पत्ति को बैंकों में, उद्योगों के हिस्सों में और अन्य प्रकार के उत्पादन और लाभ के विषयों में लगा देते हैं। इस पूँजी से उनकी तथा उनके देश की आर्थिक उन्नति में बहुत सहायता मिलती है। परन्तु भारतवर्ष से विशाल देश में पूँजी का संचय कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित है। अधि-कांश जनता की दृष्टि में उपभोग ही प्रधान है। इसका कारण उनकी अशिक्षितता के साथ ही देश की बढ़ती हुई निर्धनता है जिसने उन्हें अत्यन्त साहसी बना दिया है। वे आनेवाले कल पर विचार नहीं करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में भविष्य वर्तमान से अधिक अच्छा नहीं हो सकता है।

(२) पूँजी संचय करने की शक्ति ही वर्तमान परिस्थितियों में मुख्य है। धनी होकर सुखमय जीवन व्यतीत करना तथा समाज में अधिक से अधिक सम्मान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति चाहता है परन्तु उसके सामने मुख्य प्रश्न यह उठता है कि क्या उसमें धन-सम्पत्ति का संचय कर सकने की शक्ति है? भारतवर्ष में कुछ गिने-चुने व्यक्ति इसका उत्तर 'हाँ' में दे सकते हैं। अधिकांश की ऐसी स्थिति नहीं है। वे प्रायः ऐसी परि-स्थितियों में जीवित हैं जहाँ धन के संचय का प्रश्न ही नहीं उठता है वरन् प्रतिदिन की मुख्य आवश्यकताएँ भी अतृप्त ही रह जाती हैं। व्यक्ति की धन-संचय कर सकने की शक्ति उसकी आमदनी पर निर्भर है और सम्पूर्ण देश की इस शक्ति का अनुमान उसके उद्योग-धन्धों के विस्तार, यातायात के साधनों, आयात-निर्यात और प्राकृतिक शक्तियों के उप-योग करने की क्षमता से लगाया जा सकता है। भारतवर्ष यदि इस कसौटी पर कसा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि वह कितना पिछड़ा हुआ देश है। ऐसे देश में पूँजी जो उत्पादन के साधनों का दूसरा रूप है, कुछ चतुर व्यवसायियों या अन्य उद्योगपतियों के हाथों में आ जाती है जिसका संचय सारे देश के लाभ के लिये नहीं हो सकता है।

(३) पूँजी-संचय करने की सुविधा का विशेष महत्त्व है। आधुनिक काल में इसकी सुविधा का विशेष ध्यान रखा गया है। बैंकिंग-प्रणाली एवं साख का निर्माण-कार्य इसी सुविधा के लिये स्थापित किये गये हैं। भारत की निर्धन जनता से भारतीय सेविंग बैंक अपना सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं जिनमें ४ आने की बचत भी जमा की जा सकती है। बीमा कम्पनियाँ भी इस कार्य में लगी हैं। परन्तु इन सबसे बढ़कर जो सुविधा आवश्यक है वह है भविष्य के प्रति विश्वास। भारत की स्थिति अपनी जनता में यह विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकी है। थोड़ी सी भी आशंका होने पर वह जमा पूँजी को बैंकों से निकालने लगती है। यह विश्वास उत्पन्न करने के लिये आन्तरिक शांति की व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रवृत्ति से पूँजी संचय करने की अन्य सुविधाएँ जो उद्योग-धन्धे

दे सकते थे वह भी प्राप्त नहीं हो सकती हैं। उद्योग-धन्धों के लिये काफी पूँजी की आवश्यकता होती है जिसकी प्राप्ति हिस्से बेचने से प्राप्त होती है। परन्तु उद्योगों की अनिश्चित स्थिति के कारण मनुष्य हिस्से खरीदने से हिचकते हैं और उस द्रव्य से आभूषण इत्यादि अनुत्पादक वस्तुएँ बना लेते हैं या धन को पृथ्वी में गाड़ देते हैं जिसको किसी भी उपयोग में नहीं लाया जा सकता है।

पूँजी का वर्गीकरण—अर्थशास्त्रियों ने पूँजी का निम्न रीति से वर्गीकरण किया है :—

(१) **चल और अचल पूँजी** (Circulating and Fixed Capital)—चल पूँजी उस पूँजी को कहते हैं जिससे एक मनुष्य केवल एक बार उत्पादन कर सकता है। इसके अन्तर्गत द्रव्य, उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चा माल, रंग इत्यादि बनाने के रासायनिक पदार्थ इत्यादि आते हैं। अचल पूँजी उस पूँजी को कहते हैं जिसका उपयोग उत्पादन में एक से अधिक बार किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत मशीनें, इमारतें इत्यादि आती हैं। इस पूँजी को बार-बार उत्पादन के कार्य में लाया जा सकता है। किसान एक जोड़ी बैल और हल से कई बार खेत जोतकर फसलें उगाता है परन्तु जुलाहा रूई को कातकर केवल एक बार कपड़े का उत्पादन कर सकता है। दूसरी बार कातने के लिये उसे रूई की नई मात्रा चाहिये। इससे स्पष्ट है कि किसान के हल-बैल अचल पूँजी हैं और जुलाहे की रूई चल पूँजी। द्रव्य का उपयोग आवश्यक सामग्री खरीदने में केवल एक बार किया जाता है। इसलिये वह भी चल पूँजी हुई। द्रव्य की इस मात्रा को Working Capital भी कहते हैं।

(२) **वैयक्तिक पूँजी** (Private or Individual Capital)—यह पूँजी केवल एक व्यक्ति की होती है। यदि किसी व्यक्ति के पास चार बड़े कृषि-फार्म हों, कुछ द्रव्य हो, यातायात के लिये अपनी मोटरें इत्यादि हों तो ऐसी पूँजी को वैयक्तिक पूँजी कहेंगे। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के वे समस्त गुण, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति, कलाप्रियता इत्यादि आते हैं जिनके प्रयोग से वह अपने लिये उत्पादन कर सकता है। इन्हें Personal Capital भी कहते हैं। इनके द्वारा केवल एक ही व्यक्ति का लाभ हो सकता है।

(३) **सामाजिक पूँजी** (Social Capital)—यह पूँजी वैयक्तिक पूँजी के विपरीत है। इसमें सारी जनता अथवा समाज का अधिकार होता है। एक विद्युत्-उत्पादक यन्त्र या कोई उद्योग जिस पर समाज का अधिकार है, जिनके उत्पादन से सारे समाज को लाभ होता है सामाजिक पूँजी कही

जाती हैं। सामाजिक संस्थाओं द्वारा संचालित प्रत्येक उत्पादन के साधन सामाजिक पूंजी हैं।

(४) **राष्ट्रीय पूंजी** (National Capital) —जिस प्रकार राष्ट्र प्रत्येक व्यक्ति को मिलाकर बनता है उसी प्रकार राष्ट्र की कुल वैयक्तिक पूंजी और सामाजिक पूंजी का योग राष्ट्रीय पूंजी कहलाता है। वे उत्पादन के साधन जिन पर राष्ट्र या सरकार का अधिकार है तथा जो राष्ट्रीय सरकार के द्वारा ही संचालित होते हैं राष्ट्रीय पूंजी कहे जाते हैं। राष्ट्र द्वारा निर्मित बड़ी इमारतें, बड़े बड़े बाँध और उनकी विद्युत् उत्पन्न करने की शक्ति व अन्य औद्योगिक संस्थायें राष्ट्रीय पूंजी कही जाती हैं। इनसे समस्त राष्ट्र का लाभ होता है।

पूंजी के उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूंजी के बिना उत्पादन का कार्य हो सकना असम्भव है। आधुनिक सभ्यता की माँग की पूर्ति व्यक्तिगत रूप से उत्पादन करके कदापि पूरी नहीं की जा सकती है वरन् इसके लिये सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है। मशीनों के द्वारा अधिक मात्रा में, कम समय में और सरलता से अधिक उत्पादन करके उक्त आवश्यकता की पूर्ति की जाती है। आज पूंजी ने मनुष्य के प्रायः सभी कार्यक्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लिया है। अपने द्रव्य के रूप में यह पर्याप्त लोकप्रिय है क्योंकि इससे सभी वस्तुओं का क्रय सरलता से हो सकता है। पूंजी जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन है। उद्योग-धन्धों की स्थापना करने के हेतु तथा आवश्यक मशीनें व कच्चा माल खरीदने व उत्पादित माल के आयात-निर्यात के लिये उचित साधनों का प्रबन्ध करने के लिये पूंजी की आवश्यकता होती है। उद्योग-धन्धों में कार्य करने से पूंजी वेतन के रूप में मिलती है जिससे जीवन-निर्वाह किया जाता है और बची हुई पूंजी का प्रयोग अन्य उत्पादक कार्यों में किया जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'पूंजी' का क्या अर्थ है? उत्पादन में पूंजी का क्या महत्त्व है? इसका संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

२. पूंजी के संचय में किन बातों की आवश्यकता है? पूंजी के संचय के लिये उपयुक्त परिस्थिति का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है?

३. पूंजी के भेद समझाइये और निम्नलिखित की तुलना कीजिये :—

(अ) चल और अचल पूंजी।

(ब) वैयक्तिक और सामाजिक पूंजी।

अध्याय ४७

साहस और संगठन

(Enterprise and Organisation

उत्पादन करना एक क्रिया है जो न अकस्मात् होती है और न स्वयं अपने आप ही। इसके लिये कर्त्ता की आवश्यकता होती है। भूमि, श्रम और पूँजी के अध्यायों में हम सदा व्यक्तियों का इन तीनों साधनों से सम्बन्ध स्थापित करते आये हैं क्योंकि उत्पादन का मूल व्यक्तियों की आवश्यकता और उसकी पूर्ति की माँग है जिसे स्वयं मनुष्य बाह्य उपकरणों की सहायता से पूरी करता है। बाह्य उपकरणों का जब मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित होता है तो वे विशेष नाम और गुण धारण कर लेते हैं जैसे भूमि, श्रम और पूँजी। इसके साथ ही जब हम मनुष्य को किसी आवश्यकता की पूर्ति में क्रियाशील पाते हैं तब उसकी दो शक्तियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं, जिनके अपने विशेष नाम हैं साहस और संगठन। ये शक्तियाँ पृथक् होते हुए भी साथ चलती हैं। उत्पादन की क्रिया में ये एक-दूसरे पर निर्भर रहती हैं।

यह तो सर्वविदित है कि मनुष्य की क्रियाशीलता का प्रमुख कारण किसी न किसी आवश्यकता की तृप्ति करना है। परन्तु इस क्रियाशीलता की विशेषता इस बात में है कि वह आवश्यकता पूर्ति के लिये किस प्रकार बाह्य उपकरणों को जुटाता है और किस प्रकार उनके पारस्परिक मेल से वांछित वस्तु का उत्पादन करता है। पहले प्रकार के कार्य का अध्ययन हम 'संगठन' के अन्तर्गत करते हैं और दूसरे प्रकार के काम का 'साहस' के अन्तर्गत।

'भूमि' के अध्याय में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि वह उत्पादन की एक निष्क्रिय साधन है, 'श्रम' तभी महत्त्वपूर्ण होता है जब वह 'भूमि' के सम्पर्क में आता है। दोनों के सम्बन्ध से पूँजी का निर्माण होता है और तब उत्पादन होता है। अर्थात् उत्पादन के लिये उसके सम्पूर्ण साधनों को एकत्रित करना अत्यन्त आवश्यक होता है अन्यथा प्रत्येक साधन की उत्पादक शक्ति व्यर्थ हो जायेगी। इन साधनों को एकत्रित करने के कार्य को 'संगठन' और जो मनुष्य इस कार्य को करता है उसे 'साहसी' कहते हैं।

प्रारंभ में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक था। वह अपनी एवं अपने परिवार की माँग स्वयं सामग्री का प्रबन्ध करके तथा श्रम करके पूरी

कर लेता था। विज्ञान का प्रभाव कम था और उस समय उद्योगपति कुछ छोटी मशीनों और थोड़े से श्रमिकों की सहायता से उत्पादन करके जनता की माँग की पूर्ति कर लेते थे। इस प्रकार के उद्योग-धन्धों को चलाने के लिये उद्योगपति या तो अपनी बचत के द्रव्य का प्रयोग करते थे या महाजनों इत्यादि से ऋण लेकर। जनता की रुचि का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और उद्योगपति उनके निकट सम्पर्क में रहने के कारण उनकी रुचि को बहुत कुछ समझ सकता था। ऐसी स्थिति में यदि लाभ होता तो सब लाभ उसी उद्योगपति का था क्योंकि उसने ही उद्योग में द्रव्य लगाया था। यदि हानि होती तो उसे भी उसी उद्योगपति को सहना पड़ता था और वह दिवालिया भी हो जाता था। इस रूप में उद्योगपति ही संगठन और संचालन करता था और उद्योग में द्रव्य लगाकर पूँजी-पति का काम भी करता था।

यह स्थिति आज बदल चुकी है। विज्ञान के नवीन आविष्कारों से उद्योग-धन्धों की पहली रूप रेखा में भी पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। मनुष्यों की रुचियों में विभिन्नता है और वह सदा नयी वस्तु की ओर आकर्षित होती है। उत्पादन के क्षेत्र में अनेक उत्पादक क्रियाशील हैं और उनमें परस्पर स्पर्धा (Competition) है। रुचियों की विभिन्नता के कारण माँग का घटना-बढ़ना स्वाभाविक है जिसका प्रभाव वस्तुओं की पूर्ति पर पड़ता है और अन्त में वस्तुओं के मूल्यों पर। माँग और पूर्ति के अनुसार वस्तुओं के मूल्य में घटती-बढ़ती के सफल निरीक्षण और उससे प्रभावित बाजार पर नियन्त्रण रख सकने की शक्ति पर ही आज उद्योगपति की सफलता निर्भर करती है। इसके साथ ही उत्पादन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विशेष महत्व है। देश के खनिज पदार्थों और श्रमिकों की कार्यक्षमता का उद्योग पर प्रभाव पड़ता है। यदि भारत का एक उद्योगपति किसी ऐसी वस्तु का उत्पादन कर रहा है जिसका विक्रय-मूल्य अधिक है और विदेश से उसी वस्तु का आयात कम मूल्य पर किया जा सकता है तो उपभोक्ता विदेशी वस्तु को खरीदना अधिक पसन्द करेंगे जिसके परिणामस्वरूप देशी उत्पादन को गहरी हानि उठानी पड़ेगी। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए कोई भी व्यक्ति अपने द्रव्य को उपयोग करके उत्पादक बनने में हिचक सकता है क्योंकि इस क्षेत्र में अनिश्चितता अधिक है। परन्तु इसके भय से उत्पादन कार्य रुका नहीं है केवल उत्पादन में पूर्व के उद्योगपति के स्थान में परिवर्तन हो गया है। पूर्व के अनुसार अब एक ही व्यक्ति साहसी और द्रव्य लगाने वाला नहीं रहा।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्पादन का कार्य अत्यन्त जटिल हो

गया है। इस जटिल क्रिया को जो मनुष्य संगठित और संचालित करता है उसे साहसी (Entrepreneur) कहते हैं।

आधुनिक युग में उत्पादन बड़े पैमाने में किया जाता है जिसके लिये नयी से नयी मशीनों का प्रयोग किया जाता है और इसके लिये बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना करनी पड़ती है। यह तो स्पष्ट है कि एक व्यक्ति इतने बड़े उद्योग के लिये द्रव्य नहीं दे सकता है। परन्तु साहसी के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह धनवान् व्यक्ति हो। उसका कार्य केवल उत्पादन के साधनों को एकत्रित करना है। वह बाजार में जनता की माँग का अध्ययन करता है तथा उस माँग के सम्बन्ध की, जिसकी पूर्ति के लिये वह उत्पादन करना चाहता है, वह और सब बातों जैसे उसके अन्य उत्पादन करना, उनकी आर्थिक स्थिति, कच्चे माल के स्रोत यातायात के साधन, जनता की रुचि इत्यादि का सूक्ष्म निरीक्षण करके एक योजना बनाता है। इसके पश्चात् अपनी चतुराई और प्रभावपूर्ण ढंग से पूँजीपतियों से रुपया ऋण लेता है। वह पूँजीपतियों को उस उद्योग की रूपरेखा समझाकर उनके हाथ हिस्से (Shares) बेचता है। इन शेयरों से इकट्ठा हुई पूँजी से वह उस उद्योग के कारखाने स्थापित करता है। कारखानों की स्थापना से पहले स्थान का निर्वाचन करना विशेष महत्व का कार्य है। इसका वर्णन 'स्थानीयकरण' शीर्षक में किया गया है।

कारखानों की स्थापना के पश्चात् भी साहसी का एक विशेष कार्य उनका संचालन करना है। कारखानों में साहसी को श्रमिकों, रासायनिकों, डिजाइनरों, क्लर्कों, मैनेजरों इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है। इनकी नियुक्ति के साथ ही उसे इनकी विशेष योग्यता के अनुसार कार्य में लगाना पड़ता है (मशीन चलाने में कुशल श्रमिक केवल मशीन चलाने का काम करे, मजूरों पर नियन्त्रण न रख सकने वाला व्यक्ति मैनेजर न बनाया जाय इत्यादि) साथ ही उत्पादन के अन्य साधनों का परस्पर उचित सम्बन्ध बनाये रखना पड़ता है। वह कारखाने के कार्य का निरीक्षण करता है, आवश्यकतानुसार सुझाव देता है और इस बात का सदा ध्यान रखता है कि उत्पादन का कार्य शिथिल न पड़े और कोई कर्मचारी अनुचित लाभ न उठाये।

साहसी के यह कार्य उसकी संगठन शक्ति के अनुसार होते हैं। साहसी इसके साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य और करता है जिसे जोखिम उठाना (Risk taking) कहते हैं। साहसी नाम की विशेषता ही यह कार्य है।

यह पहले कहा जा चुका है कि साहसी संगठनकर्त्ता के रूप में पूँजीपतियों

को हिस्से (Shares) बेचकर उद्योग के लिये पूंजी एकत्रित करना है। यह कार्य प्रभावशाली व्यक्ति ही कर सकता है परन्तु आधुनिक उत्पादन-प्रणाली का महत्व यहीं पर है। हिस्से खरीदकर हिस्सेदारों को हानि का भय होना अनिवार्य है। हानि-लाभ की यही द्विविधा साहसी को भी व्याकुल करती है। इसी हानि-लाभ की संभावना को जोखिम उठाना कहते हैं। प्रायः जितने भी कार्य जोखिम उठाकर किये जाते हैं सबका उद्देश्य 'लाभ' कमाना है परन्तु उद्योग-धन्धों की सफलता निश्चित नहीं होती है। यह संगठनकर्ता की योग्यता और सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर होती है।

उत्पादन लगातार चलता रहता है परन्तु उत्पादित वस्तु एकदम नहीं बिक जाती। उसके विक्रय के लिये पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है। इस समय में यह बहुत संभव है कि देश की आर्थिक स्थिति में गंभीर परिवर्तन आ जाय, या ऐसे राजनीतिक या सामाजिक आन्दोलन आरम्भ हो जायँ जिनका प्रभाव उत्पादित वस्तु पर पड़े, जैसा कि 'स्वदेशी-आन्दोलन' से मैनचेस्टर के कपड़ों की मिलों पर पड़ा। अतएव साहसी को यह अनुमान लगाना पड़ता है कि एक निश्चित समय में उसकी उत्पादित वस्तु की कितनी माँग होगी। इसके साथ ही उसे अपने प्रतिस्पर्धी अन्य उत्पादकों की स्थिति का भी गंभीर अध्ययन करना पड़ता है। अर्थात् उसे यह अनुमान कर लेना आवश्यक है कि उस निश्चित समय में जनता की माँग के कुल कितने भाग की वे पूर्ति कर सकेंगे और किस मूल्य पर। इसी अनुमान के आधार पर वह अपना उत्पादन घटा-बढ़ा लेगा। उत्पादित माल का सीधा सम्बन्ध ग्राहकों की रुचि से है। उतने समय में इस बात की संभावना हो सकती है कि ग्राहकों की रुचि में परिवर्तन आ जाय, उन्हे कोई नई वस्तु आकर्षित कर ले। इस प्रकार की सम्भावना राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों के कारण होती है परन्तु उद्योग पर उसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। साहसी को उत्पादन करने वाले मजूरों व अन्य कर्मचारियों को वेतन अभी देना पड़ता है। प्रत्येक साहसी अपनी उत्पादित वस्तु का मूल्य पहले निश्चित करता है और उसके आधार पर वेतन की दरे निश्चित की जाती है। यदि भविष्य में होने वाली वस्तु की माँग और मूल्य का अनुमान ठीक होगा तो साहसी हानि उठाने से बच सकता है। यदि वस्तु उसके अनुमानित मूल्य से अधिक में बिकेगी तो उसे अधिक लाभ होगा। वेतन को निर्धारित करने में मजूरों की माँग और पूर्ति का बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रतिस्पर्धा में यदि एक उत्पादक मजूरी या वेतन की दर बढ़ा दे तो सभी मजूर [illegible]पी ओर आकर्षित हो जायेंगे और यदि वस्तु का विक्रय-मूल्य उसी अनुपात में न बढ़ा तो

उत्पादक को हानि हो जायेगी। यदि मूल्य बढ़ गया तो दूसरा उत्पादक अपनी क्षमता से कम उत्पादन करने के कारण हानि उठा सकता है। इसीलिये साहसी के लिये यह आवश्यक है कि वह भविष्य की स्थिति का ठीक अनुमान लगाये और प्रतिस्पर्धा का सामना कर सके। यदि अनुमान ठीक न हुआ तो हानि उठाने के लिये तैयार रहे।

इस विवरण से साहसी के कार्य की जटिलता का अनुमान किया जा सकता है। साहसी की संगठन शक्ति और जोखिम उठाने की शक्ति पर ही बड़े पैमाने के उत्पादन की सफलता निर्भर है। साहसी को प्रायः कठोर व्यक्ति समझा जाता है। वह मजूरों के व उनके परिवार के जीवन निर्वाह का ध्यान नहीं करता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि साहसी का उद्देश्य लाभ कमाना है। इसके लिये वह मजूरों के स्थान पर मशीनें लगा देता है जिससे उत्पादन और शीघ्र हो और उसमें समानता रहे। उसका इस बात से कोई सरोकार नहीं कि एक नयी मशीन लगाने से कितने मजूर बेकार हो गये। वह अपने लाभ के लिये नयी से नयी मशीनें लगाने को तैयार रहता है और मजूरों की बढ़ती संख्या तथा मजूरी की गिरती दर का पूरा लाभ उठाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. उद्योग-धन्धों के निर्माण में संगठन और साहस का महत्त्व समझाइये।
२. वर्तमान उद्योग-धन्धों में साहसी का क्या स्थान है? इसका विस्तृत विवेचन कीजिये।
३. श्रम और साहस में अन्तर बतलाइये और उत्पादन में इसकी क्या विशेषता है, इसे समझाइये।

अध्याय ४८

उत्पादन के साधनों की नयी परिभाषा

प्राचीन अर्थशास्त्री (Classical Economist) उत्पादन के पाँच साधन मानते हैं—भूमि, श्रम, पूंजी, साहस और संगठन। परन्तु कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि उत्पादन के साधनों के उक्त वर्गीकरण से कुछ विशेष लाभ नहीं होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन पाँच साधनों में विशेष अन्तर है परन्तु वह मौलिक (Fundamental) अन्तर नहीं है। विशेष बात यह है कि ये पाँचों साधन उत्पादन के कार्य में सहायता देते हैं और बिना इनके प्रयोग के उत्पादन हो सकना सम्भव नहीं है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि उत्पादन की दृष्टि से सब साधन एक सा कार्य करते हैं तो यह कुछ अनुचित न होगा। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार भूमि और श्रम में एक विशेष अन्तर है। 'भूमि' 'प्रकृति की देन' है। इसे ईश्वर ने बनाया है। उसकी एक निश्चित मात्रा है जिसे घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। परन्तु 'श्रम' मनुष्यकृत है इसलिये उसकी मात्रा को इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। परन्तु यह मत मान्य नहीं है। क्योंकि यदि हम दीर्घकालीन दृष्टिकोण से देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'श्रम' या 'श्रमिक' की पूर्ति भी ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। जिस प्रकार ईश्वर की इच्छा के बिना एक इञ्च भूमि का निर्माण नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार यह भी निश्चित है कि एक भी श्रमिक उसकी इच्छा के विरुद्ध उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से केवल ईश्वर ही निर्माणकर्त्ता है, अन्य नहीं। परन्तु यदि अल्पकालीन दृष्टिकोण से देखें तो विदित होगा कि जिस प्रकार मनुष्य अधिक श्रम करके—६ घण्टे की अपेक्षा १२ घण्टे मेहनत करके—श्रम की मात्रा बढ़ा सकता है उसी प्रकार किसी भूमि के निश्चित भाग पर अधिक परिश्रम करके (Intensive Cultivation) उसकी उपज की मात्रा में भी वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार मनुष्यों ने वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से बम्बई के समुद्र-तट व विदेश के अन्य समुद्र-तटों में पानी पीछे हटाकर नयी भूमि को प्राप्त करने में अपूर्व सफलता पायी है। भूमि की पूर्ति की मात्रा को अमेरिका के गृह-निर्माण के ढंग से भी बढ़ाया जा सकता है। अमेरिका में घरों का आसपास निर्माण करने की अपेक्षा घर के ऊपर मञ्जिलों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार किसी

घर की छत में ४८ नयी मञ्जिलों का निर्माण करके भूमि की पर्याप्त मात्रा बढ़ जाती जिसका अन्य कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से भूमि और श्रम में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार इनमें दूसरा अन्तर यह है कि भूमि निर्जीव है और मनुष्य, जो श्रम का स्रोत है, जीव है। परन्तु जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है दोनों जीव और निर्जीव उत्पादन करने में सहायक हैं। साधनों को उत्पादन करने के फलस्वरूप पारिश्रमिक मिलता है चाहे वह जीव हो या निर्जीव। इस अन्तर का यद्यपि सामाजिक शास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्व है परन्तु उस क्षेत्र से उत्पादन का कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादन के प्रत्येक साधन की कुल पूर्ति (Total Supply) का अध्ययन करने की अपेक्षा किसी एक विशेष कार्य के लिये (For one particular use) उनकी पूर्ति का अध्ययन करते तो अधिक उचित होता। उदाहरण के लिये यदि किसी एक कार्य के लिये चाहे गृह-निर्माण करने, नहरों की खुदाई करने, गेहूँ बोने या किसी अन्य कार्य को करने के लिये भूमि की आवश्यकता हो तो उसकी पर्याप्त मात्रा प्राप्त हो सकती है। यदि किसी सिमेंट के कारखाने के लिये या बोझा, कोयला इत्यादि ढोने के लिये या घरों का निर्माण करने के लिये श्रम की आवश्यकता हो तो अपरिमित मात्रा में श्रम प्राप्त हो सकता है। पूर्ति के इस दृष्टिकोण से उत्पादन के साधनों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होगा कि उनमें कुछ अन्तर नहीं है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूँजी संचित श्रम (Stored labour) है। यदि इस दृष्टिकोण से श्रम, साहस और संगठन पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनों भी श्रम ही हैं। इस कारण इनमें कुछ अन्तर नहीं। जो अन्तर उनमें प्रतीत होता है वह श्रम के प्रकारों का अन्तर है।

यदि उत्पादन के साधनों का वर्गीकरण भूमि, श्रम, पूँजी, साहस और संगठन—पाँच भागों में किया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रत्येक साधन स्वयं में समान है, अर्थात् किसी भी एक साधन की प्रत्येक इकाई परस्पर समान है। जिस प्रकार भूमि और श्रम में अन्तर बताया जाता है यदि उस दृष्टि से केवल भूमि की अनेक इकाइयों (Units) का निरीक्षण किया जाय तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक इकाई दूसरी इकाई से भिन्न होती है। उसी प्रकार श्रम की प्रत्येक इकाई में पर्याप्त भिन्नता है। इस प्रकार श्रम की तथा भूमि की इन विभिन्न इकाइयों को समान श्रम या समान भूमि नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य साधनों

की भी यही स्थिति है। यदि श्रम-श्रम में या भूमि-भूमि में अन्तर है अर्थात् उत्पादन के प्रत्येक साधन में अन्तर है तो प्रत्येक साधन की प्रत्येक इकाई को उत्पादन का साधन माना जाना चाहिये। इस रीति से उत्पादन के पाँच ही साधन नहीं वरन् असंख्य साधन बन जायेंगे। इसलिये यह कहना अधिक उचित होगा कि उत्पादन के सब साधन उत्पादन की दृष्टि से समान हैं। उनका वर्गीकरण करना अनावश्यक है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार उत्पादन के साधनों में परस्पर कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने इन साधनो का निम्न आधार पर वर्गीकरण किया है:—

(अ) उत्पादन के साधन की गतिशीलता—(Mobility of Factors of Production)।

(ब) साधन की सीमान्त-उपयोगिता के बराबर फल पाने की शक्ति—(Capacity to demand payment according to their marginal productivity)।

उक्त दो आधारों पर उत्पादन के साधनों को दो भागों में विभाजित किया गया है (१) विशिष्ट साधन (Specific Factor) और (२) अविशिष्ट साधन (Non-specific Factor)।

विशिष्ट साधन:—उत्पादन के वह साधन जो अपने उसी रूप में एक बार में केवल एक काम में लाये जा सकते हैं विशिष्ट साधन कहलाते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत उत्पादन के सभी साधन आ सकते हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी घर में घर का काम एक ८५ वर्ष का बूढ़ा आदमी करता है जो अपने बचपन से उसी घर में काम करता रहा है। उस घर के कामों में वह पूर्ण दक्ष है। यदि उसे दूसरे घर में कुछ नया काम करने के लिये नियुक्त किया जाय तो वह काम बिल्कुल नहीं कर सकेगा क्योंकि उसमें नया काम सीख सकने की शक्ति नहीं है। इसलिये इस बूढ़े आदमी को उत्पादन का विशिष्ट साधन कहा जायेगा। इसी प्रकार एक चतुर तथा दक्ष इन्जीनियर अपने कार्य के सिवाय अन्य कार्य की क्षमता नहीं कर सकता है। इसलिये वह भी विशिष्ट साधन हुआ। यदि एक भूमिखण्ड में गेहूँ उपजाया गया है तो जब तक उस गेहूँ को काटा नहीं जायेगा उस भूमि को अन्य प्रयोगों में नहीं लाया जा सकता है, या एक गन्ना पेलने की मशीन को जो पूंजी है किसी अन्य काम में नहीं लाया जा सकता है। अतएव वह भूमिखण्ड और यह मशीन दोनों उत्पादन के विशिष्ट साधन हुए। इनकी गतिशीलता नहीं के बराबर होती है इसी कारण अपनी विशिष्टता का त्याग नहीं कर सकते हैं।

अविशिष्ट साधन :—उत्पादन के वह साधन जो अपने उसी रूप में

एक दो बार में बहुत से कार्य कर सकते हैं अविशिष्ट साधन कहलाते हैं। इनमें पर्याप्त गतिशीलता होती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि अविशिष्ट साधन सब कार्य एक ही समय में तुरन्त नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि वह बहुत प्रकार के कार्यों में से किसी भी कार्य को करने के लिये तैयार हो जायेगा। उसमें निर्वाचन कर सकने (Choice) की शक्ति होती है। उदाहरण के लिये एक अकुशल श्रमिक (Unskilled Labourer) को ले लीजिये। यह अकुशल श्रमिक खेत खोद सकता है, बोझा ढोने और मशीन चलाने का काम कर सकता है। उसे जो काम मिल जायेगा वह उसे कर सकता है। यदि एक खेत खाली पड़ा है तो उसका अनेक प्रकार से उपयोग किया जा सकता है, उस पर खेती की जा सकती है, घर बनाया जा सकता है और केवल घास भी उगायी जा सकती है। उसका इच्छानुसार प्रयोग किया जा सकता है। अतएव इस प्रकार के सभी साधनों को उत्पादन के अविशिष्ट साधन कहते हैं।

अब विशिष्ट साधनों तथा अविशिष्टि साधनों में अन्तर जान लेना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है विशिष्ट साधन केवल एक काम में लाया जा सकता है। अतएव वह अपने स्वामी की दया पर निर्भर होता है। यदि उक्त ८५ वर्ष के बूढ़े को अन्य नौकरों से कम वेतन भी दिया जाय तो वह कार्य छोड़कर नहीं चला जायेगा। विशिष्ट साधन में गतिशीलता (Mobility) नहीं होती है। परन्तु अविशिष्ट साधन अपनी गतिशीलता के कारण अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार पारिश्रमिक लेंगे। यदि सीमान्त उपयोगिता से कम फल मिला तो वे तुरन्त उस कार्य को छोड़ देंगे। यदि एक अकुशल श्रमिक को गाड़ी हाँकने के लिये एक व्यक्ति दो रुपया प्रतिदिन देना चाहे और दूसरा व्यक्ति मिट्टी ढोने के लिये ढाई रुपया प्रतिदिन देना चाहे तो अविशिष्ट साधन होने के नाते वह मिट्टी ढोना स्वीकार कर लेगा। यदि एक मिल-मालिक कम मजूरी देता हो तो मजूर अवश्य दूसरे मिल-मालिक के कारखाने में कार्य करना स्वीकार करेंगे जो अधिक मजूरी दे या अन्य कोई ऐसा कार्य करेंगे जिससे अधिक मजूरी मिल सके। परन्तु विशिष्ट साधन केवल एक ही काम कर सकने के कारण इतने स्वतन्त्र नहीं होते हैं।

परन्तु इसके साथ ही यह जान लेना आवश्यक है कि कोई भी साधन पूर्णतया विशिष्ट या अविशिष्ट की श्रेणी में नहीं होते हैं। प्रत्येक साधन विशिष्ट हो सकता है और अविशिष्ट भी। किसी साधन की विशिष्टता या अविशिष्टता समय (Time Factor) पर निर्भर होती है। एक साधन आज विशिष्ट हो सकता है परन्तु समय मिलने पर अविशिष्ट

भी हो सकता है और इसके विपरीत भी। यदि किसी खेत में गेहूँ बोया गया है तो गेहूँ न काटे जाने तक वह विशिष्ट साधन होगा परन्तु गेहूँ काटकर पुनः उसे अविशिष्ट साधन में बदला जा सकता है। समय परिवर्तनशील है और उसके साथ ही साधनों के विशिष्टता और अविशिष्टता का गुण भी परिवर्तित होता रहता है। यदि किसी भूमि पर सुन्दर मकान बना है तो वह भूमि भूकम्प से मकान के ढह जाने तक विशिष्ट रहेगी परन्तु उसके पश्चात् खण्डहर के स्थान पर सुन्दर उद्यान लगाकर या किसी की स्मृति में प्रशस्तियुक्त स्तम्भ बनाकर उस भूमि को अविशिष्ट बनाया जा सकता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि उत्पादन के प्रत्येक साधन पूर्णतया विशिष्ट या अविशिष्ट साधनों की श्रेणी में नहीं आते हैं। इसमें एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक साधन आंशिक रूप से विशिष्ट और अविशिष्ट होते हैं। एक दक्ष इन्जीनियर अपने विशिष्ट रूप में १०,००० रुपया पारिश्रमिक पाता है। यदि उसे इन्जीनियरी का कार्य न मिले तो वह अन्य कुछ न कुछ कार्य अवश्य कर सकता है। वह क्लर्क होकर १०० रुपया पारिश्रमिक पा सकता है। उसका यह कार्य उसकी आंशिक अविशिष्टता का लक्षण है। अतएव इस उदाहरण के अनुसार यह कहा जायगा कि उसकी विशिष्टता ९०० रुपयों और अविशिष्टता १०० रुपयों के बराबर है।

यदि उत्पादन के साधनों के उक्त वर्गीकरण का अध्ययन किया जाय तो यह प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये वर्गीकरण से अधिक उचित और न्यायसंगत प्रतीत होता है। प्रायः अधिकतर आधुनिक अर्थशास्त्री इसी वर्गीकरण के आधार पर उत्पादन का अध्ययन करते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. क्या यह कहना ठीक है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों में उत्पादन की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है?

२. आधुनिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से भूमि का क्या अर्थ है? इसमें और प्राचीन परिभाषा में अन्तर बतलाइये।

३. विशिष्ट और अविशिष्ट साधनों से आप क्या समझते हैं? साधनों के इस भेद का उत्पादन-क्रिया में क्या महत्त्व है?

अध्याय ४९

उत्पादन के नियम

उत्पादक का मुख्य ध्येय सदा से नफा कमाना रहा है। उत्पादक चाहे किसान हो या उद्योगपति, उसके इस ध्येय में कभी कुछ अन्तर नहीं नहीं आया है। वह उत्पादन में ऐसे साधनों का उपयोग करना चाहता है जिनकी कार्यक्षमता अधिक हो तथा जिनको प्राप्त करने में कम से कम व्यय करना पड़े। कम से कम व्यय करके अधिक से अधिक लाभ उठाने की इस प्रवृत्ति का उत्पादन के क्षेत्र में बड़ा महत्व है। उत्पादन किस मात्रा में किया जाय, उसके लिये आवश्यक कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है या नहीं, किस साधन का कम और किसका अधिक प्रयोग किया जाय इत्यादि बातों का ध्यान प्रत्येक उत्पादक को रखना पड़ता है। इसके साथ ही प्रत्येक उत्पादक उत्पादन के साधनों के गुण (Quality) उनके यातायात-व्यय तथा उनके बदले उपयोग में लाये जा सकने वाले अन्य साधनों के गुण और उनपर किये जाने वाले व्यय के आधार पर यह भी निश्चित करता है कि उत्पादन किस पैमाने पर किया जाय। यदि उत्पादक के साधनों व उत्पादन के पैमाने का निर्वाचन सही होता है तो उत्पादक अपने अधिक से अधिक नफा कमाने के ध्येय में सफलता प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। उत्पादक के लिये उत्पादन के विभिन्न साधनों को किस अनुपात में मिलाया जाय, यह समस्या भी विशेष महत्व रखती है। यह उत्पादक की निर्वाचन-शक्ति है। यदि यह निर्वाचन-शक्ति न होती और प्रत्येक उत्पादक उत्पादन के साधनों को ठीक एक ही अनुपात में मिलाकर उत्पादन कर सकते तो उनकी प्रतिस्पर्धा प्रायः नष्ट हो जाती एक निश्चित मात्रा में व्यय और लाभ होने से उत्पादक उत्पादन करने के लिये विशेष उत्सुक नहीं रहते। उनकी उत्सुकता और क्रियाशीलता का मुख्य कारण अधिकतम नफा कमाना है जो उक्त स्थिति में सम्भव नहीं है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वह उत्पादन के क्षेत्र में प्रयोग (Experiment) करता रहता है और सदा ऐसे साधनों एवं उत्पादन के ऐसे पैमाने की खोज में रहता है जहाँ कम से कम व्यय करके उनकी अधिकतम उपयोगिता का लाभ उठाया जा सके।

उत्पादक के इस उद्देश्य को तथा उत्पादन के साधनों के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुपात को प्रायः उत्पादन के ये तीन नियम प्रभावित करते

रहते हैं:—(१) क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns), (२) क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of Decreasing Returns) और (३) क्रमागति-उत्पत्ति-समता नियम (Law of Constant Returns)।

उत्पादक उत्पादन करने के लिये उसके साधनों का परस्पर अनुपात स्थिर कर लेता है। वह प्रत्येक साधन की मात्रा को बारम्बार घटाता-बढ़ाता रहता है। परन्तु हम उसकी उत्पादन-क्रिया को भली प्रकार समझने के लिये यह मान लेते हैं कि वह सब साधनों को स्थिर रखकर केवल एक साधन की मात्रा को घटाता-बढ़ाता है। इस घटाये-बढ़ाये जाने वाले साधन को परिवर्तनशील साधन (Variable factor) कहते हैं। यदि कोई उत्पादक केवल दो साधनों की सहायता से उत्पादन करता है तो उसके एक की मात्रा साधन स्थिर रहती है परन्तु दूसरे परिवर्तनशील साधन की एक एक इकाई को घटा-बढ़ा कर दोनों साधनों के ऐसे अनुपात को स्थिर करता है जिसमें उत्पादन में व्यय कम से कम हो और लाभ अधिक से अधिक। यदि सभी साधनों की मात्राओं को प्रत्येक बार घटाया-बढ़ाया जाता रहे तो उत्पादन के विषय में कुछ मत स्थिर कर सकना असम्भव हो जायेगा। इससे उत्पादक के लाभ के उद्देश्य को भी हानि पहुँचेगी।

एक किसान के पास कई बीघा जमीन है जिसमें कई मजूर कार्य करते हैं। किसान इन मजूरों को कुछ पारिश्रमिक देता है। यदि वह यह अनुभव करे कि अधिक मजूर लगाने से कुल उत्पादन बढ़ सकता है है तो वह यह निश्चय करेगा कि उस मजूर की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कितनी है। यदि बढ़ाये हुए मजूर का सीमान्त-उत्पादन ३ मन है और उसका पारिश्रमिक इससे अधिक है तो किसान और मजूर नहीं लगायेगा क्योंकि इससे उसको हानि होती है। परन्तु यदि पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन से कम देना पड़ता है तो वह मजूर की संख्या को अवश्य बढ़ायेगा। मजूरों की संख्या को वह किसान उस समय तक बढ़ाता रहेगा जब तक पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन के बराबर न हो जाय।

उत्पादन-क्रिया में नियमों का यह सम्बन्ध तभी स्थिर किया जा सकता है जब उत्पादन का केवल एक साधन परिवर्तनशील साधन माना जाय। एक एक मजूर को बढ़ाने से सीमान्त उत्पादन में वृद्धि, ह्रास और समता का बड़ी सरलता से स्पष्टीकरण किया जा सकता है। किसान इससे लाभ उठाकर अपने उत्पादन को उस स्थल पर रोक सकता है जहाँ पारिश्रमिक और सीमान्त-उत्पादन दोनों बराबर हैं क्योंकि उसी स्थल पर अधिकतम उत्पादन किया जा सकता है और पारिश्रमिक न्यूनतम

होता है। परन्तु यदि मजूरों की इकाइयों में ह्रास या वृद्धि करने के साथ ही भूमि की मात्रा में भी ह्रास या वृद्धि की जाती तो प्रत्येक बार सम्पूर्ण क्रिया में साधनों का नया अनुपात होने से उत्पादन के नियमों का स्पष्टीकरण कर सकना नितान्त असम्भव होता। किसान को उत्पादन और पारिश्रमिक के सम्बन्ध की अनिश्चितता के कारण लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक सम्भावना होती।

इससे पहले कि नियमों का पृथक् रूप से स्पष्टीकरण किया जाय एक अन्य स्थिति पर भी प्रकाश डालना उचित है। यह साधारण ज्ञान की बात है कि परिवर्तनशील साधन की इकाइयों में घटती-बढ़ती करने से सीमान्त उत्पादन में भी अवश्य घटती-बढ़ती दृष्टिगोचर होगी। परन्तु यदि परिवर्तनशील साधन की एक इकाई को बढ़ाकर सीमान्त उत्पादन में कुछ भी वृद्धि न हो तो इस साधन की वृद्धि उत्पादक के लिये हानिकारक होगी। क्योंकि उत्पादक को उसे पारिश्रमिक देना पड़ेगा जब कि उसका सीमान्त-उत्पादन कुछ नहीं है। उत्पादक उस इकाई को नहीं बढ़ायेगा। परन्तु व्यवहार में यह स्थिति बहुत कम आती है। परिवर्तनशील साधन की इकाइयों में वृद्धि करने से सीमान्त-उत्पादन में अवश्य वृद्धि होगी पर उत्पादन के दृष्टिकोण से यह जानना आवश्यक है कि वह वृद्धि साधन की बढ़ायी हुई मात्रा के अनुपात से अधिक हुई है, कम हुई है या बराबर हुई है। इसी समस्या के कारण उत्पादन के उक्त तीनों नियमों की खोज हुई।

क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम

(Law of Increasing Returns)

यदि कोई उत्पादक उत्पादन के साधनों भूमि, पूंजी इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर दूसरी वस्तुओं में बिना किसी परिवर्तन के उत्पादन के अन्य साधन अर्थात् 'श्रम' की मात्रा में १% की वृद्धि कर देता है तो उत्पादन की कुल मात्रा में जो वृद्धि होगी वह १% से अधिक होगी। इसे क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम कहते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :—

				कुल उत्पादन
मशीन	+	१०० श्रमिक	=	१,००० इकाइयाँ
,,	+	१०१ ,,	=	१,०३० ,,

उक्त उदाहरण में मशीन उत्पादन का स्थिर साधन है और श्रमिक परिवर्तनशील साधन। मशीन की स्थिर मात्रा के साथ जब १०० श्रमिक उत्पादन कार्य करते हैं तो कुल उत्पादन १,००० इकाइयाँ होता है। परन्तु

जब अन्य वस्तुओं में किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना श्रम की मात्रा में १% की वृद्धि की जाती है तो उत्पादन १,००० इकाइयों से बढ़कर १,०३० इकाइयाँ हो जाता है, अर्थात् कुल उत्पादन में यह वृद्धि १% से बढ़कर ३% हुई।

उत्पादन में क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार यह वृद्धि होने के अनेक कारण हैं। यह वृद्धि उद्योग-धन्धों तथा कृषि दोनों क्षेत्रों में होती है। आचार्य मार्शल ने दोनों क्षेत्रों की इस वृद्धि का गंभीर अध्ययन किया। अन्त में वे इस परिणाम पर पहुँचे कि सीमान्त-उत्पादन में जो वृद्धि परिवर्तनशील साधन की बढ़ाई इकाई के अनुपात से अधिक होती है उसके दो मुख्य कारण हैं—(१) आन्तरिक मितव्ययता (Internal Economics) और (२) बाह्य मितव्ययता (External Economics)। इन दोनों प्रकार की मितव्ययताओं का उद्योगपति तथा किसान दोनों समान रूप से अनुभव करते हैं परन्तु उद्योग के विस्तार में इनका विशेष महत्त्व हो जाता है।

(१) **आन्तरिक मितव्ययता** (Internal Economics) उसको कहते हैं जिसका प्रयोग प्रत्येक कारखाने का मालिक कर सकता है। यदि कारखाने का मालिक योग्य और चतुर व्यक्ति है तो वह इस आन्तरिक मितव्ययता को अपने लाभ के लिये प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिये वह इस बात का सदैव ध्यान रखे कि उत्पादन के कार्य में प्रयुक्त होने वाली मशीनें खाली न रहें। उनका अधिक से अधिक प्रयोग किया जाय। इससे वह मशीन की अधिकतम उत्पादन-शक्ति का लाभ उठा सकता है। इसके साथ ही उसे यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उत्पादन के प्रत्येक साधन से उसकी योग्यतानुसार और उसके गुणों के अनुसार काम लिया जाय। कच्चे माल का पूरा पूरा उपयोग किया जाय। उसमें से कुछ भी व्यर्थ नष्ट न हो। उसके अवशेष से यदि कुछ ऐसी वस्तु बनायी जा सकती है जिसका विक्रय किया जा सकता है तो उसे अवश्य बनाया जाय। उदाहरणार्थ किसी भी चमड़े के कारखाने में जूते या सूटकेस इत्यादि के बनाने के बाद कतरनें शेष रह जाती हैं। आन्तरिक मितव्ययता से परिचित कारखाने का मालिक उन कतरनों से चमड़े की पेटियाँ, फीते, बटुए और वाशर इत्यादि वस्तुएँ बनवाकर उनका विक्रय कर देता है, जिससे चमड़े के छोटे से टुकड़े का भी पूरा उपयोग कर लाभ उठाता है। उसे इस बात की ओर भी ध्यान देना पड़ेगा कि उसके कारखाने में उत्पादन की रीतियाँ अवैज्ञानिक तो नहीं हैं। आन्तरिक मितव्ययता का पूरा लाभ उठाने के लिये उत्पादक को आधुनिक वैज्ञानिक रीतियों से उत्पादन करना चाहिये और पुरानी मशीनों के स्थान पर नयी अधिक उत्पादक मशीनों का प्रयोग करना चाहिए। ये आन्तरिक मितव्ययता की मुख्य बातें हैं।

(२) **बाह्य मितव्ययता** (External Economics) का उपयोग एक अकेला उत्पादक नहीं कर सकता है। इसके लिये यह आवश्यक होता है कि अनेक कारखानों या उद्योग-धन्धों का साथ-साथ विकास हो। यदि किसी स्थान पर चीनी के अनेक कारखाने खुल जायँ तो यह स्वाभाविक है कि उस स्थान के श्रमिक चीनी की मशीनों एवं उसके उत्पादन की रीतियों से भली प्रकार परिचित हो जायेंगे और आवश्यकता पड़ने पर कुशल श्रमिक प्राप्त हो सकेंगे। यदि चीनी का कोई नया कारखाना वहाँ पर खुलेगा तो वह इस सुविधा से बहुत लाभान्वित होगा। इसके विपरीत यदि उस स्थान पर केवल एक अकेला चीनी का कारखाना होता तो यह सुविधा मिल सकनी सम्भव नहीं होती। इसके साथ ही यदि कई चीनी के कारखानों के साथ ही वहाँ पर एक डाकखाना तथा छोटे रेल का स्टेशन भी बन जाय तो उत्पादकों को बाह्य मितव्ययता की इस सुविधा से पर्याप्त लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है। सस्ते सूद पर रुपया उधार भी मिलने लगता है जिससे पूँजी इकट्ठा करने में बहुत कठिनाई नहीं पड़ती है। कानपुर में जब केवल एक दो मिलें ही थीं तो इस प्रकार की कोई सुविधा वहाँ नहीं थी। परन्तु उद्योग-धन्धों के विकास के साथ ही वहाँ पर द्रव्य-बाजार (Money Market) का भी विकास हो गया। बड़े बड़े उद्योगों के स्थापित हो जाने से ऐसे स्थानों में छोटे छोटे धन्धे भी चालू हो जाते हैं जहाँ से बड़े कारखानों को अनेक आवश्यक पुर्जे, बैल्ट, व लोहे इत्यादि की आधी तैयार (Semi-manufactured) वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। जैसे अहमदाबाद इत्यादि स्थानों में जहाँ कपड़े की मिलें हैं, कपड़े की गाँठ बाँधने के लोहे की पत्ती बनाने का धन्धा चल पड़ा है, ऐसे ही बोरे इत्यादि के धन्धे भी। इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है क्योंकि इनकी माँग बहुत होती है। इसी प्रकार मोटर बनाने वाले भी कहीं से मोटर के आवश्यक पुर्जे व बिजली की तैयार वस्तुएँ खरीद लेते हैं। इस प्रकार बाह्य मितव्ययता से उत्पादन-व्यय (Cost of Production) घटाया जा सकता है।

आचार्य मार्शल के अनुसार इन दो मितव्ययताओं के कारण ही उत्पादन में वृद्धि का नियम लागू होता है। यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो इस वृद्धि के निम्न पाँच विशेष कारण हैं :—

१. मशीनों की अविभाज्यता (Indivisibility of Machinery)।

२. कार्यालय के व्यय में मितव्ययता (Economy of Office Expenses)

३. बड़े पैमाने में क्रय-विक्रय की सुविधाएँ (Advantages of Large Scale Buying and Selling)।

४. सहायक उद्योग-धन्धों की सुविधाएं (Advantage of Subsidiary Industries)

५. श्रम पूंजी इत्यादि सुविधाओं की सरलता से प्राप्ति (Availability of Labour, Capital and Other Facilities)

(१) **मशीनों की अविभाज्यता** (Indivisibility of Machinery) का सम्बन्ध उसके पुर्जों से नहीं वरन् उसकी उत्पादन-शक्ति से होता है। उद्योग-धन्धों में प्रायः बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग किया जाता है जिनकी उत्पादन-शक्ति बहुत अधिक होती है। उससे उत्पादन करना उत्पादक की इच्छा पर निर्भर रहता है चाहे वह वस्तु की केवल १ इकाई का उत्पादन करे या १०० इकाइयों का। परन्तु प्रत्येक स्थिति में उत्पादक को पूरी मशीन का तथा उसे चलाने इत्यादि के प्रबन्ध का व्यय देना पड़ता है, जिसे अतिरिक्त व्यय (Overhead Cost) कहते हैं। जैसे जैसे उत्पादक अधिक इकाइयों का उत्पादन करेगा यह अतिरिक्त-व्यय कम होता जायेगा क्योंकि मशीन अपनी पूरी उत्पादन-शक्ति से कार्य करेगी जिससे प्रत्येक उत्पादित इकाई का उत्पादन-व्यय कम होगा और यही उत्पादन के क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का तात्पर्य है।

उदाहरण के लिये एक फाउन्टेनपेन बनाने के कारखाने को लीजिये। उस कारखाने की मशीन फाउन्टेनपेन की १०० इकाइयां बना सकती है परन्तु उत्पादक केवल ५ इकाइयों का ही उत्पादन करता है। मशीन को चलाने व उसका प्रबन्ध इत्यादि करने का कुल व्यय ५०० रुपया है जो, चाहे उत्पादक १ इकाई का उत्पादन करे या १०० इकाइयों का, प्रत्येक स्थिति में स्थिर रहेगा। यदि ५ इकाइयों का उत्पादन करने के लिये १०० रुपये के कच्चे माल की आवश्यकता हो तो इस प्रकार ५ इकाइयों का उत्पादन करने में उत्पादक को कुल ६०० रुपये व्यय करने पड़े जिससे प्रत्येक इकाई का मूल्य १२० रुपया हुआ। परन्तु यदि उत्पादक मशीन की पूरी उत्पादन-शक्ति का उपयोग करने के हेतु १०० इकाइयों का उत्पादन करना चाहता है तो उसे ५०० रुपया मशीन चलाने इत्यादि पर व्यय करना ही पड़ेगा। कुल १०० इकाइयों का परिवर्तनशील-व्यय (Variable Cost) उक्त उदाहरण के अनुसार २,००० रुपये हुआ। इस प्रकार १०० इकाइयो का उत्पादन करने के लिये उत्पादक को कुल २,५०० रुपये व्यय करने पड़े जिससे प्रति इकाई का मूल्य २५ रुपये हुआ। यही उत्पादन के वृद्धि के नियम का तात्पर्य है। जैसे-जैसे उत्पादक उत्पादन बढ़ाकर मशीन की अधिकतम उत्पादन-शक्ति का लाभ उठाता है वैसे-वैसे प्रत्येक उत्पादित इकाई का उत्पादन-व्यय घटता जाता है।

यह नियम इसी प्रकार कृषिक्षेत्र में भी लागू होता है। किसान के पास उत्पादन के लिये भूमि का एक निश्चित भाग होता है जिसमें श्रम करके वह अन्न उगाता है। माना एक कृषक के पास ५ एकड़ भूमि है जिसकी एक निश्चित उत्पादन-शक्ति (Fertility) है। कृषक इस उत्पादन-शक्ति का अनुमान किये बिना ही उस भूमि में थोड़ा सा बीज बो देता है इससे उपज भी कम होती है क्योंकि भूमि की उत्पादन-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया गया। किसान ने उस भूमि को जोतने और बोने में जो व्यय किया था वह उपज से पूरा नहीं हो सकता है अर्थात् हल-बैल इत्यादि के श्रम का पूरा लाभ नहीं उठाया गया। परन्तु यदि वह कृषक अधिक बीज बोता है तो स्वाभाविक रूप से भूमि की पूरी उत्पादन-शक्ति (Fertility) उपयोग में आ जायेगी और मशीन की ही तरह उसकी उपज भी बढ़ेगी। उसको जोतने बोने में हल-बैलों की शक्ति भी पूरी तरह काम में आयेगी और कुल उपज की प्रति उत्पादित इकाई का उत्पादन-व्यय पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गिर जायेगा। यही उत्पादन की वृद्धि के नियम का उद्देश्य है।

(२) **कार्यालय के व्यय में मितव्ययता** (Economy of Office Expenses) :—प्रत्येक उद्योग-धन्धे या कारखाने को चलाने के लिये एक कार्यालय की अत्यन्त आवश्यकता होती है। कार्यालय के द्वारा ही उसका संगठन एवं संचालन सुचारु रूप से हो पाता है। उत्पादक को किसी भी स्थिति में इसमें एक निश्चित मात्रा में व्यय करना पड़ता है जो स्थिर व्यय (Fixed Cost) है। यदि कारखाने में उत्पादक कम इका-इयों का उत्पादन करेगा तो उक्त उदाहरण के अनुसार कार्यालय की प्रति इकाई पर व्यय की मात्रा बढ़ेगी और उत्पादक कार्यालय की अधि-कतम उत्पादक शक्ति का लाभ नहीं उठा सकेगा। परन्तु यदि उत्पादन की मात्रा बढ़ेगी तो कार्यलय की उत्पादन शक्ति का अधिकतम उपयोग हो सकेगा और प्रति इकाई व्यय भी घट जायेगा।

यही बात कृषि में भी होती है। किसान को अपने सहयोगियों या मजूरों पर एक निश्चित मात्रा में व्यय करना पड़ता है। यदि वह उनकी सहायता से उतना उत्पादन नहीं करता है जितना उत्पादन कर सकने की उनमें शक्ति है तो प्रति इकाई व्यय की मात्रा बढ़ेगी। उनकी पूरी उत्पादन-शक्ति का उपयोग भी नहीं होगा। परन्तु इसके विपरीत यदि कृषक उनकी उत्पादन-शक्ति का पूरा उपयोग करके उत्पादन की मात्रा बढ़ाता है तो नियमानुसार प्रति इकाई व्यय घट जायेगा जिससे कृषक को लाभ होगा और साथ ही उत्पादन भी बढ़ेगा। यही क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार वांछित है।

(३) **बड़े पैमाने में क्रय-विक्रय की सुविधाएँ** (Advantages of Large Scale Buying and Selling):—— उत्पादन के लिये कच्चा माल ही मुख्य है। इसके बिना मशीनें और श्रमिक व्यर्थ हैं। कच्चा माल उत्पादन के पैमाने को और उत्पादित वस्तु पर व्यय एवं उसके मूल्य को प्रभावित करता है। क्योंकि यदि कोई उत्पादक कारणवश उत्पादन को छोटे पैमाने पर करेगा तो कच्चे माल की भी थोड़ी मात्रा ही खरीदेगा; और इसी थोड़ी उत्पादित मात्रा को बेचेगा भी। कच्चे माल की अधिक माँग न होने से उसका मूल्य बढ़ेगा और अन्त में प्रत्येक उत्पादित इकाई पर उत्पादन व्यय भी बढ़ेगा। मशीन तथा श्रमिकों इत्यादि की पूरी उत्पादन-शक्ति का उपयोग न हो सकेगा और इससे स्थिर व्यय (Fixed Cost) में किसी प्रकार की कमी नहीं होगी। इसी प्रकार यदि कोई किसान थोड़ी मात्रा में उत्पादन करेगा तो उसे बीज की कम मात्रा खरीदनी पड़ेगी। माँग कम होने से अच्छे प्रकार का बीज भी नहीं मिलेगा परन्तु बैलों की जोड़ी व अन्य काम करने वाले साथियों पर किये जाने वाले व्यय में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आयेगा उनकी उत्पादन-शक्ति अव्यवहृत रहेगी और परिणामस्वरूप प्रत्येक उत्पादित इकाई पर उत्पादन-व्यय बढ़ेगा।

इसके विपरीत यदि उत्पादक और किसान बड़े पैमाने पर उत्पादन करेंगे तो निश्चय ही उत्पादन के साधनों की पूरी शक्ति काम में आयेगी। कच्चा माल अधिक मात्रा में खरीदा जायेगा जिससे वह सस्ते मूल्य में और अच्छे प्रकार का सरलता से प्राप्त हो सकेगा। विक्रेता ग्राहक की इच्छानुसार माँग की पूर्ति शीघ्र करने का प्रयत्न करेगा। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी और इसका प्रभाव उत्पादन-व्यय पर पड़ेगा। जैसे-जैसे उत्पादक और किसान उत्पादन की मात्रा बढ़ायेंगे उत्पादन-व्यय प्रति इकाई घटता जायेगा और दोनों इससे लाभान्वित होंगे।

(४) **सहायक उद्योग-धन्धों की सुविधाएँ** (Advantages of Subsidiary Industries):——यदि उत्पादक छोटे पैमाने में उत्पादन करता है तो उसे उत्पादन की सारी क्रिया, उसके लिये आवश्यक सामग्री इत्यादि के लिये अपने कारखाने पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। छोटे पैमाने में उत्पादन करके बाह्य सुविधाएँ कम मिलती हैं। मोटर बनाने के कारखाने पहले बिजली के तारों, नटों, स्क्रू, इत्यादि से लेकर उसके समस्त पुर्जों का उत्पादन स्वयं करते थे। इसी प्रकार साबुन बनाने के कारखानों को अपनी आवश्यकता की छोटी वस्तुएँ भी स्वयं बनानी पड़ती थीं जिसमें व्यय अधिक होता था। परन्तु अब उत्पादन बड़े पैमाने में करने से तथा एक ही उद्योग-धन्धे के अनेक कारखानों की

स्थापना हो जाने से कुछ सहायक उद्योग-धन्धों की भी स्थापना हो गयी है जिनमें बड़े-बड़े उद्योगों में आवश्यक छोटो-छोटी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। मोटर बनाने वाले इन सहायक कारखानों से पुर्जे, मोटर की बिजली की फिटिंग इत्यादि सामान खरीद लेते हैं और बहुत कम समय में मोटरों का उत्पादन किया जाता है। इसी प्रकार कपड़े के कारखानों में गाँठें बाँधने के लिये लोहे की पत्ती इत्यादि इन्हीं सहायक कारखानों से प्राप्त हो जाती हैं। ये सहायक कारखाने इन आवश्यक वस्तुओं का बड़े पैमाने में उत्पादन करते हैं। इस सुविधा से उत्पादन की मात्रा तो बढ़ती ही है, साथ ही प्रति इकाई उत्पादन-व्यय भी कम हो जाता है।

आचार्य मार्शल इन सुविधाओं को बाह्य मितव्ययता के अन्तर्गत मानते हैं।

५. श्रम, पूंजी इत्यादि सुविधाओं की सरलता से प्राप्ति (Availability of Labour, Capital and Other Facilities) :—यह पहले कहा जा चुका है कि बाह्य मितव्ययता की सुविधा प्राप्त करना एक उत्पादक की शक्ति के बाहर है। इसके लिये एक ही प्रकार के या अनेक प्रकार के उद्योगों का एक साथ विकास होना आवश्यक है। बड़े पैमाने में उत्पादन करने से यह सुविधा सरलता से प्राप्त हो जाती है। प्रायः उत्पादक ऐसे स्थलों पर उत्पादन-केन्द्र स्थापित करता है जहाँ उसे श्रम, पूँजी, कच्चा माल इत्यादि आसानी से मिल सकें तथा उद्योग के अनुकूल जलवायु हो। इससे एक ही स्थान पर एक उद्योग-धन्धे के अनेक कारखाने खुल जाते हैं जैसे अलीगढ़ में तालों, कानपूर और अहमदाबाद में कपड़े, टाटानगर में लोहे के कारखाने स्थापित हो गये हैं। इससे उस क्षेत्र के श्रमिक इन उद्योगों में काफी कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। अतएव श्रम आसानी से प्राप्त हो जाता है। कारखानों में समय समय पर द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है जिससे इन स्थानों में द्रव्य-बाजार (Money Market) भी कार्य करने लगते हैं। सस्ते सूद में आवश्यकतानुसार द्रव्य ऋण में मिल जाता है, रेलवे स्टेशन तथा डाकखानों की स्थापना से ऐसे केन्द्रों का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि उत्पादक बाहर से आवश्यक कच्चा माल कम व्यय पर सुरक्षित रूप से अपने उत्पादन केन्द्रों तक पहुँचाते हैं और तैयार माल को बाजार तक। यातायात और संवाद की सुविधा से उत्पादक के व्यय में बहुत कमी आ जाती है जिसका प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है। अधिक मात्रा में उत्पादन करने से स्थिर-व्यय (Fixed Cost) प्रति इकाई कम हो जाता है और परिवर्तनशील-व्यय (Variable Cost) भी उक्त सुविधाओं से घट जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि प्रति इकाई

उत्पादन-व्यय घट जाता है। इससे उत्पादक क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का पूरा पूरा लाभ उठा सकता है।

उक्त पाँचों सुविधाएं बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों में तथा कृषि दोनों में उत्पादन आरम्भ करते ही बढ़ने लगती है। परन्तु यह सदा बढ़ती ही नहीं रहती है। उत्पादन में प्रायः एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब उक्त सुविधाओं की वृद्धि से उस अनुपात से कम उत्पादन होता है जिसे हम क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम के अन्तर्गत समझायेंगे।

क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम

(Law of Decreasing Returns)

यदि उत्पादक उत्पादन के साधनों भूमि, पूंजी, इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर, दूसरी वस्तुओं में बिना किसी परिवर्तन के, उत्पादन के अन्य साधन अर्थात् श्रम की मात्रा में १% की वृद्धि कर देता है तो उत्पादन की कुल मात्रा में जो वृद्धि होगी वह १% से कम होगी। इस नियम को क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम कहते हैं।

निम्नलिखित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

				कुल उत्पादन
मशीन	+	१०० श्रमिक	=	२,००० इकाइयां
,,	+	१०१ ,,		२,०१० ,,

उक्त उदाहरण में 'श्रम' उत्पादन का परिवर्तनशील साधन है और मशीन स्थिर साधन। मशीन के साथ जब १०० श्रमिकों ने उत्पादन किया तब कुल २,००० इकाइयों का उत्पादन किया जा सका। परन्तु उत्पादक ने 'श्रम' की मात्रा में १% की वृद्धि कर दी जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होना आवश्यक था २,००० इकाइयों से बढ़कर २,०१० इकाइयों का उत्पादन हुआ। कुल उत्पादन में वृद्धि परिवर्तनशील साधन की मात्रा में की गयी वृद्धि से कम है अर्थात् कुल उत्पादन में केवल $\frac{1}{2}$% की वृद्धि हुई। इस नियम को निम्नलिखित विवरण में समझाया गया है।

उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में यदि उत्पादन वृद्धि के लिये परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढ़ाते जायँ तो एक सीमा के बाद क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम क्रियाशील होगा। क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि कृषि में या उद्योग में जब पहले उत्पादन आरंभ किया जाता है तो भूमि या मशीन की उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता है जिसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन में कमी होती है और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय भी अधिक

होता है। परन्तु जैसे-जैसे उत्पादक परिवर्तनशील साधन की एक एक इकाई बढ़ाता जाता है वैसे ही वैसे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय घटता जाता है और उत्पादन की मात्रा बढ़ती जाती है। परन्तु यह स्थिति सदा नहीं रहती है। क्रमशः एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब प्रति इकाई उत्पादन-व्यय न्यूनतम होता है और कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है वह परिवर्तनशील साधन में की गयी वृद्धि के बराबर होती है अर्थात् यदि परिवर्तनशील साधन की मात्रा में १% की वृद्धि की जाय तो कुल उत्पादन में भी १% की वृद्धि हो जाती है। उत्पादन के आरंभ से इस स्थिति तक क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है और इस स्थिति विशेष में उत्पादक उसका अधिकतम लाभ उठा सकता है। परन्तु इसके पश्चात् यदि उत्पादन में अधिक वृद्धि करने के लिये परिवर्तनशील साधन की एक इकाई और बढ़ायी जाय तो परिणाम उक्त स्थिति से भिन्न होगा। कुल उत्पादन में वृद्धि अवश्य होगी परन्तु बढ़ाई हुई इकाई के अनुपात से कम अर्थात् यदि परिवर्तनशील साधन में १% की वृद्धि की जाय तो कुल उत्पादन की ह्रासोन्मुख वृद्धि ½% होगी। उत्पादन के कुल साधनों से वांछित उत्पादन में इस कमी का प्रभाव उत्पादन-व्यय पर पड़ता है। प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में वृद्धि होती है जो उत्पादक के लिये लाभदायक नहीं कही जा सकती। प्रत्येक उत्पादक, चाहे वह किसान हो या इस्पात के उद्योग का स्वामी, इस स्थिति का अनुभव करते ही उत्पादन में वृद्धि करने का विचार छोड़ देता है। उत्पादन क्षेत्र में कुल उत्पादन की इस ह्रासोन्मुख वृद्धि का ही क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम स्पष्टीकरण करता है।

यह नियम कृषि-उद्योग में अन्य उद्योगों की अपेक्षा अधिक शीघ्र लागू होता है। प्रायः प्रत्येक किसान की यही इच्छा रहती है कि वह अपनी निश्चित भूमि से अधिक से अधिक पैदावार करे परन्तु नियम की परिभाषा के अनुसार सदा एक स्थिति विशेष के पश्चात् उसकी अधिक पैदावार लाभ की अपेक्षा हानि में बदल जाती है।

उक्त विवेचन में यह मान लिया गया है कि उत्पादन एक विशेष स्थिति में किया जाता है। इसके दो मुख्य पक्ष है यदि (१) बिना दूसरी वस्तुओं में कुछ परिवर्तन के और (२) श्रम की इकाई अथवा परिवर्तन-शील साधन की इकाई के व्यय या पारिश्रमिक में बिना परिवर्तन के उत्पादन किया जायगा तो क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम अवश्य लागू होगा। नियम की इन दोनों सीमाओं पर नीचे संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

(१) बिना दूसरी वस्तुओं में कुछ परिवर्तन किये उत्पादन करने से तात्पर्य यह है कि उत्पादक ने किसी वस्तु विशेष का उत्पादन करने के

लिये आवश्यक साधनों के प्रकार स्थिर कर लिये हैं। वह परिवर्तनशील साधन की मात्रा घटा-बढ़ा सकता है परन्तु उसकी जाति (Type) को नहीं। स्थिर साधन को एक बार स्थापित कर लेने के पश्चात् उत्पादक उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया में बिना उसमें कुछ परिवर्तन किये हुए उसका उपयोग करता है। उत्पादन के केन्द्र अथवा साधनों की अन्य सुविधाओं के लिये वह अपने निश्चित स्थान को परिवर्तन नहीं करता है। इसी प्रकार की अन्य संकीर्ण सीमाओं के अन्दर उत्पादन करने से क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का लम्बी अवधि तक उत्पादक उपभोग नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम अतिशीघ्र लागू हो जाता है। यह सीमा उत्पादन के एक विशेष नियम क्रमागति-उत्पत्ति-प्रतिस्थापन्न नियम (Law of Substitution) के विपरीत है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। आधुनिक उत्पादन प्रणाली इसी नियम पर आधारित है। उत्पादक साधनों की अधिकतम उपयोगिता के साथ ही अपनी तीव्र निर्वाचन-शक्ति से काम लेता है। विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों का पूरा लाभ उठाता है जिससे कम से कम समय में अधिक से अधिक उत्पादन करके बढ़ती हुई माँग की पूर्ति कर लेता है, श्रमिकों के स्थान पर अधिक से अधिक मशीनों का प्रयोग करने का प्रयत्न करता है—जिससे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय न्यूनतम हो और क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का पूरा लाभ उठा सके। परन्तु उक्त सीमा उत्पादन की एक विधि, साधनों के स्थिर प्रकार इत्यादि को निश्चित करके उत्पादक की निर्वाचन-शक्ति को एक निश्चित समय तक के लिये कुण्ठित कर देती है।

(२) यद्यपि यह सीमा भी पहली सीमा के अन्तर्गत ही आती है तथापि उत्पादन-क्रिया में परिवर्तनशील साधन का विशेष महत्व होने से इसको पृथक् किया गया है। उत्पादक जब उद्योग-धन्धे को आरम्भ करता है तो तत्सम्बन्धी अनेक विषयों पर विचार कर लेता है। अपनी निर्वाचन-शक्ति का पूरा उपयोग करके अपनी योजना कार्यान्वित करता है। इस विचार-विमर्ष में उसका ध्यान सदा परिवर्तनशील साधनों की ओर होता है। श्रम स्थिर नहीं है, उसकी विशेषता ही अस्थिरता या परिवर्तन है। यदि उत्पादक १०० मजूरों को ३ रुपया प्रति मजूर प्रतिदिन के पारिश्रमिक पर नियुक्त करता है तो यह बहुत सम्भव है कि कुछ समय पश्चात् किसी कारण बेकार मजूरों की संख्या बढ़ जाय। वे माँग कम होने से कम से कम पारिश्रमिक पर भी अपना श्रम बेचने को तैयार हो जायेंगे। यदि उत्पादक पुराने मजूरों के स्थान पर इनकी नियुक्ति करेगा तो कुल श्रम-व्यय में उसे बचत होगी और कुल उत्पादन-व्यय को कम करने में इसका प्रभाव पड़ेगा। यह भी बहुत सम्भव है कि १००

मजूरों का काम उनसे शीघ्र कर सकने वाली मशीन से उत्पादक पर्याप्त लाभ उठा सकता है। परिवर्तनशील अन्य साधन का जैसे कच्चा माल का, मूल्य भी घटता-बढ़ता रहता है। परन्तु नियम की उक्त सीमा के अनुसार उत्पादक यदि उसने उत्पादन आरम्भ कर दिया है तो इनमें से किसी भी सुविधा और अवसर का उपयोग नहीं कर सकता है। साथ ही इस नियम के अनुसार यह पक्ष भी अत्यन्त महत्व का है कि परिवर्तनशील साधन की क्रमशः बढ़ाई गयी इकाइयों पर उक्त सुविधाओं के प्राप्त होने पर भी पूर्व की इकाइयों के अनुसार ही व्यय किया जाय और उनकी कार्य-क्षमता भी समान हो जो अनिवार्य नहीं है।

नियम की उक्त सीमाएँ व्यावहारिक क्षेत्र में उचित नहीं जान पड़ती हैं। उत्पादक इतनी संकीर्ण सीमाओं के अन्दर उत्पादन नहीं करता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यावहारिक क्षेत्र में यह नियम लागू न हो। क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम एक व्यापक नियम है। इन सीमाओं के रहते हुए भी यह उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में लागू होता है।

उत्पादन में ह्रासोन्मुख वृद्धि होने के अनेक कारण हैं। उनमें से मुख्य कारणों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम में उत्पादन में क्रमशः वृद्धि करके प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम से कम करने में सहायक आन्तरिक और बाह्य मितव्ययता का वर्णन किया जा चुका है। जब उनके अन्तर्गत आई पाँचों सुविधाओं का पूर्ण उपयोग किया जाता है तब मशीन की उत्पादन-शक्ति का भी पूर्ण उपयोग हो जाता है। जितना उत्पादन एक मशीन से किया जा सकता था यदि उससे अधिक उत्पादन करने की इच्छा से उसका प्रयोग किया जायेगा तो मशीन पर अनावश्यक भार (Strain) पड़ना अवश्यम्भावी है। वह अपनी पूर्व शक्ति के बराबर उत्पादन नहीं कर सकती है। इसके साथ ही मशीन की टूट-फूट और घिसावट का व्यय भी बढ़ेगा। मशीन एक सीमा तक उत्पादन कर सकती थी जिसका उप-योग पहले ही किया जा चुका है अतएव क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के पश्चात् क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होना अवश्यम्भावी है।

इसी प्रकार भूमि में भी उपज-शक्ति (Fertility) है। प्रारम्भ में उसका पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता है। इसलिये किसान जैसे जैसे अधिक बीज बोता है, पैदावार बढ़ती जाती है परन्तु उपज-शक्ति समाप्त हो जाने पर किसान खाद, सिंचाई इत्यादि का सहारा लेकर उत्पादन में वृद्धि करना चाहता है इससे भूमि की उपज-शक्ति को कुछ समय तक अवश्य बढ़ाया जा सकता है परन्तु सदा नहीं। उसकी उपज-शक्ति के समाप्त होते ही कुल उत्पादन में परिवर्तनशील साधन की मात्रा

में उत्तरोत्तर वृद्धि करने से क्रमशः ह्रासोन्मुख वृद्धि होती है: खाद सिंचाई का अतिरिक्त व्यय बढ़ जाता है और पैदावार उपज बढ़ाने की मूल्यवान् विधियों में किये गये व्यय से कम होती है। इस तरह क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। किसान भूमि की उपज-शक्ति को बढ़ाने के निमित्त दो विधियों का अनुसरण करता है :—(१) गहरी खेती (Intensive Cultivation) और (२) कृषि भूमि में विस्तार करके (Extensive Cultivation) ।

(१) **गहरी खेती** (Intensive Cultivation) :—जिस प्रकार उत्पादक अपने स्थिर साधन मशीन से उसकी उत्पादन-शक्ति से अधिक काम लेता है उसी प्रकार किसान भी। किसान के उत्पादन का स्थिर साधन उसकी भूमि है। उसकी एक निश्चित मात्रा होती है और निश्चित उपज-शक्ति। परन्तु जब यह उपज-शक्ति समाप्त हो जाती है तो किसान उसमें जुताई, सिंचाई, खाद इत्यादि का अधिक प्रयोग करता है। नये वैज्ञानिक यन्त्रों ट्रैक्टर इत्यादि वैज्ञानिक खाद और सिंचाई की नवीन रीतियों को अपनाता है। बीज वैज्ञानिक रीति से बोता है। तात्पर्य यह है कि वह उपज बढ़ाने के लिये सहायक, परिवर्तनशील साधनों में काफी व्यय करता है। परन्तु मनुष्य के प्रयत्नों की सफलता की भी एक सीमा होती है जिसको पार करने की चेष्टा असफलता और हानि में बदल जाती है। किसान गहरी खेती करके भूमि के उस निश्चित भाग की उत्पादन-शक्ति एक सीमा तक बढ़ा सकता है, अर्थात् क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम की अवधि को कुछ बढ़ा सकता है परन्तु अन्त में क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। उत्पादन में ह्रासोन्मुख-वृद्धि आरम्भ हो जाती है जिससे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है।

(२) **कृषि भूमि में विस्तार करके** (Extensive Cultivation) :—प्रायः यह माना जाता है कि आरंभ में मनुष्य ने उत्तम भूमि में खेती करनी आरम्भ की। जनसंख्या के बढ़ने से अनाज की मांग बढ़ी और किसान को अधिक उत्पादन करने की आवश्यकता हुई। उसने अधिक भूमि पर खेती का विस्तार किया। इस क्रम से धीरे-धीरे उत्तम मध्यम और निकृष्ट भूमि पर भी उत्पादन किया जाने लगा। इस कथन से ऐसा उत्तरोत्तर नयी भूमि की उपज-शक्ति का प्रयोग किया जाता था। परन्तु बात ऐसी नहीं है।

यह कहना अनुचित न होगा कि आरंभ में कृषि का कार्य केवल एक किसान नहीं करता था तब भी पर्याप्त कृषक जो—अपने को भूमि-पुत्र कहते थे केवल खेती ही करते थे। यदि एक ही किसान कृषि भूमि में विस्तार करता और एकमात्र उत्पादक स्वयं होता तब तो निश्चय

उसके उत्पादन कार्य में क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम लम्बी अवधि तक लागू रह सकता था परन्तु किसान अनेक थे। प्रत्येक कृषि-भूमि का विस्तार करना चाहता था। इससे भूमि का विस्तृत क्षेत्र कई भागों में बँट गया, इसके साथ ही भूमि पर काम करने वाले श्रमिक भी बँट गये; सिंचाई और बीज गोदामों के भी कई हिस्सेदार बन गये। परिणाम यह हुआ कि कृषि-क्षेत्र में भी प्रत्येक चीज सीमित मात्रा में मिलने लगी। अनेक किसानों के होने से हल, बैल, बीज, श्रमिक इत्यादि की माँग बढ़ने लगी, नियमानुसार उनके मूल्य में वृद्धि हुई, पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने इस बढ़ते मूल्य को और बढ़ाया। ऐसी स्थिति में, जब किसान एक निश्चित भूमि-भाग पर उत्पादन करता था, भूमि की उपज-शक्ति का ह्रास होना आवश्यक था और किसान की विस्तृत खेती की विधि गहरी खेती में बदलती गयी जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है।

इसी प्रकार यदि कोई एक उत्पादक उत्पादन का एकाधिकार पा ले तो उसे अपने कारखानों का विस्तार करने के लिये पर्याप्त भूमि मिल सकती है; केवल एक ही उत्पादक होने से कच्चे माल और श्रमिकों की भी कमी नहीं हो सकती है और उसकी माँग भी इनकी पूर्ति में किसी प्रकार का उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डाल सकती है। परन्तु स्थिति यह नहीं है। उत्पादन क्षेत्र में अनेक उत्पादक हैं। प्रत्येक अधिक-से-अधिक नफा कमाना चाहता है और एक दूसरे से गहरी प्रतिस्पर्धा रखता है। दूसरी ओर श्रमिकों की संख्या, उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चा माल, कोयला इत्यादि निश्चित मात्रा में हैं। उत्पादकों की संख्या अधिक होने से इन वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है; पूर्ति निश्चित रहने से इनके मूल्य बढ़ जाते हैं। कुछ उत्पादक एक सीमा तक बढ़े हुए मूल्य पर आवश्यक सामग्री का क्रय करके उत्पादन कर सकते हैं क्योंकि उनकी उत्पादित वस्तु की माँग अधिक हो सकती है पर सदा नहीं। प्रतिस्पर्धा में वे अधिक नहीं टिक सकते। इससे उत्पादन-व्यय प्रति इकाई बढ़ जाता है। उत्पादन क्षेत्र में अधिक नफे के आकर्षण से नये उत्पादक आते रहते हैं इससे आवश्यक मशीनों की जो उत्पादन के स्थिर साधन हैं माँग बढ़ जाती है और परिवर्तनशील साधनों के साथ उनके मूल्य भी बढ़ते जाते हैं जिससे उनका प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ता है।

क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने का एक कारण उत्पादक की मानसिक-शक्ति भी है। उत्पादन की योजना बनाने से लेकर उसको कार्यान्वित करना तथा अन्य उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा से टक्कर ले सकना सब उसी पर निर्भर होता है। छोटे पैमाने पर उत्पादन करके अपनी मानसिक शक्ति का पूरा लाभ उठाया जा सकता है क्योंकि उत्पादक

स्वयं कारखाने की हर समस्या पर विचार-विमर्श कर सकता है, स्वयं सदा निरीक्षण करता रहता है, श्रमिकों से नित्य का सम्पर्क रहने से उत्पादक और श्रमिक के सम्बन्ध अच्छे रहते हैं और वह बाजार की स्थिति और अपनी वस्तु की माँग का ठीक अध्ययन करके उत्पादन घटा-बढ़ा सकता है। परन्तु आधुनिक उत्पादन प्रणाली के अनुसार प्रत्येक उत्पादक बड़े पैमाने में उत्पादन करना चाहता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी का बाजार अपने प्रभाव में लाना चाहता है। इससे छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले का भविष्य कुछ आशाजनक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि बढ़ती हुई माँग की वह पूर्ति नहीं कर सकता है और न आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययता का ही पूरा लाभ उठा सकता है। परन्तु बड़े क्षेत्र में उत्पादन करने से उत्पादक स्वयं सब कारखानों का, उनके कार्य की गति का तथा श्रमिकों इत्यादि की आवश्यकता का पूरा परिचय नहीं पा सकता है। उसकी नियन्त्रण-शक्ति सीमित है इसलिये कारखानों के हर पक्ष पर वह नियन्त्रण नहीं रख सकता है। इससे उसे अपने सहायक कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है, कार्यालय बढ़ाना पड़ता है और उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करने में अधिक व्यय करना पड़ता है। इसके साथ ही बड़े पैमाने के उत्पादन के फलस्वरूप प्रत्येक स्थिर तथा परिवर्तनशील साधनों के मूल्य भी बढ़ते जाते हैं, ग्राहकों की रुचि इत्यादि में परिवर्तन हो जाने से उत्पादित माल की हानि भी सहनी पड़ती है क्योंकि सभी उत्पादित वस्तुओं का विक्रय संभव नहीं होता है। दूसरी ओर कारखानों का संचालन सहायक कर्मचारी करते हैं जिससे अनेक प्रकार की हानियाँ सम्भव होती हैं जैसे, भ्रष्टाचार, गबन, उत्पादन में शिथिलता, कच्चे माल की बरबादी इत्यादि। उत्पादक अपनी मानसिक शक्ति को विशेष बढ़ा नहीं सकता है और सहायकों पर निर्भर रहता है जिससे उत्पादन में अतिरिक्त व्यय बढ़ते जाते हैं, साधनों की पूरी उत्पादन-शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ता जाता है और क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है।

यही स्थिति किसान की भी होती है। यदि वह खेती का विस्तार अपनी नियन्त्रण-शक्ति से अधिक करे तो अवश्य ही वह उत्पादन के परिवर्तनशील या स्थिर साधनों का पूरा उपयोग नहीं कर सकेगा। सहायक श्रमिक उतना ही कार्य करते हैं जितना वे आवश्यक समझते हैं। उनका खेती की अच्छी उपज के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता है क्योंकि वे उसके लाभ के अधिकारी भी नहीं होते हैं। कुछ श्रमिक तो केवल पारिश्रमिक लेने के लिये किसी तरह दिन व्यतीत कर देते हैं। विस्तृत खेती

में सिंचाई का भी उचित प्रबन्ध नहीं हो सकता है और जंगली पशु-पक्षियाँ खेती को काफी हानि पहुँचाते हैं। एक अकेला कृषक चारों दिशाओं में नियन्त्रण नहीं रख सकता है जिससे उत्पादन में ह्रासोन्मुख वृद्धि होती है। श्रमिकों, खाद, सिंचाई इत्यादि पर अतिरिक्त व्यय भी बढ़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है और कुल उत्पादन में वृद्धि परिवर्तनशील मात्रा में की गयी वृद्धि के अनुपात से कम होती है।

क्रमागति उत्पादन-समता नियम

(Law of Constant Returns)

यदि उत्पादक उत्पादन के साधनों भूमि, पूंजी इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर दूसरी वस्तुओं में बिना किसी परिवर्तन के, उत्पादन के अन्य साधन अर्थात् श्रम की मात्रा में क्रमशः १% की वृद्धि करता जाय तो एक स्थिति ऐसी आती है जब उत्पादन की कुल मात्रा में जो वृद्धि होती है वह परिवर्तनशील साधन की मात्रा में की गयी वृद्धि के बराबर होती है। उदाहरणार्थ :—

				कुल उत्पादन
मशीन	+	१०० श्रमिक	=	२,००० इकाइयाँ
,,	+	१०४ ,,	=	२,०८० ,,

उक्त उदाहरण में उत्पादन के स्थिर साधन मशीन के साथ १०० श्रमिक मिलाकर कुल २,००० इकाइयों का उत्पादन करते हैं। परन्तु यदि परिवर्तनशील साधन 'श्रम' में ४% की वृद्धि कर दी जाती है तो कुल उत्पादन में भी ४% की वृद्धि हो जाती है जिससे कुल उत्पादन २,००० इकाइयों से बढ़कर २,०८० इकाइयाँ हो जाता है। परिवर्तनशील साधन की बढ़ाई हुई इकाइयों के अनुपात के बराबर ही उत्पादन में कुल वृद्धि हुई है। इसे क्रमागति-उत्पत्ति-समता नियम कहते हैं।

इस नियम का व्यावहारिक महत्व विशेष नहीं है। उत्पादन क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार एक ऐसी स्थिति में पहुँचता है जब परिवर्तनशील साधन में की गयी वृद्धि के बराबर ही कुल उत्पादन में वृद्धि हो जाती है। यदि उत्पादक एक इकाई और उत्पादन करना चाहे तो पूर्व विवरण के अनुसार क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। यह 'समता' की स्थिति स्थिर नहीं होती है और न उत्पादक इस स्थिति को ठीक पहिचान ही पाता है। इस नियम का केवल सैद्धान्तिक महत्व है और प्रत्येक उत्पादक की यह इच्छा रहती है कि इस स्थिति को ही

स्थिर करके उत्पादन किया जाय क्योंकि यहाँ पर उत्पादन-व्यय न्यूनतम होता है परन्तु इस इच्छा को व्यवहार में लाना सरल नहीं है।

उत्पादन की मात्रा और उत्पादन-व्यय में सम्बन्ध

(Relation between Laws of Returns and Costs of Production)

यदि उत्पादन के अन्य सभी साधनों के स्थिर रखने के पश्चात् एक साधन-परिवर्तनशील साधन—को मात्रा की क्रमशः बढ़ाया जाय तो हम उत्पादन के नियमों का अध्ययन मशीन या भूमि की उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से कर सकते हैं। परन्तु इससे अधिक अच्छी रीति यह है कि उत्पादन की कुल मात्रा की अपेक्षा उत्पादन व्यय की दृष्टि से उत्पादन के नियमों का अध्ययन किया जाय। यदि मशीन को या भूमि को स्थिर रखकर मजूरों की संख्या में १% की वृद्धि की जाय तो उसमें उत्पादन भी बढ़ेगा और कुल उत्पादन-व्यय भी बढ़ेगा। परन्तु विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मजूरों की संख्या में १% की वृद्धि करके प्रति इकाई उत्पादन-व्यय पर क्या प्रभाव पड़ेगा ! यदि श्रमिकों की संख्या बढ़ाने से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय घटता जाय तो यह प्रति इकाई उत्पादन-व्यय घटते जाने की प्रवृत्ति उत्पादन में क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम की ओर संकेत करती है। यदि मजूरों में उक्त १% की वृद्धि करने के पश्चात् प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में वृद्धि हो तो यह वृद्धि क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम की ओर संकेत करती है।

उत्पादन की कुल मात्रा की अपेक्षा यदि हम प्रति इकाई उत्पादन व्यय के दृष्टिकोण से उत्पादन के नियमों का अध्ययन करें तो व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिक उचित प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि उत्पादक के दृष्टिकोण से यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि उत्पादन की मात्रा में क्या परिवर्तन हुआ। उसके लिये महत्वपूर्ण यह है कि उत्पादन की मात्रा में कुल वृद्धि कितना उत्पादन-व्यय करने से प्राप्त हो सकी। तात्पर्य यह है कि उत्पादक की दृष्टि उत्पादन की मात्रा की ओर नहीं उत्पादन के व्यय की ओर लगी होती हं क्योंकि उसे अपने हानि अथवा लाभ का अनुमान उस उत्पादन की मात्रा के परिवर्तन की अपेक्षा परिवर्तन के लिये हुए उत्पादन-व्यय से अधिक सरलता से लगा सकता है। मान लीजिये श्रमिकों में १% की वृद्धि करने से उत्पादन की मात्रा में १% अधिक अर्थात् १½% या २% की वृद्धि हुई परन्तु मजूरों के वेतन में और कच्चे माल इत्यादि के मूल्य में भी वृद्धि हो जाने से उत्पादन-व्यय में भी वृद्धि हो गयी तो उत्पादन की अधिक मात्रा से जो लाभ हुआ था

वह इस व्यय की वृद्धि से व्यर्थ ही रहा। उत्पादक के लाभ अथवा हानि को प्रति इकाई उत्पादन-व्यय का अध्ययन करके ही बताया जा सकता है क्योंकि कुल मात्रा में वृद्धि हानि का कारण भी हो सकती है। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि और उत्पादन-व्यय की घटती-बढ़ती एक ही प्रकार के परिणाम को बतलाते हैं।

मान लीजिये कि किसी मशीन में या किसी भूमि में १०० मजूर काम करते हैं। मशीन या भूमि की मात्रा स्थिर रखकर यदि मजूरों की संख्या में वृद्धि की जाय तो उससे उत्पादन भी बढ़ेगा और कुल उत्पादन-व्यय भी। इससे तीन प्रकार के परिणाम निकल सकते हैं, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है :—

पहली स्थिति

श्रमिकों की संख्या	कुल उत्पादन	कुल उत्पादन-व्यय (रुपयों में)	प्रति इकाई उत्पादन-व्यय (रुपयों में)
१००	१,०००	४,०००	४
१०१	१,०१०	४,०४०	४
१०२	१,०२०	४,०८०	४
१०३	१,०३०	४,१२०	४

दूसरी स्थिति

श्रमिकों की संख्या	कुल उत्पादन	कुल उत्पादन-व्यय (रुपयों में)	प्रति इकाई उत्पादन-व्यय (रुपयों में)
१००	१,०००	४,०००	४
१०१	१,०३०	४,०४०	३·९
१०२	१,०८०	४,०८०	३·७
१०३	१,१५०	४,१२०	३·५

तीसरी स्थिति

श्रमिकों की संख्या	कुल उत्पादन	कुल उत्पादन-व्यय (रुपयों में)	प्रति इकाई उत्पादन-व्यय (रुपयों में)
१००	१,०००	४,०००	४
१०१	१,००४	४,०४०	४·०२
१०२	१,००८	४,०८०	४·०४
१०३	१,०१०	४,१२०	४·०७

पहली स्थिति में जब श्रमिकों की मात्रा १०० से १०१ की गयी तो

१% की वृद्धि हुई और कुल उत्पादन में भी १,००० से १,०१० यानी १% की वृद्धि हुई। उत्पादन की इस मात्रा के लिये ८,०८० रुपयों का व्यय हुआ और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय ८ रुपया हुआ।* इसी प्रकार श्रमिकों की संख्या में और वृद्धि करने से कुल उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि हुई परन्तु प्रति इकाई उत्पादन-व्यय ८ रुपयों पर ही स्थिर रहा। इस स्थिति में जब जब श्रमिकों की संख्या में १% की वृद्धि की गयी तो उत्पादन की कुल मात्रा में भी वही १% की वृद्धि होती रही। यदि उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से इस स्थिति को देखें तो विदित होगा कि नियमानुसार यह क्रमागति-उत्पत्ति-समता की स्थिति है। दूसरी ओर यदि उत्पादन-व्यय के दृष्टिकोण से देखें तो ज्ञात होगा कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय प्रत्येक दशा में समान रहा और यह सम-व्यय (Constant Cost) की स्थिति है। इससे विदित हुआ कि क्रमागति-उत्पत्ति-समता और समान उत्पादन-व्यय समान परिणाम हैं।

उक्त तालिका के अनुसार दूसरी स्थिति में जब श्रमिकों की संख्या में १% की वृद्धि करते हैं तो प्रत्येक स्थिति में कुल उत्पादन में १% से अधिक वृद्धि हुई, जैसे, १००० से १,०३० तक ३% की वृद्धि हुई है और १,०३० से १,०८० तक लगभग ८% की वृद्धि हुई है। इस तालिका में कुल उत्पादन-व्यय की मात्रा वही है जितनी पहली स्थिति में है; क्योंकि तीनों स्थितियों में श्रमिकों की मात्रा एक समान बढ़ी है और कुल उत्पादन-व्यय भी एक समान ही बढ़ा है। यह क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि की स्थिति है। यदि हम प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की ओर दृष्टि डालें तो विदित होगा कि प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की क्रमशः घटती की स्थिति भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त तालिका की इस स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि की स्थिति और उत्पादन-व्यय की क्रमशः घटती की स्थिति दोनों एक ही प्रकार के परिणाम हैं।

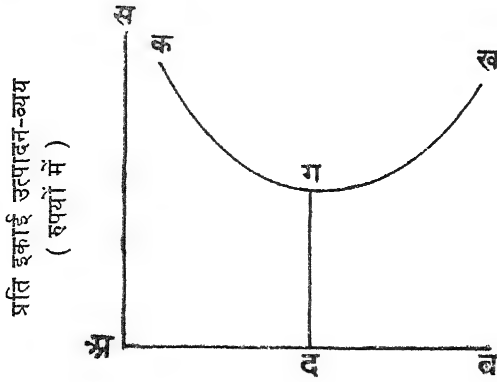
तीसरी स्थिति में उत्पादन के कुल व्यय में कुछ अन्तर नहीं आया है। वह पहली स्थिति के अनुसार ही है। परन्तु इस स्थिति में अन्तर केवल यह हुआ है कि श्रमिकों की संख्या में १% की वृद्धि करने से कुल उत्पादन की मात्रा में १% से कम की वृद्धि हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि यह क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास की स्थिति है। यदि हम प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की ओर दृष्टि डालें तो स्पष्ट विदित होगा कि प्रति इकाई

---

* प्रति इकाई उत्पादन-व्यय प्राप्त करने के लिये कुल व्यय की मात्रा को, जो तालिका में तीसरे कालम में दी हुई है, कुल उत्पत्ति की मात्रा से, जो तालिका में दूसरे कालम में दी हुई है, विभाजित किया जाता है।

उत्पादन-व्यय में वृद्धि होती जाती है। यदि इस स्थिति में उत्पादन की कुल मात्रा और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय का एक साथ अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास और उत्पादन-व्यय की क्रमशः वृद्धि एक प्रकार के परिणाम है।

उक्त विवरण को निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है :—



उत्पादन की मात्रा

उक्त रेखाचित्र में मशीन या श्रमिकों की मात्रा में किये गये परिवर्तनों को नही दिखाया गया है। इसमें केवल प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में श्रमिकों की मात्रा में घटती-बढ़ती करने से जो परिवर्तन हुए है वही दिखाये गये हैं। इस रेखाचित्र की शीर्ष रेखा (Vertical Axis) **अ** से **स** तक प्रति इकाई उत्पादन-व्यय दिखाया गया है। यह रेखाचित्र यह दिखलाता है कि जैसे जैसे उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की क्या दशा होगी। प्रथम जब उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जाती है तब प्रति इकाई उत्पादन-व्यय गिरता जाता है और उसके उपरान्त एक विशेष स्थिति के बाद उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ता जाता है।

जैसे जैसे श्रमिकों की मात्रा बढ़ायी जायगी उत्पादन की मात्रा भी बढ़ेगी। जब तक उत्पादन अ से द तक बढ़ा तो उत्पादन का व्यय क्रमशः गिरता गया अर्थात् क से ग तक आ गया। यह स्थिति प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की घटती की है और पूर्व विवरण के अनुसार क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि को भी दर्शाता है। जब उत्पादन ग पर होगा तो प्रति इकाई उत्पादन-व्यय ग ही रहेगा। यह समान व्यय को दर्शाता है अर्थात् इसे क्रमागति-उत्पत्ति-समता की स्थिति कह सकते हैं। परन्तु इस स्थिति की सैद्धान्तिक

महत्ता अवश्य है व्यावहारिक नहीं। जब उत्पादन प्रति उत्पादन-व्यय की घटती की स्थिति से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की वृद्धि की स्थिति में जाता है तब यह अवस्था दोनों स्थितियों की सन्धि के रूप में प्राप्त होती है। इस अवस्था का व्यावहारिक महत्व इसलिये कम है क्योंकि उत्पादन ऐसी अवस्था में अधिक समय तक नहीं रह सकता है। यदि उत्पादन की मात्रा ग से ख तक बढ़े या उत्पादक अ द से एक भी इकाई का अधिक उत्पादन करना चाहे तो कुल उत्पादन पर प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जायेगा और जैसे जैसे उत्पादन ब की ओर बढ़ता जायेगा प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में भी वृद्धि होती जायेगी। यह क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास की या प्रति इकाई उत्पादन-व्यय की वृद्धि की स्थिति होगी।

अभ्यास के प्रश्न

१. उत्पादन के नियम क्या हैं; उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

२. क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम को विस्तार के साथ समझाइये और यह बतलाइये कि जैसे जैसे उत्पादन में वृद्धि होती है, प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में ह्रास क्यों होता है ?

३. क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम की व्याख्या कीजिये। संक्षेप में यह समझाइये कि यह क्यों अनिवार्य है कि उत्पादन में यह नियम कुछ समय के पश्चात् अवश्य लागू हो जाता है ?

४. जहाँ तक क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने का सम्बन्ध है, क्या कृषि और उद्योग-धन्धों में कुछ अन्तर है ?

५. उत्पादन की मात्रा और प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में क्या सम्बन्ध है ?

अध्याय ४९

प्रतिस्थापन्न नियम

(Law of Substitution)

उत्पादक ओर उपभोक्ता दोनों के व्यवहार अपने अपने क्षेत्र में लगभग समान रहते हैं। उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वस्तुओं का क्रय करता है। उसे वस्तुएँ प्राप्त करने के लिये द्रव्य व्यय करना पड़ता है। द्रव्य व्यय करने में उपभोक्ता को कष्ट होता है जिसकी पूर्ति वह क्रय की गयी वस्तु के उपयोग से करना चाहता है। वह अपने व्यय किये गये द्रव्य की और क्रय की गयी वस्तु की अधिकतम उपयोगिता का लाभ उठाना चाहता है। इससे वह यह प्रयत्न भी करता है कि न्यूनतम व्यय करके अधिकतम उपयोगिता प्राप्त की जाय। उत्पादक के न्यूनतम व्यय करके अधिकतम लाभ उठाने के उद्देश्य का पहले वर्णन किया जा चुका है। इस दृष्टि से उपभोक्ता और उत्पादक एक ही सतह पर खड़े दिखाई देते हैं। इसके साथ ही यह आवश्यक नहीं है कि उपभोक्ता एक आवश्यकता की पूर्ति केवल एक ही वस्तु से करे। यदि उसे उसी गुण की दूसरी वस्तु कम मूल्य पर मिल जायेगी तो वह अवश्य उसका उपभोग करेगा। अर्थात् यदि विदेशी मक्खन के टिनों के मूल्य से कम मूल्य पर देशी शुद्ध मक्खन के टिन प्राप्त हो सकें तो वह अधिकतर देशी मक्खन का ही क्रय करेगा। इसी प्रकार विदेशी सिल्क से कम मूल्य के देशी अच्छे सिल्क को खरीद लेगा। इसी प्रकार का व्यवहार उत्पादक भी करता है। यदि उसके एक ही उपयोग में आ सकने वाली वस्तुओं के समूह में कुछ कम मूल्य की और कुछ अधिक मूल्य की वस्तुएँ हैं तो उत्पादक अवश्य कम मूल्य की वस्तुओं को अधिक मूल्य की वस्तुओं के स्थान पर खरीदना स्वीकार करेगा क्योंकि उनके उपयोग से उसे अधिक लाभ की सम्भावना है। प्रतिस्थापन्न नियम (Law of Substitution) के अन्तर्गत हम उत्पादक के इसी प्रकार के व्यवहार का अध्ययन करते हैं।

यदि हम उत्पादक की आवश्यकताओं का अध्ययन करें तो हमें विदित होगा कि उसे अपना कारोबार चलाने के लिये उत्पादन के कुछ साधनों की विशेष आवश्यकता होती है जिसकी प्राप्ति के बिना वह उत्पादन आरंभ नहीं कर सकता है। वे आवश्यक साधन हैं कच्चा माल और श्रमिक। भारतवर्ष के से विशाल देश में, जहाँ की जनसंख्या तीस करोड़ से अधिक है और जिसकी भूमि को रत्नगर्भा कहा गया है

कच्चे माल और श्रमिकों की कमी एक अद्‌भुत बात-सी प्रतीत होती है। परन्तु गंभीरतापूर्वक देखने से इस बात का रहस्य प्रकट हो जाता है। चाहे देश कितना ही बड़ा हो और खनिज पदार्थों से भरा हो उसे असीम नहीं कहा जा सकता है। देश का प्रसार और उसके खनिज पदार्थ प्राकृतिक देन हैं। मनुष्य उन्हें बढ़ा नहीं सकता है। वे सीमित मात्रा में हैं। यदि केवल एक ही उत्पादक भारत की अपार जनसंख्या की माँग की पूर्ति करने के लिये उत्पादन करता तो अवश्य ये सीमित खनिज-पदार्थ अधिक समय तक उसके उत्पादन में सहायक हो सकते थे परन्तु दूसरी ओर यदि जनसंख्या की माँग के अनुपात में ही वह अपने उत्पादन केन्द्र स्थापित करता तो उस स्थिति में और आज की स्थिति में जब अनेक उत्पादक देश के विभिन्न भागों में उत्पादन कर रहे हैं, कोई विशेष अन्तर न होता। क्योंकि उत्पादकों की संख्या बढ़ने से या उत्पादन के बड़े पैमाने पर होन से कच्चे माल की माँग बढ़ने लगी है और श्रमिकों एवम् उत्पादन के अन्य साधनों की माँग में भी पर्याप्त वृद्धि हो रही है। उत्पादन के साधनों की मात्रा निश्चित है जिसे एकदम बढ़ाया नहीं जा सकता है। अतएव उत्पादकों की माँग की कुल पूर्ति नहीं हो सकती है। इस कारण अधिक साधन प्राप्त करने के लिये उत्पादक को इसका अधिक मूल्य भी देना पड़ता है परन्तु उत्पादक व्यय न्यूनतम करना चाहता है और प्रतिस्थापन्न नियम के अनुसार कार्य करता है।

यह कहा जा चुका है कि उत्पादक अपने व्यय की अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है और उसे उत्पादन के प्रत्येक साधन के लिये व्यय करना पड़ता है। इसलिये उत्पादक साधनों का निर्वाचन करता है। उसकी निर्वाचन-शक्ति (Choice) के ऊपर ही प्रतिस्थापन्न-नियम की सफलता निर्भर है। उत्पादक प्रत्येक साधन का पूरा पूरा उपयोग करता है। साधनों को परस्पर इस अनुपात में मिलाकर कि उनकी एक-एक इकाई का पूरा पूरा उपयोग हो जाय वह साधनों की थोड़ी सी बरबादी को भी रोक लेता है। साधनों को इस प्रकार विभिन्न अनुपात में मिलाने का उसका एक और उद्देश्य होता है। वह प्रत्येक साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) को जानना चाहता है। वह इन्हें इस प्रकार परस्पर मिलाता है कि सीमांत इकाई की उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) और सीमान्त व्यय (Marginal Cost) बराबर हों। यदि सीमान्त व्यय कम होगा तो वह एक इकाई की वृद्धि और करेगा यदि सीमान्त व्यय अधिक होगा और सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कम होगी तो वह इकाइयाँ उस समय तक घटाता रहेगा जब तक दोनों व्यय और उत्पादन-शक्ति बराबर न हो जायँ। इसके लिये वह समान गुण वाले

अनेक साधनों का प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ यदि एक जहाज से सामान उतारने या उसमें सामान चढ़ाने के लिये २५० मजूरों की आवश्यकता होती है जिन्हें प्रतिदिन ४ रुपया पारिश्रमिक दिया जाता है तो २ दिन में कुल सामान चढ़ाने-उतारने में कुल व्यय २,००० रुपया होता है। यह व्यय जहाज के स्वामी को अनेक बार देना पड़ता है। इसके साथ ही यह भी बहुत सम्भव होता है कि श्रमिकों का पारिश्रमिक बढ़ जाय। ऐसी स्थिति में जहाज के स्वामी को अधिक व्यय करना पड़ेगा जब कि उसी अनुपात में उसकी आमदनी में वृद्धि नहीं हुई है। अतएव जहाज का स्वामी मजूरों की संख्या घटाकर उनके स्थान पर एक क्रेन-मशीन का प्रयोग करेगा जो उसकी पूँजी होगी। यद्यपि इस मशीन को खरीदने में उसे काफी व्यय करना पड़ेगा परन्तु मशीन उसकी स्थायी सम्पत्ति भी हो जायगी। वह उसका पूरा उपयोग, जितनी बार आवश्यकता हो, कर सकेगा और जब चाहेगा बेच भी सकेगा। यदि यह क्रेन-मशीन १० मजूरों की सहायता से वही काम जो २५० मजूर २ दिन में करते थे ½ दिन में करती है तो जहाज का स्वामी २४० मजूरों को काम से अलग करने में नहीं हिचकेगा। इससे उसको १½ दिन का लाभ हो जाता है और काम का निरीक्षण भी सरलता से हो जाता है। इस प्रकार जहाज के स्वामी ने मशीन और श्रमिकों का एक नया अनुपात स्थिर कर दिया। इस मशीन का व्यवहार प्रत्येक उद्योग-धन्धे व बड़े निर्माण-कार्यों में किया जाता है। मूल्य के अनुसार अधिक व कम शक्ति की इन मशीनों को खरीदा जा सकता है जिससे मशीन और श्रमिक के अनेक अनुपात स्थिर किये जा सकते हैं।

मजूरों के स्थान पर मशीन लगाने की प्रवृत्ति ने श्रम और मशीन की एक भीषण समस्या को जन्म दे दिया है जिसका राजनैतिक दल (Political Parries) अपने स्वार्थ के लिये उपयोग करते रहते हैं। यद्यपि इस समस्या का सामाजिक दृष्टिकोण से विशेष महत्व है परन्तु इसके दुरुपयोग से उत्पादन कार्य में बड़ी हानि होती है जिसका अन्तिम प्रभाव पुनः समाज पर ही पड़ता है। इसका विस्तृत वर्णन 'श्रम और मशीन' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

प्रतिस्थापन्न नियम के अनुसार उत्पादक साधनों का पूर्णरूप से एक के स्थान पर दूसरे का उपयोग ही नहीं करते हैं वरन् उनके परस्पर के अनुपात को भी परिवर्तित करते हैं। उत्पादक यद्यपि कुल मजूरों का काम केवल मशीन से ले सकते हैं परन्तु व्यवहारिक जगत् में वे ऐसा बहुत कम करते हैं। वे मजूरों की संख्या को घटाते-बढ़ाते रहते हैं। यदि उत्पादक एक साधन के बदले समान गुण वाले अन्य साधनों का उपयोग करना

भी चाहें तो इसमें सफलता मिलना अनिश्चित है। श्रमिक के स्थान पर मशीन का प्रयोग अवश्य किया जा सकता है परन्तु एक प्रकार के कच्चे माल को दूसरे प्रकार के कच्चे माल से पूरा-पूरा नहीं बदला जा सकता है। उनमें बहुत कुछ समानता होते हुए भी भिन्नता होती है। उनसे उत्पादित वस्तुओं के गुणों में भी भिन्नता का अंश होना स्वाभाविक है। अतएव उत्पादक प्रायः दो समान गुणवाली वस्तुओं में से एक का कम और दूसरे का अधिक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उनके कई अनुपात स्थिर कर लिये जाते हैं जैसे काँसे के उत्पादन में या ऐलूमीनियम के उत्पादन में। कागज बनानेवाले कारखानों में भी अनुपातों की भिन्नता का पूरा लाभ उठाया जाता है। इसी प्रकार श्रम तथा मशीन का उक्त उदाहरण भी इसी भिन्न अनुपात का उदाहरण हो सकता है।

इस प्रकार के अनुपातों को स्थिर करने में उत्पादक को अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है जिनको हम दो शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) साधनों के मूल्य और (२) साधनों की कार्यक्षमता (Efficiency)। साधनों के मूल्य के अन्तर्गत उत्पादक इस बात का अध्ययन करता है कि उसकी बाजार में माँग कितनी है और पूर्ति कितनी है; उसका यातायात-व्यय कितना होगा; उसके प्रयोग में उसका कितना प्रतिशत भाग नष्ट हो जायगा; उसका पूर्ण उपयोग कर सकने के लिये कारखाने में यदि मशीनें नहीं हैं तो उन पर कितना व्यय करना पड़ेगा, इत्यादि। इस प्रकार के अध्ययन से वह प्रति इकाई उत्पादन-व्यय का अनुमान कर सकता है और उस समय तक उसके विक्रय-मूल्य की माँग और पूर्ति का भी अनुमान कर सकता है। साधनों की कार्य-क्षमता का सारे उत्पादन-कार्य में प्रभाव पड़ता है। यदि किसी मशीन का मूल्य अधिक है और उसका प्रयोग अधिक नहीं करना पड़ता है और उसे किसी अन्य प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है तो मशीन को अधिक समय तक बन्द रखकर उत्पादक को हानि होगी। उसके कारखाने के लिये उस मशीन की इतनी उपयोगिता नहीं है और उत्पादक उसके स्थान पर श्रमिकों को नियुक्त कर लेगा। परन्तु यदि श्रमिकों की कार्यक्षमता से अधिक मशीन की कार्यक्षमता है तो उत्पादक निःसंकोच मशीन को अपना लेगा और श्रमिकों को अलग कर देगा। यदि सिले हुए कपड़े बनाकर बेचनेवाले कारखाने में श्रमिकों का वेतन बढ़ जाय तो उत्पादक कपड़ा काटने, काज बनाने व बटन लगाने का काम श्रमिक की अपेक्षा मशीन से कर सकता है। परन्तु यदि वेतन कम हो तो उत्पादक मशीन का प्रयोग नहीं करेगा और श्रमिकों को ही नियुक्त करेगा। इस प्रकार साधनों को परिवर्तित करते समय उत्पादक का ध्यान साधनों की कार्यक्षमता की ओर रहता है।

इसके साथ ही साधनों का प्रतिस्थापन्न उनकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) पर भी निर्भर करता है। यदि एक साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति दूसरे समान गुण वाले साधन से अधिक है, तथा वह कम व्यय करने पर प्राप्त हो सकता है और उसकी कार्यक्षमता भी दूसरे साधन से अधिक है तो उत्पादक अवश्य दूसरे साधन के बदले उसका प्रयोग करेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादक एक साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का दूसरे साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से मिलान (Comparision) करता है और इस प्रकार जिस अनुपात में न्यूनतम व्यय करना पड़ेगा उसे अपना लेता है।

इसके साथ ही उत्पादक का ध्यान उत्पादन की कुल मात्रा की ओर भी रहता है। वह ऐसे अनुपात में साधनों को मिलाना चाहता है कि कुल उत्पादन की मात्रा उतनी ही रहे। १०० मजूर और एक मशीन मिलकर ६ घण्टे में १,००० गज लोहे की जाली का उत्पादन कर सकते हैं। यदि एक मशीन और लगा देने से या उस मशीन को बेचकर बड़ी मशीन लगा देने से कुल १० मजूरों की सहायता से ६ घण्टे में १,००० गज जाली बुनी जा सकती है तो उत्पादक अवश्य मजूरों के स्थान पर मशीन लगायेगा क्योंकि मशीन उसकी पूँजी हो जाती है, उसका जितना चाहे प्रयोग कर सकता है और मजूरों की नित्य की समस्या से छूट जाता है।

उत्पादक प्रतिस्थापन्न के समय साधन के गुण (Quality) का भी ध्यान रखता है। इसमें साधन के केवल गुण को बदला जाता है। यदि उसके कार्यालय में एक टाइपिस्ट ५० शब्द प्रति मिनट टाइप कर सकता है तो उत्पादक उसके स्थान पर ऐसे टाइपिस्ट को एकदम रख लेगा जो ७० शब्द प्रति मिनट टाइप कर सकता हो। इसी प्रकार प्रेस में अधिक शब्द कम्पोज करने वाला श्रमिक अपने से कम गति वाले श्रमिक के स्थान पर नियुक्त किया जाता है। परन्तु पारिश्रमिक दोनों का समान होना आवश्यक है। परन्तु श्रमिक की सींमान्त उपयोगिता के अनुसार उत्पादक उसका वेतन बढ़ा सकता है। इस प्रकार टाइपिस्ट या कम्पोजीटर के स्थान में किसी मशीन को नहीं लगाया गया है केवल उनके गुणों का प्रतिस्थापन्न किया गया है।

वर्तमान समय में वैज्ञानिक आविष्कारों से उत्पादन के कार्य में काफी उन्नति हुई है। जिस कार्य को पहले ५०० मजूर कर सकते थे उसे आज मशीन कुछ ही समय में कर देती है और व्यय भी कम होता है। अतएव प्रत्येक उत्पादक इस प्रयत्न में रहता है कि वह मूल्यवान साधनों के स्थान पर ऐसे साधनों का प्रयोग करे जिससे उत्पादन अधिकतम हो और व्यय न्यूनतम हो। इससे वह श्रमिकों के स्थान में मशीनों का प्रयोग करता है

जिससे बड़ी संख्या में श्रमिक बेकार हो जाते हैं। उनके संघ जो साधारण रूप से राजनैतिक संघ होते हैं उत्पादक के विरुद्ध आन्दोलन करते हैं। हड़तालें होती हैं। इससे उत्पादन को गहरा धक्का पहुँचता है। इसलिये यद्यपि प्रतिस्थापन्न आधुनिक युग की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिये अत्यन्त लाभदायक है तथापि यदि इस क्षेत्र में उत्पादकों ने शीघ्रता की तो उत्पादन क्षेत्र में एक गड़बड़ी उत्पन्न हो जायेगी, बेकार श्रमिकों का आन्दोलन जोर पकड़ेगा और श्रमिकों का चाहे लाभ हो या न हो राजनैतिक दलबन्दियों को अवश्य शक्ति मिलेगी। इससे देश में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती है जिसका अन्तिम प्रभाव पुनः उत्पादन क्षेत्र में ही पड़ता है। इसलिये प्रतिस्थापन्न की गति धीमी होना आवश्यक है और साथ ही नये उद्योगों की स्थापना भी जिसमें बेकार मजूरों को काम मिल सके।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'प्रतिस्थापन्न-नियम' से आप क्या समझते हैं?

२. सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का अर्थ समझाइये और यह बतलाइये कि इसकी मूल्य से तुलना करके उत्पादक किस प्रकार यह निश्चित करता है कि विभिन्न साधनों का प्रयोग किस अनुपात में करना चाहिये?

३. प्रतिस्थापन्न-नियम और सम-सीमान्त उपयोगिता के नियमों की तुलना कीजिये।

अध्याय ५०

उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण का सिद्धान्त

उत्पादन को संगठित करने में साहसी को मुख्यतया इस बात को निश्चित करना पड़ता है कि उद्योग-धंधों अथवा कारखानों की स्थापना के लिए कौन-सा स्थान उचित है। यदि कारखाना उचित स्थान पर स्थापित किया गया है तो उत्पादन की लागतें, उनका जहाँ तक कारखाने की स्थिति से सम्बन्ध है, सबसे कम होंगी। परन्तु इसके विपरीत यदि कारखाने की स्थापना में उसकी स्थिति का ध्यान न रखा गया तो उत्पादन की लागतों में वृद्धि हो जायेगी। इस सम्बन्ध में आज तक अलफ्रेड वैबर (Alfred Weber) के सिद्धान्त को ही अधिकतर ठीक माना जाता है। वह उन साधनों का जो कारखाने की स्थिति को निश्चित करते हैं, यातायात-व्यय की दृष्टि से अध्ययन करता है। इसके अनुसार हमें उस कच्चे माल के वजन को जिसे उसके प्राप्ति-स्थान से कारखाने तक ले जाना है तथा उस तैयार माल के वजन को जिसे कारखाने से बाजार तक ले जाना है, ध्यान में रखना पड़ता है। वैबर के सिद्धान्त के अनुसार कच्चा माल दो प्रकार का होता है:—(१) वह कच्चा माल जो सर्वत्र प्राप्त हो सकता है, जैसे, मिट्टी, पानी। अपने इस सर्वव्यापी गुण के कारण ये कारखाने की स्थिति में कुछ विशेष प्रभाव नहीं डालते। (२) वह कच्चा माल जो विशेष स्थानों में प्राप्त होता है, जैसे कच्चा लोहा, बौक्साइट, कोयला, गन्ना इत्यादि। इन्हें स्थानीय भौतिक पदार्थ (Localised Materials) कहते हैं। कारखाने की स्थिति पर इनका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन स्थानीय भौतिक पदार्थों के कुछ उपविभाजन किये गये हैं। या तो इन पदार्थों का कुल वजन अथवा उसका अधिकांश भाग उत्पादित वस्तु के वजन में परिवर्तित हो जाता है, जैसे कच्ची रुई कपड़े के उत्पादन में या बालू और चूना सीमेंट के उत्पादन में। इन्हें शुद्ध भौतिक पदार्थ कहते हैं। ये कारखाने की स्थिति में विशेष प्रभाव नहीं डालते। वजन के यातायात के दृष्टिकोण से इनका विशेष महत्व नहीं है। चाहे इन पदार्थों को दूर के स्थानों में ले जाकर जो बाजार के निकट हैं, तैयार माल में परिवर्तित किया जाय अथवा कारखाना ही इनके स्रोतों के समीप स्थित हो जहाँ से इनसे तैयार माल दूर के बाजारों में ले जाया जाय। इससे कुछ अन्तर तो अवश्य पड़ता है पर उसका विशेष महत्व नहीं है।

दूसरे प्रकार के स्थानीय पदार्थ वे हैं जिनका वजन उत्पादन-क्रिया में कम हो जाता है जैसे, कागज के कारखाने में बाँस अथवा चीनी के कारखाने में गन्ना। ये भौतिक पदार्थ अपने इस गुण के कारण कारखाने की स्थिति पर बहुत प्रभाव डालते हैं क्योंकि तैयार माल की उत्पादन-क्रिया में ही इन पदार्थों के वजन में बहुत कमी आ जाती है। यदि कारखाने ऐसे भौतिक पदार्थों के स्रोतों के समीप ही स्थित हों तो आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभ होगा। उस वजन के यातायात-व्यय में कमी होगी जो उत्पादन-क्रिया में नष्ट हो जाता है।

साधारण रूप से किसी कारखाने की स्थिति को निश्चित करने के लिए हमें निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है:—

(१) उत्पादन-क्रिया में वजन में कमी होने वाले स्थानीय कच्चे पदार्थों का कुल वजन।

(२) तैयार माल का कुल वजन जिसे बाजार में भेजना है। अतएव उत्पादन-क्रिया में वजन में कमी होने वाले स्थानीय कच्चे पदार्थों के सम्बन्ध में आर्थिक दृष्टि से यदि कारखानों की उक्त पदार्थों के स्रोतों पर या उनके समीप स्थापना की जाय तो बहुत लाभदायक होगा। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में कारखानों को बाजार के निकट स्थापित करना अधिक उचित होगा। उक्त दोनों प्रकार के पदार्थों में आर्थिक दृष्टि से कौन अधिक लाभदायक है इसे तैयार माल के कुल वजन को कच्चे स्थानीय माल के कुल वजन से विभाजित करके आसानी से जान सकते हैं। इसे उस वस्तु का 'पदार्थ-सूचकांक' कहेंगे। यदि पदार्थ-सूचकांक अधिक है अर्थात यदि तैयार माल का कुल वजन स्थानीय पदार्थ के कुल वजन से अधिक है तो कारखानें स्वाभाविक रूप से कच्चे माल के केन्द्रों की ओर आकृष्ट होंगे। यही कारण है कि भारत में चीनी के कारखानें विशेषतया उत्तर प्रदेश और बिहार में ही अधिक हैं। इस उद्योग का पदार्थ-सूचकांक अधिक है इसीलिए यह कच्चे माल के केन्द्रों की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति को दर्शाता है। यदि पदार्थ-सूचकांक कम है अर्थात् तैयार माल का कुल वजन कच्चे माल के कुल वजन के लगभग बराबर है तो कच्चे माल के केन्द्र विशष प्रभावित नहीं कर सकेंगे और अन्य कई कारणों से कारखानों की बाजार की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति दिखाई देगी। इसी कारण सूती कपड़ों के कारखाने लंकाशायर और जापान में स्थित हैं जिनके कच्चे माल से कुल कच्चे माल की माँग की पूर्ति नहीं की जा सकती है। यदि हम केवल कच्चे माल और बाजार का ही ध्यान रखें तो उद्योग-धन्धों या कारखानों की स्थापना ऐसे स्थानों पर होगी जहाँ कच्चे माल को कारखानों तक लाने

के यातायात-व्यय और तैयार माल को बाजार तक ले जाने के व्यय न्यूनतम होंग। परन्तु हमें अन्य साधनों का भी अध्ययन करना होता है जैसे—श्रम की प्राप्ति, सम्पत्ति या धन तथा अन्य सुविधाएँ जिनकी उद्योग-धन्धों या कारखानों को आवश्यकता होती है। साधारणतया जब हम "कच्चे माल की पूर्ति" और "बाजार से दूरी" का अध्ययन करते हैं तो हम यह मान लेते हैं कि श्रम और धन इत्यादि सर्वत्र प्राप्य है। परन्तु यदि ऐसा नहीं होता हो और कुछ स्थानों में श्रम तथा धन प्राप्त न हों तो उद्योग-धन्धों या कारखानों की स्थापना के लिए ऐसे स्थानों का निर्वाचन नहीं किया जायेगा। ऐसा तभी किया जा सकता है यदि कच्चे माल तथा तैयार माल के सस्ते यातायात-व्यय की सुविधा हो जो उस असुविधा की पूर्ति कर दे जो श्रम तथा धन इत्यादि को दूर के स्थानों से लाने में हुई। यदि 'अ' और 'ब' दो स्थान हैं जो यातायात-व्यय के दृष्टिकोण से समान रूप से अच्छे हैं परन्तु श्रम तथा धन केवल 'अ' में प्राप्त होता हो और 'ब' में नहीं तो 'ब' की अपेक्षा उद्योग-धन्धों या कारखानों की स्थापना के लिए 'अ' केन्द्र ही निर्वाचित किया जायेगा। परन्तु यदि यातायात-व्यय 'अ' स्थान की अपेक्षा 'ब' में कम है परन्तु श्रम और धन की प्राप्ति में 'अ' को ऐसी सुविधा हो जो 'अ' व 'ब' के यातायात के व्यय के अन्तर की पूर्ति कर सकने से अधिक हो तो उद्योग-धंधे या कारखाने 'अ' पर ही स्थापित किये जायेंगे। 'ब' स्थान पर उद्योग-धन्धें या कारखानें तभी स्थापित किये जा सकते हैं जब यातायात-व्यय के दृष्टिकोण से 'ब' की सुविधा इतनी अधिक है कि किसी वस्तु की एक इकाई के उत्पादन का औसत-व्यय 'ब' में श्रम तथा धन की पूर्ति की असुविधा होते हुए भी 'अ' के औसत-व्यय की अपेक्षा कम हो।

इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि किसी उद्योग-धन्धे या कारखाने की स्थापना के लिए कई वैकल्पिक स्थितियाँ हों जो यातायात-व्यय के दृष्टिकोण से समान रूप से अच्छी हो सकती हैं। इन वैकल्पिक स्थितियों में से किस स्थिति को निर्वाचित किया जाय यह धन और श्रम की प्राप्ति और उन सुविधाओं पर निर्भर होगा जो उस स्थान पर स्थित अन्य कारखानों से प्राप्त हो सकती हैं। शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से साहसी अपने कारखाने के लिए वही विशेष स्थिति चुनेगा जहाँ उत्पादित वस्तु की प्रत्येक इकाई का उत्पादन-व्यय न्यूनतम होगा। इस व्यय में केवल उत्पादन के लिए ले जाये जाने वाले कच्चे माल की प्रति इकाई का यातायात-व्यय ही सम्मिलित नहीं है वरन् श्रम, धन तथा अन्य पदार्थ प्राप्त करने में जो व्यय होता है वह भी सम्मिलित है। इसमें वे सुविधाएँ भी सम्मिलित हैं जो वह स्थान दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक दे सकता है।

स्थानीयकरण के अन्य (Uneconomic) साधन

व्यावहारिक जगत में कारखानों की स्थितियों को शुद्ध आर्थिक दृष्टि-कोण के आधार पर ही निश्चित नहीं किया जाता। उक्त सिद्धान्त के अनुसार यह पहले ही मान लिया जाता है कि कच्चे माल की पूर्ति के वैकल्पिक स्रोतों का प्रति उत्पदित इकाई के लिए आवश्यक कच्चे माल की मात्रा का और कारखाने से विभिन्न बाजारों की उस दूरी का जहाँ उत्पादित वस्तु को ले जाना है, साहसी को पूरा ज्ञान है। इसके अतिरिक्त साहसी को इस बात की भी पूरी जानकारि है कि विभिन्न प्रकार के चालानों के लिए भाड़े की विभिन्न दरें क्या हैं। हम उद्योग-धन्धों की स्थापना के लिए विभिन्न उपयुक्त स्थितियों का पता तभी लगा सकते हैं जब हमें उक्त बातें तथा अन्य सब आँकड़े सम्बन्धी सूचनाएँ ज्ञात हों। व्यावहारिक जगत में साहसी को ये सूचनाएँ सदा प्राप्त नहीं होती हैं। वह अक्सर आंशिक सूचनाओं के आधार पर ही कार्य आरंभ कर देता है। यदि उद्योग-धन्धों की स्थापना पहले हो चुकी हो तो साहसी अधिक-तर ऐसी स्थिति को पसन्द करता है जहाँ पहले से ही उद्योग-धन्धे स्थापित हो चुके हों। इसी से हम उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण अर्थात् एक ही प्रकार के उद्योग-धन्धों को देश के किसी स्थान-विशेष में केन्द्रित होने की समस्या पर पहुँचते हैं। उक्त बातों से अनभिज्ञ रहने के कारण तथा परिस्थितियों का उचित अध्ययन न करने से अधिकतर साहसी अनुचित स्थानों में उद्योग-धन्धों की स्थापना कर देते हैं। इससे देश के कुछ उद्योग-धन्धों के केन्द्र आवश्यकता से अधिक घने बस जाते हैं और देश के वे बहुत से भाग छुट जाते हैं जिनका यदि साहसी चतुर होता तो उद्योगी-करण किया जा सकता था। दूसरी विशेष बात यह है कि साहसी सदा बुद्धि से काम नहीं लेता। केवल भावावेश में वह ऐसे स्थान का निर्वाचन कर लेता है जो आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत मँहगा और अनुपयोगी होता है। साहसी तथा उसकी पत्नी और बच्चे, जैसा प्रायः भारतवर्ष में होता है, गावों की अपेक्षा शहरों में रहना अधिक पसन्द करते हैं। इसका कारण केवल सामाजिक जीवन की वे सुविधाएँ, सिनेमा तथा अन्य आकर्षण होते हैं, जो प्रायः शहरी-जीवन की देन हैं। उत्पादन-व्यय के दृष्टिकोण से कारखाने की स्थापना के लिए कोई ग्राम्य-स्थिति चाहे कितनी ही लाभ-दायक और कम व्यय वाली हो उसको केवल भावावेश में त्याग दिया जाता है और कारखाने की स्थापना अनुचित स्थान पर कर दी जाती है। भारतवर्ष में ग्राम्य जनता अधिकतर शहरों में आकर बस जाती है। इस प्रवृत्ति को साहसी के इस भावुकता भरे शहर-प्रिय-जीवन से समझाया जा सकता है।

स्थानीय अधिकारियों की अनुचित कर-नीति के कारण उद्योग-धन्धों

की स्थापना अधिक उचित (Optimum Point) स्थानों पर न होकर दूसरे स्थानों में की जाती है। यदि किसी एक स्थान में दूसरे स्थान की अपेक्षा कारखाने की बिल्डिंग पर, उत्पादन पर तथा आमदानी पर कर अधिक लगाया गया है तो कारखाने स्वभावतया उस स्थान की ओर आकृष्ट होंगे जहाँ कर की दर कम है। यह बात ग्रेट ब्रिटेन में देखी गयी जहाँ कम कर की दरों के कारण कुछ स्थानों ने उद्योग-धन्धों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। जब कि दूसरे स्थान अधिक कर होने के कारण रिक्त रहे। रियासतों के संघ में मिलने से पूर्व भारतवर्ष में भी रियासतों में 'अंग्रेजों के आधीन भारत' की अपेक्षा आमदनी, कारखाने की बिल्डिंग इत्यादि में कर की दर कम थी। इसी से उद्योग-धन्धे रियासतों की ओर आकर्षित हुए। कुछ अवस्थाओं में रियासतें, उदाहरणस्वरूप मैसूर रियासत, उद्योग-धन्धों की स्थापना के हेतु अधिक उचित वैकल्पिक स्थितियों में से एक स्थिति थी और वहाँ कारखानें स्थापित करना आर्थिक दृष्टि से उतना ही लाभदायक था जितना दूसरे स्थानों में। ऐसी अवस्था में उद्योग-धन्धों के वहाँ स्थापित हो जाने से अधिक हानि नहीं हुई। परन्तु अन्य अवस्थाओं में भी उद्योग-धन्धे भारतीय रियासतों में ही स्थापित किये गये। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से तथा एक टन प्रति मील के यातायात-व्यय का विचार कर वे स्थान अधिक उपयुक्त नहीं थे। इन स्थानों में श्रम की प्राप्ति में व्यय बहुत कम करना होता था क्योंकि वहाँ उपयुक्त श्रम सम्बन्धी कानूनों का अभाव था, श्रमिकों का कोई संगठन नहीं था और सरकारी संरक्षकता तथा दरबार से सुगमता से भूमि प्राप्त होने के कारण धन की पूर्ति आसानी से हो सकती थी। यही कारण थे जिनसे उद्योग-धन्धे उन स्थानों की ओर आकृष्ट हुए।

भारतवर्ष में उद्योग-धन्धों का अधिक उचित स्थानों की अपेक्षा दूसरे स्थानों में स्थापित होने का एक अन्य कारण भी है। भारतवर्ष में प्रान्तीयता की प्रवृत्ति भी रही है जिससे अपने-अपने प्रान्तों को स्वावलम्बी बनाने के प्रयत्न होते रहे हैं। चीनी के कारखानें उत्तरप्रदेश और बिहार में स्थापित हुए। जैसे जैसे समय बीतता गया मद्रास, मैसूर, बंगाल और पंजाब में शुद्ध प्रान्तीयता की भावना से चीनी के कारखानें स्थापित करने के प्रयत्न किये गये। मद्रास और मैसूर के यह प्रयत्न बहुत कुछ उचित भी थे क्योंकि वे चीनी के कारखानों के लिए अधिक उचित स्थानों में से हैं। परन्तु बंगाल और पंजाब के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता और यहाँ चीनी के जितने कारखानें स्थापित किये गये सब असफल रहे क्योंकि स्थितियाँ अनुकूल न थीं। बम्बई प्रान्त, उत्तर प्रदेश, मद्रास और मध्य प्रदेश में कपड़े के कारखानों की स्थापना की गई है। कुछ समय पहले

बंगाल में भी बहुत से सूती कपडों के कारखानों की स्थापना की गई है जिससे बंगाल प्रान्त को कपड़ों की पूर्ति के लिए अन्य प्रान्तों पर निर्भर न होना पड़े और साथ ही जिससे बंगाली युवकों को नौकरी भी मिल जाय। एक समय उत्तरप्रदेश की भी और अधिक जूट के कारखानों को स्थापित करने की इच्छा थी। इस क्षेत्र में प्रान्तीयता की भावना से पैदा हुई असुविधाएँ दो प्रकार की हैं। अनुचित स्थानों पर उद्योग-धन्धों के स्थापित होने से उत्पादन-व्यय में अनावश्यक वृद्धि होती है और उत्पादन आवश्यकता से अधिक होता है। १६१८ और १६३६ के बीच के काल में केवल प्रान्तों को स्वावलम्बी बनाने की इस सनक से कुछ वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाने के कारण भारतवर्ष में एक सकट उपस्थित हो गया था। जब वस्तुओं की माँग बढ़ रही हो तब आर्थिक-प्रसार के रूप में प्रान्तीयता को इस मँहगे और हानिकारक जाल में फँस जाना सरल होता है। परन्तु यदि माँग स्थाई हो अथवा कम हो रही हो तब नये कारखानों को स्थापित करने का केवल यही परिणाम होगा कि कुछ कारखानें असफल होकर बन्द हो जायेंगे और कुछ हानि उठायेंगे।

युद्ध के समय नष्ट-भ्रष्ट होने के भय से या हवाई-आक्रमण से बचने के लिए भी अधिकतर कारखानों के लिए अधिक उपयोगी स्थानों का परित्याग करना पड़ता है। यदि कारखानों की स्थापना के लिए अधिक उपयुक्त स्थान, समुद्री तट पर हो, बड़े शहरों में हो, नदियों के किनारों पर हो या खुले शहरों में हो, तो ऐसे स्थानों को त्याग देना ही आवश्यक हो जाता है जिससे युद्ध के कारण उत्पादन-कार्य नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। कुछ अवस्थाओं में यह बहुत संभव है कि देश में अन्दर की ओर कुछ ऐसे स्थान मिल जायें जहाँ दुश्मन के आक्रमण का भय न हो और उनकी स्थिति कारखानों को स्थापित करने के लिए उपयुक्त हो, परन्तु यदि ऐसे स्थान मिलना सम्भव न हों तब उद्योग-धन्धों को ऐसे स्थानों पर स्थापित करना पड़ेगा जिनकी स्थिति बहुत उपयुक्त न हो। इससे उत्पादन-व्यय में वृद्धि होती है।

स्थानीयकरण

किसी शहर में अथवा देश के किसी भाग में विशेष उद्योग-धन्धे के केन्द्रित हो जाने को ही हम स्थानीयकरण कहते हैं। यदि एक ही उद्योग-धन्धे के कई कारखानें एक ही स्थान पर स्थापित हो जाते हैं तो उसे उद्योग-धन्धे का स्थानीयकरण कहा जाता है। उत्तरप्रदेश के फिरोजाबाद शहर में कांच की चूड़ियों का उद्योग-धन्धा केन्द्रित है। जूते बनाने का उद्योग आगरा शहर मे केन्द्रित है। उद्योग-धन्धों का इस प्रकार केन्द्रित हो जाना कई कारणों पर निर्भर होता है। यदि किसी स्थान पर किसी

विशेष प्रकार का कच्चा माल हो या उद्योग-धन्धे के लिए आवश्यक किसी प्रकार की कुशलता प्राप्त हो तो उद्योग-धन्धों की कई इकाईयाँ प्राप्त सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए उस स्थान पर स्थापित हो जाती है। यदि वह स्थान कच्चे माल की पूर्ति के स्रोतों और बाजार से रेल अथवा किसी अच्छी सड़क से जुड़ा हो तो उद्योग-धन्धों की उस स्थान पर केन्द्रित होने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रारम्भ में सूती कपड़े के कारखाने बम्बई शहर और बम्बई-द्वीप में केन्द्रित हुए क्योंकि यहाँ से उत्पादित वस्तु का निर्यात सुविधापूर्वक किया जा सकता है। बहुत कुछ इसी कारण सूती कपड़े का उद्योग लंकाशायर में स्थापित हुआ। स्थानीयकरण के दूसरे कारण किसी विशेष उद्योग-धन्धे को राज्य की संरक्षकता प्राप्त होना अथवा उद्योगपति की सनक हो सकते हैं। यदि एक बार कोई उद्योग-धन्धा किसी स्थान-विशेष पर स्थापित हो जाता है चाहे वह स्थान इस कार्य के लिए उपयुक्त हो या न हो कुछ वाह्य आर्थिक साधन उस स्थान पर प्राप्त होने लगते हैं जिससे अन्य उद्योग-धन्धे उस स्थान की ओर आकर्षित होते हैं। ये सुविधाएँ उद्योग-धन्धे की कुछ इकाईयों के प्रारम्भ से ही स्थापित रहने के कारण सहायक उद्योग-धन्धों का रूप या श्रमिकों के शिक्षण-केन्द्र का रूप ले सकती हैं। साथ ही उद्योग-धन्धे के लिए यातायात की अधिक सुविधाएँ प्राप्त करा सकते हैं। अलफ्रेड वैबर ने उद्योग का स्थानीयकरण होने के कारणों तथा इसके विपरीत ऐसे केन्द्रों से उद्योग-धन्धों के विमुख होने के कारणों को निम्न भागों में बाँटा है:—

(१) केन्द्रीयकरण के कारण (Agglomerating Causes)

(२) विकेन्द्रीयकरण के कारण (Deglomerating Causes)

केन्द्रीयकरण के कारण से किसी उद्योग-धन्धे की प्रवृत्ति किसी स्थान-विशेष पर केन्द्रित होने की ओर होती है और विकेन्द्रीयकरण के कारण से उद्योग-धन्धों की प्रवृत्ति छिन्न-भिन्न होने की ओर होती है। श्रम की प्राप्ति, धन इत्यादि तथा दूसरे सम्भव स्थानों की अपेक्षा अनेक बाह्य आर्थिक कारणों का सहयोग प्रथम कारण के अन्तर्गत आते हैं जब कि भूमि और घरों का अधिक किराया, अधिक कर की दरें और एक ही स्थान पर उद्योगों के आवश्यकता से अधिक केन्द्रित होने से उत्पन्न अनेक आर्थिक असुविधाएँ और कठिनाइयाँ दूसरे प्रकार के कारणों के अन्तर्गत आते हैं जिससे उद्योग-धन्धों की प्रवृत्ति विकेन्द्रीयकरण की ओर होती है।

स्थानीयकरण से लाभ

(१) उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण से अनेक लाभ होते हैं। यदि कोई

उद्योग-धन्धा एक स्थान-विशेष में स्थापित हो तो उत्पादन करने वाली विभिन्न इकाईयों में परस्पर गहरी प्रतिस्पर्धा रहेगी। इससे वे सदा सजग रहते हैं और अधिक कुशल होते जाते हैं। अपने प्रतिद्वन्दी से अधिक सफलता प्राप्त करने की प्रवृत्ति के कारण वे अनेक वैज्ञानिक अनुसन्धान और प्रयोग करते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि कुछ तो इस प्रतिस्पर्धा के कारण और कुछ उद्योग-धन्धों के केन्द्रियकरण से प्रबन्ध की सरलता के कारण बहुत अच्छे औद्योगिक संगठन स्थापित हो जाते हैं। इन्हीं कारणों से भारतवर्ष के जूट के कारखानें सूती कारखानों की अपेक्षा अधिक संगठित हैं। यह बहुत संभव है कि स्थानीयकरण के कारण विभिन्न संगठन परस्पर एक दूसरे में घुल-मिल जायें और इस प्रकार उद्योग-धन्धों का एकाधिकार (Monopolisation) स्थापित हो जाय।

(२) यदि कोई उद्योग-धन्धा एक ही स्थान पर स्थापित हो तो उसे अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त होंगी। उद्योग-धन्धों के केन्द्रियकरण से अधिकारियों और श्रमिकों को अच्छी ट्रेनिंग मिल सकती है, बैंकिंग प्रथा के विकास के साथ ही उद्योग-धन्धे को अन्य सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं, और रेल सम्बन्धी वे सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं जो तब नहीं मिलती यदि उस स्थान पर एक दो कारखानें ही स्थापित होते। ऐसी अवस्था में सहायक उद्योग-धन्धों से अनेक लाभ भी सरलता से प्राप्त हो सकते हैं। जैसे कि फिरोजाबाद में काँच की चूड़ियों के कारखानें केन्द्रित हैं तो इससे सब उत्पादकों को सदा लगातार बिजली मिलना सम्भव है।

(३) एक स्थान पर केन्द्रित उद्योग-धन्धों के द्वारा उत्पादित वस्तुएँ उस स्थान की विशेषताओं से सम्बन्धित होने के कारण स्वयं भी प्रसिद्ध हो सकती हैं, इससे किसी वस्तु को लोकप्रिय बनाने में बड़ी सहायता मिलती है। मुरादाबाद में बनी पीतल की वस्तुएँ बहुत प्रसिद्ध हैं क्योंकि वहीं पीतल के उद्योग-धन्धें केन्द्रित हैं। परन्तु यदि उद्योग-धन्धा किसी कारण से बदनाम हो जाय तो किसी स्थान-विशेष पर उसका केन्द्रित होना हानिकारक भी हो सकता है।

स्थानीयकरण से हानि

समस्त देश अथवा उद्योग-धन्धे दोनों के दृष्टिकोण से उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से अनेक गंभीर हानियाँ भी हैं।

(१) प्रमुख हानि यह है कि स्थानीयकरण से कुछ स्थान पिछड़ सकते हैं, वे निम्नस्तर (Depressed Area) के हो सकते हैं। यदि किसी उद्योग-धन्धे को माँग की पूर्ति न कर सकने से हानि होती है जो व्यापार-मन्दी (Trade Depression) और अन्य कारणों से

बहुत संभव है, और उत्पादन कम कर दिया जाय या पूर्णतया बन्द कर दिया जाय तो उस क्षेत्र के निवासियों को (जिस क्षेत्र में उक्त उद्योग-धन्धा केन्द्रित होगा) बहुत बड़ी आर्थिक हानि होगी, उनकी आमदनी कम हो जायेगी, वहाँ बेकारी होगी और चारों ओर कष्टों का प्रसार होगा। स्थानीय पदाधिकारी आमदनी के एक स्रोत को खो देंगे और सम्भवतः वे सहायता सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकेंगे जो उक्त आमदनी से किया करते थे। ग्रेट ब्रिटेन और अन्य देशों में ऐसा वास्तव में कई स्थानों पर हुआ। जब लंकाशायर के कपड़े का उद्योग, भारतवर्ष की माँग में कमी होने के कारण मन्द पड़ गया तो वहाँ के निवासियों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। यदि उद्योग-धन्धा केन्द्रित होने की अपेक्षा उचित ढंग से विकेन्द्रित हो अर्थात् किसी विशेष उद्योग-धन्धे के कारखानें चारों ओर फैले हों, और एक स्थान पर केंन्द्रित होने की अपेक्षा विभिन्न अधिक उपयुक्त स्थानों पर स्थापित हों तो उस उद्योग-धन्धे में मन्दी होने से एक विशेष स्थान को हानि नहीं हो सकती। यदि एक उद्योग-धन्धा मन्द पड़ जाय और अन्य पूर्ववत अच्छी अवस्था में उत्पादन करते रहें तो उस स्थान-विशेष के निवासी दूसरे कारखानों में जो वहाँ हों नौकरी पा सकते हैं।

(२) यदि उद्योग-धन्धा किसी स्थान-विशेष पर केन्द्रित हो तो उससे वे लाभ हो सकते हैं जो प्रायः स्थानीयकरण से होते हैं परन्तु उद्योग-धन्धों के इस प्रकार केन्द्रित हो जाने से उन राष्ट्रीय विशेषताओं और सुविधाओं का जो देश के अन्य भागों में प्राप्त हो सकती है पूरा पूरा उचित उपयोग नहीं किया जा सकता। यदि कारखानें देश के विभिन्न भागों में स्थापित किये जायें तो उन स्थानीय प्राकृतिक सहायक स्रोतों (Resources) का जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाये जा सकते पूर्ण उपयोग किया जा सकता है। स्थानीयकरण से ऐसे सहायक स्रोतों का उपयोग नहीं हो पाता और वे व्यर्थ हो जाते हैं।

(३) स्थानीयकरण से घर अत्यन्त घने बस जाते हैं, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और यातायात तथा स्वच्छता रखना असंभव-सा हो जाता है। यदि किसी उद्योग-धन्धे के अनेक कारखानें एक स्थान पर स्थापित हों तो एक सीमा तक उस स्थान के सब प्राणियों के लिए घर की समस्या हल की जा सकती है; स्वच्छता तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। परन्तु कुछ समय बाद अन्य लोग दूसरे स्थानों से आकर यहाँ बसने लगते हैं और वह स्थान आवश्यकता से अधिक घना बस जाता है। इससे मजूरों के व्यय में वृद्धि हो जाती है साथ ही घर का किराया, यातायात इत्यादि में भी वृद्धि हो जाती है। मिल-मालिकों को मजूरों को अधिक

मजूरी देनी पड़ती है। इससे उत्पादन-व्यय में वृद्धि होती है। बम्बई, कलकत्ता और कानपुर इत्यादि बड़े शहरों में जहाँ उद्योग-धन्धे केन्द्रित हैं ठीक ऐसा ही हुआ है। स्थानीयकरण, उत्पादन के व्यय में वृद्धि होने से और इससे प्रतिस्पर्धा की शक्तियों को कम करके उद्योग-धन्धे को ही हानि पहुँचाता है।

उद्योग-धधों के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण

यह विदित हो चुका है कि यदि साहसी को उसके अपन निश्चय पर छोड़ दिया जाय जो वे उद्योग-धन्धों को प्रायः ऐसे स्थानों पर स्थापित कर देते है जो आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त हों। अधिकतर वे उन स्थानों से विशेष परिचित नही होते जो आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त है और वे परिस्थितियों पर विचार भी भावावेश में ही करते है। कुछ भी हो यह बात स्पष्ट है कि साहसी राष्ट्र के लाभ की अपेक्षा अपने संकीर्ण स्वार्थ की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं। इसलिए राज्य को उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

भारतवर्ष के लिए जो प्रादेशिक योजनाएँ बनायी जा रही हैं वे अपनी सफलता के लिए इस बात पर निर्भर है कि राज्य अपने अर्न्तगत स्थापित होनेवाले उद्योग-धन्धों के कारखानों के वितरण पर नियन्त्रण रख सकने की शक्ति ग्रहण कर लें। पश्चिमी देशों के विपरीत साहसी कुछ विशेष क्षेत्रों में केन्द्रित है जब कि उसके प्राकृतिक आय के स्रोत और श्रम-शक्ति इधर-उधर विखरी पड़ी है। ऐसी अवस्था कार्य की दृष्टि से नहीं वरन् प्रादेशिक दृष्टि से उद्योग-धन्धों के सन्तुलित विकास के लिए हानिकारक है। पश्चिम के उन प्रदेशों की अपेक्षा जिनमें उद्योग-धन्धों का काफी विकास हो चुका है ऐसे देशों में जो औद्योगिक विकास में पिछड़े हुए है, जैसे भारतवर्ष के उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखने की अधिक आवश्यकता है। देश में शीघ्र और नियम से औद्यौगिकरण करने के लिए ऐसा नियन्त्रण अत्यावश्यक है।

स्थानीयकरण को नियमबद्ध करने तथा उसपर नियन्त्रण रखने से केवल नये कारखानों पर प्रभाव पड़ सकता है। यह हो सकता है कि राज्य उन कारखानों को जो किसी विशेष उद्योग-धन्धे से सम्बन्धित हों किसी स्थान-विशेष में स्थापित न करने दे। कुछ स्थानों में अनेक सुविधाएँ प्राप्त करा देने से भी कारखानों को स्वभावतया उनकी ओर आकृष्ट किया जा सकता है। उक्त दोनों ढंग केवल नये उद्योगों को ही प्रभावित कर सकते हैं। पहले से ही स्थापित उद्योग-धन्धे बहुत कम उन स्थानों की ओर खिंच सकते है और बहुत अधिक [illegible] हो जाने से यह लाभदायक सिद्ध न होगा। यदि पहले केवल नये स्थापित उद्योग-धन्धों

पर ही नियन्त्रण रखा जायगा तो जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है पूर्व-स्थापित कारखानें पुराने पड़ते जाते है और उनके स्थान में नये कारखानों को स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार स्थानीयकरण पर नियन्त्रण रखकर अवस्था सुधारी जा सकती है।

राज्य की नीति का यह लक्ष्य होना चाहिये कि कुछ स्थानो को आवश्यकता से अधिक घने बसने से तथा कुछ को खाली होने से रोका जाय। यह विश्वास हो कि यदि युद्ध हो तो देश का उद्योग-धन्धो का जाल आक्रमणकारी द्वारा नष्ट नही किया जा सकेगा और देश में शीघ्र औद्योगिक विकास हो सकेगा। राज्य को ऐसी नीति प्रयोग मे लानी चाहिये जिससे उद्योग-धन्धों का उचित प्रसार हो जिससे देश के प्रत्येक भाग का अधिकतम विकास सम्भव हो सके।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'स्थानीयकरण' का अर्थ क्या है? सक्षेप मे समझाइये।
२. किसी स्थान पर उद्योग-धन्धो की स्थापना करने के लिये उत्पादक को किन-किन सुविधाओं की आवश्यकता होती है? संक्षेप मे समझाइये।
३. क्या भारत के उद्योग-धन्धे उचित स्थानो पर स्थापित किये गये है? उदाहरण सहित अपने विचार प्रकट कीजिये।
४. 'स्थानीयकरण' के लाभ और हानियाँ सक्षेप में बतलाइये।

अध्याय ५१

औद्योगिक संगठन

(Industrial Organisation)

मनुष्य आरम्भ से ही उद्योगी रहा है। पहले उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उद्योग करना पड़ता था फिर अपने परिवार के लिये। तब आवश्यकताएँ कम थी। परन्तु जन-संख्या की वृद्धि के साथ जीवन का बहुमुखी विकास हुआ। आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ श्रम-विभाजन से पूर्ति का प्रयत्न भी किया जाने लगा। रुचि की भिन्नता के फलस्वरूप उत्पादन में विभिन्नता आने लगी। विज्ञान के आविष्कारों की सहायता से उत्तरोत्तर बढ़ती माँग की पूर्ति के लिये बड़े पैमाने में उत्पादन होने लगा। इस विकास के साथ उत्पादन के ढंग व रीतियाँ भी बदलती गयीं, उत्पादन के संगठन और संचालन में परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन के क्रमशः विकास की रूप-रेखा का संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में दिया जायेगा।

उत्पादन जब तक केवल उत्पादक के लिये ही सीमित था उसमें साहस (Enterprise) और लाभ (Profit) का अंश विद्यामान न था। परन्तु जब यही उत्पादक अपने परिवार या व्यक्तियों के अन्य समूह की माँग की पूर्ति करने के लिये उत्पादन करने लगा तब उसमें साहस और लाभ का पर्याप्त अंश आ गया। उसके उत्पादन कार्य में यह आशंका सदा बनी रहती थी कि कदाचित उसकी उत्पादित वस्तु से उपभोक्ता प्रसन्न न हों, उसका विक्रय न हो सके और उसका श्रम, समय और पूँजी व्यर्थ नष्ट हो जाय। इसलिये उसे साहसी कहना कुछ अनुचित न होगा। वह उत्पादन इसलिये भी करता था कि उसे लाभ हो। यह लाभ तभी संभव हो सकता था जब उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसके द्वारा उत्पादित वस्तु का उचित मूल्य में क्रय करें। अतएव उपभोक्ता की रुचि का ध्यान रखना भी उत्पादक के लिये आवश्यक था। इसी आधारभूत उद्देश्य लाभ कमाने की पूर्ति के लिये समय-समय पर विभिन्न औद्योगिक संगठन बनें जिनको निम्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) **वैयक्तिक स्वामित्व** (Individual Ownership) :—इसमें केवल एक व्यक्ति उत्पादन करता है, वही स्वामी, विक्रेता, संगठनकर्त्ता इत्यादि स्वयं होता है।

(२) **साझेदारी** (Partnership) :—इसमें उत्पादन एक से अधिक

व्यक्ति आपस में समझौता करके करते हैं। इसमें एक व्यक्ति का स्वामित्व नहीं होता वरन् साझेदारों का स्वामित्व होता है।

(३) **मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ** (Joint - Stock Company) :– इसमें कई व्यक्ति मिलकर पूंजी लगाते हैं। इसकी उत्पादन-विधि उक्त विधियों से अधिक वैज्ञानिक है। इसमे बड़ी मात्रा में उत्पादन किया जाता है।

(४) **एकाधिकार तथा ट्रस्ट** (Monopoly and Trust) :—इसमें उत्पादन के साधनों और उसकी क्रियाओं पर एक व्यक्ति या संस्था का एकाधिकार होता है। वही उत्पादन सम्बन्धी नीतियाँ इत्यादि निर्धारित करते है। ट्रस्ट अनेक उत्पादकों की सम्मिलित संस्था को कहते हैं।

(५) **राज्य द्वारा उत्पत्ति** (State Enterprise) :—इसमें उत्पादन की सम्पूर्ण क्रियाओं में राज्य का नियंत्रण रहता है। वही उत्पादन करता है और हानि तथा लाभ का स्वयं उत्तरदायी होना है। इसका सारा प्रबन्ध राज्य के द्वारा किया जाता है।

(६) **सहकारी उत्पादन** (Co-operative Organisation) :—इसमें अनेक व्यक्ति मिलकर उत्पादन करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार होते हैं। श्रमिक और उत्पादक में भेद नहीं होता है क्योंकि श्रमिक ही उत्पादक भी होते हैं। कोई शोषक अथवा शोषित नहीं होता। वर्तमान समय में इस प्रकार की संस्थाओं का विषेश महत्व है।

भारतवर्ष की विशेषता यह है कि औद्योगिक संगठन में यद्यपि निरन्तर परिवर्तन होता रहा है परन्तु प्रत्येक प्रकार का संगठन आधुनिक काल में भी अपनी पूर्व गति से काम कर रहा है। यह अवश्य सच है कि उसका प्रभाव-क्षेत्र अवश्य नवीन संगठन के सामने कम होता जा रहा है। उक्त विभिन्न संगठनों का नीचे विस्तार से वर्णन किया गया है :—

वैयक्तिक स्वामित्व (Individual Ownership)

यह औद्योगिक संगठन का पहला रूप है। जब उत्पादक ने अपने तथा अपने परिवार के साथ ही अन्य मनुष्यों के लिये उत्पादन करना आरम्भ किया तब वह एक छोटा साहसी था जिसका उद्देश्य लाभ था। वैयक्तिक स्वामित्व का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक उत्पादन अपने उत्पादन के साधनों का स्वयं प्रबन्ध करता है, उनका इच्छानुसार प्रयोग करता है और उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया का स्वयं संचालन भी करता है। उद्योग के लिये वह पूंजी सूद पर ऋण लेकर एकत्रित करता है या अपनी बचत का प्रयोग करता है। प्रायः यह उद्योग वंशगत भी चलता है। बाप का आरम्भ किया हुआ उद्योग बेटा अपनी योग्यता से आगे बढ़ाता है। उदाहरणार्थ

भूटान (Bhutan) में ऊन के कम्बल व अन्य मूल्यवान वस्तुऐं बुनने का कारोबार लगभग प्रत्येक परिवार करता है जिसका विक्रय वे बड़े-बड़े मेलों में किया करते हैं। यह कारोबार वहाँ के परिवार बहुत समय से करते आये हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं साबुन बनाते और बेचते हैं। उनको इस उद्योग के लिये केवल थोड़े से नौकरों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कपड़ों में छपाई व उनकी रँगाई के उद्योग भी वैयक्तिक स्वामित्व के अन्तर्गत आते हैं। लाभ और हानि दोनों उत्पादक की अपनी योजना और कार्यचातुरी पर निर्भर होते हैं। यदि उसे हानि हो जाती है तो ऋणदाता उसकी सम्पत्ति लेकर या बेचकर उसे पूरा कर लेते हैं। वह अपने उद्योग का स्वामी होता है इसलिये उसकी प्रत्येक बात के लिये वही उत्तरदायी होता है। भारतवर्ष में इस प्रकार के उत्पादक बहुत बड़ी संख्या में हैं। प्रत्येक गाँव के बढ़ई, लोहार, रंगसाज इत्यादि वैय-क्तिक स्वामित्व के अन्तर्गत आते हैं। उनकी अपनी दुकानें होती हैं और अपने ढंग। इसके अन्तर्गत उत्पादन छोटे पैमाने (Small scale) पर होता है।

यह उत्पादक का प्रारम्भिक रूप है। इसके अनेक लाभ और हानियाँ हैं जिनका नीचे वर्णन किया गया है :—

लाभ (Advantages) :—चाहे इसे व्यक्ति की स्वार्थभावना कहा जाय या और कुछ और परन्तु यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के काम की अपेक्षा अपने काम के प्रति विशेष जागरूक होता है। अतएव वैयक्तिक स्वामित्व में अकेला उत्पादक अपने उत्पादन कार्य के प्रति विशेष सजग रहता है। अधिक लाभ कमाने के लिये तथा प्रसिद्धि पाने के लिये वह काफी परिश्रम करता है। प्रत्येक काम को खूब सोच-समझकर करने से उसकी कार्यक्षमता और कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। सम्पूर्ण कारोबार का स्वामी होने से वह जितना सम्भव हो सकता है व्यय में बचत करता है। मितव्ययता करने से ही उसे अधिक लाभ हो सकता है। प्रायः जब गाँव के लोहार को लोहे, ताम्बे इत्यादि की आवश्य-कता होती है तो स्वयं कुछ नौकर या घोड़ा इत्यादि साथ में ले जाकर बाजार से कम से कम मूल्य पर सामान खरीद कर ले जाता है। सब कार्य स्वयं करने व अपने निरीक्षण में कराने से उसको पीछे पछताना नहीं पड़ता है। इसके साथ ही वह अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करता है क्योंकि हानि स्वयं उसे ही सहनी पड़ती है। उत्पादन छोटे पैमाने पर किया जाता है इससे काम का निरीक्षण करने में सरलता रहती है; मजूर पूरी शक्ति से काम करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर आवश्यक परिवर्तन भी आसानी से किये जा सकते हैं। उत्पादक नित्य ग्राहकों के सम्पर्क में

आता रहता है, उनकी आवश्यकता, रुचि इत्यादि से भली प्रकार परिचित रहता है और उसी के अनुरूप पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। उत्पादक अपनी कार्यकुशलता और इमानदारी से अपने ग्राहकों व उपभोक्ताओं का क्षेत्र विस्तृत कर सकता है, और इससे उसे लाभ होता है। भोट के निवासी ग्राहक की रुचि के अनुकूल कम्बल, दन, चुटके इत्यादि कई प्रकार के ऊनी माल का उत्पादन करके काफी धन कमाते है और उनकी वस्तुओं की माँग सदा बढती ही जाती है। कोई भी व्यक्ति थोड़ी सी पूँजी इकट्ठा करके आसानी से उत्पादन करा सकता है। वह निर्धन लोहे व ताम्बे का काम करने वाले मजूरों को वेतन पर नियुक्त कर सरलता से बर्तन बनाने का उद्योग आरम्भ कर सकता है और जब इच्छा हो या जब समय अनुकूल न हो तो उत्पादन बन्द भी कर सकता है। संगठन एवम् संचालन की इस सरलता से वैयक्तिक स्वामित्व के अन्तर्गत नये उत्पादक आते रहते है और कुछ असफल होकर उत्पादन बन्द कर देते है।

इसकी सीमाएँ (Its Limitations) :—आधुनिक युग मशीन का युग है। उत्पादन बड़े पैमाने में किया जाता है तथा प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम होने से उपभोक्ता को आवश्यक वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर प्राप्त हो जाती हैं। यदि ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति थोड़ी सी पूँजी से एक छोटा सा कारखाना खोलकर उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करना आरंभ कर दे तो उसे बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक स्वामित्व के अनुसार उत्पादन करना आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। मशीनों का प्रयोग इसके मार्ग में सबसे बाधक है। इससे उत्पादन छोटी मात्रा में होता है जिससे आवश्यकतानुकूल पूर्ति हो सकना सम्भव नहीं है। उपभोक्ता अपनी माँग की पूर्ति के लिये अधिक समय लगाना नहीं चाहता क्योंकि मशीनों द्वारा उत्पादित माल उसे शीघ्र ही कम मूल्य में प्राप्त हो जाता है। अकेला उत्पादक अधिक पूँजी एकत्रित नहीं कर सकता है जिससे वह कोई बड़े साहस के काम में भी द्रव्य नहीं लगा सकता है। वह उत्पादन में अपनी अधिकांश पूँजी लगा देता है। यदि एक बार उद्योग असफल हो जाय तो अपरिमित दायित्व (Unlimited Liabilities) के कारण सदा के लिये उसका उत्साह मिट जाता है। यह कहा जा चुका है कि कहीं कहीं इस प्रकार का उत्पादन वंशगत चला करता है। यदि पुत्र योग्य न निकला तो यह संभव है कि पिछले कई वर्षों में संगठित समस्त कारोबार वह क्षण भर में नष्ट कर दे। यद्यपि इस प्रकार के उत्पादन का क्षेत्र संकुचित होता है तथापि उसमें निरीक्षण का विशेष महत्व है। अकेला होने के कारण उत्पादक शीघ्र सभी साधनों को जुटा नहीं पाता है। समय-समय पर किसी-न-किसी

वस्तु की आवश्यकता उसे लगी रहती है। आधुनिक परिस्थितियों में सभी वस्तुओं का सरलता से प्राप्त हो सकना सम्भव नही है। इससे उत्पादक का बहुत समय वस्तुओं का संग्रह करने में ही बीत जाता है और समय पर पूर्ति नहीं कर पाता है। अभावग्रस्त होने से वह स्थिर होकर किसी विशेष बात को पूरी तरह सोच-समझ भी नही सकता है, इससे उत्पादन के हर पक्ष में बुरा प्रभाव पड़ता है।

इन सीमाओं से स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन की यह प्रणाली अब उपयोगी नही रही। इसके आधार पर बडी वस्तु के उत्पादन का विचार करना केवल स्वप्न देखना है। यथार्थ में वैयक्तिक स्वामित्व के अनुसार उत्पादन करने का विचार करना अपने को व अपने देश को फिर से प्राचीनता की ओर घसीटना होगा जिसकी सफलता की सम्भावना कम है।

साझेदारी (Partnership)

जब अकेला उत्पादक वैयक्तिक स्वामित्व के अनुसार लोगों की माँग की पूर्ति न कर सका तब उत्पादन क्षेत्र मे साझेदारी (Partnership) का आरम्भ हुआ। साझेदारी मे उत्पादकों की संख्या एक से अधिक होती है। भारतवर्ष में साझेदारी का खूब चलन है।

कुछ व्यक्ति जब किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिये अथवा किसी नये उद्योग का आरम्भ करने के लिये परस्पर सहमत हो जाते है और अपनी योग्यतानुसार उसके लिये द्रव्य इत्यादि लगाते है तो उसे साझा करना कहते है। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक साझेदार बराबर द्रव्य इत्यादि लगाये। यह प्रत्येक साझेदार की इच्छा पर निर्भर रहता है। यदि कोई साझेदार अधिक द्रव्य लगा सकता हो वरन् उद्योग सम्बन्धी अपनी विशेष योग्यता से सहायक होना चाहता हो तो वह भी उसमें साझेदार हो सकता है। अर्थात् साझेदार दो प्रकार के होते है–(१) जो पूँजी लगाते हैं और (२) जो अपनी विशेष योग्यता से सहायता करते है। पहले प्रकार के साझेदार उद्योग में हुई हानि को सहते है और ऋण को अपनी सम्पत्ति से चुकाते है। दूसरे प्रकार के साझेदारो को उद्योग की व्यवस्था इत्यादि के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है।

प्रायः छोटे उद्योग-धन्धे साझेदारी से ही चलते है। भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव और शहर मे साझेदारी में चलने वाले धन्धे दृष्टिगोचर होंगे। जिन कार्यो को पहले अकेला उत्पादक अपनी शक्ति से करता था वही काम अधिक उत्पादन करने के लिये और उद्योग की स्थिति अधिक दृढ़ करने के लिये साझेदारी के द्वारा चलाया जाता है। जिस प्रकार अकेला उत्पादक

हानि और लाभ के प्रति पूर्ण उत्तरदायी था उसी प्रकार साझेदारों में भी प्रत्येक साझेदार पूर्ण उत्तरदायी होता है। यदि किसी कारणवश उद्योग म हानि हो गयी तो उसकी पूर्ति के लिये प्रत्येक साझेदार को तैयार रहना पड़ता है। यह बहुत संभव है कि अनेक साझेदारो में कोई काफी धनी और कोई निर्धन भी हो। यदि उद्योग की असफलता से ऋण कुल पूंजी से अधिक देना है तो धनी साझेदार को अधिक हानि उठानी पड़ेगी क्योकि निर्धन साझेदार ऋण चुकाने मे कुछ विशेष सहायता नही कर सकता है। इसीलिये कभी कभी साझेदारी मे धनी व्यक्ति दिवालिये भी हो जाते है और निर्धन अपनी रही-सही पूंजी से भी हाथ धो बैठते हैं। साझेदारी में पूंजी अधिक मात्रा में एकत्रित की जा सकती है जिससे उद्योग का विस्तार किया जा सकता है।

साझेदारी अधिकतर परिवार-क्षेत्र में चलती है। दो या अधिक भाई या अन्य सम्बन्धी मिलकर किसी उद्योग-धन्धे मे साझेदार हो जाते हैं। इसमें शर्ते बहुत ढीली-ढाली होती है। आवश्यकतानुसार परस्पर समझौता करके साझेदार एकाएक अपनी उत्पादन-नीति बदल सकते है, उसकी मात्रा को घटा-बढ़ा सकते है या अन्य किसी वस्तु का उद्योग भी उसमें सम्मिलित कर सकते है। साझेदारी से वर्तमान में भी कई कारखानें चल रहे है:—आटा पीसने की मिल का काम प्रायः प्रत्येक शहर में किया जाता है। इससे साझेदारों को काफी लाभ होता है। फर्निचर का कारखाना, कपड़ों की रंगाई-छपाई का उद्योग, छापेखाने और छोटे समाचारपत्रों का काम इत्यादि सभी साझेदारी में चलते है। इसके लाभ और हानियों का वर्णन नीचे किया गया है:—

लाभ:—वैयक्तिक-स्वामित्व के अनुसार उत्पादन करने में जिन सीमाओं (Limitations) का सामना करना पड़ता है उनमें से अधिकांश की पूर्ति साझेदारी द्वारा उत्पादन करने से दूर हो जाती है। अकेला उत्पादक पूंजी की कमी से अपने उद्योग का विस्तार नही कर सकता है परन्तु साझेदारी में पूंजी पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है। छोटे उद्योग-धन्धे का विस्तार किया जा सकता है। उत्पादन की मात्रा बढाई जा सकती है। बड़े पैमाने में उत्पादन करने से उत्पादक को अनेक लाभ होते है और अनेक सुविधाएँ मिलती है। उद्योग-धन्धे को चलाने के लिये स्थापित अपने उसी कार्यालय से बिना अधिक व्यय किये विस्तृत-उद्योग-धन्धे का कार्य भी चलाकर, कच्चे माल तथा उत्पादन के अन्य साधनो का पूर्ण उपयोग करके और कुशल श्रमिक और यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त करके, उत्पादक अपने अतिरिक्त-व्यय (Overhead Cost) में पर्याप्त बचत कर लेते हैं। इस प्रकार की सुविधाएँ, जिन्हें आन्तरिक और

बाह्य मितव्ययता (Internal and External Economics) कहते हैं, बड़े पैमाने में उत्पादन करने से प्राप्त होती हैं। साझेदारी में वह व्यक्ति भी साझेदार हो सकता है जिसके पास धन तो अधिक नहीं है वरन् उद्योग सम्बन्धी विशेष योग्यता है। वह अच्छा संगठनकर्ता और व्यवस्थापक हो सकता है, उद्योग सम्बन्धी टेकनिकल ज्ञान हो सकता है या कुशल ड्राफ्टर हो सकता है इत्यादि। इससे उद्योग में कुशल व्यक्ति आ सकते हैं जिससे उत्पादन में, श्रमिकों की कार्यक्षमता और कार्यकुशलता में काफी वृद्धि हो सकती है। मशीन के साथ ही कुशल श्रमिकों की संख्या बढ़ सकती है। साझेदारी की शर्तें ढीली-ढाली होती हैं जिससे उनमें शीघ्र झगड़ा इत्यादि होने का भय नहीं रहता है। साथ ही प्रत्येक साझेदार चाहता है कि अधिक नफा कमाया जाय। इस कारण समय-समय पर आवश्यकतानुसार वे परस्पर विचार-विमर्ष कर सकते हैं, नयी लाभदायक नीति निर्धारित कर सकते हैं। प्रत्येक साझेदार उद्योग के हानि-लाभ के प्रति उतरदायी होता है। अतएव वह सदैव सजग रहकर उद्योग की गतिविधि का निरीक्षण कर सकता है। एक से अधिक साझेदार होने से उत्पादन सम्बन्धी अनेक कार्यों को वे परस्पर बाँट सकते हैं जिससे काम शीघ्र और सरलता से हो सके और साझेदार को अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान हो। वैयक्तिक-स्वामित्व के अनुसार अकेले उत्पादक को अपने ग्राहकों की नयी रुचियों तथा नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था, पूँजी के अभाव में वह शीघ्र अपने साधनों को बदल भी नहीं सकता था और इससे उसे गहरी हानि उठानी पड़ती थी। परन्तु साझेदारी में पूँजी का अभाव नहीं रहता है और अन्य आवश्यक साधन भी सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं जिससे उत्पादक उपभोक्ता की रुचि के अनुकूल उत्पादन कम समय में, कम व्यय पर कर सकता है। इस कारण उसका प्रभाव-क्षेत्र शीघ्र समाप्त नहीं हो जाता। आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने के साथ ही बड़ी मात्रा में उत्पादन करने से वस्तुओं का मूल्य भी कम होता है जिसका प्रभाव उपभोक्ता और उत्पादन दोनों में पड़ता है। इसमें सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उत्पादन-क्षेत्र में श्रम-विभाजन की प्रणाली से काम लिया जा सकता है जो बड़ी मात्रा में उत्पादन की एक विशेषता है। इससे सारे कारखानें के काम का निरीक्षण सरलता से किया जा सकता है, प्रत्येक श्रम की इकाई (Unit) की उत्पादन-शक्ति का पूर्ण उपयोग हो सकता है और उत्पादक के लाभ की मात्रा बढ़ सकती है।

हानियाँ (Disadvantages):—द्रव्य का मनुष्य के चरित्र पर बहुत शीघ्र प्रभाव पड़ जाता है। उद्देश्य में समानता होते हुए भी एक ही कार्यक्षेत्र में प्रायः संघर्ष होता है जिसके मूल में स्वार्थ होता है। अधिक द्रव्य स्व में

पाने की इच्छा से उत्पादन-क्षेत्र में संघर्ष अधिक होते है। यही दशा साझेदारी की भी होती है। साझेदारों में प्रायः मित्रता अधिक नहीं रहती। प्रत्येक साझेदार कम से कम काम करके अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है। यदि उत्पादन-क्षेत्र में किसी एक साझेदार का अधिक प्रभाव हुआ है तो अन्य साझेदार ईर्ष्या, द्वेष से उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचते है। उनका सदा यही प्रयत्न रहता है कि उसका प्रभाव किसी प्रकार कम किया जाय या उसे हानि पहुँचाई जाय। साझेदारी की नींव ही साझेदारों का परस्पर एकमत होना और एकता है। अधिकतर इसी के अभाव में सारा कारोबार नष्ट हो जाता है। साझेदारी की अनिश्चितता का एक कारण किसी साझेदार की मृत्यु हो जाना या दिवालिया हो जाना भी है। समझौते के अनुसार उक्त दोनों में से किसी एक कारण पर सारा उद्योग समाप्त हो जाता है। इसके साथ ही साझेदारों का दायित्व अपरिमित होता है। यदि उद्योग में बड़ी हानि हो जाय तो अधिक धनी साझेदार को अधिक हानि उठानी पड़ती है। इससे पूँजीपति साझेदारी मे अपना द्रव्य लगाने से हिचकते है जिससे उद्योग की आर्थिक स्थिति दृढ़ नही हो पाती और उसका विस्तार भी नही किया जा सकता है। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकती जिसका प्रभाव अन्त में उपभोक्ताओं पर पड़ता है। उद्योग अपना प्रभाव स्थिर नहीं रख सकता है। इससे उत्पादकों अर्थात् साझेदारों को हानि होती है। वर्तमान उत्पादन प्रणाली में पूँजी का विशेष महत्व है। जिस उद्योग में पूँजी की मात्रा कम होगी उसका अपनी अस्थिरता के कारण अधिक टिक सकना असम्भव हो जायेगा। बढती हुयी माँग की पूर्ति के लिये और प्रतिस्पर्धा (Compitition) का सामना कर सकने के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है। साझेदारी में पूँजी की एक निश्चित मात्रा होती है—साझेदारों द्वारा लगायी गयी पूँजी। उसमे वृद्धि बहुत कम होती है और अधिक पूँजी प्राप्त करने के अन्य स्रोत नही होते। अतएव साझेदारी द्वारा उत्पादन का कार्य सीमित होता है, उत्पादन के साधनो मे शीघ्र कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है जिससे एक सीमा के बाद वह उपभोक्ता की माँग और उसकी रुचि के अनुसार नही चल सकता है। तात्पर्य यह है कि उत्पादकों को हानि होने की आशंका होती है। यदि पूँजी बढ़ाने के लिये साझेदारों की संख्या बढा दी जाय तो उनका परस्पर सहमत होना भी एक समस्या हो जाती है और जिसके अभाव में उत्पादन एक दिन भी नहीं किया जा सकता है। आधुनिक उत्पादन-प्रणाली में उत्पादक को राष्ट्रीय ही नही अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना होता है। साझेदारी से चलनेवाले उद्योगों में इतनी शक्ति नहीं होती है इसलिए आधुनिक काल में वे पिछड़ते जा रहे है।

मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ (Joint Stock Companies) :—जैसे-जैसे समाज में नयी आवश्यकताएँ पैदा होती जाती हैं और उनके अधिक उत्पादन की माँग बढ़ती जाती है उत्पादन-व्यवस्था में परिवर्तन आता जाता है। प्रत्येक उत्पादक सदा इस प्रयत्न में रहता है कि माँग की अधिकांश पूर्ति वह स्वयं करे तथा विदेशी वस्तुओं का अपने बाजार में प्रभाव न पड़ने दे। इसके लिये उसे नवीन उत्पादन-विधियों, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग करना पड़ता है; श्रम-विभाजन और बड़े पैमाने के उत्पादन की सभी सुविधाओं को जुटाना पड़ता है और पर्याप्त मात्रा में पूँजी एकत्रित करनी पड़ती है। यह सब प्राप्त कर लेने के बाद वह समय के साथ चल सकता है अन्यथा उसका पिछड़ना और हानि सहना अनिवार्य है। आधुनिक माँग की वृद्धि और रुचि की भिन्नता ने बड़े-बड़े उद्योगों, कारखानों और अनेक ऐसी उत्पादक-संस्थाओं को जन्म दिया है जिनकी स्थापना में लाखों रुपयों की आवश्यकता होती है। इतना रुपया लगाकर उत्पादक बनना एक व्यक्ति की शक्ति के बाहर की बात है। इसी की पूर्ति के लिये उत्पादन-क्षेत्र में मिश्रित पूँजी की कम्पनियों (Joint Stock Companies) का आगमन हुआ।

ऐसी कम्पनियों की स्थापना अन्य संस्थाओं की तरह आसानी से नहीं हो सकती है। इसकी कार्य-प्रणाली भी अधिक जटिल है। ये कम्पनियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—(१) निजी लिमिटेड कम्पनियाँ (Private Limited Companies) और (२) सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियाँ (Public Limited Companies)।

निजी लिमिटेड कम्पनियाँ :—साझेदारी के अनुसार उत्पादन करके आधुनिक माँग की पूर्ति नहीं की जा सकती थी। यदि उसकी पूँजी बढ़ाने के लिये साझेदारों की संख्या बढ़ायी जाती तो उनका परस्पर एकमत हो सकना सम्भव न था। साथ ही साझेदारी के अन्तर्गत उद्योग का विस्तार यदि अधिक किया जाता तो उसकी उचित व्यवस्था हो सकना भी संभव नहीं था और उसके लिये द्रव्य की आवश्यक मात्रा को संग्रह कर सकना भी संभव नहीं था। अतएव इन्हीं सब कठिनाइयों को दूर करने और उद्योग का विस्तार करने के निमित्त उत्पादकों की एक नवीन संस्था का जन्म हुआ जिसे निजी लिमिटेड कम्पनियाँ कहते हैं। यह वास्तव में साझेदारी का अधिक व्यवस्थित और विकसित रूप है। साझेदार उस उद्योग को जिसे उन्होंने जन्म दिया और अपनी पूँजी तथा परिश्रम से जिसको बढ़ाया एकदम समाप्त नहीं होने देते हैं। जब वे साझेदारी के अनुसार उसका प्रबन्ध नहीं कर सकते हैं तब कुछ नये साझेदारों को मिलाकर अपने उद्योग को निजी लिमिटेड कम्पनियों के रूप में बदल देते हैं

रजिस्ट्री हो जाने के बाद कम्पनी कानूनी हो जाती है। उसकी व्यवस्था की विधियाँ बदल जाती हैं परन्तु उसके पहले के साझेदार अब भी उसका नियन्त्रण करते है। इन कम्पनियों के सदस्यों की संख्या कम से कम दो और अधिकतम पचास है।

कम्पनियों का सारा शासन तथा नियन्त्रण इन्हीं सदस्यों के हाथ में होता है। वे कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकते है और उन्हें अलग भी कर सकते हैं। वे स्वयं तो ऊँचे पदाधिकारी होते ही है अपने परिवार के सदस्यों या अन्य सम्बन्धियों को अच्छे पदों में नियुक्त करते हैं। उद्योग का काफी विस्तार हो जाता है, उत्पादन काफी बड़े पैमाने में होता है है और लाभ की मात्रा भी काफी बढ़ जाती है। परन्तु ऐसी कम्पनियों का जब अधिक विस्तार हो जाता है और उसकी व्यवस्था के लिये पर्याप्त कोष नहीं होता है (क्योंकि पूंजी प्राप्त करने के स्रोत सीमित होते है) तब ये कम्पनियाँ सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियाँ बना दी जाती हैं।

सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियाँ:—इन कम्पनियों की स्थापना के लिये विशेष कानूनी कार्यवाही करनी पड़ती है। इस प्रकार की कम्पनियों की सारी योजना, कुल अनुमानित पूंजी, इत्यादि का पूरा विवरण मिश्रित पूँजी की कम्पनियों के रजिस्ट्रार को देना पड़ता है और कम्पनी की रजिस्ट्री करानी पड़ती है। इसकी पूंजी हिस्से बेचकर प्राप्त की जाती है। कुल अनुमानित पूँजी का एक निश्चित भाग एकत्रित करके ये कम्पनियाँ उत्पादन कार्य आरम्भ करती हैं। पूंजी एकत्रित करने के लिये बेचे जाने वाले हिस्सों का खूब प्रचार किया जाता है; पूंजीपतियों को उनकी पूंजी की सुरक्षा का और अधिक लाभ का विश्वास दिलाया जाता है। हिस्सेदार यदि चाहे तो अपने हिस्से का पूरा मूल्य एक ही समय में चुका सकता है अन्यथा उसका कुछ भाग पहले देकर शेष जब कम्पनी माँग करे तब दे सकता है। इससे हिस्सेदारों को सुविधा भी होती है और कम्पनी की आर्थिक स्थिति की दृढ़ता पर उनका विश्वास भी बना रहता है।

इसके सदस्यों की संख्या कम से कम सात होनी चाहिये और अधिकतम हिस्सेदारों की संख्या पर कोई बन्धन नही है। हिस्से सब एक ही मूल्य के नहीं होते हैं इससे हिस्सेदारों की संख्या में काफी वृद्धि होती है। कम्पनी की स्थापना के पश्चात् सब हिस्सेदारों की एक सभा होती है जो अपने संचालकों (Directors) का चुनाव करती है। ये संचालक सब हिस्सेदारों के प्रतिनिधि के रूप में उद्योग का संचालन-संगठन करते हैं और अनुकूल नीतियाँ निर्धारित करते है। कार्य की दृष्टि से इनका बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। इनके हाथ में हिस्सेदारों की बहुत बड़ी पूंजी का उपयोग होता है और अपने कार्यों पर उनका विश्वास।

इन कम्पनियों का आधुनिक उत्पादन-प्रणाली में बहुत बड़ा महत्व है। इनकी उत्पादन-शक्ति बहुत अधिक होती है और आकस्मिक माँग की पूर्ति भी ये बहुत शीघ्र कर सकते है और विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकने मे समर्थ होते है।

यह पहले कहा जा चुका है कि इन कम्पनियों के लिये आवश्यक पूँजी हिस्से बेचकर प्राप्त की जाती है। नीचे इन हिस्सों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

हिस्से (Shares) :—यह एक प्रकार का प्रमाणपत्र है जिसके आधार पर पूँजीपति इत्यादि किसी उद्योग-धन्धे में रुपया लगाते है। इनको खरीदा-बेचा जा सकता है। इनको खरीदकर कोई भी व्यक्ति कम्पनी के हानि-लाभ का हिस्सेदार हो जाता है। कम्पनी किसी उद्योग की स्थापना के लिये हिस्से बेचकर जो कुल पूँजी एकत्रित करती है उसे हिस्सों की पूँजी (Share Capital) कहते है। ये हिस्से कभी-कभी बराबर मूल्य के होते है और कभी विभिन्न मूल्यों के। मुख्यतः इन्हे तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) रियायती हिस्से (Preference Shares), (२) साधारण हिस्से (Ordinary Shares) और (३) विलम्बित हिस्से (Deferred Shares)।

रियायती हिस्से :—इन हिस्सों की कुल पूँजी का एक निश्चित प्रतिशत प्रतिवर्ष कम्पनी को इनके हिस्सेदारों को देना पड़ता है। कम्पनी सबसे प्रथम इनके निश्चित भाग का भुगतान करके शेष भाग में से अन्य साधारण हिस्सेदारों को उनका डिविडेन्ड (Dividend) देती है। रियायती हिस्सों पर दिया जाने वाला डिविडेन्ड चाहे कम्पनी को लाभ कम भी हो अन्य हिस्सेदारों से पहले पूरी मात्रा में चुकाना पड़ता है। यह रियायती हिस्से दो प्रकार के होते हैं :—(१) साधारण रियायती हिस्से (Ordinary Preference Shares) और (२) जमा होने वाले रियायती हिस्से (Cumulative Preference Shares)।

साधारण रियायती हिस्से :—इनके हिस्सेदारो को निश्चित भाग का कम्पनी को लाभ होने पर सबसे प्रथम भुगतान किया जाता है। परन्तु यदि किसी कारणवश कम्पनी को हानि उठानी पड़ी तो उस वर्ष इन हिस्सेदारों को इनके निश्चित भाग का भुगतान नहीं किया जाता है। भुगतान उसी अवस्था में किया जायेगा जब कम्पनी को लाभ हो।

जमा होनेवाले रियायती हिस्से :—इनके हिस्सेदारों का भुगतान भी साधारण रियायती हिस्सेदारों की तरह ही होता है। परन्तु इसमें विशेषता यह है कि यदि कम्पनी को हानि हो जाय तो इनके हिस्सेदारों

का अपने निश्चित भाग का भुगतान पाने का अधिकार साधारण रियायती हिस्सेदारों की तरह समाप्त नहीं हो जाता वरन् वह अधिकार सुरक्षित रहता है और दिया जाने वाला निश्चित डिविडैन्ड प्रतिवर्ष कम्पनी में इनके हिस्सेदारों के नाम पर जमा होता जाता है और लाभ होने पर उसका एक साथ भुगतान किया जाता है। यदि तीन वर्ष लगातार हानि सहने के बाद कम्पनी को लाभ हो तो सबसे प्रथम इनके हिस्सेदारों को इनके तीनों वर्षो के जमा डिविडैन्ड का और उस वर्ष के डिविडैन्ड का एक साथ भुगतान करना पड़ेगा। अपने इसी गुण के कारण इन्हें जमा होने वाले रियायती हिस्से कहा जाता है।

इन रियायती हिस्सों के हिस्सेदारों को अधिक जोखिम (Risk) नही उठाना पड़ता है। अन्य प्रकार के हिस्सों से ये अधिक सुरक्षित हैं। यदि किसी कारण से कम्पनी 'फेल' हो जाय तो प्राप्त पूँजी में से हिस्से-दारों में सबसे प्रथम इनके हिस्सेदारों का भुगतान कर दिया जाता है। परन्तु जोखिम कम होने से इन हिस्सों से लाभ भी कम होता है क्योंकि इन पर डिविडैन्ड की दर प्रतिशत अन्य हिस्सों की दर प्रतिशत से कम होती है।

साधारण हिस्से :—कम्पनी के हिस्सेदारों में ये द्वितीय श्रेणी के हिस्से होते हैं। सर्वप्रथम कम्पनी कुल लाभ में से रियायती हिस्सों के निश्चित भागों का कुल भुगतान कर देती है और फिर शेष में से साधारण हिस्से-दारों को उनका डिविडैन्ड दिया जाता है।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियों का आधार ही ये साधारण हिस्से होते हैं। इनके हिस्सेदारों को रियायती हिस्सेदारों से अधिक जोखिम उठाना पड़ता है। इन हिस्सों पर दिये जाने वाले डिविडैन्ड की दर प्रतिशत भी अधिक होती है इस कारण इनसे लाभ भी अधिक होता है। इसमें जोखिम और लाभ की मात्रा प्रायः बराबर (balanced) है। कारण इनके हिस्सेदारों की संख्या भी अन्य प्रकार के हिस्सेदारों से काफी अधिक होती है और मिश्रित पूँजी की कम्पनियों की कुल पूँजी का अधिकाश भाग इन्ही हिस्सों को बेचकर एकत्र किया जाता है।

विलम्बित हिस्से :—इन हिस्सों को तीसरी श्रेणी में रखा जाता है। कम्पनी अपने लाभ मे से पहले उक्त दोनों प्रकार के हिस्सेदारों के डिवि-डैन्ड का भुगतान कर देती है और तब अन्तिम भुगतान इन विलम्बित हिस्सों का ही होता है।

इन हिस्सों का मूल्य कम होता है और अधिकतर कम्पनी के आयो-जक या निर्माणकर्त्ता इन हिस्सों की अधिक संख्या स्वयं खरीद लेते हैं और अधिक वोटों (Votes) के अधिकारी बन जाते हैं। कम्पनी

के कानूनों मे सुधार होने से पहले कम्पनी के आयोजक इसी रीति से वोटों पर अपना नियन्त्रण रखते थे और सचालकों इत्यादि के चुनाव में स्वयं चुन लिये जाते थे या अपनी इच्छानुकूल व्यक्तियों को चुनवा सकते थे। यद्यपि इन हिस्सों का मूल्य कम होता है परन्तु इन पर लाभ अधिक होता है।

मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ उक्त प्रकार के हिस्से बेचकर कम्पनी के लिये पूंजी एकत्रित करती हैं। अपनी आर्थिक स्थिति को दृढ़ रखने के लिये कम्पनी को अपने हिस्सेदारों में अपने प्रति विश्वास बनाये रखना पडता है और नियमित रूप से भुगतान करके वे अन्य पूँजीपतियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते है।

इस प्रकार के हिस्सों को बेचने से जो कुल पूँजी प्राप्त होती है उसे हिस्सों की पूँजी (Share Capital) कहते हैं। पूँजी कई प्रकार की होती है—(१) निर्धारित पूँजी (Authorised Capital); (२) निर्गमित पूँजी (Issued Capital); (३) प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) और (४) परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital)।

निर्धारित पूंजी :—मिश्रित पूँजी की कम्पनी की स्थापना करने से पहले आयोजकों को कम्पनी की पूरी योजना और उसके विभिन्न विवरण मिश्रित पूँजी की कम्पनी के रजिस्ट्रार को देने पड़ते हैं। कम्पनी के आयोजकों को उनमें यह निश्चित रूप से बताना पडता है कि कम्पनी अपने हिस्सों इत्यादि के द्वारा अधिकतम कितनी पूँजी एकत्रित करेगी। इसी अधिकतम पूंजी को कम्पनी की निर्धारित पूंजी (Authorised Capital) कहते हैं। कम्पनी स्थापित हो जाने के बाद इस अधिकतम पूँजी की मात्रा से अधिक पूँजी एकत्रित नही कर सकती है।

निर्गमित पूंजी :—कम्पनी के आयोजकों को प्रायः पूँजीपतियों तथा अन्य लोगो को यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि कम्पनी की योजना कोई धोखा नहीं है। इसलिये हिस्सों को बेचने में उन्हें बड़े धैर्य से काम लेना पड़ता है। वे कम्पनी के लिये निर्धारित पूँजी को एक बार में इकट्ठा नही कर सकते हैं। इस कारण वे आवश्यक पूँजी को जो निर्धारित पूँजी का एक निश्चित भाग होता है पहले इकट्ठा करते हैं। इस पूँजी को निर्गमित पूंजी (Issued Capital) कहते हैं। कम्पनी की स्थापना करने के लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है।

प्रार्थित पूंजी :—उक्त निर्गमित पूँजी को एकत्रित करने के लिये जो हिस्से बेचे जा चुके है उनकी कुल इकट्ठा पूंजी को प्रार्थित पूंजी (Subscribed Capital) कहते है।

परिदत्त पूंजी :—यह पहले बताया जा चुका है कि हिस्से खरीदने

वालों से आयोजक एक ही बार में पूरी पूँजी इकट्ठा नही कर लेते हैं। कुछ व्यक्ति अधिक रुपयों के हिस्से खरीदना चाहते हैं परन्तु रुपया एकदम नही दे सकते हैं। इनको सुविधा देने के लिये यह प्रबन्ध किया जाता है कि हिस्सों की पूँजी का कुछ भाग प्रार्थित पूँजी के रूप में इकट्ठा कर लिया जाता है और शेष के लिये कम्पनी आवश्यकता होने पर हिस्सेदारों से माँग कर सकती है। हिस्सेदार खरीदे हुए हिस्सों का जो मूल्य वास्तव मे चुका देते हैं उसे परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) कहते है। इसमें वह पूँजी सम्मिलित नही की जाती है जो हिस्सेदार भविष्य में देना चाहते है।

मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों के हिस्सों का बराबर मूल्य नही होता है। हिस्से विभिन्न मूल्यों के होते हैं इससे बड़े-बड़े पूँजीपति और साधारण मध्यम वर्ग के लोग भी हिस्से खरीद कर किसी भी कम्पनी के हिस्सेदार हो सकते हैं। हिस्सों के विक्रय-क्षेत्र के व्यापक होने मे प्रायः बहुत-सी ऐसी पूँजी उत्पादन कार्यो के लिये इकट्ठा की जा सकती है जो इस सुविधा के अभाव में व्यर्थ व्यय हो जाती है। बहुत से ऐसे व्यक्ति जो उद्योगों में पूँजी लगाने से घबराते हैं हिस्सों के रूप मे पूँजी को सुरक्षित समझकर तथा अधिक हानि न होने के भय से सहर्ष पूँजी उत्पादन कार्यो में लगाते है। ये उद्योग की लाभ-हानि के हिस्सेदार बन जाते हैं परन्तु इन्हें उद्योग का क्रियाशील (Active) सदस्य नही कहा जा सकता है क्योंकि ये उत्पादन के प्रबन्ध एवम् संगठन-संचालन मे सक्रिय भाग नही लेते हैं। कम्पनी के स्थापित हो जाने के कुछ समय पश्चात समस्त हिस्सेदारों की एक सभा होती है जिसमें कम्पनी का संगठन-संचालन करने के लिये सचालकों (Directors) का चुनाव किया जाता है जो हिस्सेदारों के प्रतिनिधि के रूप में उत्पादन कार्य में सक्रिय भाग लेते है, नीति निर्धारित करते हैं और प्रायः अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य करते हैं। और हिस्सेदार जो दूर-दूर के स्थानों मे रहते हैं इस विषय में उदासीन रहते हैं।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियों की बढ़ती हुयी संख्या इस बात का प्रमाण है कि ये आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के लिये अधिक उपयुक्त है और समय के साथ अपने में परिवर्तन कर सकने की क्षमता रखती है। इनकी संख्या में वृद्धि होने का एक कारण इनके हिस्सों का बेचा जा सकना भी है। यदि किसी हिस्सेदार का उद्योग की सफलता पर से विश्वास उठ जाय या वह उसकी प्रगति से सन्तुष्ट न हो या किसी कारणवश नकद द्रव्य की उसे आवश्यकता हो तो वह बड़ी सरलता से स्टॉक एक्सचेज (Stock Exchange) नामक संस्था के द्वारा अपने हिस्सो को बेच सकता है।

हिस्सों के मूल्य में घट-बढ़ होती रहती है और उसी के अनुरूप हिस्सेदार को अपने हिस्सों का मूल्य मिल जाता है। इसके साथ ही हिस्सेदार कम्पनी की बहुत बड़ी हानि होने पर केवल अपने हिस्सों के मूल्य के बराबर पूँजी खोता है। उसका इससे कोई सम्बन्ध नही होता है कि कम्पनी की पूँजी से ऋण का भुगतान किया जा सकता है या नही। अर्थात् हिस्सेदार का दायित्व परिमित होता है जो इन कम्पनियों के विकास का महत्वपूर्ण कारण है।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियों से लाभ और हानि का नीचे संक्षिप्त विवरण दिया जाता है:—

लाभ :—आधुनिक उत्पादन-प्रणाली में बड़ी मात्रा में उत्पादन करने का विशेष महत्व है। देशीय व अन्तर्देशीय प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिये उत्पादक को कम से कम व्यय पर अधिकतम उत्पादन करना आवश्यक होता है। इसके लिये मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ अधिक उपयुक्त होती है। हिस्सों को बेचकर बड़ी मात्रा में उत्पादन कर सकने योग्य पूँजी को सरलता से एकत्रित किया जा सकता है। हिस्सेदारों को अधिक पूँजी लगाने का जोखिम नही उठाना पड़ता है। वे, जब उन्हें द्रव्य की आवश्यकता हो, अपने हिस्सों को स्टॉक एक्सचेंज के द्वारा बेच सकते ह। इससे पूँजी प्राप्त करने में विशेष बाधा नही पड़ती है। थोड़े मूल्य के भी हिस्से होने से अधिक व्यक्ति हिस्सेदार बन सकते है। इसमे विशेष बात यह होती है कि प्रत्येक हिस्सेदार का दायित्व परिमित होता है। अर्थात् यदि कम्पनी को गहरी हानि हो जाय तो ३०० रुपये के हिस्सेदार को अपने हिस्से के मूल्य से अधिक नही खोना पड़ेगा। यदि हिस्सेदार अपने हिस्से के मूल्य में से १५० रुपया कम्पनी को दे चुका है तो ऋण चुकाने के लिये उससे १५० रुपया और प्राप्त किया जा सकता है। यदि कुछ हिस्सेदार कम्पनी के अपने हिस्से बेच दें और किसी दूसरी कम्पनी के हिस्सेदार बन जॉय तो इससे पूर्व की कम्पनी को विशेष हानि नहीं होती है। उसकी स्थिरता में इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है। साधारण रूप से ऐसी कम्पनियों का जीवन-काल लम्बा होता है।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियों की सख्या बढ़ रही है। यह इस बात का सूचक है कि परिस्थितियाँ इसके अनुकूल है और उत्पादन-क्षेत्र में इनकी अत्यन्त आवश्यकता है। वर्तमान में मिश्रित पूँजी की कम्पनियों से बड़े-बड़े उद्योग चल रहे हैं जिससे उपभोक्ता और उत्पादक को लाभ हो रहा है और देश की आर्थिक स्थिति भी सुधरती जा रही है। एक जलयान के बनाने में लाखों रुपयों की आवश्यकता होती है और उसके कारखाने को स्थापित करने में जो करोड़ में व्यय होगा उसका सहज ही

अनुमान लगाया जा सकता है। यदि मिश्रित पूँजी की कम्पनियों द्वारा इस आवश्यक पूँजी को एकत्रित करने की सुविधा न होती तो जलयान, वायुयान और रेल के इञ्जनों के बड़े-बड़े कारखानों का स्थापित होना असम्भव-सा ही हो जाता। मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ अपने नियमित कार्यों से पूँजीपतियों में विश्वास पैदा कर देती है और हिस्सों को बेचकर ऐसे उद्योगों के लिये पर्याप्त द्रव्य इकट्ठा कर लेती हैं।

मिश्रित पूँजी की कम्पनियों के पास पूँजी की पर्याप्त मात्रा होती है जिससे वे बड़े पैमाने पर उत्पादन कर सकती हैं इससे बैंकों के द्वारा भी इन्हें समय-समय पर सहायता मिल जाती है। इनकी साख बढ़ती है जिससे दोनों को लाभ होता है। अधिक पूँजी होने से प्रत्येक उद्योग से सम्बन्धित खोज के कार्य (Research) में लाखों रुपया व्यय किया जा सकता है। यूरोप के उद्योगों में खोज के कार्य में काफी व्यय किया जाता है जिससे उत्पादन रीति में सुधार होते हैं, नये आविष्कार होते हैं और नवीन वस्तुएँ उपभोक्ताओं तक पहुँचती रहती हैं। इसी प्रकार ये कम्पनियाँ अपने उद्योग में बड़े-बड़े विशेषज्ञों को नियुक्ति करती हैं। उनके सुझावों और महत्वपूर्ण कार्यों से स्वयं भी लाभ उठाती है और उत्पादन-क्षेत्र में अधिकाधिक सुधार संभव हो जाते हैं। इन विशेषज्ञों का वेतन काफी अधिक होता है और अधिकतर केवल मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ ही उसका भार सह सकने में समर्थ होती हैं। एक व्यक्ति इतनी पूँजी नहीं लगा सकता है। विशेषज्ञता के क्षेत्र में भी ये कम्पनियाँ श्रम-विभाजन के अनुसार काम करने लगी हैं। तात्पर्य यह है कि उद्योग के प्रत्येक विभाग में अलग-अलग विशेषज्ञ और कुशल इंजीनियर इत्यादि को नियुक्त किया जाता है जिससे प्रत्येक विभाग की कार्यक्षमता और कार्यकुशलता बढ़ती है। छोटे उद्योग इस सुविधा का लाभ नहीं उठा सकते हैं। उनके पास सारे उद्योग के लिये एक या दो विशेषज्ञ ही होते हैं जिस कारण कार्य में विशेष प्रगति नहीं हो पाती है। मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर उत्पादन करती हैं अतएव वह इस विभाग के व्यय का सरलता से वहन कर सकती हैं।

मिश्रत पूँजी की कम्पनियों को इन बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये स्थिर-पूँजी (Fixed Capital) की अधिक आवश्यकता पड़ती है। यदि उद्योग में स्थिर पूँजी की मात्रा अधिक न हो और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का पूरा प्रयोग न किया जाय तो उद्योग में क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम का लाभ नहीं उठाया जा सकता है। उत्पादन में शीघ्र क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जायेगा। इसके साथ ही अन्य देशों के उद्योगपतियों की प्रतिस्पर्धा से

टक्कर ले सकने के लिये भी स्थिर-पूंजी की पूर्णता अत्यावश्यकीय है। यह सब तभी सम्भव हो सकता है जब उद्योग मिश्रित पूँजी की कम्पनियों द्वारा चलाया जाता हो क्योंकि इतनी अधिक मात्रा में पूँजी उन्हीं के द्वारा एकत्र की जा सकती है। अन्य कम्पनियों के पास उतनी स्थिर-पूँजी नहीं होती और उत्पादन-क्षेत्र में वे पिछड़ जाते हैं।

मिश्रित पूँजी की कम्पनी का संचालन एवम् संगठन केवल एक व्यक्ति के हाथों में नहीं होता है। हिस्सेदार अपने प्रतिनिधियों (Directors) का चुनाव करते हैं जो हिस्सेदारों की सम्मति से सारा कार्य चलाते हैं। वे उद्योग-धन्धे की समस्याओं से परिचित व्यक्ति होते हैं और कम्पनी उनके अनुभवों का लाभ उठा सकती है।

इन कम्पनियों द्वारा उत्पादन बड़े पैमाने में किया जाता है जिससे इस विषय की सभी आन्तरिक और बाह्य मितव्ययता की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम होता है और उपभोक्ताओ को विभिन्न वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर मिल जाती हैं। समाज में उनका प्रयोग बढ़ता है और रहन-सहन के स्तर पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

हानियाँ :—मिश्रित पूँजी की कम्पनियों से हानियाँ भी अधिक होती हैं। प्रायः व्यवहार में बहुत से उक्त लाभ हानियों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन कम्पनियों की स्थापना में बहुत-सी कानूनी कार्यवाहियाँ करनी पड़ती हैं और आयोजक अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिये अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की विधियों का प्रयोग करते हैं। यदि संगठन-संचालन की दृष्टि से देखा जाय तो विदित होगा कि कम्पनी कुछ संचालको की स्वतन्त्र इच्छा से चलाई जाती है। संगठन-संचालन का प्रजातान्त्रिक रूप केवल चुनाव तक ही रहता है। आयोजक अधिक हिस्से खरीद कर और कुछ अन्य हिस्सेदारों को अपनी ओर मिलाकर स्वयं संचालकों का चुनाव जीत जाते हैं और आने वाले प्रत्येक चुनाव में किसी न किसी रीति से चुनाव जीतते रहते हैं। इससे संचालकों का उत्पादन में निरंकुश शासन रहता है। अन्य हिस्सेदार कम प्रभावशाली होने से या दूर-दूर के स्थानो में रहने से अधिकतर कम्पनी के संगठन-संचालन के प्रति उदासीन रहते हैं। संचालक अपने एकाधिकार से अपने निकट-सम्बन्धियों को कम्पनी के ऊँचे पदों पर नियुक्त कर देते हैं। हर विभाग के अध्यक्ष अपने ही आदमी होने के कारण उन्हें कम्पनी की आन्तरिक और बाह्य स्थिति का पूरा ज्ञान रहता है। इसी से ये अच्छी व बुरी परिस्थितियों का पूरा लाभ उठाने से नही चूकते हैं। कम्पनी की स्थिति अधिक बिगड़ने से पहले ही अपने-अपने हिस्सों की पूंजी सुरक्षित कर लेते हैं। साधारण हिस्सेदार इनकी

चालों से और कम्पनी की वास्तविक दशा से अपरिचित होने से हानि उठाते हैं।

उद्योग का काफी विस्तार होने से संचालकों का नीचे के कर्मचारियों और श्रमिकों से अधिक सम्पर्क नहीं रहता है। प्रायः श्रमिकों और उत्पादकों का संघर्ष बढ़ता जाता है। इससे श्रमिकों की कार्यक्षमता की पर्याप्त हानि होती है। समस्त कर्मचारियों में असन्तोष रहने से उत्पादन के समस्त साधनों का पूरा उपयोग नहीं हो सकता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से इसका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। संचालक यदि स्वयं उत्पादक हैं तो अपने उद्योग के प्रति अधिक सजग रहते हैं और स्वार्थ के वश में होकर कम्पनी के लाभ को गौण स्थान देते हैं। स्वयं कम्पनी की माँग की पूर्ति कमीशन लेकर या अपने ही कारखाने से या अपने सम्बन्धियों के कारखानों से वस्तुएँ अधिक मूल्य पर लेकर करते हैं। उनका उद्देश्य प्रतिनिधित्व के प्रभाव से अनुचित लाभ उठाना हो जाता है। जनता के धन से सट्टेबाजी करके कम्पनी को अनावश्यक जोखिम में डाल देते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि मिश्रित पूंजी की कम्पनियों में पूंजी की एक बड़ी राशि लगी होती है। उत्पादन बड़ी मात्रा में किया जाता है। यदि किसी कारण से संसार के उद्योग-धन्धे के व्यवसाय में मन्दी (Depression) आ जाय तो इसका प्रभाव बड़ी कम्पनियों में शीघ्र पड़ता है। वैज्ञानिक यातायात के साधनों से तथा संवाद की अपूर्व व्यवस्था से संसार के एक कोने की घटना सम्पूर्ण संसार को प्रभावित कर देती है। व्यापार का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष आज अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। यदि युद्ध के कारण या अन्य किसी राजनैतिक एवम् प्राकृतिक कारण से आयात-निर्यात की मात्रा में कमी आ जाय तो मिश्रित पूंजी की कम्पनियों के सम्मुख एक बड़ी समस्या उपस्थित हो जाती है। उत्पादित माल की लाखों इकाइयाँ गोदामों में बन्द हो जाती हैं या कच्चे माल के न मिलने से उत्पादन बन्द हो जाता है। दोनो ही स्थितियों में कम्पनियों की बहुत बड़ी मात्रा में स्थिर पूंजी व्यर्थ हो जाती है क्योंकि उत्पादन बन्द कर देना पड़ता है। परन्तु छोटा उत्पादक अपने कारखाने की स्थिति को संभाल सकता है; पुरानी मशीनें बेचकर नयी मशीनों से किसी अन्य वस्तु का उत्पादन कर सकता है। परन्तु बड़े-बड़े कारखानों में जैसे जलयान, वायुयान या रेल के इञ्जनों के कारखानों में ऐसा कर सकना संभव नहीं है। इससे कम्पनी को गहरी हानि तो होती ही है, श्रमिक भी एक बड़ी संख्या में बेकार हो जाते हैं। उनकी क्रय-शक्ति क्षीण हो जाती है। दूसरी ओर यदि कुछ कारणों से लोगों की रुचि में

परिवर्तन आ जाय और वे दूसरे प्रकार की वस्तुओं का उपभोग अधिक मात्रा में करने लगें या अन्य प्रतिस्पर्धी की उत्पादन-शक्ति अधिक हो जाय और वह अधिक सस्ते मूल्य में वस्तुओं को बेचने लगे तब भी कम्पनी को हानि उठानी पड़ती है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रित पूंजी की कम्पनियों से जिस बड़ी मात्रा में लाभ होता है उसी मात्रा में हानि की सम्भावना भी रहती है। परन्तु यदि उचित निरीक्षण और व्यवस्था का प्रबन्ध हो, उपभोक्ताओं से अधिक सम्पर्क बढ़ाने की विधियों का प्रयोग किया जाय तो वर्तमान की उत्तरोत्तर बढ़ती माँग की पूर्ति के लिये मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ औरों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हैं।

एकाधिकार और ट्रस्ट (Monopoly and Trust)

उद्योग-क्षेत्र में सर्वत्र प्रतिस्पर्धा होती है। प्रत्येक उत्पादक बाजार को अधिकतर अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न करता है। अपनी वस्तुओं के मूल्य को कम से कम रखने का प्रयत्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने से उत्पादक को अपने स्वदेशी उत्पादक से ही नहीं विदेशी से भी टक्कर लेनी पड़ती है। इससे प्रायः उत्पादकों का प्रयत्न यह रहा करता है कि किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन, वितरण और उसके क्रय-विक्रय का सारा अधिकार उन्हें ही प्राप्त हो जाय। इस एकाधिकार को ही (Monopoly) कहते हैं।

एकाधिकार दो प्रकार के होते हैं। यदि किसी उत्पादक को किसी वस्तु के उत्पादन, वितरण और क्रय-विक्रय में एकाधिकार प्राप्त होता है और उस क्षेत्र में उसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं होता है तब ऐसे एकाधिकार को पूर्ण एकाधिकार (Absolute Monopoly) कहते हैं। यदि उत्पादन के अधिकांश भाग पर एकाधिकार प्राप्त है तब उसे आंशिक एकाधिकार (Quasi Monopoly) कहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिस्पर्धा रहती है।

एकाधिकार का वर्गीकरण

उत्पादक का एकाधिकार बाजार (Market) के साथ ही उत्पादन के साधनों पर भी होता है। किसी स्थान पर वांछित उत्पादन के साधन लोहा, कोयला इत्यादि साथ ही मिल जाते हैं। कहीं उत्पादक अपने प्रभाव से अपने लिये एकाधिकार की स्थिति पैदा कर लेते हैं। एकाधिकार का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है:—

प्राकृतिक एकाधिकार (Natural Monopoly) :—इसकी प्राप्ति

के लिये उत्पादक को अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। प्रकृति की देन सब स्थानों पर समान नही होती है। कही एक पदार्थ अधिक होना है और कहीं दूसरा। यदि देश के किसी भाग मे अन्य भागों की अपेक्षा लोहा और कोयला अधिक मात्रा में प्राप्त हो जाय तो यह कहा जा सकता है कि उस भाग को इन खनिज पदार्थों पर प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त है; क्योंकि देश के अन्य भागों की माँग की पूर्ति यह भाग इच्छानुसार कर सकता है, इस भाग पर ही लोहे का बहुत बड़ा उद्योग खुल सकता है जिस पर इस भाग की सरकार का पूर्ण नियन्त्रण संभव हो सकता है। जूट का आधुनिक काल में विशेष महत्व है। भारत में जूट की पैदावार बहुत कम होती है और इसके मुख्य उपजाऊ भाग पाकिस्तान के भाग हैं। प्रायः बंगाल में जूट की बहुत उपज होती है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि बंगाल को जूट पर एकाधिकार प्राप्त है।

सामाजिक एकाधिकार (Social Monopoly) :—सारे समाज के उपयोग में आनेवाली बहुत सी ऐसी अनिवार्य वस्तुएँ होती हैं जिनके उत्पादन और वितरण का अधिकार यदि अनेक उत्पादकों को दे दिया जाय तो सारे समाज को उनकी प्रतिस्पर्धा और कार्यकुशलता की कमी से हानि उठानी पड़ेगी। इसलिये अधिकतर ऐसी वस्तुओं का उत्पादन समाज की प्रतिनिधि संस्थाएँ अपने अधिकार में ले लेती हैं और अन्य साहसी उनका उत्पादन नहीं कर सकता है। इलाहाबाद में सारे नगर की बिजली की माँग की पूर्ति करने का U. P. Electric Supply Co. को पूर्ण एकाधिकार प्राप्त है। यह एकाधिकार उसे समाज की ओर से दिया गया है। यदि नगर में पानी का वितरण और उसका सम्पूर्ण प्रबन्ध म्यूनिसिपिल बोर्ड के अधिकार में ही हो तो सामाजिक संस्था होने से उसके एकाधिकार को सामाजिक एकाधिकार कहेंगे। अधिकतर सामाजिक एकाधिकार में उत्पादन में वृद्धि और वितरण की सुगमता होती है।

कानूनी एकाधिकार (Legal Monopoly) :—यह एकाधिकार कानून के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। यदि किसी कारखाने ने कोई नवीन मशीन का आविष्कार किया हो तो उस कारखाने के प्रबन्धक उस मशीन को पेटेन्ट कर लेते हैं। इससे कोई अन्य कारखाना उस प्रकार की मशीनों का उत्पादन नहीं कर सकता है। प्रायः प्रत्येक मशीन और अधिकतर औषधियाँ पेटेन्ट होती हैं। उनके उत्पादन तथा वितरण पर उन्हीं कारखानों का पूर्ण कानूनी एकाधिकार होता है। लेखक इत्यादि अपनी पुस्तक पर यह एकाधिकार कापीराइट के रूप में रखते है। बिना लेखक की आज्ञा के कोई प्रेस उस पुस्तक को नही छाप सकता है। इसी प्रकार वस्तुओं के नाम तथा ट्रेड-मार्क भी पेटेन्ट करा लिये जाते है।

एकाधिकार कई रूप ले सकता है। यह रूप प्रत्येक देश में विभिन्न प्रकार के होते हैं और इन विभिन्न रूपों की लाभ और हानियाँ भी विभिन्न हैं। एकाधिकार के कुछ रूपों का वर्णन नीचे किया गया है।

ट्रस्ट :—इसका प्रचलन अधिकतर अमेरिका में हुआ। अनेक उत्पादक गहरी प्रतिस्पर्धा (Cut-throat Competition) से बचने के लिये एक ट्रस्ट का निर्माण करते थे और इस ट्रस्ट के सदस्य अर्थात् ट्रस्टीज (Trustees) ही उत्पादन और व्यापार की सारी नीतियाँ निर्धारित करते थे तथा उत्पादन और वितरण पर पूर्ण नियन्त्रण रखते थे। कुछ कारणवश अमेरिकी सरकार ने इसे गैर कानूनी घोषित कर दिया।

कार्टेल (Cartel) :—इसका प्रचलन जर्मनी में हुआ। इसके अन्तर्गत अनेक उत्पादक परस्पर एक निश्चित समय के लिये ज्वाइन्ट सेलिंग कम्पनी (Joint Selling Company) का निर्माण करते हैं और प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन के विक्रय का प्रबन्ध करते हैं। इससे सारे उत्पादन पर ज्वाइन्ट सेलिंग कम्पनी का एकाधिकार हो जाता है। इसमें स्थिरता नहीं होती।

भारतवर्ष में उक्त दोनों में से कोई भी संस्था पूर्ण रूप से कार्य नहीं करती है।

ट्रस्ट दो प्रकार के होते हैं जिन्हें शीर्ष (Vertical) और क्षैतिज (Horizontal) ट्रस्ट कहते हैं। शीर्ष ट्रस्ट उस कम्पनी या उत्पादन संस्था को कहते हैं जो अपने उत्पादन के लिये कच्चे माल से लेकर पक्के माल तक का उत्पादन स्वयं करती है। यदि कपड़े के उत्पादकों का ट्रस्ट कपास की खेती से लेकर कपड़ों की रंगाई, छपाई व वितरण स्वयं करे तो उसे शीर्ष ट्रस्ट कहेंगे। परन्तु यदि केवल समान वस्तु का उत्पादन करनेवाले परस्पर ट्रस्ट का निर्माण करेंगे तो उसे क्षैतिज ट्रस्ट कहा जाता है। उदाहरणार्थ कपड़े, तेल तथा चीनी के उत्पादक परस्पर जो अलग-अलग ट्रस्ट बनायेंगे उन्हें क्षैतिज ट्रस्ट कहेंगे।

ट्रस्ट का काम एक बोर्ड चलाता है जिसे बोर्ड आफ ट्रस्टीज (Board of Trustees) कहते हैं। इसका निर्माण हो जाने के बाद उत्पादन तथा वितरण में बोर्ड आफ ट्रस्टीज का पूर्ण एकाधिकार हो जाता है।

उक्त दोनों प्रकार के ट्रस्टों का निर्माण करने के कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

शीर्ष ट्रस्टों का निर्माण उत्पादन की स्थिरता को बनाये रखने के लिये होता है। प्रायः उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चा माल नहीं मिल पाता है। युद्ध के कारण या यातायात की कठिनाइयों के कारण यदि समय पर कच्चा माल प्राप्त न किया जा सका तो उत्पादन को गहरी हानि

उठानी पड़ेगी। इसलिये इस अनिश्चितता को दूर करने के लिये शीर्ष ट्रस्टों का निर्माण किया जाता है। बहुत से ऐसे भी उद्योग हैं जिनमें वस्तुएँ उत्पादन के बाद लम्बी अवधि तक नहीं रखी जा सकतीं जैसे- फल, तरकारी, घी इत्यादि। इनकी उपयुक्त समय पर पूर्ति कर सकने के लिये तथा इन्हें सड़ने से बचाने के लिये भी उक्त ट्रस्ट बनाये जाते हैं। इसके साथ ही समान उद्योग होने से टैकनिकल सुविधाओं का भी सरलता से उपयोग किया जा सकता है।

क्षैतिज ट्रस्ट का निर्माण करते समय उत्पादकों की दृष्टि में परस्पर की गहरी प्रतिस्पर्धा की हानियों का भय रहता है। यदि प्रत्येक उत्पादक अधिकतम उत्पादन करता जाय तो बहुत शीघ्र आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जायेगा जिससे वस्तुओं के मूल्य कम होने लगेंगे। इस हानि से बचाने के लिये इस प्रकार के ट्रस्ट बहुत सहायक होते हैं। इसके साथ ही टैकनिकल सुविधाओं का सरलता से उपयोग करके अपने उत्पादन को बढ़ा सकते हैं तथा उत्पादित वस्तु के गुणों में वृद्धि कर सकते हैं।

संघ (Pool) :—एकाधिकार के अन्तर्गत एक संस्था और कार्य करती है जिसे संघ (Pool) कहते हैं। समान वस्तु का उत्पादन करनेवाली विभिन्न कम्पनियों के द्वारा उत्पादित माल को इस संस्था में एकत्रित किया जाता है और बेचा जाता है। माल के विक्रय के उपरान्त कम्पनी इसमें से प्रत्येक सदस्य को उसके माल की पूर्ति के अनुपात में लाभ बाँट देती है। इससे यह लाभ होता है कि प्रतिस्पर्धा कम हो जाती है और वस्तुओं के मूल्य के गिरने से होनेवाली हानि से उत्पादक बच जाते हैं।

एकाधिकार के लाभ और हानियों का विवरण नीचे दिया गया है।

लाभ :—एकाधिकार प्राप्त करना उत्पादक की बहुत बड़ी सफलता है। वह इसके द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में लाभ प्राप्त कर सकता है। उसके अन्य प्रतिस्पर्धी न होने से उपभोक्ता की आवश्यकताओं की पूर्ति उसके ऊपर निर्भर होती है। वह अपनी उत्पादित वस्तु के बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है और उपभोक्ताओं की माँग की मात्रा, उनकी रुचि इत्यादि से पूर्ण परिचित रहता है तथा उसी के अनुपात में उत्पादन करता है। प्रायः बड़ी मात्रा में उत्पादन करने का परिणाम यह होता है कि वस्तु का आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाता है जिससे उत्पादक को वस्तुओं का मूल्य कम हो जाने से हानि उठानी पड़ती है और अधिक उत्पादन रोकने के लिये कारखाने बन्द करने पड़ते हैं। इससे उसे मजदूरों की बेकारी की समस्या का भी सामना करना पड़ता है। एकाधिकार प्राप्त हो जाने से वह इन कठिनाइयों से बच जाता है। उसका

उत्पादन निश्चित योजना के अनुसार होता है जिससे हानि होने की कम सम्भावना होती है। एकाधिकार के अन्तर्गत अनेक प्रकार की संस्थाएँ कार्य करती हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। उन सबका मुख्य ध्येय लाभ की मात्रा बढ़ाना और व्यापार व्यवस्थित करना होता है।

हानियाँ :—एकाधिकार से हानियाँ गंभीर होती हैं। यदि समाज में अनेक उत्पादक समान वस्तुओं का उत्पादन कर रहे हों तो उनमें उपभोक्ता को अपनी ओर अधिक आकर्षित करने की प्रवृत्ति रहती है। वस्तुओं के मूल्य कम रहते हैं और बाजार में उनके विभिन्न प्रकार प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु एकाधिकार प्राप्त करते ही बड़े उद्योगपति छोटे उत्पादकों को समाप्त कर देते हैं। छोटे उत्पादक उनकी प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक सकते हैं जिससे एकाधिकारी को उपभोक्ता का शोषण करने का पूरा अवसर मिल जाता है। उनके उद्योगों के बन्द हो जाने से बेकारी बढ़ती है; लोगों की क्रय-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह वस्तु के दाम मनमाना बढ़ा सकता है और अधिक माँग के समय पूर्ति को कम करके उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देने के लिये विवश कर सकता है। एकाधिकारी उपभोक्ताओं को प्रसन्न करने की चिन्ता नहीं करता वरन् उसका उद्देश्य तो अच्छे व बुरे ढंग से अधिकतम लाभ कमाना होता है। एकाधिकार अधिकतर वे उद्योगपति ही प्राप्त कर सकते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी होती है। वे इससे अधिक धनी होते जाते हैं जब कि निर्धन मजूर बेकारी होने से, छोटे उत्पादकों के उद्योग बन्द करने से और उपभोक्ता वस्तुओं के अधिक मूल्य देने से, आर्थिक दृष्टि से अधिक निर्बल होते जाते हैं। इसमें पूँजीवादी प्रथा की समस्त बुराइयाँ निहित होती हैं। बड़े-बड़े पूँजीपति देश के राजनैतिक दलों को सहायता देते हैं; अपने प्रभाव से ऐसे नियम बनवा लेते हैं जिससे उनके व्यापार का प्रसार हो सकता है, और उनके लाभ में वृद्धि हो सकती है। संक्षेप में एकाधिकारी हर प्रकार से जनता का शोषण (Exploitation) करते हैं।

राज्य द्वारा उत्पत्ति

(State Enterprise)

उत्पादन-क्षेत्र में उक्त प्रकार की व्यक्तिगत उत्पादन संस्थाओं से अनेक बुराइयाँ फैली हुई हैं। प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य अधिक लाभ कमाना होता है, उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से उद्योग-धन्धों का उचित विकास नहीं हो पाता है और अधिकतर उद्योग-धन्धे शीघ्र ही असफल होकर समाप्त हो जाते हैं। प्रत्येक उत्पादक अपने श्रमिकों को लगभग दास ही समझता है, उनके परिश्रम से स्वयं लाभ कमाकर उनके स्वास्थ्य

तथा आर्थिक स्थिति के प्रति किंचित मात्र भी चिन्तित नहीं रहता है। श्रमिक और उपभोक्ता दोनों का शोषण किया जाता है। उत्पादन से हुआ कुल लाभ देश के निर्माण और विकास में व्यय न किया जाकर व्यक्तिगत लाभ के लिये व्यय किया जाता है अथवा यों ही पड़ा रहता है। इन सब बुराइयों को देखकर कुछ देशों में यह प्रयत्न किया गया है कि उत्पादन-प्रणाली का इस प्रकार से संगठन किया जाय जिससे देश की जनता का अधिक से अधिक लाभ हो सके। इस प्रणाली के अन्तर्गत राज्य स्वयं उत्पादन कार्य करता है।

राज्य द्वारा उत्पादन किये जाने से अनेक लाभ हैं। राज्य देश की आवश्यकताओं से भली प्रकार परिचित होता है। उसको किसी प्रतिस्पर्धा का भय नहीं होता है। जनता की राष्ट्रीय भावना का प्रबल सहयोग राज्य को प्राप्त होता है। व्यक्तिगत उत्पादन की विधियों से एवं पूँजीवादी व्यवस्था से जनता के श्रम का जो अनुचित लाभ उठाया जाता है वह बन्द हो जाता है। इन प्रणालियों के अन्तर्गत जो बुराइयाँ होती हैं वे समाप्त हो जाती हैं। उत्पादन से अधिक लाभ होने पर श्रमिकों का वेतन बढ़ेगा, उपभोक्ता जनता को कम मूल्य पर अच्छी वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी; उसे धोखे का भय न रहेगा। यह विश्वास जीवन के अन्य व्यापारों में स्थिरता लाता है। राज्य का उद्देश्य अधिक लाभ कमाना नहीं वरन् जनता के सुख में वृद्धि करना होता है।

व्यक्तिगत-उत्पादन प्रणाली में अनिश्चितता के कारण अधिक पूंजी शीघ्र एकत्रित नहीं हो सकती है। परन्तु राज्य के सामने यह समस्या नहीं रहती है। उसके प्रयत्नों से देश के कच्चे माल तथा अन्य प्राकृतिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है जिससे उत्पादन की सारी क्रिया पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। सारी क्रिया राज्य के नियन्त्रण में में होती है। अतएव भ्रष्टाचार का भय नहीं रहता और न कोई अनुचित लाभ ही उठा सकता है। राज्य उत्पादन के साथ ही श्रमिक वर्ग के जीवन के विकास की ओर विशेष ध्यान देता है जिससे उसकी कार्यकुशलता और कार्यक्षमता में पर्याप्त वृद्धि होती है।

संसार के अनेक समाजवादी देशों में इसी प्रणाली से उत्पादन किया जाता है। उनका दावा है कि इस प्रणाली से जनता में धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन न होंगे वरन सब जीवन के विकास की ओर एक साथ अग्रसर होंगे और श्रमिक के प्रति जो एक घातक भावना पूँजीवादी देश में फैली होती है उसका समूल नाश किया जा सकता है। देश के जीवन में सुख और समृद्धि की वृद्धि होती है।

परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी इसके विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत

किये जाते हैं। अधिकतर यह कहा जाता है कि राज्य यदि उत्पादन-कार्य आरम्भ करेगा तो इससे व्यक्तिगत योग्यता, सूझ, उत्साह, साहस इत्यादि का कुछ महत्व नहीं रह जायगा। इससे देश की कार्य-क्षमता और कार्यकुशलता का विकास नहीं हो सकेगा। जनता की संगठन और संचालन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। मनुष्य मशीन के पुर्जे की तरह राज्य के प्रधान कर्मचारियों के संकेत पर परिचालित होगा। उसे भोजन, वस्त्र तो अवश्य मिलेगा परन्तु उसका सन्तोष उसकी जिज्ञासा को समाप्त कर देगा जिसके बल पर मनुष्य सभ्य मनुष्य हो सका है।

उक्त आरोपों के मूल में मनुष्य के स्वतन्त्र-विकास की माँग है। परन्तु मनुष्य का स्वतन्त्र-विकास तब तक संभव नहीं हो सकता है जब तक उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न हो, उसे आने वाले कल में अर्जन कर सकने का विश्वास न हो और समाज में उसकी गति को रोकने के लिये अप्राकृतिक, कृत्रिम बन्धन न हों। यदि पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली में समाज के विकास का अध्ययन करेंगे तो विदित होगा कि समाज आर्थिक दृष्टि से कुछ अधिक पूँजी वाले उत्पादकों का दास है। उसमें छोटे-बड़े अनेक वर्ग बने हैं जिनकी शक्ति का मापदण्ड पूँजी है। इन वर्गों के पारस्परिक संघर्ष से समाज की अत्यन्त हानि होती है। शोषण और स्वार्थ की प्रधानता मनुष्य को लगभग निराशावादी बना देती है। परन्तु इतना अवश्य होता है कि कुछ व्यक्तियों को अपनी अधिक पूँजी के कारण समाज को दरिद्र करके अधिक लाभ कमाने की स्वतन्त्रता रहती है। यदि राज्य उत्पादन और वितरण का प्रबन्ध स्वयं करने लगे तो सारा काम योजनानुसार होने से श्रमिकों का अवश्य लाभ होगा। उनको शारीरिक परिश्रम कम करना पड़ेगा, खाली समय में मानसिक विकास के लिये उचित व्यवस्था होने से उसकी कार्यकुशलता और समझ का विकास होगा। कुल लाभ राज्य का होगा जिसका उपयोग नये उद्योगों और निर्माण के कार्य में होगा जिससे बेकारी कम होती जायगी। मनुष्य अपने परिश्रम से अपने कार्य-क्षेत्र में काफी उन्नति कर सकेगा। उसे अपने श्रम का उचित मूल्य मिलेगा जिस पर वह अपने तथा अपने परिवार के सुखमय भविष्य की नींव रख सकेगा।

'राज्य द्वारा उत्पादन' एक भ्रामक वाक्यांश है। केवल इतने से ही इस प्रणाली के लाभ और हानियों का वर्णन नहीं किया जा सकता है। अतएव जब राज्य द्वारा उत्पादन की प्रणाली पर विचार करते हैं तो हमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वह राज्य प्रजातन्त्र, फासिस्ट, तानाशाह और समाजवादी में से कौन-सा है; क्योंकि शासन-प्रणाली के अनुकूल ही उत्पादन-प्रणाली को होना पड़ता है।

सहकारी उत्पादन

(Co-operative Organisation)

आधुनिक काल में उत्पादन की कई विधियों का प्रयोग हो चुका है। पूँजीवादी तथा समाजवादी उत्पादन-प्रणालियों का संसार के बहुत बड़े भाग में आज भी प्रयोग चल रहा है। परन्तु इन दोनों छोरों के बीच भी उत्पादन की एक विशेष प्रणाली का प्रयोग हो रहा है। इस प्रणाली को सहकारी उत्पादन की प्रणाली कहते हैं।

श्रमिक लोग उत्पादकों से सन्तुष्ट नहीं रहते हैं क्योंकि उत्पादक उनके श्रम का उचित मूल्य न देकर उनके द्वारा किये, किये गये उत्पादन का लाभ स्वयं ले लेता है। अधिक लाभ कमाने के लिये वह नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग करता है जिससे अधिक संख्या में श्रमिक बेकार हो जाते हैं। उत्पादक उनके श्रम का शोषण करके भी उन्हें कुछ सुविधाएँ नहीं देता है। तात्पर्य यह है कि उत्पादक और श्रमिक के सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहते हैं। श्रमिकों को उत्पादकों और एकाधिकारियों के घेरे से मुक्त करने के लिये सहकारिता का आन्दोलन आरम्भ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य श्रमिकों की आर्थिक एवं सामाजिक दशा सुधारना है।

सहकारी-उत्पादन-प्रणाली के अनुसार उत्पादन के संगठनकर्त्ता, संचालक, मजूर, क्रेता और विक्रेता सब श्रमिक ही होते हैं। इनका उद्देश्य बड़े पैमाने में उत्पादन करना नहीं होता है। प्रायः श्रमिक अपनी थोड़ी पूँजी से हिस्से खरीद कर और कुछ पूँजी राज्य से ऋण लेकर एक कारखाना या कोई उद्योग आरम्भ करते हैं। अधिकांश श्रमिक उसके हिस्सेदार होते हैं। वे परस्पर अपना काम चलाने के लिये कर्मचारी चुनते हैं। यदि उद्योग में लाभ होता है तो प्रत्येक श्रमिक उसमें हिस्सेदार होता है और इसी प्रकार हानि में भी। इस प्रकार उद्योग में लाभ सबका लाभ और उद्योग में हानि सब की हानि होती है। इस प्रणाली से उत्पादकों और श्रमिकों में अन्तर नहीं होता है।

लाभ:—यह प्रणाली एक आदर्श है। श्रमिक उत्पादक और श्रमिक दोनों ही होने से काम बड़े परिश्रम से करता है। उसके दोनों स्वार्थ एक हो जाते हैं और जब वह परिश्रम करता है तो यह सोचता है कि वह परिश्रम अपने लाभ के लिये कर रहा है। इसलिये वह अधिक क्षमता और कुशलता से काम करना चाहता है जिससे लाभ में वृद्धि हो। उत्पादक और श्रमिकों का संघर्ष इसमें नहीं होता है इससे उत्पादन-कार्य में बाधा नहीं पड़ती है। श्रमिक और उसके द्वारा निर्वाचित कर्मचारियों में कुछ अन्तर नहीं होता है। सब परस्पर समानता का व्यवहार करते हैं।

यदि उद्योग में लाभ हो तो सभी हिस्सेदार श्रमिक उसमें हिस्सेदार होते हैं और इसी प्रकार हानि में भी। इससे उनका शोषण नहीं होता है। जो कुछ वे परिश्रम करते हैं अपने लाभ के लिये करते हैं।

हानि :—इस प्रणाली से हानियाँ भी अधिक होती हैं। श्रमिकों के पास पूँजी एकत्रित करने के पर्याप्त साधन नहीं होते हैं जिससे अधिक पूँजी एकत्रित नहीं की जा सकती है। उत्पादन छोटे पैमाने पर किया किया जाता है जिससे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय अधिक होता है। श्रमिक उत्पादन सम्बन्धी संगठन एवं संचालन की अधिक योग्यता नहीं रखते हैं और उत्पादन-क्षेत्र में यही योग्यता सफलता का आधार होती है। प्रायः प्रत्येक श्रमिक अपने को उद्योग का स्वामी समझता है अतएव अपने द्वारा चुने गये श्रमिक उच्च कर्मचारियों की आज्ञा का पालन करना आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझता है। इससे सारे उद्योग में अनुशासनहीनता फैलती है। कभी-कभी उत्पादन की नीतियों एवं रीतियों में ऐसे लोग हस्तक्षेप भी करते हैं जिनका तत्सम्बन्धी ज्ञान शून्य होता है। इससे उत्पादन की सारी क्रिया में गड़बड़ी हो जाती है।

परन्तु यह हानियाँ उनकी अशिक्षित अवस्था के कारण होती हैं। यद्यपि उनमें सहयोग की भावना की कमी नहीं है परन्तु उचित शिक्षा और ट्रेनिंग का अभाव है। इसके साथ ही उनके इस कार्य के लिये अन्य उत्पादन-प्रणालियों को बन्द करना पड़ेगा। यह स्वाभाविक है कि अपनी छोटी पूँजी से आरम्भ किये उद्योग से वे किसी एकाधिकारी या मिश्रित पूँजी की कम्पनी की प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं कर सकते हैं। उनसे यह भी आशा नहीं की जा सकती है कि प्रारम्भ से ही बड़ी मात्रा में उत्पादन आरम्भ कर दें। तात्पर्य यह है कि उक्त दोनों प्रकार की प्रणालियाँ अधिक समय तक साथ नहीं चल सकती है और प्रबल उद्योग संस्था निर्बल को अवश्य समाप्त कर देगी। इस आन्दोलन की सफलता तभी हो सकती है जब श्रमिक वर्ग को उपयुक्त शिक्षा प्राप्त हो और सहकारी उद्योग देश में प्रत्येक स्थान पर स्थापित किये जायँ, व्यक्तिगत उत्पादन संस्थाओं को राज्य सुविधाएँ न दे और सहकारी संस्थाओं के विकास के लिये उचित प्रबन्ध करे। अन्यथा आन्दोलन की असफलता निश्चित ही है।

अभ्यास के प्रश्न

१. औद्योगिक संगठन से उत्पादन क्रिया की क्षमता में क्या प्रभाव पड़ता है? संक्षेप में वर्णन कीजिये।

२. साझेदारी, निजी लिमिटेड कम्पनी और सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनी में क्या विशेष अन्तर है? संक्षेप में समझाइये।
३. मिश्रित पूँजी की कम्पनियों की क्या विशेषता है? उनके लाभ और हानियों का विस्तार से वर्णन कीजिये।
४. संघ, ट्रस्ट और कार्टेर क्या हैं? इनमें परस्पर क्या विशेष अन्तर है?
५. राज्य द्वारा उत्पत्ति से आप क्या समझते हैं? उसके लाभ और हानियों पर प्रकाश डालिये।
६. सहकारी-उत्पादन-प्रणाली की विशेषताएँ लिखिये। उनके भविष्य पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

अध्याय ५२

वितरण (Distribution)

साधारण अर्थ में वितरण से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु के बाँटने से होता है। यदि सामूहिक खेती की उपज को अनेक कृषको में बाँटा जाय, किसी मिल या कारखाने द्वारा उत्पादित वस्तुओं को देश के विभिन्न व्यापारियों मे बाँटा जाय और उन व्यापारियों द्वारा वस्तु शहर या ग्राम के विभिन्न उपभोक्ताओं तक पहुँचायी जाय तो इन सब क्रियाओं को हम वितरण के अन्तर्गत ही समझते हैं। वर्तमान समय में खाद्यान्न इत्यादि में नियन्त्रण लग जाने से आवश्यक सामग्री का सरकारी दूकानों से वितरण किया जाता है। शहर के एक बिजलीघर से बिजली की शक्ति का अनेक कारखानों, उद्योग-धन्धो इत्यादि में वितरण किया जाता है। वस्तु का वितरण मूल्य लेकर भी किया जाता है और बिना मूल्य के भी। इस प्रकार वितरण से केवल एक बात स्पष्ट होती है कि इसके द्वारा वस्तु के उपभोग का अधिकार एक से अधिक व्यक्तियों को दिया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र मे वितरण शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

वितरण उसी वस्तु का किया जा सकता है जिसका उत्पादन किया गया हो। यह पहले बताया जा चुका है कि उत्पादन कुछ पदार्थों के संग्रह करने से नही हो जाता वरन् उसके लिये उत्पादन के पाँचों साधनों—भूमि, श्रम, पूंजी साहस और संगठन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक साधन का अपना व्यापक क्षेत्र है। सामान्य रूप से जिस प्रकार सामूहिक खेती करने के पश्चात् उत्पादित अन्न राशि का कृषक परस्पर बँटवारा करते हैं उसी प्रकार यदि उत्पादन के पाँचों साधनों के संयोग से किसी वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो उक्त पाँचों साधनों को उत्पादित वस्तु को परस्पर बाँट लेने का पूरा अधिकार है।

उत्पादन के अध्याय में बताया जा चुका है कि प्रारम्भ में उत्पादन वैयक्तिक होता था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं उत्पादक, श्रमिक, पूंजीपति और साहसी एवं संगठनकर्त्ता होता था। वह अपने उपभोग के लिये उत्पादन करता था। इसलिये उसके सामने वितरण की समस्या नहीं थी। उत्पादन की विधियों में परिवर्तन होने से, माँग में वृद्धि होने और वैयक्तिक उत्पादन के स्थान पर बड़ी मिलों और कारखानों के स्थापित हो जाने से वितरण

की समस्या उत्पन्न हुई है और क्रमशः जटिल होती जाती है। पहले एक जुलाहा अपने ताने-बाने में उलझा एक दिन में कुछ गज कपड़ा बुनकर सन्तोष कर लेता था और उससे हुई आमदनी से अपना काम चलाता था परन्तु वर्तमान समय में कपड़े बुनने की बड़ी-बड़ी मिलें हैं जिनमें सहस्रों श्रमिक काम करते हैं, बड़ी-बड़ी मशीनें चलती हैं और लाखों गज कपड़े का प्रतिदिन उत्पादन किया जाता है। पहली स्थिति में जुलाहा अपनी आमदनी को इच्छानुसार व्यय कर सकता है पर दूसरी स्थिति में उत्पादक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

प्रायः अर्थशास्त्र में उत्पादन के पाँचों साधन बड़े महत्त्व के हैं। इन साधनों की सहायता से ही वस्तु का उत्पादन किया जाता है। अतएव यह सरलता से कहा जा सकता है कि कुल उत्पत्ति को इन्हीं प्रयुक्त साधनों में परस्पर बाँट दिया जाय। इस प्रकार वितरण करने में हमें प्रत्येक साधन के कुल कार्य की माप करनी पड़ेगी। यह सरल कार्य नहीं है।

वर्तमान उत्पादन-प्रणाली में उत्पादक अपनी कुल उत्पादित सम्पत्ति का वितरण नहीं कर सकता है और न कुल सम्पत्ति का स्वयं उपभोग ही। उसे अपने उद्योग-धन्धे के सभी साधनों को सन्तुष्ट करना पड़ता है, मशीनों की टूट-फूट के लिये , कच्चे माल का क्रय करने के लिये, यातायात के साधनों तथा भविष्य के भय से बीमा इत्यादि करने के लिये अपनी कुल सम्पत्ति का एक भाग व्यय करना पड़ता है। उत्पादन प्रायः बड़ी मात्रा में किया जाता है जिसका तुरन्त विक्रय हो सकना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत उसे श्रमिकों, कच्चे माल, मशीन इत्यादि पर निरन्तर व्यय करना पड़ता है। बाजार में उसे अनेक देशी-विदेशी उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। उपभोक्ताओं की रुचि और उनकी क्रय-शक्ति का भी उसके उत्पादन में गहरा प्रभाव पड़ता है। वह उत्पादन सदा भविष्य की माँग और उस समय के सम्भावित मूल्य को दृष्टि में रखकर करता है; यदि यह अनुमान ठीक न निकला तो उसे हानि का भय भी रहता है। इन सब समस्याओं से भी उसका वितरण कार्य जटिल होता जाता है।

वर्तमान समय में वितरण का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व का है। उत्पादन-क्षेत्र का संघर्ष, श्रमिकों में असन्तोष इत्यादि इसी वितरण की समस्या के लघु रूप हैं। समाजवादी विचारधारा से प्रभावित श्रमिकों का यह दावा है कि उत्पादन के प्रमुख साधन वे ही हैं और उत्पादित सम्पत्ति के अधिकांश भाग पर उनका अधिकार है। वे अपनी मजूरी में वृद्धि चाहते हैं, बोनस व अन्य प्रकार की सुविधाओं के लिये माँग करते हैं। उत्पादन अनेक साधनों की संयुक्त शक्ति से ही सम्भव हो सका है।

अतएव अन्य साधनों द्वारा कुल सम्पत्ति में अपना अधिकार माँगना अनुचित नहीं कहा जा सकता है। वितरण का समाज की आर्थिक अवस्था से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, क्रय-शक्ति क्षीण है और निर्धनता अधिक फैली है तो इसका सारा दोष देश की वितरण-रीति पर मढ़ा जाता है। समाजवाद से प्रभावित विचार-धारा वाले व्यक्ति प्राय: सम-वितरण की माँग करते हैं। संक्षेप में श्रमिक वर्ग कुल उत्पादित सम्पत्ति के अधिकांश भाग पर स्वयं अधिकार करना चाहते हैं और उत्पादक वर्ग उसे खोना नहीं चाहते। यदि हम इस दृष्टिकोण से संसार की स्थिति को समझने का प्रयत्न करें तो विदित होगा कि वितरण की समस्या एक व्यापक समस्या हो चुकी है।

वितरण की समस्याएँ दो प्रकार की हैं। प्रथम यह है कि राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार हो। राष्ट्रीय आय से हमारा तात्पर्य राष्ट्र में होनेवाले कुल उत्पादन या कुल सम्पत्ति के एक विशेष भाग से है। प्राय: देश में अनेक जमींदार हैं, छोटे किसान हैं, बड़े-बड़े उद्योगपति हैं और वैयक्तिक उत्पादन करनेवाले भी। देश में अनेक प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है। यदि इस प्रकार देश की प्रति इकाई के उत्पादन को जोड़ दिया जाय तो राष्ट्रीय-उत्पादन की कुल मात्रा ज्ञात हो सकती है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस कुल मात्रा का ही वितरण किया जाता है? इसके लिय हमें उत्पादन क्रिया की ओर ध्यान देना होगा। उत्पादन प्रारम्भ करते ही उत्पादक को उत्पादन की मात्रा बढ़ाने, उद्योग की क्षमता बढ़ाने और अन्य प्रतिस्पर्धियों का सामना कर सकने के लिये नयी और बड़ी मशीनों का प्रयोग करना पड़ेगा। उत्पादक की इस पूँजी को अचल पूँजी कहते हैं। इन मशीनों की टूट-फूट तथा इनकी घिसावट पर उसे व्यय करना पड़ता है। मशीनें सदा स्थायी नही रह सकतीं अतएव प्रति-वर्ष की कुल उत्पादित सम्पत्ति में से कुछ भाग एक कोष में जमा कर दिया जाता है जिससे निश्चित समय पर नयी मशीनें खरीदी जा सकें। इसी प्रकार कच्चे माल इत्यादि अचल पूँजी पर भी उत्पादक को सदा व्यय करना पड़ता है अन्यथा उत्पादन हो सकना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सरकारी टैक्स तथा बीमे पर भी कुछ द्रव्य का व्यय होता है। यह व्यय उत्पादन-कार्य को आगे बढ़ाने के लिये अनिवार्य होते हैं। यदि यह व्यय न किया जाय तो उत्पादन के अधिकांश साधनों की शक्ति का पूर्ण उपयोग नही किया जा सकता है। अतएव सम्पत्ति के इस भाग का वितरण नहीं किया जा सकता। इसलिये कुल उत्पादित सम्पत्ति में से इस व्यय-भाग को घटाकर जो शेष सम्पत्ति रहती है उसको उत्पादन के साधनों में बाँटा जाता है। इसे वास्तविक सम्पत्ति कहते हैं। इसी प्रकार

राष्ट्र की एक वर्ष की कुल सम्पत्ति में से केवल वास्तविक सम्पत्ति का वितरण किया जा सकता है। राष्ट्रीय वास्तविक सम्पत्ति में राष्ट्र की प्रत्येक इकाई का सहयोग बराबर नहीं हो सकता है क्योंकि राष्ट्र की प्रत्येक इकाई समान नहीं है। समाज में अनेक वर्ग हैं जिनके पास भिन्न-भिन्न मात्रा में सम्पत्ति होती है, कुछ अत्यन्त निर्धन होते हैं जो सेवा अथवा द्रव्य किसी भी रूप से राष्ट्रीय सम्पत्ति में योगदान नहीं दे सकते। राष्ट्रीय सम्पत्ति में कुछ भाग विदेशी-आय का भी होता है? समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से इनमें से अनेक पक्ष महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं परन्तु अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से वितरण में इन पक्षों का दूसरी प्रकार से अध्ययन किया जाता है। यदि एक कारखाने, मिल या किसी और उत्पादन के कार्य में उत्पादन के साधनों का उपयोग किया जा रहा है तो यह जानना आवश्यक है कि इन साधनों की प्रति इकाई को किस रीति से सम्पत्ति का कौन सा भाग देना चाहिये। अर्थात् यह वितरण की दूसरी समस्या है कि उत्पादन के प्रति साधन की प्रति इकाई का कुल उत्पादित सम्पत्ति में भाग किस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित किया जाय। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया है परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री केवल इसी दूसरी समस्या पर अधिक बल देते हैं।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन में भूमि का प्रयोग किया जाता है। अतएव इस उपयोग के भुगतान के बदले में भूमिपति (Landlord) को लगान (Rent) दिया जाना चाहिये। उनके अनुसार लगान जैसा अगले अध्याय में रिकार्डो के सिद्धान्त के अन्तर्गत बताया जायगा, भूमि की अधिक उपज (Surplus) था। उनका कहना था कि जो कुछ भी उपज होगी उसकी कुल मात्रा में से सर्वप्रथम भूमिपति को लगान (Rent) देना पड़ेगा। इसके पश्चात् शेष उपज में से श्रमिकों के पारिश्रमिक के लिये एक पारिश्रमिक-कोष (Wage Fund) का निर्माण किया जायगा। इस पारिश्रमिक-कोष की एक विशेषता है। उनका मत था कि यदि पारिश्रमिक अधिक मिलेगा तो श्रमिकों की सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति को बल मिलेगा। अतएव पारिश्रमिक अधिक नहीं हो सकता। दूसरी ओर पारिश्रमिक इतना कम भी नहीं हो सकता जिससे श्रमिक जीवित न रह सकें। अतएव पारिश्रमिक न अधिक होना चाहिये न अत्यन्त कम अर्थात् केवल इतना भर होना चाहिये जिससे श्रमिक जीवित रह सकें। इसलिये पारिश्रमिक-कोष इतना होना चाहिये जिसको यदि श्रमिकों की कुल संख्या से विभाजित किया जाय तो प्रति श्रमिक इतना पारिश्रमिक हो जिससे वह जीवित रह सकेगा। इससे श्रमिकों की पूर्ति (Supply) न कम पड़ेगी और न अधिक।

इसके पश्चात् उन्होंने कहा कि अब जो शेष रहा वह उत्पादक का हिस्सा है। इस प्रकार उन्होंने सूद और लाभ (Interest and Profit) में विशेष अन्तर नहीं रखा। यह सम्भव है कि एक ही उत्पादक पूँजीपति और साहसी दोनों हो सकता है परन्तु कुल सम्पत्ति के उक्त शेष भाग में से उसे अपनी लगायी पूँजी के ऊपर सूद (Interest) और अपने साहस के परिमाण के उपयुक्त लाभ (Profit) मिलना चाहिये था। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने दोनों को एक में मिला दिया। उनके अनुसार पारिश्रमिक श्रमिक को जीवित रखने के लिये ही दिया जाना चाहिये। उन्होंने पारिश्रमिक और श्रमिक के श्रम का परस्पर कोई सम्बन्ध स्थिर नहीं किया। यद्यपि वितरण के विषय में यह कहा जाता रहा कि प्रत्येक साधन को उसके कार्य के अनुसार भुगतान किया जाय परन्तु उक्त पारिश्रमिक-कोष (Wage Fund) के सिद्धान्त से यह कथन सिद्ध नहीं किया जा सकता है और श्रमिक के प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता। पारिश्रमिक-कोष के आधार पर हम प्रति श्रमिक के कार्य के परिमाण का अनुमान नहीं लगा सकते हैं। अतएव इन सब कारणों से वितरण सम्बन्धी उक्त मत मान्य नहीं हो सकता है।

वितरण का आधुनिक सिद्धांत

यह पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के प्रति साधन की प्रति इकाई के न्यायोचित भाग की माँग करते हैं। उनके अनुसार प्रति साधन का भुगतान उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के अनुसार होना चाहिये। अतएव वितरण के आधुनिक सिद्धान्त को हम सीमान्त-उत्पादन-शक्ति (Marginal Productivity) का सिद्धान्त कह सकते हैं।

यदि किसी उत्पादन के साधनों का भुगतान करना है तो पहले साधनों का अलग वर्गीकरण कर लेना पड़ेगा और फिर यह मालूम करना पड़ेगा कि उस साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कितनी है। जब सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ज्ञात हो जाय तो उतना ही भुगतान करना चाहिये। मान लीजिये किसी कारखाने में एक मजूर की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ज्ञात करनी है। यदि साधारण रूप से देखें तो विदित होगा कि कारखाने में काम करनेवाले अनेक मजूरों में कोई भी दो मजूर समान नहीं हैं। सब शक्ति, आयु इत्यादि के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न हैं। अतएव यह सहज ही कहा जा सकता है कि इन मजूरों की उत्पादन-शक्ति भी समान नहीं हो सकती है। इस समस्या को सुलझाने के लिये मशीन इत्यादि उत्पादन के साधनों को स्थिर मान लिया जाता है और जिस श्रमिक की

सीमान्त-उत्पादन-शक्ति जानना चाहते हैं उसकी समान श्रेणी को लिया जाता है। यदि वह अकुशल श्रमिक है तो उसके साथ काम करनेवाले श्रमिक भी अकुशल मान लिये। इसके पश्चात् मशीन इत्यादि उत्पादन के साधनों को स्थिर रखकर उक्त प्रकार के श्रमिकों की संख्या में एक श्रमिक की वृद्धि की। उत्पादन की मात्रा में उसके उपयोग से जो वृद्धि हुई वह उस श्रमिक की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कही जायगी।

किसी फर्म की कुल उत्पादन की मात्रा में उसके परिवर्तनशील साधन की मात्रा में थोड़ी सी वृद्धि करने से जो वृद्धि हो जाती है उसे सीमान्त-उत्पादन-शक्ति कहते हैं। उदाहरणार्थ :—

मशीन पर काम करनेवाले श्रमिकों की संख्या	कुल उत्पादन	प्रति इकाई सीमान्त उत्पादन-शक्ति
१००	१,०००	...
१०१	१,०१०	१०
१०२	१,०१५	५
१०३	१,०१८	३

उक्त उदाहरण में मशीन, कच्चा माल इत्यादि उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर मानकर केवल परिवर्तनशील साधन श्रम की मात्रा में एक इकाई की वृद्धि की गयी है। प्रारंभ में मशीन और १०० श्रमिक मिलकर कुल १,००० इकाइयों का उत्पादन करते थे। प्रति इकाई सीमान्त-उत्पादन-शक्ति ज्ञात करने के लिये श्रमिकों की संख्या में १ इकाई की वृद्धि कर दी। इस वृद्धि के फलस्वरूप कुल उत्पादन १,००० से बढ़कर १,०१० इकाइयाँ हो गया। अर्थात् अन्तिम इकाई या सीमान्त इकाई की उत्पादन शक्ति १० इकाइयाँ हुई क्योंकि १,०१० इ०–१,००० इ० = १० इकाइयाँ। इसी प्रकार यदि उत्पादक श्रम की मात्रा बढ़ाते जाय अर्थात् १०१ से १०२ और फिर १०३ कर दे तो इससे कुल उत्पादन बढ़ता जाता है और प्रति इकाई सीमान्त-उत्पादन-शक्ति में क्रमशः १०, ५, ३ इकाइयाँ ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति दिखलाती हैं।

यदि उक्त उदाहरण को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि श्रम की मात्रा में वृद्धि करते जाने से प्रति इकाई उत्पादन शक्ति घटती जाती है। इस उदाहरण में यह मान लिया गया है कि मशीन अपनी पूरी शक्ति से काम कर रही है। यह स्थिति क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम की ओर संकेत करती है। कुल उत्पादन में परिवर्तनशील साधन में वृद्धि करने से वृद्धि अवश्य होती है परन्तु साधन की वृद्धि के अनुपात में नहीं। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जब स्थिर साधन मशीन के साथ १०० श्रमिक कार्य कर रहे थे तो प्रति श्रमिक को मशीन का अधिक

भाग उत्पादन के लिये मिल सका परन्तु जैसे-जैसे श्रमिकों की संख्या बढ़ी तो वह भाग कम होता गया और उसी तरह सीमान्त-उत्पादन-शक्ति भी घटती गयी। इसी कारण जैसे-जैसे श्रमिकों की संख्या में वृद्धि की जाती है तो श्रमिकों का पारिश्रमिक भी कम होता जाता है और यदि श्रमिकों की सख्या घटायें तो पारिश्रमिक बढ़ेगा। अर्थात् जिस साधन की मात्रा में वृद्धि की जाती है उसका पारिश्रमिक घटता जाता है और यदि पूर्ति की मात्रा में कमी कर दें तो पारिश्रमिक में वृद्धि होती है। इसके साथ ही यदि श्रमिकों इत्यादि की मात्रा स्थिर रखकर मशीन की मात्रा में घटती-बढ़ती करें तो सीमान्त-उत्पादन-शक्ति में क्रमशः वृद्धि और ह्रास दृष्टि-गोचर होगा। उत्पादन के सभी साधन इसी प्रकार का आचरण करेंगे। इसलिये उत्पादन के सभी साधनों को भुगतान न कम दिया जा सकता है और न अधिक। वह भुगतान उस साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर ही होगा।

प्रतिस्थापन्न-नियम (Law of Substitution) में यह बताया जा चुका है कि उत्पादक मशीन और अन्य साधनों का उत्पादन में इस अनुपात में प्रयोग करता है जिससे सीमान्त इकाई का पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन से अधिक न हो। यदि अल्पकालिक दृष्टिकोण से देखें तो यह संभव हो सकता है कि उत्पादन के साधन की पूर्ति माँग के अनुपात में कम हो। इससे उस साधन में व्यय की मात्रा बढ़ सकती है। इसी प्रकार माॅग कम और पूर्ति अधिक होने पर व्यय की मात्रा घट सकती है। यह इसलिये होता है कि बाजार में उत्पादन के साधनों की पूर्ति की मात्रा निश्चित नहीं होती है। इस दृष्टि से श्रमिक का पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से कुछ अधिक हो सकता है। परन्तु उत्पादन अधिकतर दीर्घकालिक दृष्टिकोण से किया जाता है। दीर्घकाल में साधन को भुगतान सदा सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर ही होता है अधिक नही हो सकता है और कम भी नही। यदि पारिश्रमिक साधन की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक होगा तो उत्पादक को कारखाना बन्द कर देना पड़ेगा और यदि कम होगा तो श्रमिक काम करने के लिये तैयार नही होगा। इस कारण उत्पादक को पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर ही देना पड़ता है। परन्तु अल्पकाल में भी साधन को पारिश्रमिक उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर दिया जा सकता है। यह साधन की गतिशीलता (Mobility of Factor) पर निर्भर करता है। यदि साधन गतिशील नहीं है तो उसे न्यून पारिश्रमिक पर भी काम करना पड़ेगा क्योंकि वह विवश है और दूसरे स्थानों पर नहीं जा सकता है या दूसरे उपयोग में नही आ सकता है। यदि साधन गतिशील होगा तो वह ऐसे स्थानों में जायगा

जहाँ पारिश्रमिक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर मिल सके या अधिक प्रयोगों में आने से उसका मूल्य अस्थायी रूप से घट-बढ़कर एक ऐसे स्थान पर स्थिर होगा जो उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के आधार पर वितरण करने से साधन के प्रति न्याय किया जा सकता है जो पारिश्रमिक-कोष के प्राचीन अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त से कहीं अधिक मान्य है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'वितरण' का अर्थ समझाइये और यह बतलाइये कि अर्थशास्त्र के अध्ययन में इसका क्या महत्व है।

२. प्राचीन अर्थशास्त्रियों का पारिश्रमिक कोष (Wage Fund) का सिद्धान्त क्या है ? क्या यह वितरण का सही सिद्धान्त है ?

३. वितरण के सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के सिद्धान्त की आलोचना कीजिये।

अध्याय ५३

लगान (Rent)

अपढ़ जनता भी लगान शब्द से परिचित है। अधिकांश व्यक्तियों को व्यावहारिक जीवन में किसी न किसी रूप में लगान देना ही पड़ता है। भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश अवश्य है पर अधिकतर किसान बिना भूमि के हैं। वे असामियों की तरह जमीदारों के खेत जोतते-बोते हैं। उन्हें इसके लिये जमीदार को लगान देना पड़ता है। किराया भी लगान के अन्तर्गत ही समझा जाता है। घाटों, मशीनों इत्यादि का किराया देना पड़ता है। शहर में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना घर होना असम्भव है अतएव अधिकतर लोगों को किराये के मकानों पर रहना होता है। यदि हम लगान या किराये पर प्राप्त होनेवाली वस्तुओं को देखें तो ज्ञात होगा कि उनमें भूमि-भाग अवश्य सम्मिलित है। वास्तव में लगान इसी भूमि-भाग के उपयोग का ही दिया जाता है परन्तु बोलचाल में यह स्थिति स्पष्ट नही हो पाती है।

अर्थशास्त्र में लगान का विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है। उक्त उदाहरणों में लगान शुद्ध लगान नही कहा जा सकता है। लगान भूमि की उस शक्ति के उपयोग का भुगतान है जो मौलिक और अविनाशी है। भूमि के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि भूमि की मात्रा स्थिर रहती है। उसे मनुष्य घटा-बढ़ा नहीं सकता है। भूमि प्रकृति की देन है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार लगान भूमि की इन्ही विशेषताओं का भुगतान है। अर्थशास्त्र में उसे आर्थिक लगान (Economic Rent) कहते हैं। परन्तु उक्त उदाहरणों में जो लगान या किराया दिया जाता है वह भूमि के इन गुणों के साथ ही कुछ और साधनों का भुगतान भी है। ये अन्य साधन श्रम, पूँजी, साहस इत्यादि हैं। असामियों के रूप में जोतने-बोने के लिये जो भूमि किसान जमींदारों से लेता है उसे जमीदार श्रम, पूँजी, साहस इत्यादि का प्रयोग करके ही प्राप्त करता है। जब किसान उक्त भूमि के उपयोग के लिये लगान देता है तो उसमें उक्त साधनों का पुरस्कार भी सम्मिलित होता है। किसान लगान के रूप में जमींदार के श्रम का वेतन, उसकी लगायी पूँजी का व्याज, साहस का लाभ और भूमि के मौलिक और अविनाशी गुणों का पुरस्कार देता है। लगान के इस रूप को शुद्ध लगान न कहकर कुल लगान कहा जाता है।

आर्थिक लगान जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है भूमि के मौलिक

तथा अविनाशी गुण का भुगतान है। इसमें उसकी स्थिरता की विशेषता भी सम्मिलित है। प्रायः व्यावहारिक क्षेत्र में यह देखा जाता है कि प्रत्येक किसान या अन्य व्यक्ति समान लगान नहीं देते हैं। यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक व्यक्ति के पास समान मात्रा में भूमि-भाग नहीं है तो उक्त शंका व्यर्थ सी प्रतीत होती है परन्तु यदि एक ही मात्रा में भूमि-भाग का उपयोग करनेवाले दो व्यक्ति विभिन्न मात्रा में लगान देते हैं तो उक्त शंका अधिक दृढ़ होती जाती है। परन्तु यदि भूमि की मात्रा के स्थान पर हम उस मात्रा की उत्पादन शक्ति का निरीक्षण करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

भूमि सर्वत्र समान नहीं है। स्थिति-वश या प्राकृतिक कारणों से भूमि की उत्पादन शक्ति भी समान नहीं होती है। एक ही प्रदेश की भूमि के विभिन्न भागों की उत्पादन शक्ति विभिन्न होती है। अतएव लगान जो भूमि की उत्पादन शक्ति का भुगतान भी कहा जा सकता है समान नहीं होता है। अच्छी भूमि का लगान, जिसकी उत्पादन शक्ति अधिक होती है और जिसकी स्थिति भी अनुकूल होती है, अधिक होता है और उसी मात्रा की कम उपजाऊ भूमि का लगान कम होता है। आर्थिक लगान को उत्पादन की मात्रा के दृष्टिकोण से इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि भूमि चार प्रकार की है—'अ', 'ब', 'स' और 'द'। इन चारों की मात्रा समान है पर पूँजी और श्रम की समान मात्रा का उपयोग करने पर भी उत्पादन की मात्रा असमान रहती है। 'अ', 'ब', 'स' और 'द' में क्रमशः ३०, २५, २० और १० मन उपज होती है। 'अ' सबसे अच्छी भूमि कही जायगी। आर्थिक लगान अच्छी भूमि की उस उत्पादित मात्रा के बराबर होगा जो सीमान्त-उत्पादन-शक्ति वाले भू-भाग की उपज से अधिक है; अर्थात् जिस भूमि में सीमान्त भूमि के उत्पादन से जितना अधिक उत्पादन हुआ होगा वह उस भूमि का आर्थिक लगान कहा जायगा। उक्त उदाहरण में 'अ' की उत्पादन-शक्ति ३० मन के बराबर है और 'द' सीमान्त भूमि-भाग है जिसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति १० मन के बराबर है। अतएव 'अ' भूमि पर आर्थिक लगान ३० – १० = २० मन होगा। इसी प्रकार 'ब' और 'स' का लगान क्रमशः १५ मन और १० मन होगा। यह लगान इस मान्यता पर निर्भर है कि प्रत्येक भू-भाग की उत्पादन-शक्ति मनुष्य न बढ़ा सकता है और न घटा सकता है, वह मौलिक और अविनाशी है। परन्तु यदि उपज के मूल्य के दृष्टिकोण से आर्थिक लगान के उक्त उदाहरण को देखें तो हमें कुछ सावधानी रखनी होगी। सीमान्त भूमि उस भूमि को कहते हैं जिसमें उत्पादित वस्तु का मूल्य और उत्पादन व्यय बराबर हों। यदि १ रुपया प्रतिमन उपज का मूल्य हो तो

'अ', 'ब' 'स' का आर्थिक लगान क्रमशः २० रुपया, १५ रुपया और १० रुपया होगा। परन्तु यदि किसी कारण मूल्य १ रुपये से बढ़कर २ रुपया प्रतिमन हो जाय तो आर्थिक लगान भी उसी अनुपात में बढ़ जायेगा। संक्षेप में आर्थिक लगान प्रत्येक भू-भाग के उत्पादन और सीमान्त भू-भाग के उत्पादन के अन्तर के बराबर होता है। यदि भूमि का अधिकारी किसान ही हो तो भूमि के प्राकृतिक गुणों की विशेषता का उपभोग वह स्वयं करेगा। तब उन गुणों की विशेषता का उस भू-भाग के स्वामी को भुगतान करने का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि वह स्वयं स्वामी होता है।

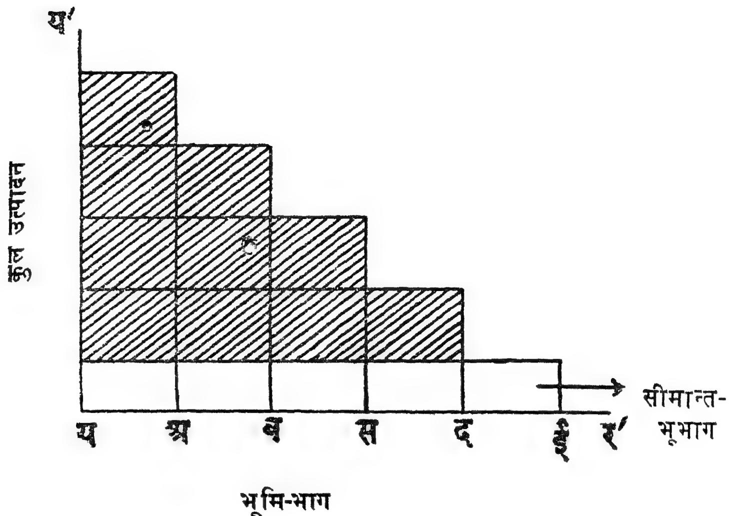
१८वी सदी के अन्त में एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो ने लगान का एक सिद्धान्त खोज निकाला जिसे रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त कहते है। रिकार्डो के पूर्व के अर्थशास्त्रियों के अनुसार लगान भूमि के प्रयोग करने का भुगतान है। रिकार्डो ने बताया कि पहले भूमि की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध थी। जब नये निवासी किसी नये देश में बसते है तो वे सर्वप्रथम सबसे अच्छी भूमि को अपने प्रयोग में लाते है। प्रायः कुछ समय तक वह भूमि उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ रहती है परन्तु क्रमशः जन-संख्या में वृद्धि होने से वह भूमि कम पड़ने लगती है। निवासी सारी अच्छी भूमि का उपयोग करने लगते है। परन्तु जनसंख्या के बढ़ने का क्रम रुकता नही है और अच्छी भूमि की समाप्ति के पश्चात् उससे कम अच्छी भूमि पर पैदावार की जाती है। इस क्रम से यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि सीमान्त भूमि का उपयोग न हो गया हो। रिकार्डो के अनुसार सीमान्त भूमि वह भूमि है जिसका कुल उत्पादन उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। इस सीमान्त भूमि को बिना लगान की भूमि कहते है। इस भूमि में उत्पादक जितना श्रम, पूँजी इत्यादि लगायेगा उतना ही इसके कुल उत्पादन से प्राप्त कर सकेगा। जो भूमि इस सीमान्त भूमि से अच्छी होती है उसकी उत्पादन शक्ति भी अधिक होती है और सीमान्त भूमि के उत्पादन से जितना अधिक उत्पादन इसमें होगा वह लगान कहलायेगा। रिकार्डो ने इसे अतिरिक्त उपज (Differential Surplus) कहा। यह अतिरिक्त उपज भूमि की उन प्राकृतिक शक्तियों के कारण ही हुई जिनका सीमान्त भूमि में अभाव है। यही भूमि की मौलिक और अविनाशी शक्ति है। यह शक्ति ईश्वरप्रदत्त होती है। मनुष्य इसमें घट-बढ़ नही कर सकता है। तात्पर्य यह है कि भूमि की इस प्राकृतिक उत्पादन शक्ति की ह्रास-वृद्धि में मनुष्य कुछ नही कर सकता है। यह शक्ति ईश्वरप्रदत्त होने के कारण कुल उत्पादन में पहले अपना अधिकार ले लेती है और अन्य भुगतान ब्याज, लाभ इत्यादि के रूप में इसके पश्चात् होते है। इसके साथ ही लगान भूमि की स्थिति

पर भी निर्भर करता है। यदि एक समान उत्पादन शक्ति वाली अच्छी भूमि शहरों के निकट, व्यापारिक केन्द्रों या रेल-मोटर के छोटे स्टेशनों के निकट है तो उसका लगान उस भूमि के लगान से अवश्य अधिक होगा जो शहर से दूर है और यातायात की असुविधा से पूर्ण है। यातायात-व्यय इतना अधिक हो जाता है कि उत्पादक के पास कुछ शेष नही बचता है। शहरों और व्यापारिक केन्द्रों के निकट की भूमि से उत्पादित वस्तु विक्रय के लिये कम यातायात-व्यय पर वाछित स्थानों तक ले जायी जा सकती है और इसमें उत्पादक के पास उत्पादन का काफी अंश शेष रह जाता है जो उसकी बचत होता है। सीमान्त भूमि मे यह बचत नही होती है। यदि भूमि का केवल एक ही खण्ड हो जिसकी उत्पादन शक्ति निश्चित हो तब भी लगान का उक्त दृष्टिकोण लागू हो जाता है। आवश्यकता की वृद्धि के साथ ही भूमि पर गहरी खेती या गहरा उत्पादन आवश्यक हो जायेगा। उत्पादन के नियमों के अध्याय में हम पढ़ चुके है कि जैसे-जैसे पूँजी व श्रम की मात्रा की वृद्धि की जाती है तो कुल उत्पादन में वृद्धि साधन में की गयी वृद्धि के अनुपात में नही होती है। अर्थात् ऐसी स्थिति में क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू हो जाता है। यही स्थिति इस भूमि-खण्ड की भी होती है। प्रथम बार जब उत्पादन आरंभ किया जाता है तो श्रम अथवा पूँजी की एक निश्चित मात्रा का प्रयोग किया जाता है। इसी परिमाण से जैसे जैसे हम श्रम अथवा पूँजी की नयी इकाइयाँ लगाते जायँगे कुल उत्पादन में वृद्धि ह्रासोन्मुख होगी। एक स्थिति ऐसी आ जायगी जब अधिक नयी इकाइयाँ लगाना लाभकर सिद्ध न होगा। इस सीमान्त स्थिति में कुल उत्पादन उत्पादन-व्यय के बराबर ही होगा। यह बिना लगान की स्थिति होगी। इससे पूर्व की प्रत्येक बढ़ी इकाइयाँ क्रमशः ह्रासोन्मुख लगान देंगी।

रिकार्डो के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लगान निम्न रेखाचित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है:—

उक्त रेखाचित्र में य य' में विभिन्न भू-भागों का कुल उत्पादन दिखाया गया है और य र' में भूमि के भाग। जब प्रथम बार मनुष्य ने खेती आरम्भ की तो उसने सबसे उपजाऊ भूमि अ को चुना। परन्तु आवश्यकता बढ़ते रहने से कम उपजाऊ भूमि को जोतना-बोना पडा और क्रमशः अ, ब, स, द, ई भू-भागों में खेती होने लगी। ई भाग पर पहुँच-कर उत्पादक को ज्ञात हुआ कि उस भूमि में जितनी श्रम, पूँजी इत्यादि की मात्रा लगायी जाती है वही अन्य भू-भागों में भी लगायी जाती है परन्तु अन्य भागों में उसके द्वारा उपज उत्पादन-व्यय से अधिक होती है जब कि ई भू-भाग में ठीक उत्पादन-व्यय के बराबर ही। अतएव ई

भू-भाग सीमान्त भू-भाग हुआ। यदि हम उक्त रेखाचित्र मे ई भू-भाग के कुल उत्पादन की मात्रा प्रत्येक भू-भाग मे से घटाते जायें तो शेष भाग



भूमि-भाग

रिकार्डो की परिभाषा के अनुसार लगान होगा। उक्त चित्र मे अ, ब, स, द का रँगा भाग इसी लगान को दिखाता है। इस चित्र से हम लगान की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का भी अध्ययन कर सकते है।

परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो को रिकार्डो का मत मान्य नही है। यह सारा लगान का ढाँचा केवल सीमान्त भूमि की मान्यता पर टिका है। क्योकि सीमान्त भूमि के आधार से ही अन्य भू-भागो के लगान को निर्धारित किया जा सकता है जैसा उक्त उदाहरण मे भी दिखाया गया है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का मत है कि यह बताना अत्यन्त कठिन है कि कौन भूमि अच्छी उपजाऊ है और कौन सीमान्त। यदि हम ग्रामो मे जाकर किसानो से पूछे कि सीमान्त भूमि कौन सी है और इस दृष्टि से सबसे अच्छी भूमि कौन सी है तो वह इसका कुछ उत्तर न दे सकेगा। वह इतना अवश्य बता सकता है कि अमुक भू-भाग मे पैदावार अधिक होती है और अमुक भाग मे बहुत कम। परन्तु वह भाग जिसमे पैदावार बहुत कम होती है सीमान्त भूमि नही कही जा सकती है। सीमान्त भूमि और कम उपज वाली भूमि बिल्कुल भिन्न भू-भाग है। इसके साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि सीमान्त भूमि मे लगान नही होता है परन्तु सबसे कम उपजाऊ भूमि पर कुछ न कुछ लगान अवश्य होता है।

यह लगान सीमान्त भूमि के कुल उत्पादन को इसमें से घटाकर प्राप्त नहीं किया गया है क्योंकि सीमान्त भूमि का तो किसान को पता ही नहीं होता है।

रिकार्डो के मत के अनुसार लगान अच्छी भूमि की उपज और सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर है। अर्थात् लगान अतिरिक्त उपज है। भूमि के विषय में यह तुरन्त उचित जान पड़ता है। परन्तु यदि हम श्रमिकों की ओर दृष्टि डालें तो विदित होगा कि प्रत्येक श्रमिक भिन्न-भिन्न प्रकार का है और प्रत्येक की कार्यक्षमता में कुछ समानता नहीं। यदि वे पृथक् रूप से उत्पादन करें तो लगान का उक्त सिद्धान्त तो उनमें भी लागू हो जाता है। जिस प्रकार हम भूमि के विभिन्न भागों का लगान सीमान्त भूमि की उपज की सहायता से निकाल सकते हैं उसी प्रकार हम श्रमिकों की मजूरी भी निर्धारित कर सकते हैं। अतएव मजूरी के विषय में नवीन सिद्धान्तों, नवीन विधियों की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार उत्पादन के प्रत्येक साधन की प्रत्येक इकाई अच्छी, कम अच्छी और बुरी होती है और जब उत्पादन आरम्भ होता है तो उक्त सिद्धान्त से प्रत्येक के श्रम और कार्यक्षमता का भुगतान किया जा सकता है। उसके लिये नवीन सिद्धान्तों की आवश्यकता नहीं है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि में उक्त सिद्धान्त उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

लगान के सिद्धान्त में सीमान्त भूमि का कथन है सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का नहीं। परन्तु जब दो प्रकार की भूमियों की तुलना की जाती है तो उनकी उत्पादन-शक्ति ही इस तुलना का आधार बनती है। विना सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के विचार के भूमि को सीमान्त नहीं कहा जा सकता है। अतएव यदि सीमान्त भूमि के स्थान पर सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के दृष्टिकोण का व्यवहार किया जायगा तो लगान इत्यादि के निर्धारण में सरलता आ जायगी।

रिकार्डो का मत है कि भूमि की उपज-शक्ति ईश्वरप्रदत्त है, मौलिक है और अविनाशी है। परन्तु व्यवहार में देखा जाय तो उपज-शक्ति का एक अंश अवश्य मौलिक है परन्तु अधिकांश मनुष्य जोतकर, खाद, सिंचाई इत्यादि में व्यय करके उसको बढ़ाता है; प्रायः उत्पन्न करता है। उपज-शक्ति का क्रमशः नाश होता है जिसका संकेत क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम के अन्तर्गत किया जा चुका है। रिकार्डो ने विस्तृत खेती को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने गहरी खेती के विषय में गम्भीरतापूर्वक नहीं सोचा। गहरी खेती में स्पष्ट है कि मनुष्य उपज-शक्ति को बढ़ाता है और अधिक उत्पादन करने में सफल भी रहा है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के ऐतिहासिक कथन का विरोध किया है। उनका कहना है कि यह सम्भव नहीं है कि प्रवासी सबसे पहले

उपजाऊ भूमि का ही प्रयोग करेंगे। उपजाऊ भूमि सदा उपजाऊ है अतएव प्रवासियों के जाने तक उसमें अवश्य जंगलों की भरमार रहेगी। इसलिये प्रवासी को पहले उन स्थानों पर रहना पड़ेगा जो खुले हों; सुरक्षित हों। यह बहुत सम्भव है कि ऐसे स्थान कम उपजाऊ हों। प्रवासी पहले अपने निवास, भोजन इत्यादि का प्रबन्ध करेंगे तत्पश्चात् उपजाऊ भूमि की ओर बढ़ेंगे।

रिकार्डो ने बेलगान भूमि (No Rent Land) की भी कल्पना की है परन्तु व्यवहार में ऐसी भूमि मिलना प्रायः असम्भव है। साइबेरिया के ठंडे प्रदेश में जहाँ मनुष्य जाने से डरता था धानों की खेती करने का प्रयत्न किया जा रहा था, रेगिस्तानों को उपजाऊ बनाने के भी प्रयत्न हो रहे है। जिन स्थानों की कुछ समय पहले कुछ महत्ता नहीं थी अब वही आकर्षण के केन्द्र बने हैं। इसलिये यह कहना कि भूमि बेलगान मिल सकती है अनुचित होगा क्योंकि भूमि की कमी और माँग की वृद्धि के फलस्वरूप ही उक्त कार्य किये जा रहे है।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त

रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त में और आधुनिक लगान के सिद्धान्त में बहुत अन्तर है। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन-क्रिया के दृष्टिकोण से श्रम, भूमि, पूँजी, साहस, संगठन में विशेष अन्तर नही समझते हैं। भूमि की आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत इस दृष्टिकोण को समझाया जा चुका है। साधनों के गुणों (qualities) में अवश्य अन्तर है परन्तु जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है सब उत्पादन के साधन ही है और सब साधनों का भुगतान एक विधि से होना अनिवार्य है। इसका कोई कारण नहीं है कि किसी साधन के भुगतान को लगान, किसी को मजूरी, ब्याज या किसी को लाभ इत्यादि विभिन्न प्रकार के वर्गो में विभाजित किया जाय। आधुनिक अर्थशास्त्री यह नहीं कहते है कि भूमि के भुगतान को लगान, श्रम के भुगतान को मजूरी या वेतन इत्यादि न कहें। उनका मत है कि लगान, वेतन, ब्याज इत्यादि को निर्धारित करने के अनेक सिद्धान्त नही है वरन् सबको निर्धारित करने का केवल एक नियम है जिसे सीमान्त-उत्पादन शक्ति (Marginal Productivity) का नियम कहते है।

मूलतः उत्पादन के साधनों में परस्पर कुछ अन्तर नहीं है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उनमें कई भेद किये थे। उनके अनुसार भूमि प्रकृति की देन है। मनुष्य न उसकी मात्रा घटा सकता है और न बढ़ा सकता है। इस स्थिरता की विशेषता का आधार लेकर उन्होंने भूमि को अन्य साधनों से पृथक् कर दिया। प्रकृति की देन होने से मनुष्य को त्याग भी नही करना पड़ा अर्थात् इसका कुछ उत्पादन व्यय नही हुआ। यह अन्तर अर्थ-

हीन है। यह कहना उचित नहीं है कि भूमि प्रकृति की देन है उसे बढ़ाया-घटाया नहीं जा सकता। इस बात को समझाने के लिये दो प्रकार के दृष्टिकोणों का आधार लेना पड़ेगा।

(१) अल्पकालिक दृष्टिकोण से--भूमि, श्रम, पूँजी किसी विशेष उपयोग के लिये।

(२) सृष्टि के दृष्टिकोण से।

यदि हम किसी विशेष उपयोग के दृष्टिकोण से उत्पादन के साधनों का अध्ययन करें तो विदित होगा कि मनुष्य प्रत्येक साधन को घटा-बढ़ा सकता है। यदि हमें भवन निर्माण के लिये ही भूमि की आवश्यकता है तो लाखों एकड़ भूमि प्राप्त हो सकती है उसी प्रकार यदि सीमेंट के कारखाने के लिये ही श्रमिकों की आवश्यकता हो तो लाखों श्रमिक प्राप्त हो सकते हैं। दूसरी भ्रान्ति यह फैली हुई है कि भूमि उत्पादन का स्थिर साधन है परन्तु श्रम गतिशील है। हमें साधन की अवस्था को नहीं देखना है वरन् इस बात का अध्ययन करना है कि साधन का उपयोग क्या है। श्रमिक अपनी गतिशीलता के कारण काम अधिक कर सकता है परन्तु भूमि भी तो गहरी खेती करके अधिक उत्पादन कर सकती है। एक निश्चित परिमाण के भूमि खण्ड में ४८ मंजिल का मकान बनाकर उस परिमाण को ४८ गुना बढ़ाया जा सकता है। समुद्र से भूमि प्राप्त करके उसे खेती इत्यादि के उपयोग में लाया जाता है।

सृष्टि के दृष्टिकोण से यदि हम उत्पादन के साधनों को देखें तो इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि भूमि की पूर्ति निश्चित है, उसे घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। वह ईश्वरप्रदत्त है और उसीकी इच्छा पर निर्भर। परन्तु यदि इसी दृष्टि से श्रम का अध्ययन करें तो विदित होगा कि मनुष्य ईश्वर की इच्छा के बिना न एक श्रमिक अधिक पैदा कर सकता है और न एक कम। मनुष्य सृष्टिकर्त्ता के सामने असहाय है और कुछ नहीं कर सकता है। इस दृष्टि से उत्पादन के सभी साधन एक समान हुए।

प्राचीन अर्थशास्त्री मानते थे कि भूमि ईश्वरप्रदत्त या प्रकृति की देन है। मनुष्य को इसके निर्माण में त्याग नहीं करना पड़ा। इसका उत्पादन-व्यय भी कुछ नहीं है। परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। मनुष्य को भूमि प्राप्त करने के लिये बहुत कष्ट उठाने पड़े हैं, बहुत त्याग करना पड़ा है। जंगलों को काटकर, कठोर धरती को खोद-जोत-बोकर इत्यादि प्रकारों से उसने अपने योग्य बनाया। अतएव यह कहना सरासर भूल होगी कि मनुष्य ने प्रकृति की देन भूमि को प्राप्त करने के लिये परिश्रम नहीं किया या त्याग नहीं किया।

प्राचीन अर्थशास्त्रियो की विचारधारा और आधुनिक विचारधारा का सम्बन्ध :——लगान का विवेचन करते समय प्राचीन अर्थशास्त्रियो का एक मुख्य आधार यह था कि एक साधन स्थिर है और दूसरा नही है। इसमे बडा अन्तर है। उन्होने यह सोचा कि भूमि सदा स्थिर होती है अतएव इसका भुगतान लगान होगा। वास्तव मे उनका तात्पर्य यह था कि जो भी साधन स्थिर हो उसका भुगतान लगान होता है। प्रत्येक साधन कुछ समय के लिये तो स्थिर ही रहता है। उनका स्थिर का तात्पर्य गतिहीन था और इसी स्थूल अर्थ के कारण कुछ भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयी। वास्तव मे स्थिर साधन को विशिष्ट (Specific) साधन कहना अधिक उपयुक्त होगा। अतएव यह कहना चाहिये कि लगान किसी भी साधन के विशिष्टता के गुण का पुरस्कार है। इस दृष्टिकोण मे और प्राचीन अर्थशास्त्रियो के दृष्टिकोण मे बहुत कुछ समानता भी है और वही दोनो विचारधाराओ को जोडनेवाली कडी (Link) है। अन्तर केवल इतना है कि जो भी साधन विशिष्ट (Specific) है, जितनी देर तक है और जितने अश (Degree) तक है उसी सीमा तक वह लगान का अधिकारी होगा जैसा कि हम भूमि की आधुनिक परिभाषा मे बतला चुके है कि भूमि ही केवल विशिष्ट साधन नही है। यदि उसका एक कार्य मे प्रयोग किया जाय तो वह अवश्य विशिष्ट साधन माना जायेगा अन्यथा अविशिष्ट (Non-specific) श्रम भी किसी समय विशिष्ट हो सकता है, इसी प्रकार अन्य साधन भी। विशिष्टता के फलस्वरूप ही लगान मिलता है। कोई साधन पूर्णतया विशिष्ट या अविशिष्ट नही होता है। जिस सीमा तक वह साधन विशिष्ट होगा उसी सीमा तक वह लगान का अधिकारी होगा अन्यथा उसे वेतन या ब्याज इत्यादि मिलेगा। परन्तु यहाँ पर यह समस्या उठती है कि यह किस प्रकार ज्ञात होगा कि अमुक साधन विशिष्ट है अथवा अविशिष्ट। इसका विस्तृत विवरण भूमि की आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत किया जा चुका है। यदि एक श्रमिक को एक स्थान मे १००) मिलते है और दूसरे स्थान पर भी १००) ही मिले तो यह १००) उस श्रमिक का वेतन या मजूरी कहा जायेगा। इस स्थिति मे दोनो स्थानो पर समान परिस्थितियाँ है अतएव लगान नही मिल सकता। परन्तु यदि उसे एक स्थान पर १००) और दूसरे स्थान मे केवल ४०) मिल सकते है तो ४०) वेतन हुआ क्योकि यह उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर है या उसकी अविशिष्टता है। उसे दूसरे स्थान मे १००) मिलते है अर्थात् पहले स्थान से ६०) अधिक मिलते है। यह अवश्य किसी विशेष गुण के कारण उसे मिलते है जिसकी उस स्थान पर आवश्यकता है। यह ६०) योग्यता का लगान (Rent of Ability) कहलायेगा। इसी प्रकार यह भी

सत्य है कि मनुष्य की आय में लगान या ब्याज इत्यादि मिश्रित रूप मे हो सकते है जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में बनाया गया है।

आधुनिक परिभाषा की विशेषता

उक्त विवेचन किसी साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति पर अधिक बल देता है। उत्पादन के सभी साधनों को भुगतान करने के लिये सीमान्त उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त अधिक उपयुक्त है। इसके द्वारा समस्त साधनों के भुगतानों को सरलता से निर्धारित किया जा सकता है। लगान का आधुनिक सिद्धान्त वास्तव में इसी सीमान्त उत्पादन शक्ति पर आधारित है। सीमान्त उत्पादन शक्ति के द्वारा हम यह पता लगा सकते हैं व्यक्ति ने कितना काम किया, वह कितने पारिश्रमिक का अधिकारी है इत्यादि। श्रमिक सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर भुगतान चाहता है। यदि उससे कम मिलेगा तो वह काम नहीं करेगा और अधिक उत्पादक नही दे सकता है। इस सीमान्त उत्पादन शक्ति का लाभ उठाने के लिये साधन में गतिशीलता होना अनिवार्य है। वह वेतन और परिस्थितियों के अनुकूल अपना रोजगार न बदल सके या उसमें गतिशीलता न हो तो उसे वेतन उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर नहीं मिलेगा। यदि उत्पादन के सभी साधन गतिशील होते तो सभी को भुगतान उनकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर मिलता। ऐसी अवस्था में विभिन्न साधनों के सभी भुगतानों को सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के सिद्धान्त द्वारा निर्धारित कर सकते है। इस प्रकार वितरण की सभी समस्या हल हो जाती है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में सभी साधन पूर्णतया गतिशील नहीं होते है और किसी साधन में गति होती ही नहीं। इसलिये उस साधन का भुगतान सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के द्वारा नहीं होता है। इस कारण एक दूसरे सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ी। कुछ विद्वानों ने कहा कि यह भुगतान अतिरिक्त उपज (Surplus) के रूप में होता है। इस अतिरिक्त उपज को समझाने के लिये उक्त आधुनिक सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त है। प्रायः अब विभिन्न भुगतानों के लिये एक सिद्धान्त मिल गया है। यदि सीमान्त-उत्पादन-शक्ति की सभी समस्याएँ अथवा आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत आयी सभी समस्याएँ पूरी न हों तो साधन को भुगतान लगान के आधार पर होगा। अर्थात् अब केवल दो पक्ष सम्मुख आ गये है—(१) लगान या (२) बेलगान। बे लगान पक्ष सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का ही दूसरा रूप है। इससे हमें साधन की एक विशेषता का पता चलता है अर्थात् साधन की गतिशीलता। यदि गतिशीलता नहीं है तो इन समस्याओं को लगान का आधुनिक सिद्धान्त समझाता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने लगान को भूमि से जोड़

दिया परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री दोनों में भेद करते है और साधन की गतिशीलता को प्रमुख स्थान देते है।

ठेकेदारी लगान:—लगान के इस रूप का सम्बन्ध प्रायः कृषक और भ-स्वामी मे पाया जाता है। भारतवर्ष के अधिकतर कृषक असामियों की तरह जमीदारो की खेती को जोतते-बोते थे और कुछ समय पहले तक जब जमीदारी उन्मूलन का कानून बना उनकी दशा मे कुछ भी अन्तर नही आया था। वे जमीदार को जमीन के उपयोग के बदले लगान दिया करते थे। यह लगान दो रूपो मे दिया जा सकता है—(१) उत्पादित अन्न को बेचकर द्रव्य के रूप में या (२) अन्न के निश्चित परिमाण के रूप मे। आर्थिक लगान के अन्तर्गत हम यह समझा चुके है कि अच्छी भूमि में सीमान्त भूमि की उपज से अधिक जितनी भी उपज होगी वह आर्थिक लगान कही जायेगी। परन्तु व्यवहार में यह पाया गया है कि किसान इस आर्थिक लगान के पूरे परिमाण को देना नही चाहता है। वह भू-स्वामी से भूमि लेने के पहले एक समझौता कर लेता है जिसके अनुसार किसान को समझौते की अवधि तक एक निश्चित दर मे लगान चुकाना पड़ता है। इस अवधि के समाप्त होने तक यदि ओलो, अधिक वृष्टि या अन्य किसी कारण से पैदावार को हानि पहुँचे और कृषक का उत्पादन व्यय भी न निकल सके तो भू-स्वामी इस स्थिति से प्रभावित होकर कृषक असामी को कुछ रियायत नही देता है। अवधि पूर्ण होने तक लगान चुकाने का कृषक असामी पर पूर्ण उत्तरदायित्व है।

जमीदार कृषकों को असामी के रूप मे अपनी जमीन पैदावार के लिये देता है। इस व्यवहार मे माँग और पूर्ति का नियम लागू होता है। जैसे-जैसे जनसख्या में वृद्धि होती है मनुष्यो की आवश्यकताओ में भी वृद्धि होती है। उत्पादन की अधिकता की आवश्यकता का अनुभव होता है और अन्त मे इसके लिये भूमि की माँग अनिवार्य हो जाती है। जब भूमि की माँग में वृद्धि होती है और भूमि की पूर्ति उसी अनुपात में नही हो सकती है क्योंकि भूमि की मात्रा निश्चित होती है। उसे आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया नही जा सकता है। तब प्रायः जमीदार या भू-स्वामी परिस्थिति का लाभ उठाने से नही चूकते। इससे भूमि का लगान बढ़ा दिया जाता है। इसे भूमि की कमी से दिया जानेवाला लगान (Scarcity Rent) कहते है। यद्यपि किसान इस बात से पहले ही परिचित रहता है कि अमुक भूमि में अमुक मात्रा में उत्पादन सम्भव है। अतएव वह अपनी अनुमानित बचत की मात्रा से अधिक लगान देने को तैय्यार नही होता है परन्तु कृषकों में यदि भूमि प्राप्त करने के लिये प्रतिस्पर्धा अधिक हो तो वह विवश होकर अधिक लगान देने को उद्यत हो जाता है। यह

स्थिति अधिकतर कम आती है। यदि जमींदार अपनी बेकार पड़ी जमीन को उत्पादन के लिये देना चाहते हों और कृषकों मे उसे प्राप्त करने की विशेष उत्सुकता न हो अर्थात् भूमि की माँग कम हो तो लगान मे भी कमी आ जायेगी जिससे किसान आकृष्ट होकर उसका उपयोग कर सकें। भूमि को लगान पर देने से पहले भू-स्वामी भी इस बात का पता लगा लेते है कि यदि वह स्वयं उस भूमि में उत्पादन करे तो कितनी बचत प्राप्त कर सकता है और वह कृपक मे उतनी ही मात्रा में लगान की माँग करेगा। इस प्रकार जमींदार या भू-स्वामी अधि[illegible] या आर्थिक लगान की माँग करता है और कृषक न्यूनतम लगान द[illegible] है। इस तरह इन दोनों सीमाओं के बीच में लगान की दर नि[illegible] जाती है। सीमा[illegible] यदि भूमि अधिक उत्पादन शक्ति वाली निकली और अनुमानित पैदावार से अधिक पैदावार हुई तो इससे कृपक की बचत में वृद्धि होगी और वह लाभान्वित होगा। समझौते की अवधि तक इस अधिक बचत पर जमींदार या भू-स्वामी का कुछ अधिकार नहीं होता है।

भारतवर्ष में अधिकतर जनसंख्या ग्रामों में बसती है और उसका मुख्य पेशा कृषि ही होता है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही अन्य उद्योग-धन्धों में वांछित वृद्धि नहीं हो पाती है तथा आय के अन्य स्रोत भी उपलब्ध नहीं होते हैं, अतएव बढ़ी जनसंख्या का भार भूमि पर ही पड़ता है, भूमि की माँग बढ़ती है और उसके लगान में भी वृद्धि होती है। यही कारण है कि भारत के कृषकों को अधिक लगान देना पड़ता है।

उत्पादन के क्षेत्र में प्रायः हल, बैल और गोबर की खाद का व्यवहार किया जाता रहा है। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों से खेती की उपज बढ़ाने में काफी सहायता मिली है। गहरी खेती एवं विस्तृत खेती करके वैज्ञानिक खाद और ट्रैक्टरों तथा अच्छे बीजों का प्रयोग करके अधिक उत्पादन सम्भव हुआ है। यदि उत्पादन की वृद्धि के अनुपात में माँग मे वृद्धि न हुई तब पूर्ति की अधिकता के फलस्वरूप वस्तु के मूल्य मे कमी आ जायेगी जिसका प्रभाव लगान पर पड़ेगा। ऐसी स्थिति मे लगान में भी पर्याप्त कमी आ जाती है। इस अवस्था में एक बात ध्यान देने योग्य है। पहले यह बताया जा चुका है कि लगान निर्धारित करने मे सीमान्त भूमि की ही सहायता लेनी पड़ती है। अच्छी भूमि के उपयोग के पश्चात् क्रमशः कम अच्छी और अन्त में निकृष्ट भूमि तक में उत्पादन किया जाता है। जब सीमान्त भूमि प्राप्त हो जाती है उस अवस्था मे आगे उत्पादन नहीं बढ़ाया जाता जब तक कि अन्य परिस्थितियाँ अनुकूल न हों। वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली से जब उत्पादन की मात्रा माँग मे अधिक हो जाती है तब प्रायः उत्पादक सीमान्त भूमि में उत्पादन करना छोड़ देते है और

ऐसी अवस्था में उससे पूर्व की अच्छी भूमि सीमान्त भूमि बन जाती है और लगान में कमी आ जाती है।

आज का युग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का युग है। यातायात के साधनों से माँग और पूर्ति की स्थानीय समस्याओं को हल किया जा सकता है। प्रायः प्रत्येक देश किसी न किसी वस्तु का आयात-निर्यात करता है। इस स्थिति को यदि गंभीरतापूर्वक देखा जाय तो विदित होगा कि देश से जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है उनका लगान बढ़ जायेगा क्योंकि उनकी विदेशों में माँग अधिक है और जिन वस्तुओं का आयात किया जाता है उस सम्बन्ध के देशी साधनों का लगान कम हो जायेगा [illegible] पूर्ति की अ[illegible] मात्रा आयात द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ठेकेदारी लगान स्थिर नहीं रहता है वरन् परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ भी इसके परिवर्तन को बहुत प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही उत्पादित वस्तु का मूल्य भी लगान के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है और उसके परिवर्तन का प्रमुख कारण होता है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

मकानों का किराया (Rent) :—लगान का भूमि की उपयोगिता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मकान बनाने योग्य भूमि की समान मात्रा का किराया विभिन्न होता है। शहर में अच्छी स्थिति में बने छोटे मकान का किराया कम अच्छी स्थिति में बने बड़े मकान के किराये से अधिक होता है। अच्छी स्थिति में भूमि के छोटे भाग का मूल्य अन्य भू-भागों की अपेक्षा अधिक होता है। क्यों? इसको समझने के लिये हमें भूमि की अच्छी और बुरी स्थिति को समझना चाहिये। अच्छी भूमि अपने वातावरण और स्थिति पर निर्भर करती है। यदि ऐसी भूमि प्राप्त हो सके जिसके समीप पार्क हो, जल का उचित प्रबन्ध हो, पड़ोस के मकान अच्छे, खुले और स्वास्थ्य-प्रद हों और समीप से ही स्वच्छ चौड़ा मार्ग उसे शहर से मिलाता हो तो अवश्य ही उस भूमि का मूल्य बढ़ जायेगा और उस स्थान पर बने मकान का किराया भी अधिक होगा। यदि इसी मात्रा में भूमि-भाग शहर के किसी घने-बसे मुहल्ले में मिले जहाँ न स्वच्छ वायु मिल सकती हो, न पार्क हो, न स्वास्थ्य की अन्य सुविधाएँ ही प्राप्त हों तो अवश्य ही उसका मूल्य पूर्व की भूमि से कम होगा। यदि भूमि शहर से दूर अलग हो और समीप कोई बस्ती न हो तब उस स्थिति पर मूल्य कम होगा और लगान भी यदि शहर में उद्योग-धन्धे चलते हों तो उससे भी मकानों की कमी हो जाती है और उपलब्ध मकानों का किराया बढ़ जाता है। उन उद्योग-केन्द्रों के समीप की चारों ओर की भूमि का लगान भी बढ़ जाता है क्योंकि

उसकी माँग बढ़ जाती है। शहरों में रहने के मकानों से अधिक किराया दूकानों का देना पड़ता है जिसकी स्थिति व्यापारिक दृष्टि से अच्छी होनी है। परन्तु यह न भूलना चाहिये कि मकानों का किराया भी माँग और पूर्ति के सिद्धान्त से प्रभावित होता है। यदि दूकान छोटी सी भी हो परन्तु उसकी माँग अधिक हो तो उसका किराया अवश्य अधिक होगा। अतएव मकानों का किराया निर्धारित करने के लिये स्थिति के साथ ही माँग और पूर्ति का भी ध्यान रखना पड़ता है। लगान की तरह किराया भी सीमान्त भूमि के आधार से निर्धारित किया जायेगा।

खानों का लगान :—खानों का लगान [illegible] में विभाजित किया जा सकता है। खान के मालिक को उसकी पूंजी [illegible] रौयल्टी मिलती है। यह खान से निकलनेवाले उस खनिज पदार्थ पर मिलती है जो क्रमशः घटता जाता है। कुल लगान का शेष अंश खान की स्थिति और प्रतिस्पर्धा पर भी निर्भर करता है। यदि उसकी स्थिति अच्छी है अर्थात् वहाँ से उत्पादन के केन्द्रों तक यातायात व्यय कम है और उसमें शीघ्रता की जा सकती है तो अवश्य उसका लगान अधिक होगा। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रारंभ में खान के स्वामी ने उसको प्राप्त करने के इच्छुक उत्पादकों की प्रतिस्पर्द्धा का भी लाभ उठाया होगा। खान के लगान का यह पक्ष लगभग भूमि के लगान की तरह है। लगान सदा सीमान्त भूमि अथवा सीमान्त खान से निर्धारित किया जाता है। अतएव यह सम्भव है कि उस प्रदेश में अथवा सारे देश में अवश्य कोई खान ऐसी स्थिति में होगी जिसका कुल उत्पादन उसके उत्पादन व्यय के बराबर होगा जिसे हम सीमान्त कहेंगे।

मत्स्य लगान :—मछली तालाबों, नदियों और समुद्र में पकड़ी जाती हैं। मछली पकड़ने के क्षेत्रों की स्थिति समान नहीं होती है; उसमें उत्पादन व्यय भी भिन्न-भिन्न होता है। यदि तालाब में पर्याप्त मछलियाँ मिल सकती हैं और उनकी माँग अधिक है तो अवश्य लगान अधिक होगा; इसी प्रकार नदियों और समुद्रतटों के समीप हो सकता है। परन्तु यदि मछली पकड़ने के लिये अधिक दूर जाना पड़े, उत्पादन व्यय अधिक हो तो उस क्षेत्र के लगान में अवश्य कमी होगी। इन क्षेत्रों की हम उक्त खानों से तुलना कर सकते हैं और उन्हीं के अनुरूप इनका भी लगान निर्धारित किया जा सकता है।

योग्यता का लगान :—लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि योग्यता के लगान का उत्पादन के साधन की विशिष्टता से सम्बन्ध है। यदि कोई श्रमिक एक स्थान पर १००) प्रति माह पारिश्रमिक पाता है और दूसरे स्थान पर ४०) प्रति माह पा सकता

है तो यह ६०) का अन्तर उसकी योग्यता का लगान कहा जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उस श्रमिक के पास ऐसी योग्यता है जिसका दूसरी स्थिति में कुछ उपयोग नही है परन्तु प्रथम स्थान में उसका अधिक उपयोग वाछित है। अतएव वह उस स्थान पर अपनी योग्यता का प्रयोग करके ६०) की अविक आय कर सकता है। यही स्थिति मशीन, भूमि इत्यादि के लिये भी सम्भव हो सकती है।

अनुपार्जित वृद्धि या अर्ध लगान (Quasi Rent) :— यह पहले कहा जा चुका है कि लगान [illegible] स्थिर नहीं रहता है। ठेकेदारी का लगान [illegible] ठेके की अवधि [illegible] स्थिर रह पाता है इसके पश्चात् यदि भूमि [illegible] या भूमि की माँग में वृद्धि हो जाती है तब उसके लगान में भी वृद्धि हो जाती है अन्यथा इसके विपरीत भी होता है। परन्तु यदि अचानक किन्हीं विशेष परिस्थितियों और परिवर्त्तनों के कारण लगान में वृद्धि हो जाय तो उस वृद्धि को अनुपार्जित वृद्धि ही कहेंगे। लगान में वह वृद्धि उत्पादक के प्रत्यक्ष उद्योग का परिणाम नहीं होती है वरन् उन अन्य शक्तियों के बल से वह सम्भव हो जाती है जिस पर उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों नियन्त्रण नहीं रख सकते है। उदाहरण के लिये एक एकान्त स्थान ले लीजिये जो शहर और गाँव दोनों से अलग हो। उसका लगान कम होगा क्योंकि वह न शहर के उपयोग में आ सकता है न गाँवों के। परन्तु यदि कोई वैज्ञानिक वहाँ किसी धातु की खान खोज निकाले तो एकदम उस भूमि का मूल्य आशातीत बढ़ जायेगा। उसके समीप की भूमि की भी माँग बढ़ जायेगी। अतएव उस सारे क्षेत्र का लगान काफी बढ़ जायेगा। यह वृद्धि भू-स्वामी के उद्योग से नही हुई है अतएव अनुपार्जित वृद्धि या अर्ध लगान कही जायेगी। प्रायः यह देखा जाता है कि शहर के कुछ भागों का लगान कम होता है परन्तु यदि उस भाग के समीप ही कोई कारखाना खुल जाय, या कोई सुन्दर नयी शैली का पार्क बन जाय, या वहाँ पर सिंचाई इत्यादि की नयी योजना कार्यान्वित की जाय तो ऐसे भागों का लगान एकाएक बढ़ जाता है। इस वृद्धि में भी उस प्रदेश का स्वामी किसी भी रूप में सहायक नहीं होता है वरन् बाह्य शक्तियाँ और बाह्य वातावरण ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देते हैं जिससे उस स्थान की उपयोगिता में काफी वृद्धि हो जाती है और माँग बढ़ने से उसके लगान में भी वृद्धि हो जाती है। उद्योग-धन्धों के केन्द्रों की स्थापना से अविकतर बहुत से प्रदेशों के स्वामी लगान में अनुपार्जित वृद्धि का लाभ उठाते है। इन केन्द्रों पर श्रमिकों इत्यादि की संख्या आकृष्ट होती है और अविक जनसंख्या हो जाने से छोटे, गन्दे मकानों के किरायों में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है, स्थानाभाव के कारण छोटे से भू-भाग के

मूल्य में कई गुना वृद्धि हो जाती है। इस अनुपार्जित आय का उपभोग वह व्यक्ति करता है जिसका इन परिस्थितियों के निर्माण में किंचित् मात्र भी सहयोग नहीं है। इसीलिये अनेक विद्वानों का मत है कि इस अनुपार्जित वृद्धि या इस अर्थ लगान का वह भू-स्वामी वास्तविक अधिकारी नहीं है। सम्पूर्ण राष्ट्र उसका अधिकारी है। अतएव यह सुझाव दिया जाता है कि सरकार को यह अर्थ लगान अधिक कर लगाकर या भूमि का राष्ट्रीयकरण करके अपने अधिकार में कर लेना चाहिये जहाँ से उसका उपयोग समस्त राष्ट्र के हित के लिये संभव हो सकता है। इसके पीछे यह तर्क है कि उस आय पर [illegible] अधिकार नहीं है जिसको प्राप्त करने के लिये उसने किंचित् मात्र [illegible] न किया [illegible]

मूल्य और लगान:—विद्वानों में प्रायः यह विवाद चला करता है [illegible] मूल्य को निर्धारित करने में लगान ही मुख्य आधार है। दूसरे पक्ष का यह कथन है कि मूल्य में परिवर्तन पहले होता है जिसके प्रभाव से लगान में भी अनुकूल परिवर्तन होते हैं। संक्षेप में उनका मत है कि मूल्य लगान को निर्धारित करता है।

व्यावहारिक जगत् में प्रायः लोग यह कहते हैं कि लगान में वृद्धि हो गयी है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि हो गयी है। परन्तु यह कथन सत्य नहीं है। रिकार्डो का मत था कि मूल्य लगान को प्रभावित करता है। लगान निर्धारित करने के नियम का अध्ययन करने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। लगान निर्धारित करने के लिये सीमान्त भूमि का माप होना आवश्यक है क्योंकि किसी भी भूमि पर लगान उस भूमि की कुल उपज और उसके कुल उत्पादन व्यय का अन्तर ही है। पुनः सीमान्त भूमि में कुल उपज और कुल उत्पादन व्यय बराबर होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब कुल उत्पादन व्यय कुल उपज के मूल्य के बराबर होता है उस स्थिति में उत्पादक को कुछ लगान नहीं देना पड़ता है परन्तु ज्योंही कुल उपज का मूल्य उत्पादन व्यय से अधिक होता है लगान की समस्या आने लगती है। दूसरी ओर यदि भूमि के एक निश्चित भाग से इतना उत्पादन किया जा सकता है कि जनसंख्या के एक निश्चित भाग की माँग की पूर्ति की जा सके। ऐसी स्थिति में किसान भू-स्वामी को एक निश्चित मात्रा में लगान देता है। परन्तु किसी कारण यदि जनसंख्या में वृद्धि हो जाय या उस वस्तु का उपभोग किसी कारण बढ़ जाय तो पूर्ति की मात्रा माँग की मात्रा के बराबर न रहेगी अर्थात् घट जायेगी। माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार इसका तुरन्त यह परिणाम होगा कि वस्तु का मूल्य बढ़ जायेगा। इससे आकृष्ट होकर उत्पादन क्षेत्र में अधिक उत्पादन की ओर प्रवृत्ति होगी जिसका परिणाम यह होगा कि वह भूमि

जो अब तक निकृष्ट समझी जाती थी जोती-बोई जायेगी। माना कि उसके उत्पादन से माँग और पूर्ति बराबर हो जाती है परन्तु यह न भूलना चाहिये कि यह निकृष्ट भूमि इस उदाहरण में सीमान्त भूमि है और इसका कुल उत्पादन अपने पूर्व की उस भूमि से कम है जो इससे पहले सीमान्त भूमि थी। अतएव इस भूमि के उत्पादन की कुल मात्रा के आधार पर लगान निर्धारित करने से अवश्य पूर्व की भूमियों के लगान में वृद्धि हो जायेगी। लगान में यह वृद्धि उस मूल्य के कारण हुई जिसमें पूर्ति कम होने से [illegible] थी।

[illegible] उसी मूल्य पर करता है जिस [illegible] ादन किया है। प्रायः सीमान्त भूमि में कुल उत्पादन का [illegible] उसके कुल उत्पादन व्यय के बराबर होता है। यदि इससे कम हो अर्थात् उत्पादन व्यय अधिक हो तो उत्पादक ऐसी स्थिति में उत्पादन नहीं करेगा। ऐसी स्थिति में नयी भूमि में पैदावार नहीं की जायेगी और परिणामतः लगान में वृद्धि न होगी। अतएव यह कहना अधिक उचित है कि मूल्य से लगान प्रभावित होता है। यदि इसके विपरीत वस्तु की माँग कम हो जाय या जनसंख्या किसी कारण कम हो जाय तो इसका प्रभाव वस्तु के मूल्य पर अवश्य पड़ेगा क्योंकि माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार यदि माँग कम है और पूर्ति अधिक है तो वस्तु का मूल्य कम हो जायेगा। इसका प्रभाव उत्पादन केन्द्रों में पड़ेगा और उस भूमि में उत्पादन बन्द हो जायेगा जो उस स्थिति में सीमान्त थी। परिणामतः उससे पूर्व की भूमि सीमान्त मानी जायेगी जिसके कुल उत्पादन की मात्रा सीमान्त भूमि की उत्पादित मात्रा से अधिक है। अतएव भूमि का लगान कम हो जायेगा और भूमि की माँग भी कम पड़ जायेगी। यदि किसी उद्योग का कोई केन्द्र असफल हो जाता है तो उस स्थान की माँग कम हो जाती है और प्रत्येक घर, भू-भाग इत्यादि का मूल्य गिरने लगता है। लगान भी कम हो जाता है। अतएव वास्तविकता यह है कि मूल्य ही लगान को प्रभावित करता है। इसको एक अन्य उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है। वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का युग है। यह सम्भव नहीं है कि यदि देश में किसी वस्तु की माँग अधिक हो और पूर्ति बहुत कम हो तो स्थिति को वैसा ही रहने दें। सरकार अथवा व्यापारी विदेशों से उस वस्तु का आयात करेंगे। इससे पहले देश में उस वस्तु के उत्पादन केन्द्रों में भूमि इत्यादि के अभाव का भू-स्वामी काफी लाभ उठा रहे थे। बाजार में वस्तुओं के मूल्य अधिक थे और केन्द्रों में लगान भी अधिक था। परन्तु विदेशी वस्तु के सस्ते मूल्य में मिलने से उसीका उपभोग बढ़ा और उस क्षेत्र में सीमान्त भूमि की नयी सीमा का निर्माण हुआ। इस दृष्टि

से देशी उत्पादन केन्द्र या तो बन्द हो जायेंगे या उन्हें भी मूल्य कम करना पड़ेगा अर्थात् लगान में अवश्य कमी हो जायेगी। इस कमी का सारा श्रेय आयात की गयी वस्तु के सस्ते मूल्य को है।

इतना सब होते हुए भी यह ज्ञात हुआ है कि यदि भूमि पर जमींदारों का या सरकार का एकाधिकार हो तो लगान मूल्य को प्रभावित करता है। एकाधिकार में लगान स्वामी की इच्छा पर निर्भर करता है। वस्तु का मूल्य सीमान्त भूमि की उपज के आधार पर निर्धारित किया जाता है अर्थात् उस स्थिति में कुल उपज और उत्पादन व्यय बराबर होते हैं और लगान शून्य होता है। उत्पादक [illegible] सीमा से कम मूल्य स्वीकार नहीं करेगा। एकाधिकार में भूमि का लगान सीमान्त भूमि के दृष्टिकोण से निर्धारित नहीं किया जाता है और वह अधिक हो सकता है। ऐसी अवस्था में उत्पादक उस लगान को अपने उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर लेता है और परिणामतः प्रति इकाई मूल्य बढ़ जाता है। कभी-कभी जमींदार किसानों के विशिष्टता के गुण का अनुचित लाभ उठाते हैं। अन्य उद्योग-धन्धों के द्वारा अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ होने से कृषकों की संख्या भूमि प्राप्त करने के लिये परस्पर गहरी प्रतिस्पर्धा की शिकार बनती है और अधिक लगान में भूमि को ले लेती है। दूसरी ओर निर्धन होने के कारण वे भूमिपति से मोल भाव भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि भूमि की माँग अधिक होती है और पूर्ति कम। इस स्थिति में भी अधिक लगान स्वीकार करने पर कृषक विवश होता है और अन्त में उसे अपने उत्पादन व्यय में सम्मिलित कर लेता है जिसका प्रभाव अन्त में वस्तु के मूल्य पर पड़ता है। भारतवर्ष में कृषकों को प्रायः ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. रिकार्डो के लगान का सिद्धान्त समझाइये और यह बतलाइये कि आप उससे कहाँ तक सहमत हैं?

२. लगान और मूल्य का सम्बन्ध बतलाइये और समझाइये कि लगान मूल्य से किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

३. लगान का आधुनिक सिद्धान्त समझाइये और उसका रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त से सम्बन्ध बतलाइये।

४. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—

(अ) अर्ध लगान,

(ब) योग्यता का लगान,

(स) खानों का लगान।

अध्याय ५४

मजदूरी या वेतन (Wages)

साधारण बोलचाल में मजदूरी उस मजूर के पारिश्रमिक को कहते हैं जो श्रम करता है। [illegible] भूमि के उपयोग के लिये किसान को [illegible] ता है उसी प्रकार श्रमिक को उसके श्रम के [illegible] लिये [illegible] कुछ [illegible] इत्यादि देता है जिसे मजदूरी या वेतन कहते हैं। राष्ट्र म उत्पादन के विभिन्न साधनों को उनकी शक्ति एवं [illegible] का विभिन्न रूपों में भुगतान किया जाता है, जैसे भूमि का भुगतान लगान, श्रम का मजदूरी या वेतन, पूंजी का सूद और साहस का लाभ के रूप में। इस अध्याय में हम केवल राष्ट्रीय आय में से श्रम के भुगतान का ही अध्ययन करेंगे।

श्रम एक ऐसा शब्द है जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के कामों का समावेश है। एक किसान जब अपने हल-बैलों से दूसरे व्यक्ति के खेतों को जोतता है और कुछ प्रतिफल पाता है, या जब कोई लोहार किसी कारखाने में दूसरे व्यक्ति के लिये कुछ प्रतिफल की आशा में उत्पादन करता है, या कोई व्यक्ति एक निश्चित पारिश्रमिक पर अन्य व्यक्ति के घर म नौकर इत्यादि का काम करता है, इन सब को श्रम ही कहा जाता है। यदि कोई बड़ा डाक्टर, इन्जीनियर, सरकारी पदाधिकारी या क्लर्क जो कुछ निश्चित द्रव्य की मात्रा के लिये जिसे वे प्रतिमाह या प्रतिवर्ष प्राप्त कर सकते है, कार्य करते हैं तो अवश्य यह भी श्रम के अन्तर्गत ही समझा जायेगा। श्रम से हमारा तात्पर्य मनुष्य के मानसिक तथा शारीरिक उन प्रयत्नों से होता है जो किसी उद्देश्य विशेष के लिये किये जाते हैं। साधारण अर्थ में श्रम का प्रतिफल मजदूरी या वेतन कहा जाता है। इस कथन में एक भाव छिपा रहता है—अर्थात् मजदूरी देनेवाला व्यक्ति और मजदूरी पानेवाला व्यक्ति; बोलचाल के अर्थ में मजदूरी देनेवाला व्यक्ति मजदूरी पानेवाले व्यक्ति से अधिक शक्तिशाली या सामाजिक दृष्टिकोण से ऊँचे वर्ग का व्यक्ति समझा जाता है। इसी भाव से प्रेरित होकर कुछ अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी और वेतन में अन्तर उत्पन्न कर दिया है। उनकी दृष्टि में मजदूरी का सम्बन्ध समाज के उस निम्न वर्ग से होता है जिसे हम मजदूर वर्ग कहते हैं और जो मानसिक श्रम कम और शारीरिक

श्रम अधिक करता है। मजदूर के साथ मजदूरी का यह सम्बन्ध एक विशेष बात की ओर भी संकेत करता है। वह विशेष यह बात है कि मजदूर अपने दिन भर के श्रम का प्रतिफल प्रतिदिन ही माँगता है या एक सप्ताह तक। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूरी समाज के श्रम करनेवालों के उस निम्न वर्ग को दी जाती है जो दिन भर अपने शारीरिक परिश्रम का उपयोग करता है जैसे लोहार, मिस्त्री, बढ़ई और राज इत्यादि। इन्हें इनके श्रम का प्रतिफल अर्थात् मजदूरी कुछ समय पश्चात् ही दे देनी पड़ती है। प्रायः इनके काम में स्थायित्व नहीं होता है । इसके विपरीत उन्होंने यह बताया कि श्रम करनेवा[illegible] जो शारीरिक श्रम की अपेक्षा मानसिक श्रम अधिक करता है [illegible] उसके श्रम का [illegible]फल वेतन के रूप में मिलता है। इस वर्ग के काम में अधिक स्थायित्व होता है और श्रम का प्रतिफल भी एक निश्चित समय में प्रतिमाह के अन्त में या वर्ष के अन्त में दिया जाता है। समाज में यह वर्ग उच्च और मध्यम श्रेणी के अन्तर्गत आता है जैसे इन्जीनियर, डाक्टर, जज इत्यादि उच्च श्रेणी में और क्लर्क अथवा कार्यालय के अन्य कर्मचारी मध्यम श्रेणी में। यह अन्तर श्रम के दृष्टिकोण से किया गया अन्तर कम है अधिकतर यह श्रम के प्रतिफल की मात्रा, उसकी निश्चितता तथा उसके आधार पर बननेवाले सामाजिक स्थान की महत्ता से प्रभावित है। अर्थशास्त्र श्रम को तथा उसके प्रतिफल को सामाजिक रहन-सहन के स्तर या श्रमिक की सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार से नहीं जाँचता है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत यह माना जाता है कि कोई भी व्यक्ति जो शारीरिक अथवा मानसिक श्रम करता है यदि उसे उसका प्रतिफल मिलता है तो वह पारिश्रमिक या मजदूरी है, अन्य कुछ नहीं। इसके सामाजिक पहलुओं का अध्ययन सामाजिक शास्त्र करता है अर्थशास्त्र नहीं। यदि अर्थशास्त्र में शारीरिक और मानसिक श्रम के भेद को मानकर मजदूरी का वर्गीकरण करें तो मजदूरी की अनेक कोटियाँ प्राप्त होंगी क्योंकि सभी श्रमिक बराबर मात्रा में शारीरिक अथवा मानसिक श्रम नहीं करते हैं, प्रत्येक की मजदूरी की मात्रा में काफी अन्तर होता है और साथ ही शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम को अलग-अलग भी नहीं किया जा सकता है, केवल उनकी मात्रा में अन्तर बताया जा सकता है जो प्रत्येक दो श्रमिकों में भिन्न होगा। अर्थशास्त्र में मजदूरी के अन्तर्गत हम उन सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा मजदूरी निर्धारित की जाती है।

मजदूरी को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) नकद मजदूरी और (२) असली मजदूरी। प्रथम हम नकद मजदूरी का वर्णन करेंगे।

जब कोई व्यक्ति किसी कार्य के लिये श्रमिक को नियुक्त करता है

चाहे वह व्यक्तिगत कार्य के लिये हो या किसी कार्यालय या कारखाने इत्यादि के लिये, वह सदा इस बात को पहले निश्चित कर लेता है कि श्रमिक उस कार्य के लिये द्रव्य में कितना पारिश्रमिक लेगा। यदि वह केवल कुछ दिनों के लिये नियुक्त किया गया है तो पारिश्रमिक कितना रुपया प्रतिदिन लेगा यदि अधिक समय के लिये नियुक्त किया गया है तो कितना रुपया प्रतिमाह लेगा। यदि श्रमिक अपने पारिश्रमिक को रुपये आनों में बताये अर्थात् यदि वह यह कहे कि तीन रुपये प्रतिदिन के हिसाब से वह मजदूरी लेगा या १०० रुपये प्रतिमाह के हिसाब से मजदूरी लेगा [illegible] मजदूरी कही जायगी। प्रायः श्रमिक की [illegible] के पहले नकद मजदूरी का निर्णय हो जाना अनिवार्य होता है। जब किसी [illegible] को नियुक्ति-पत्र मिलता है तो उसमें केवल इस बात का उल्लेख किया होता है कि उसे अमुक-अमुक पारिश्रमिक पर एक निश्चित समय के लिये नियुक्त किया गया है। श्रमिक के इस नियुक्ति-पत्र से हम केवल यह अनुमान लगा सकते हैं कि उस श्रमिक की कार्य-क्षमता यदि द्रव्य में नापी जाय तो कितने रुपयों के बराबर होगी। नकद मजदूरी के अन्तर्गत हम श्रम और द्रव्य के विनिमय का अनुपात स्थिर कर सकते हैं। यदि श्रमिक प्रतिदिन ३ रुपया पारिश्रमिक लेता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस श्रमिक की एक दिन की कार्यक्षमता ३ रुपयों के बराबर है। इसके अन्तर्गत हम यह नहीं जान सकते हैं कि श्रमिक की परिस्थितियाँ क्या थीं और उसकी द्रव्य की आवश्यकता की तीव्रता कितनी थी इत्यादि।

असली मजदूरी में हम श्रमिक को दी जानेवाली नकद मजदूरी के साथ ही उन सब सुविधाओं का भी अध्ययन करते हैं जो श्रम करने की अवधि में श्रमिक को दी जाती हैं। यदि किसी श्रमिक को ३ रुपया प्रतिदिन की मजदूरी की दर से नियुक्त किया जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि दिन भर के काम के घण्टों में प्रति मिनट उसका काम चालू रहे। मनुष्य होने के नाते यह बहुत सम्भव है वह थकान का अनुभव करे। यदि श्रमिक को दिन भर में कुछ समय आराम करने को मिल जाय; मालिक की ओर से दिन में कुछ चबैना इत्यादि मिल जाय या आने-जाने के लिये मोटर इत्यादि की सुविधा हो जाय तो यह सब अतिरिक्त सुविधाएँ नकद मजदूरी के साथ जोड़कर असली मजदूरी को प्राप्त किया जा सकता है। श्रमिक नकद मजदूरी स्वीकार करने से पहले इन सुविधाओं की भी जाँच कर लेगा। यदि अन्य स्थानों की अपेक्षा इस कार्य में विशेष सुविधा देखेगा तो अवश्य इस काम को स्वीकार कर लेगा। यदि एक नौकर को एक स्थान में नकद मजदूरी ३० रुपया प्रतिमाह दी जाय और दूसरे

स्थान में २० रुपया प्रतिमाह परन्तु दूसरे स्थान में पहले की अपेक्षा उसे अधिक सुविधा दी जाय अर्थात् उसे भोजन, वस्त्र और रहने को मकान मिले तथा शादी-ब्याह आदि उत्सवों में विशेष आमदनी की आशा हो, इत्यादि, तो अवश्य वह दूसरे स्थान में नियुक्त होना अधिक पसन्द करेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि दूसरे स्थान की नकद मजदूरी यद्यपि पहले स्थान से कम है परन्तु उसकी असली मजदूरी पहले स्थान की अपेक्षा कहीं अधिक है और वह अपनी नकद मजदूरी का काफी भाग बचा सकता है। इसी प्रकार यदि अध्यापक को प्रतिमाह १२० रुपये नकद मजदूरी के साथ ही पुस्तकालय [illegible] आवश्यक [illegible] जो प्राप्त हो सकती हों, वर्ष में दो-तीन माह का अवकाश ग्रहण किया [illegible] सकता हो [illegible] में उन्नति कर सकने की आशा हो तो अवश्य उसकी असली मजदूरी [illegible] क्लर्क से अधिक होगी जो १५० रुपया प्रतिमाह पाकर माह में अधिकतर फाइलों से उलझता रहता हो, वर्ष में १६ दिन से अधिक अवकाश न मिले और जिसे जीवन में आवश्यक अन्य सुविधाएँ प्राप्त न हों।

श्रमिक नियुक्ति के पहले नकद मजदूरी और असल मजदूरी की ठीक तरह से जाँच कर लेता है। यदि किसी मिल या कारखाने में मजूरों को मजदूरी तो अन्य स्थानों से कुछ कम मिलती हो परन्तु उनके रहने के लिये अच्छे मकान मिल की ओर से मिलें, राशन की अपनी दूकान उनकी बस्ती में ही खुली हो, मिल या कारखाने में बननेवाली उनकी उपभोग की वस्तुएँ उन्हें कम मूल्य पर या मुफ्त मिल सकती हों तथा आने-जाने के लिये यातायात के साधनों की सुविधा हो, मुफ्त डाक्टरी चिकित्सा का प्रबन्ध हो और मिल या कारखाने के मुनाफे में उनका भी कुछ भाग निश्चित कर दिया गया हो तो अवश्य ही मजदूर दूसरी मिलों की अपेक्षा कम मजदूरी पर भी ऐसे मिलों या कारखानों की ओर आकर्षित होंगे। इस आकर्षण का मुख्य कारण असली मजदूरी है न कि नकद मजदूरी। श्रमिक सदा ऐसे स्थानों में जाना अधिक पसन्द करता है जहाँ उसे उक्त प्रकार की सुविधाएँ मिल सकें, उसकी नकद मजदूरी का कुछ भाग बच सके जिससे उसके बालकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो सके। यदि नकद मजदूरी अधिक है पर उक्त सुविधाएँ नहीं हैं और उक्त सुविधाओं की प्राप्ति में नकद मजदूरी का अधिक भाग व्यय हो जाय तो श्रमिक को अधिक सन्तोष नहीं होगा। उसका सन्तोष पूर्व की स्थिति पर ही निर्भर करता है।

श्रमिक सदा इस खोज में रहता है कि उसे स्थायी काम मिल जाय। स्थायी काम में श्रमिक अपनी कार्यक्षमता का पूर्ण उपयोग कर सकता है, उसके जीवन में भी कुछ स्थिरता आ जाती है, वह एक स्थान पर रहकर प्राप्त होनेवाली निश्चित द्रव्य-राशि से अपने परिवार के भविष्य को

उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न कर सकता है। यदि श्रमिक को इस प्रकार का कोई काम मिल जाय तो इसे हम उसकी असली मजदूरी के अन्तर्गत रख सकते हैं। यदि यहाँ नकद मजदूरी कम भी मिलती हो फिर भी श्रमिक स्थायित्व के आकर्षण से इधर खिचता आयेगा।

मजदूरी की उक्त विशेषता के पश्चात् हम उन सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे जिनके अनुसार मजदूरी निर्धारित की जाती है। श्रम की यह सबसे प्रमुख समस्या है कि राष्ट्रीय आय को श्रमिको में किस प्रकार विभाजित किया जाय। इस समस्या [illegible] कर श्रमिका और उत्पादकों में सदा सघर्ष रहा है [illegible] राजन[illegible] दलों से भी विशेष बल [illegible]। ससार म [illegible] में दो 'वाद' पूँजीवाद और समाजवाद अपने-अपने ढंग [illegible] इस समस्या को सुलझान का प्रयत्न कर रहे हैं। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था और समाजवादी अर्थ व्यवस्था में प्रायः सघर्ष होते रहे हैं और अब उन्होने विश्वव्यापी सघर्ष का रूप धारण कर लिया है।

मजदूरी निर्धारित करने के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का नीचे सक्षिप्त विवरण दिया गया है।

जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (Subsistence Theory) :—यह सिद्धान्त माल्थस के जनसख्या के सिद्धान्त से प्रभावित है। माल्थस ने बतलाया था कि यदि मजदूरों का वेतन बढाया जाय तो उनकी जनसंख्या मे वृद्धि होने लगती है। अतएव जीवन-निर्वाह सिद्धान्त के प्रतिपादकों का मत है कि यदि श्रमिकों की जनसख्या मे वृद्धि होगी तो इससे श्रमिकों की पूर्ति बढ़ेगी परन्तु उनकी माँग उसी अनुपात मे नही बढ़ेगी। इसलिये यह माँग और पूर्ति के नियमानुसार स्वाभाविक है कि श्रमिको की उक्त स्थिति में मजदूरी कम होने लगेगी। उक्त सिद्धान्त वाले विशेषकर यह मानते हैं कि श्रमिक को केवल इतनी मजदूरी देनी चाहिये जिससे वह जीवित भर रह सके। उसकी मुख्य आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाय परन्तु बचत कुछ न रह सके क्योकि उन्हें भय है कि यदि मजदूरी मे आवश्यकता पूरी करने के पश्चात् बचत हो सकना सम्भव हो सका तो श्रमिक आलसी हो जायेगा, उसकी उत्पादन शक्ति क्षीण हो जायेगी और कदाचित् वह श्रम करने की अपेक्षा किसी अन्य कार्य मे उलझ जाय जैसे श्रमिको का सगठन करने लगे, उत्पादकों के विरुद्ध श्रमिकों को उभाड़ने लगे इत्यादि। उनका मत है कि श्रमिक को यदि जीवित रहने भर के लिये मजदूरी दी जायेगी तो वह अवश्य अपने कल की मजदूरी पर सोचने लगेगा और उसके अर्जन का प्रयत्न ही करता रहेगा और उत्पादन कार्य मे इससे बाधा नही पड़ेगी वरन् अपनी मजदूरी को प्राप्त करने के लिये श्रमिक अधिक उत्साह से कार्य करने लगेगा। इसलिये यदि उनका वेतन बढ़ाया जायेगा तो पूर्वकथन

के अनुसार उनकी पूर्ति बढ़ेगी, प्रति श्रमिक मजदूरी कम मिलने लगेगी। अर्थात् पूर्ति बढ़ने के पश्चात् मिलनेवाली मजदूरी श्रमिक के जीवित रहने के लिये कम होगी और कम और अपुष्टिकर भोजन खाने और अधिक काम करने से श्रमिकों का स्वास्थ्य खराब हो जायेगा और उनकी मृत्यु-संख्या बढ़ने लगेगी। इससे उनकी पूर्ति कम हो जायेगी। पुनः प्रति श्रमिक की मजदूरी में वृद्धि होगी जिसका यही परिणाम होगा। संक्षेप में श्रमिक की मजदूरी इस ऊँच-नीच के पश्चात् ऐसे स्थल पर रुकेगी जो उसके जीवन-निर्वाह भर के लिये पर्याप्त होगी। इस सिद्धान्त की कठोरता का आभास इसके दूसरे [illegible] से प्रकट हो जाता है।

यह सिद्धान्त उत्पादक के दृष्टिकोण से [illegible] जा सके परन्तु श्रमिक के दृष्टिकोण से यह एक भयंकर अन्याय है। [illegible] का यह तात्पर्य नहीं होता है कि उत्पादक को उसके जीवन से खिलवाड़ करने का अधिकार मिल गया हो। उक्त नियम उत्पादक की स्वार्थ की पराकाष्ठा का प्रमाण है जहाँ वह अपने उत्पादन को निरन्तर बढ़ाये रखने तथा अन्य कठिनाइयों से बचे रहने के लिये श्रमिक को केवल जीवित रहने भर के लिये मजदूरी दे। इस सिद्धान्त का मूलाधार माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त है जिसकी विस्तृत आलोचना जनसंख्या के अध्याय में की जा चुकी है। यहाँ पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि श्रमिक के वेतन में वृद्धि कर देने से श्रमिक के रहन-सहन के स्तर में भी वृद्धि होती है। प्रत्येक श्रमिक चाहता है कि उसका परिवार अधिक सुखी एवं समृद्धिशाली बने और उसके बालक शिक्षा ग्रहण कर उच्चासन ग्रहण कर सकें। वेतन में वृद्धि होने से परिवार की इस अभिलाषा को बल मिलता है । सभ्य परिवारों में तो प्रथम जीवन को सुखी बनाने के समस्त साधनों को जुटाने की ओर ध्यान जाता है और अन्त में सुन्दर और पुष्ट बालक की इच्छा होती है। अतएव यह आवश्यक नहीं है कि मजदूरी में वृद्धि होने से श्रमिकों में सन्तानोत्पत्ति की प्रवृति ही जागे।

इसके पश्चात् यदि श्रमिक को केवल जीवित रहने भर के लिये मजदूरी दी जायेगी तो इसका उसके स्वास्थ्य तथा उसकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी अवस्था में उत्पादन में वृद्धि की आशा करना सम्भव नहीं है। इससे उत्पादन में कमी आ जाती है। यह सिद्धान्त पूर्ति पक्ष का तो उल्लेख करता है परन्तु माँग पक्ष का नहीं। यह बहुत सम्भव है कि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ उद्योग-धन्धों में भी विकास हो सकता है।

यह सिद्धान्त इस बात को नहीं समझाता है कि विभिन्न उत्पादन केन्द्रों में अथवा एक ही केन्द्र के विभिन्न श्रमिकों में मजदूरी की दृष्टि से

इतनी विभिन्नता क्यों होती है। उक्त नियम के अनुसार प्रत्येक श्रमिक की मजदूरी प्रायः समान रहनी चाहिये थी।

इन सब कमियों के कारण उक्त सिद्धान्त अब मान्य नहीं है।

मजदूरी कोष सिद्धान्त (Wages Fund Theory) :—इस सिद्धान्त का सम्बन्ध प्रसिद्ध विद्वान जे० एस० मिल से है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक उत्पादन आरम्भ करने से पहले एक कोष का निर्माण करता है जिसका परिमाण स्थिर रहता है। उत्पादन कार्य में लगे सभी श्रमिकों को मजदूरी इसी कोष [illegible] ती है। मजदूरों की संख्या से यदि इस कोष की द्रव्य मात्रा को [illegible] श्रमिक की मजदूरी [illegible] सकता है [illegible] क प्रथम ही यह अनुमान लगा लेता है कि उसके उत्पादन कार्य में अमुक संख्या में श्रमिकों का प्रयोग होगा और अपनी कुल पूंजी में से उसी हिसाब से वह द्रव्य अलग करके इस कोष का निर्माण करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह मजदूरी निश्चित करते समय श्रमिकों की संख्या को स्थिर मान लेता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि श्रमिकों की संख्या उसी अनुमानित सीमा पर ही रहे। इस सिद्धान्त में श्रमिकों की पूर्ति के पक्ष पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। यदि श्रमिकों की पूर्ति में किसी कारण से कमी हो तो प्रति श्रमिक मजदूरी में वृद्धि होगी; यदि पूर्ति बढ़ी तो प्रति श्रमिक मजदूरी में ह्रास होना आवश्यकीय है। श्रमिकों की पूर्ति सदा परिवर्तनशील रही है अतएव यह सिद्धान्त उत्पादन क्षेत्र में श्रमिकों के प्रति न्याय नहीं करता है। यदि यह मान लिया जाय कि कारखाने या मिल को अत्यन्त कुशल इन्जीनियर की आवश्यकता हुई और इन्जीनियर का वेतन अनुमानित वेतन से कहीं अधिक देना पड़ा तो मजदूरी कोष स्थिर होने से उस पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। शेष द्रव्य-राशि श्रमिकों के अनुपात में कम हो जायेगी और उस परिस्थिति में श्रमिकों को कम मजदूरी मिलेगी। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या श्रमिक अपनी मजदूरी में इस आकस्मिक घटती को चुपचाप स्वीकार कर लेंगे? श्रमिक अपनी मजदूरी के प्रति उदासीन नहीं रहता है। उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा में कदाचित् श्रमिकों की संख्या दूसरे अच्छे उत्पादन क्षेत्रों की ओर आकृष्ट हो जाय या उनमें असन्तोष की भावना बढ़े और उत्पादन कार्य में बाधा पड़े।

उत्पादन पर श्रमिक की कार्यक्षमता का प्रभाव पड़ता है। उत्पादक मजदूरी निर्धारित करते समय मजदूर की उत्पादन शक्ति को ध्यान में रखता है। परन्तु एक बार मजदूरी कोष निश्चित हो जानेपर श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता है और इस प्रकार श्रमिकों की मजदूरी में भी विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

यह सिद्धान्त अब मान्य नहीं है। प्रति श्रमिक की मजदूरी को निश्चित किये बिना सारे मजदूरों के लिये एक मजदूरी-कोष स्थिर कर देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है। अनुमान के बल पर मजदूरी श्रमिक की उत्पादन-शक्ति से अधिक भी हो सकती है जिससे उत्पादक को हानि हो और कम भी हो सकती है जिससे श्रमिक को हानि हो।

व्यवहार में प्रत्येक कारखानों या मिलों में अनेक प्रकार के विभिन्न श्रेणियों के श्रमिक कार्य करते हैं और प्रत्येक को मजदूरी विभिन्न दरों से दी जाती है। उसके इन्जीनियर को अवश्य साधारण श्रमिक से कहीं अधिक मजदूरी या वे[illegible] सिद्धान्त से इस बात को नहीं समझाया जा सकता है कि मजदूरी म[illegible] भिन्नता [illegible] उसको किस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है

शेषाधिकारी सिद्धान्त (Residual Claimant Theory) :—इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि कुल उत्पादन के पश्चात् उत्पादित सम्पत्ति का वितरण उत्पादन के साधनों में इस प्रकार किया जाता है कि श्रम का क्रम अन्तिम रहता है। उत्पादक कुल उत्पादन में से पहले उत्पादन के अन्य साधनों भूमि, पूँजी, साहस का क्रमानुसार लगान, व्याज या सूद और लाभ के रूप में भुगतान कर देता है और जो सम्पत्ति शेष रहती है उसका अधिकारी श्रम साधन होता है। इसी शेष भाग में से श्रमिकों की मजदूरी दी जाती है।

उक्त नियम के अनुसार श्रम साधन को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कुल उत्पादन की मात्रा अधिक हुई तो प्रति श्रमिक मजदूरी भी अधिक मिलेगी परन्तु यदि उत्पादन कम हुआ तो प्रति श्रमिक मजदूरी कम मिलेगी। यदि श्रमिक अधिक मजदूरी चाहते हों तो उन्हें अधिक परिश्रम करके उत्पादन की मात्रा को बढ़ाना पड़ेगा।

परन्तु मजदूरी केवल कुल उत्पादन की मात्रा पर ही निर्भर नहीं होती है। समय-समय पर उत्पादक को अपने कारखानों या मिलों में श्रमिकों की संख्या में घटती-बढ़ती करनी पड़ती है। उत्पादक तब तक श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करता जाता है जब तक कि श्रमिक को दी जानेवाली मजदूरी उसकी उत्पादन शक्ति के बराबर न हो। उत्पादक सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक मजदूरी नहीं देगा क्योंकि इससे उसे हानि होने की सम्भावना है। उत्पादक इसी दृष्टि से श्रमिकों की माँग पर नियन्त्रण रखता है। परन्तु उक्त सिद्धान्त में इस पक्ष पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। श्रमिक की उत्पादन शक्ति चाहे कम हो या अधिक उसका श्रमिक की माँग पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि मजदूरी माँग और पूर्ति पर आधारित न होकर शेष-उत्पादन-मात्रा में आधारित होती है।

प्रत्येक श्रमिक की उत्पादन शक्ति का इससे कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त में श्रमिकों की पूर्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। श्रमिकों की पूर्ति उनकी माँग एवं मजदूरी की दर पर निर्भर होती है। दूसरी ओर पूर्ति ही मजदूरी को भी प्रभावित करती है। परन्तु उक्त सिद्धान्त में इस बात को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया।

मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त:—आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि श्रम ऐसा साधन नहीं है जिसे उत्पादक इच्छानुसार अपने प्रयोग में [illegible] सके। श्रमिक श्रम का विक्रेता है और उत्पादक [illegible]। अतएव उत्पादन के क्षेत्र में श्रमिक [illegible] बेचना चाहेगा और [illegible] न्यूनतम मूल्य [illegible] करना [illegible]। जिस प्रकार एक व्यापारी [illegible] उपभोक्ता अपनी-अपनी अधिकतम और न्यूनतम सीमा से मोल भाव आरंभ करके इन दोनों सीमाओं के बीच वस्तु का मूल्य निर्धारित करते हैं ठीक उसी प्रकार श्रमिक और उत्पादक श्रम का मूल्य निर्धारित करते हैं।

उत्पादक उत्पादन लाभ के लिये करता है। श्रमिक को उसे उसके श्रम के लिये कुछ मूल्य देना पड़ता है अन्यथा उत्पादन हो सकना सम्भव नहीं है। यदि हम उत्पादक के दृष्टिकोण से इस क्रिया का अध्ययन करें तो विदित होगा कि उत्पादक यह नहीं चाहता है कि श्रमिक को उससे अधिक वेतन दिया जाय जितना वह उत्पादन कर सकता है। वह अपने कारखाने में श्रमिकों की एक सख्या नियुक्त करता है परन्तु जब वह यह देखता है कि नियुक्त सख्या के श्रम का पूर्ण उपयोग नहीं हो रहा है और उत्पादन के अन्य साधनों का प्रयोग और बढ़ाया जा सकता है तब वह कुछ श्रमिक और नियुक्त करता है। यह क्रिया तब तक चालू रहती है जब तक कि श्रमिक का वेतन उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के मूल्य के बराबर न हो जाय। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उत्पादन आरम्भ करते ही क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार उत्पादक श्रम की मात्रा बढ़ाता जाता है और उस स्थान पर रुक जाता है जहाँ उत्पादन व्यय और उत्पादित सम्पत्ति बराबर होते हैं। यदि इस अन्तिम श्रम की इकाई के पश्चात् जिसे हम सीमान्त इकाई कहते हैं उत्पादक एक अन्य इकाई और बढ़ायेगा तो उत्पादन में वृद्धि अवश्य होगी परन्तु क्रमागति-उत्पत्ति-ह्रास नियम के अनुसार। उत्पादक को उस अतिरिक्त श्रमिक को जितनी मजदूरी देनी पड़ेगी उसका उत्पादन उससे कम ही होगा क्योंकि उत्पादन के साधनों की शक्ति का पूर्ण उपयोग सीमान्त इकाई तक हो चुका है। अतएव उत्पादक को हानि होगी, पर वह उस इकाई को नियुक्त नहीं करेगा। श्रमिक को मजदूरी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के आधार पर दी जायेगी और सीमान्त श्रमिक से आगे श्रमिकों की माँग न होगी।

उत्पादक श्रमिक को अधिक से अधिक उतनी ही मजदूरी दे सकता है जितनी उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति है। इस स्थिति में उत्पादक को न हानि होती है और न लाभ।

यदि हम श्रमिक के दृष्टिकोण से मजदूरी का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि वह अपने श्रम का अधिक से अधिक मूल्य लेने का प्रयत्न करता है। वह चाहता है कि अपने श्रम को इतने मूल्य पर बेचे जिससे उसके परिवार का भरण-पोषण हो जाय। वह यह नहीं चाहता है कि उसके परिवार को अभावग्रस्त रहना पड़े। उसके रहन-सहन का भी एक स्तर होता है और अपने [illegible] कुछ [illegible] भी श्रमिक सरलता से अपनी प्रतिष्ठा को धूल में नहीं मिलाना चाहता है। अतएव वह [illegible] मजदूरी चाहता है जिससे अपनी उक्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। उसकी मजदूरी की न्यूनतम सीमा उसके रहन-सहन के स्तर से नापी जा सकती है।

उत्पादक श्रमिकों की जनसंख्या की वृद्धि का अनुचित लाभ उठाते हैं। अधिक पूर्ति हो जाने से मजदूरी की दर घट जाती है। श्रमिकों में निर्धनता अधिक होने से उनकी मोल भाव करने की शक्ति भी क्षीण होती है। समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होकर श्रमिकों ने अपनी इस निर्बलता को दूर करने के अनेक प्रयत्न किये हैं और समय-समय पर हड़ताल की धमकी देकर या हड़ताल करके अपनी मजदूरी बढ़ाने तथा अन्य सुविधाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे हैं।

उत्पादक इस बात का पूरा प्रयत्न करता है कि श्रमिक को कम-से-कम वेतन दिया जाय। श्रमिक पूरी शक्ति लगाकर अधिकतम वेतन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उत्पादक अधिक से अधिक श्रमिक की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति के बराबर मजदूरी दे सकता है और श्रमिक न्यूनतम उतनी मजूरी स्वीकार कर सकता है जितने से वह अपने रहन-सहन के स्तर को बनाये रख सके, बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर सके इत्यादि। इस प्रकार अन्त में इन दोनों अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के बीच में मजदूरी निर्धारित होती है। यदि श्रमिक कुशल हो जैसे ऊँची शिक्षा पाया हुआ इन्जीनियर या डाक्टर इत्यादि तो इस अवस्था में उत्पादक उनका अधिक शोषण नहीं कर सकता है। उनकी संख्या कम होती है और माँग अधिक इसलिए उत्पादकों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से कुशल श्रमिक को लाभ भी हो सकता है।

हम ऊपर यह बता आये हैं कि उत्पादक श्रमिक की मजदूरी सीमान्त श्रमिक की उत्पादन शक्ति के आधार से निर्धारित करता है। सीमान्त श्रमिक का पता लगाना आसान कार्य नहीं है। कारखाने में अनेक प्रकार

के श्रमिक होते हैं, प्रत्येक की उत्पादन शक्ति भिन्न होती है और उनमें कुछ कुशल और कुछ अकुशल श्रमिक भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव यह अत्यन्त कठिन कार्य है कि श्रमिकों में से सीमान्त श्रमिक को खोज निकाला जाय। इस कठिनाई को हल करने के लिये अर्थशास्त्री प्रायः यह मान लिया करते हैं कि श्रम के विभिन्न प्रकारों के अनुसार श्रमिकों के भी विभिन्न वर्ग होते हैं और प्रत्येक वर्ग के श्रमिक शक्ति, कार्यक्षमता, कुशलता इत्यादि में लगभग समान होते हैं। इसके साथ ही उत्पादन के अन्य साधन मशीन, पूंजी इत्यादि को स्थिर रखकर एक वर्ग के श्रमिकों की [illegible] इस इकाई का जो [illegible] होता है वह सीमान्त उत्पादन कहा जाता है। इस मान्यता के आधार पर ही सीमान्त श्रमिक की उत्पादन-शक्ति का विचार टिका हुआ है। सीमान्त उत्पादन सदा स्थिर नहीं रहता है। आवश्यकतानुसार, परिस्थितिवश तथा श्रमिकों की पूर्ति में घटती-बढ़ती के साथ ही साथ सीमान्त उत्पादन में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इसीलिए विभिन्न मजदूरियाँ निर्धारित की जाती हैं क्योंकि प्रत्येक वर्ग के श्रमिकों की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति विभिन्न होती है।

मजदूरी पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। श्रम नाशवान होता है। श्रमिक उसे भविष्य के उपयोग के लिये संचित नहीं रख सकता है जिस कारण उसे प्रायः कम मूल्य पर भी उसका उपयोग कर देना पड़ता है। श्रमिक की निर्धनता से श्रम की नाशवान प्रकृति को और महत्त्व मिल गया है। उत्पादक श्रमिक का शोषण इस गुण के आधार पर सरलता से कर सकता है। माँग कम होने पर भी निर्धन श्रमिकों की पूर्ति में निरन्तर वृद्धि होती ही जाती है क्योंकि कोई ऐसी योजना अब तक नहीं बन पाई है जिसकी सहायता से श्रमिकों की इस बढ़ती संख्या के श्रम का उपयोग कर राष्ट्र की आय बढ़ायी जा सके। श्रमिक यह चाहता है कि उसके प्रति मिनट का उपयोग हो।

श्रम और श्रमिक सदा एक साथ रहते हैं। यदि श्रमिक ऐसे स्थान पर बसे हों जहाँ पर कोई उद्योग-धन्धा नहीं है तो अपार मात्रा में राष्ट्रीय-श्रम की हानि हो जाती है। यदि कोई श्रमिक उत्पादन केन्द्रों में जाकर काम कर सकता है तभी उसके श्रम का उपयोग हो सकना संभव होता है। श्रम गतिशील अवश्य है परन्तु जलवायु, परिस्थितियाँ, जाति तथा धर्म-बन्धन उस गतिशीलता में बाधक स्वरूप होते हैं इस कारण श्रम पूर्ण गतिशील नहीं रहता है। इसका प्रभाव भी मजदूरी पर पड़ता है।

श्रमिक अशिक्षित होता है। वह श्रम की महत्ता और अपने अधिकारों से लगभग अपरिचित रहता है। इस कारण वह राष्ट्र में श्रम की स्थिति, माँग और पूर्ति को नहीं समझ पाता है। उसकी निर्धनता से उसको

और भी हानि उठानी पड़ती है। उसे निरन्तर द्रव्य की आवश्यकता रहती है अतएव किसी भी मजदूरी पर वह अपना श्रम बेचने को उद्यत हो जाता है। वह उत्पादक से मोलभाव नहीं कर सकता और उत्पादक धीरे-धीरे उसकी इस विवशता का अनुचित लाभ उठाया करता है।

वर्तमान समय में श्रमिक को एक कुशल श्रमिक होना अनिवार्य है। अकुशल श्रमिक की माँग कम होती है और उनकी पूर्ति अधिक है। इसी कारण उन्हें वेतन भी अत्यन्त न्यून मिलता है। परन्तु यदि श्रमिक कुशल हो जाय, किसी कार्य की उचित शिक्षा ग्रहण कर ले तो वह उत्पादक से मोलभाव [illegible] पर बेच सकता है अन्यथा नहीं। उत्पादक श्रम की माँग करने [illegible] आवश्यक [illegible] नहीं रुक सकता है। वह कुशल श्रमिकों को पहले नियुक्त करता है और अकुशल को अन्त में। ऐसी स्थिति में उत्पादक की शक्ति श्रमिक की अपेक्षा अधिक होती है। प्रायः अकुशल श्रमिक और कुशल श्रमिक दोनों इस प्रहार के शिकार हो जाते हैं। आधुनिक समय में इस स्थिति को सुधारने तथा श्रमिक को उत्पादक के चंगुल से बचाने के लिये श्रमिकों के संगठन बनाये जाते हैं। श्रमिकों के इन संगठनों (ट्रेड यूनियन) के द्वारा की गई माँग श्रमिकों की माँग सामूहिक माँग होती है और उत्पादक पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस प्रकार श्रमिक की मोलभाव की शक्ति काफी बढ़ गयी है। यदि कोई श्रमिक संगठन से बाहर भी हो तो उसका भी संगठन के अन्तर्गत रहनेवाले श्रमिक के बराबर ही लाभ होता है। पारिश्रमिक की एक दर निश्चित हो जाती है और श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा हो जाती है।

मजदूरी पर रहन-सहन के स्तर का भी प्रचुर प्रभाव पड़ता है। यदि श्रमिक के रहन-सहन का स्तर ऊँचा है तो वह अवश्य ऊँची मजदूरी पर ही कार्य करने को तैयार होगा। वह कुशल श्रमिक हो सकता है और कार्यक्षमता में भी अन्य श्रमिकों से अधिक अच्छा हो सकता है। उसकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति साधारण श्रमिक से अच्छी होगी। परन्तु यदि श्रमिकों के रहन-सहन का स्तर गिरा हुआ है और उनमें प्रचुर निर्धनता का प्रसार है तो अवश्य ही उनकी कार्यक्षमता में कमी होगी और वे अधिकतर अकुशल होंगे। भारतवर्ष में ऐसे श्रमिकों की संख्या अधिक है। इन्हें मजदूरी कम मिलती है क्योंकि इनकी सीमान्त-उत्पादन-शक्ति भी कम होती है। इससे इनके परिवार का भरण-पोषण कठिन हो जाता है और लगभग वही स्थिति हो जाती है जो मजदूरी के जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त के अनुसार संभव है। श्रमिकों के उक्त संगठन उनके रहन-सहन को भी प्रभावित करते हैं और उसमें सुधार करते हैं।

यदि श्रमिकों को उचित शिक्षा दी जाय और उनकी असली मजदूरी अधिक हो तो सम्भव हो सकता है कि उनके सामूहिक श्रम से उत्पादन की मात्रा आज की अपेक्षा कही अधिक बढ़ जाय। कुशल एवं अधिक कार्यक्षमता वाले श्रमिक को उत्पादक वेतन अधिक देता है तो उससे श्रमिक की योग्यता मे वृद्धि होती है। उसकी उत्पादन-शक्ति बढ़ती है और उत्पादक को अधिक लाभ हो सकता है। परन्तु यदि उत्पादक श्रमिक को कम मजदूरी देकर उत्पादन करवायेगा तो उसे पूर्व की अपेक्षा हानि उठानी पड़ेगी [illegible]कि श्रमिक की उत्पादन शक्ति क्षीण होगी, [illegible]की रुचि काम पर [illegible] और [illegible] होगी। इसीलिये यह [illegible] जाता है कि य[illegible] श्रमिक को अधिक मजदूरी दी जाय तथा अन्य सुविधाएं दी जायें तो उत्पादक को वह श्रमिक सस्ता पड़ता है क्योंकि [illegible] सामान्त-उत्पादन-शक्ति मजदूरी से काफी अधिक होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. नकद और असली मजदूरी में क्या अन्तर है? इस अन्तर के महत्व को समझाइये।
२. 'जीवन-निर्वाह-सिद्धान्त' से आप क्या समझते हैं? इसके द्वारा मजदूरी कैसे निर्धारित की जाती है? इसके दोषो को बतलाइये।
३. मजदूरी के आधुनिक सिद्धान्त को समझाइये। इस सिद्धान्त के द्वारा मजदूरी कैसे निर्धारित की जाती है?

अध्याय ५५

सूद (Interest)

किसान भूमि से अन्न उगाता है और उत्पादित अन्नराशि में से वह एक निश्चित भाग लगान के रूप में जमींदार को भूमि की उपजशक्ति के उपयोग के बदले दे देता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के उत्पादन में पूँजी के उपयोग के बदले [illegible] द्रव्य दिया [illegible] (Interest) कहलाता है।

समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी नहीं है। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कभी न कभी दूसरे व्यक्ति पर निर्भर होना पड़ता है। वह अन्य व्यक्ति से द्रव्य उधार लेकर या कोई उपयोग की वस्तु लेकर अपना काम चलाता है और इस उपयोग के बदले में जो कुछ वह उनके स्वामियों को देता है वह 'सूद' कहलाता है। संक्षेप में 'सूद' द्रव्य के उपयोग के बदले एक निश्चित प्रतिशत में पूँजीपति को किया जानेवाला भुगतान है। अर्थात् यदि ऋणदाता से ऋणी एक वर्ष के लिये १०० रुपये ऋण ले और इनके भुगतान में वर्ष के अन्त में ११२ रुपये दे तो ये अधिक १२ रुपये १०० रुपयों का १ वर्ष तक उपभोग करने का 'सूद' हुए। इसका अधिकारी पूँजीपति होता है।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है। यहाँ के निवासी सदा आवश्यकताओं की वस्तुएँ अन्य व्यक्तियों से ऋण में लिया करते हैं। यहाँ सूद के लेन-देन का बहुत प्रचार है। प्रत्येक ग्रामीण को इसका कटु अनुभव है। यह कहा जाता है कि गाँव का किसान या अन्य कोई व्यक्ति एक बार महाजन से ऋण ले तो जीवन भर उसका 'सूद' चुकाता जाता है यहाँ तक कि उसके पुत्रों तक को यह [illegible] चुकाना पड़ता है। इसी में किसानों की भूमि, घर, खड़ी फसल इत्यादि नीलाम हो जाती है या [illegible] का महाजन उसे ले लेता है। किसान बिना भूमि के एक मजदूर [illegible] समान काम करता है और नष्ट हो जाता है। इन किसानों का [illegible] के सूद को चुकाने में ही बीत जाता है। मूलधन तो कभी [illegible] नहीं जा सकता है।

व्यवहार में हम जिस द्रव्य को 'सूद' कहते हैं वह अर्थशास्त्र की दृष्टि से केवल सूद नहीं है। वह 'सूद' 'कुल सूद' (Gross Interest) होता है जिसमें वास्तविक सूद भी सम्मिलित होता है।

सूद की समस्या तभी उपस्थित होती है जब एक ऋणी हो और

भुगतान नही कर सकेगा अतएव उस दर पर वह ऋण उधार नहीं लेगा।

ऐसे समाज में सूद की दर अधिक होगी जहाँ पूँजी पर एक व्यक्ति का एकाधिकार हो। परन्तु ऐसी स्थिति समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होगी। समाज में पूँजीपतियों और ऋण लेनेवालों दोनों में प्रतिस्पर्धा रहती है अतएव सूद की दर माँग और पूर्ति के आधार पर ही निर्धारित की जा सकती है। यदि लोगों के पास द्रव्य अधिक हो तो उन्हें ऋण लेने की कम आवश्यकता पड़ेगी और माँग कम होने से सूद की दर भी कम होगी जिससे कुछ लोग आकृष्ट हों। परन्तु द्रव्य की कमी पड़ते ही उसकी माँग बढने [illegible] के अनुसार सूद की [illegible] सूद की दर स्थिर नहीं रखी जा सकती है।

[illegible] की प्रमुख समस्या कि सूद क्यों लिया जाता है या ऋणी सूद क्यों देते हैं अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा की है। उनके तत्सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :—

समय - पसन्द नियम (Time Preference Theory) :—यह सबसे प्राचीन सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त के कई नाम है। इसके गुणों के अनुकूल इसे संयम का नियम (Abstinence Theory) या एजिओ सिद्धान्त (Agio Theory) भी कहते है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह माना जाता है कि पूँजीपति या ऋणदाता धन की बचत तभी कर सकता है जब वह अपने उपभोग पर संयम रखे। वह धन का उपभोग करने की अपेक्षा उसे बचाये और इस प्रकार निश्चित अवधि के लिये उसे उधार दे दे। उक्त सिद्धान्त-शास्त्रियों का मत है कि उपभोग का त्याग करने के फलस्वरूप जो कष्ट ऋणदाता को होता है वह उसकी माप रुपयों में क[illegible] सूद की दर निश्चित कर लेता है। सूद से वह अपने उस कष्ट की पूर्ति कर लेता है। इसके साथ ही कुछ विद्वानों का मत है कि वह सूद इसलिए लेता है क्योंकि उसे अपने वर्तमान के उपभोग को भविष्य के लिये स्थगित करना पड़ता है। स्थगित की गयी इस अवधि के लिये वह सूद लेता है। यदि ऋणदाता किसी व्यक्ति को एक हजार रुपय दो वर्ष के लिये ऋण में देता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऋणदाता अपने उपभोग के उस आनन्द को जो वह इन एक हजार रुपयों से वर्तमान में प्राप्त कर सकता था दो वर्ष के लिये स्थगित कर रहा है। उसे अपने उपभोग के लिये दो वर्ष रुकना पड़ेगा। यह मनुष्य स्वभाव है कि वह उन वस्तुओं को अधिक लगाव के साथ ग्रहण करता है जिन्हें वह वर्तमान में व्यवहार में ला सकता है या जिनकी प्राप्ति के विषय में वह निश्चिन्त है। भविष्य अदृश्य होता है और समय एवं परिस्थितियाँ भी स्थिर नहीं रहतीं, सदा परिवर्तित होती रहती

हैं। अतएव भविष्य एक अनिश्चितता लिये रहता है जो मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल नहीं है। यह भी बहुत सम्भव होता है कि ऋणदाता की परिस्थातयाँ वर्तमान में सुव्यवस्थित हों, द्रव्य की क्रय-शक्ति अधिक हो परन्तु निश्चित भविष्य की अवधि तक ऋणदाता की परिस्थितियाँ अनुकूल न रहें द्रव्य की क्रय-शक्ति कम हो जाय या तब तक ऐसा कानून बन जाय जिससे ऋणी का लाभ हो। ऋणदाता अपने वर्तमान के उपभोग को स्थगित ही नहीं करता है वरन् अदृश्य भविष्य की अनिश्चितता को स्वीकार करता है। [illegible] वह अपनी इन कठिनाइयों की पूर्ति करने के लिये 'सूद' लेता है। कोई भी [illegible] यदि [illegible] रुपये प्राप्त करता है तो उनका अर्घ (Value) उनके लिये १०० रुपयों के [illegible] होता है क्योंकि वे उन रुपयों का निश्चित और दृश्य वर्तमान में उपभोग करके उनकी पूरी उपयोगिता का लाभ उठा सकते हैं। परन्तु यदि यह कहा जाय कि यह १०० रुपये उन्हें एक वर्ष बाद मिलेंगे तो इनका उन व्यक्तियों के लिये वही अर्घ नहीं रह जायगा। उनको अपनी वर्तमान की आवश्यकताओं को रोकना पड़ेगा। इस दृष्टि से भविष्य में मिलनेवाले १०० रुपयों का अर्घ उनके लिये ९० रुपयों के अर्घ के बराबर ही हो जायेगा अतएव यदि रुपये देनेवाला व्यक्ति उन्हें १०० रुपयों के वर्तमान अर्घ के बराबर भविष्य में देना चाहेगा तो उसे ११० रुपये देने पड़ेंगे। भविष्य के ११० रुपये वर्तमान के १०० रुपयों के बराबर होंगे। अर्थात् १० रुपया जो अधिक दिया गया वहउ नके भविष्य तक अर्थात् एक वर्ष तक रुकने का पुरस्कार है। इसे ही सूद भी कहा जायगा। तात्पय यह है कि सूद वर्तमान को भविष्य की अपेक्षा अधिक पसन्द करने के कारण एक निश्चित अव[illegible] लिये किये गये त्याग का प्रतिफल है।

उक्त उदाहरण ऋणदाता आर ऋण लेनेवाले दोनों पक्षों पर लागू होता है। प्रत्येक ऋण लेनेवाला वर्तमान [illegible] आवश्यकताओं के कारण ही ऋण लेता है और यदि उसे ऋण भविष्य में मि[illegible] स्थिति उक्त उदाहरण के अनुसार ही होगी। अपने ऋण में दिये द्रव्य की वसूली तक रुकने में ऋणदाता को भी उक्त परिस्थितियों का ही सामना करना पड़ता है।

सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory) :—सीमान्त उत्पादन शक्ति का महत्त्व पहले पृष्ठों में समझाया जा चुका है। श्रम की मात्रा में क्रमशः जैसे-जैसे वृद्धि की जाती है वैसे-वैसे उत्पादन की मात्रा में ह्रासोन्मुख वृद्धि होती जाती है। परिणाम यह होता है कि एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब श्रम का मूल्य और उत्पादन की मात्रा का मल्य बराबर हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादक को न हानि होती

है और न लाभ। ठीक इसी प्रकार यदि किसी उत्पादन कार्य मे पूंजी की मात्रा को बढाते जायें तो एक स्थिति ऐसी आ जायेगी जहाँ लगाई पूंजी और उससे प्राप्त आय बराबर हो जायेगे। नियमानुसार इसी स्थिति मे सूद की दर निर्धारित की जायेगी।

यदि ऋणदाता से कोई उत्पादक पूँजी उधार ले तो वह सूद की दर पूँजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक नही चाहेगा। वह केवल इसी सीमा तक अधिकतम सूद दे [illegible] इससे अधिक देने से उसे हानि होने की सम्भावना रहती है। [illegible] इतनी [illegible] उन्नति नही कर सकता [illegible] ऋण की माँग बढेगी सूद की दर अवश्य बढेगी परन्तु पूँजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक नहीं बढेगी।

यदि हम ध्यानपूर्वक इस सिद्धान्त का अध्ययन करे तो ज्ञात होगा कि इसमे केवल पूँजी के माँग-पक्ष की ही प्रमुखता है। जैसे-जैसे उत्पादन मे वृद्धि होती है, नयी पूँजी का प्रयोग होता है, उपभोक्ताओ की माँग बढती है वैसे ही वैसे सूद की दर मे भी वृद्धि होती है अथवा माँग कम होने पर इसके विपरीत होता है। परन्तु इस सिद्धान्त से पूँजी की पूर्ति के पक्ष मे पूरा प्रकाश नही पडता है। यदि केवल माँग पक्ष को ही ले तो हम सूद की दर को निर्धारित नही कर सकते है। सूद की दर वहाँ पर निश्चित होगी जहाँ पर पूँजी की माँग और पूर्ति बराबर हो पर सीमान्त-उत्पादन-शक्ति का सिद्धान्त इस बात को नही समझाता है।

माँग और पूर्ति का नियम (Demand and Supply Theory) —पूँजी की माँग भी अन्य साधनो की तरह उत्पादन के लिये ही की जाती है। वर्तमान उत्पादन प्रणाली मे पूँजी की ही प्रमुखता है। प्राय साहसी विभिन्न प्रणालियो से द्रव्य एकत्रित करके उत्पादन के कार्य मे लगाते है। वे उत्पादन आरम्भ करते समय क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार पूँजी की एक - एक इकाई को बढाते जाते है। परन्तु पूँजी की मात्रा मे वृद्धि करने से एक सीमा तक तो उत्पत्ति बढती जाती है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब पूँजी की मात्रा और उत्पादन की मात्रा दोनो बराबर होते है। ऐसी स्थिति मे साहसी को न हानि होती है और न लाभ। परन्तु इसके पश्चात् एक भी मात्रा अधिक बढाने से क्रमागति उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है और साहसी को हानि होने लगती है। अतएव साहसी सीमान्त उत्पादन की उक्त स्थिति से अधिक आगे पूँजी की मात्रा नही बढायेगा। यही उसकी सूद देने की भी अधिकतम सीमा होगी।

यदि पूँजी की पूर्ति की ओर दृष्टि डाले तो विदित होगा कि पूँजीपति या ऋणदाता यह दावा करते है कि पूँजी का सचय करने मे उन्हे अनेक

कठिनाइयो का सामना करना पडा है। सयम से रहकर और अपनी वतमान की आवश्यकताओ को दबाकर उसने ऋण दिया है। इसलिये वह अपने इस त्याग और समझौते की निश्चित अवधि तक रुके रहने के धर्य को द्रव्य मे नापता है और उसीके बराबर सूद निश्चित करता है। यह सूद की न्यूनतम सीमा होती है। जिस प्रकार साहसी या अन्य ऋणी पूँजी की सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से अधिक सूद नही दे सकता है उसी प्रकार ऋणदाता अपनी उक्त मात्रा से कम नही माँग सकता है।

माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार बा[illegible] की दर उस स्थान पर निर्धारित की जाती [illegible] बराबर होते है। यह स्थान उत्पादक अथवा साहसी की [illegible] और [illegible] दाता की न्यूनतम सीमा के मध्य कही होता है।

तरलता पसन्द नियम (Liquidity Preference Theory) —यह सूद का आधुनिक सिद्धान्त है। इसके अनुसार मनुष्य स्वभाव पर दूसरे दृष्टि-कोण से प्रकाश पडता है। लार्ड जे० एम० कीन्स (Lord J M. Keynes) का मत है कि जब कोई व्यक्ति द्रव्य उधार देता है तो उसमे समय-पसन्द नियम (Time Preference Theory) के अन्तर्गत वर्णित ऋण-दाता की कठिनाइयो और उसके त्याग का महत्त्व नही होता है। द्रव्य उधार वही दे सकता है जिसने कुछ द्रव्य बचा लिया हो। जब वह रुपया बचाता है तब उसका ध्यान ऋण लेनेवाले पर नही होता है। वह ऋण लेनेवाले के लिये द्रव्य नही बचाता है। वह अपने बुढापे के लिये, बच्चो के लिये या आदर सम्मान पाने के लिये बचाता है। यदि उसे कुछ त्याग करना भी पडा और द्रव्य सचय करने मे कठिनाइयो का सामना करना भी पडा तो वह ऋण लेनेवालो के लिये नही बल्कि उक्त इच्छाओ के लिये। इसलिये वे जो सूद लेते है वह उनके त्याग, सयम और कष्टो के लिये नही होता है जो उन्होने ऋण लेनेवालो के लिये सहे है। क्योकि वास्तव मे ऋण लेनेवाले के लिये ही विशेष रूप से, यह कष्ट नही सहे गये है। इसके पश्चात् इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है कि जो भी व्यक्ति रुपया बचाता है उसे त्याग ही करना पडे यह आवश्यक नही है। प्राय. अधिक आमदनी वाले व्यक्ति अधिक रुपया बचाते है। वास्तव मे स्थिति यह होती है कि लोग अपनी सारी सभव आवश्यकताओ की पूर्ति करने के पश्चात् भी रुपया बचा लेते है या उसे व्यय नही कर पाते है। उदाहरण के लिये यदि एक सौदागर कुछ हजार रुपये बचा लेता है तो उसका कारण यह नही है कि उसने ऋण लेनेवाले के लिये त्याग करके, कष्ट सह के इत्यादि प्रकार से वह द्रव्य बचाया है। सत्य यह है कि उसका व्यय आमदनी से कम होता है। उसका रहन सहन का स्तर पहले का-सा ही

रहता है। आमदनी बढ़ने से उसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता है। अतएव आमदनी का अधिकांश भाग बचत बन जाता है जिसे वह ऋण देकर सूद लेता है। इस स्थिति में भी यह नहीं कहा जा सकता है कि सूद त्याग का प्रतिफल है।

व्यक्तिगत रूप से बहुत कम व्यक्ति रुपया ऋण में देते हैं। भारतवर्ष में गाँवों में ऋण देने की महाजनी प्रथा है, शहरों में बैंक इत्यादि अन्य संगठित संस्थाएँ। इन संस्थाओं का उद्देश्य ही ऋण देना होता है अतएव त्याग, संयम इत्यादि का इसमें विचार नहीं किया जा [illegible] है। यदि यह कहा जाय कि इस[illegible] को द्रव्य[illegible]न में त्याग, संयम या [illegible] सहन पड़ते हैं तो यह एक भद्दी बात होगी। इसके साथ ही इन संस्थाओं में समय-पसन्द (Time Preference) का प्रश्न ही नहीं उठता है।

लार्ड कीन्स का मत है कि यदि समय-पसन्द के नियम को मान भी लिया जाय तो यह कहना उचित नहीं होगा कि लोग वर्तमान को भविष्य से अच्छा ही समझते हैं। वर्तमान की कठिनाइयों का निरीक्षण करके वह अपने लिये ऐसी योजना बना सकते हैं जिससे भविष्य सुन्दर हो। अनेक व्यक्ति बुढ़ापे में आनन्द का जीवन बिताने के लिये द्रव्य बचाते हैं। यदि किसी की पुत्री का व्याह भविष्य में होगा और वह आज से ही द्रव्य बचाना आरम्भ कर दे तो यह नहीं कहा जा सकता है कि वह भविष्य को वर्तमान से बुरा समझता है। ऐसी स्थिति में तो उसकी दृष्टि में केवल भविष्य का सुखमय चित्र ही रहता है। यदि भविष्य में निश्चित मात्रा में द्रव्य की आवश्यकता हो तो व्यक्ति अभी से बचत आरम्भ कर देगा। अतएव समय-पसन्द का नियम व्यर्थ है।

कीन्स का मत है कि इस सम्बन्ध में तरलता-पसन्द सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) ही अधिक उपयुक्त सिद्धान्त है। व्यक्ति चाहे किसी भी विचार से प्रभावित होकर द्रव्य बचाये वह उसे अपने पास नकद रूप में रखना अधिक पसन्द करेगा। इसमें यह प्रश्न किसी महत्त्व का नहीं है कि उसने द्रव्य किस रीति से बचाया है। महत्त्वपूर्ण केवल यह है कि वह उस बचाये द्रव्य को किस रूप में चाहता है? यदि द्रव्य उसके पास नकद रूप में हो तो वह आवश्यकता पड़ने पर किसी भी काम में लगाया जा सकता है। द्रव्य की उसके स्वामी के पास केवल नकद रूप में बहुत महत्ता है। यदि कोई द्रव्य ऋण लेता है तो वह उस व्यक्ति से उसके नकद द्रव्य को ही माँगता है जिसे वह व्यक्ति नहीं चाहता है। इसीलिये वह व्यक्ति सूद लेता है। बैंकों का कार्य देखने से विदित होगा कि उनकी शक्ति नकद द्रव्य पर निर्भर करती है। जिस बैंक के पास जितना अधिक नकद द्रव्य होगा वह उतना ही अधिक शक्तिशाली बैंक होगा।

यदि उनमें से अधिक नकद द्रव्य को निकाल दिया जाय तो उनकी सूद की दर बढ़ने लगती है और यदि कम नकद द्रव्य निकाल दिया जाय तो सूद की दर कम हो जाती है। यदि ऋणदाता संस्था न होकर कोई व्यक्ति है तो वह भी अपनी तरलता-पसन्द प्रवृत्ति के अनुसार सूद की दर निर्धारित करेगा। यदि वह नकद द्रव्य अधिक चाहता है तो उसकी सूद की दर अधिक होगी अन्यथा कम होगी।

ऋण लेनेवाला व्यक्ति भी यही चाहता है कि उसे नकद द्रव्य मिले। यदि नकद [illegible] स्थान पर उसे स्वर्ण या चाँदी दिया जाय या अन्य प्रकार की पूँजी दी जाय [illegible] रेगा। उसे तो अपने उपभोग के लिये या व्यापार इत्यादि उत्पादन के कामों के लिये नकद द्रव्य की आवश्यकता पड़ती ह। वह कुछ अधिक दर पर भी नकद द्रव्य ही लेना स्वीकार करेगा। इस नियम में भी सूद की दर एक निश्चित समय में द्रव्य की माँग और उसकी पूर्ति पर निर्भर होती है।

सूद क्यों लिया जाता है, इस प्रश्न को सूद का तरलता-पसन्द सिद्धान्त भली प्रकार समझाता है। यह वास्तविक परिस्थितियों के अध्ययन पर आधारित है।

सूद की दरों में समानता नहीं होती है और न ये स्थिर ही रहती हैं। इनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। यह पहले कहा जा चुका है कि ऋणदाता को जितना अधिक कष्ट सहना पड़ेगा या जोखिम उठाना पड़ेगा वह उसीके अनुपात में सूद की दर निर्धारित करेगा क्योंकि वह उस त्याग, संयम और कष्ट को रुपयों में नापता है। यदि भारत के गाँवों में महाजनों की सूद प्रणाली का अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि जो ग्रामीण एक बार ऋण ले लेगा वह उससे कभी मुक्त नहीं हो सकेगा। गाँवों में सूद की दर बहुत बढ़ी होती है क्योंकि वहाँ पूँजी वसूल न होने का भय लगा रहता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ग्रामीण उत्पादन के लिये ऋण नहीं लेता है। ऋण लेने का उसका विशेष उद्देश्य उत्सव, शादी-व्याह इत्यादि होता है। वह उपभोग के लिये ऋण लेता है और इसी कारण उसे चुका नहीं सकता है। शहरों में अधिकतर ऋण उत्पादन के कामों के लिये लिया जाता है, यहाँ बैंक प्रथा होने से सूद की दर भी कम रहती है और सिक्योरिटियाँ होने से पूँजी वसूल भी हो जाती है। गाँवों में पूँजी की वसूली के लिये प्रायः कचहरियों में जाना पड़ता है और इससे व्यय बहुत होता है जिसका प्रभाव सूद की दर पर पड़ता है।

समय के दृष्टिकोण से सूद की दर को निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) अल्पकालीन सूद की दर (Short Period Rate of Interest)

(२) दीर्घकालीन सूद की दर (Long Period Rate Interest) शहरो मे प्राय. अनेक बैक कार्य करते है। जिस प्रकार व्यक्ति को ऋण की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार इन सस्थाओ को भी प [illegible] है। यदि कोई बैक दूसरे बैक से २४ घण्टे के लिये ऋण ले तो उसे $\frac{1}{2}$% या $\frac{1}{2}$% रुपये की दर से व्याज देना पडेगा। बैक से यदि चालू ख[illegible] से ऋण ले तो उसकी सूद की दर कम होती है क्योकि चालू खाते [illegible] ऋण अल्पकालीन होता है।

बैको से दीर्घकालीन ऋण स्थिर खाते (Fixed Deposits) [illegible] मिलता है। इसमे [illegible] लिया जा सकता है। इसम सूद की दर अधिक होती है क्योकि दीर्घकालीन होने के कारण ऋण देनेवाले को त्याग भी अधिक करना पडता है और पूँजी की सीमान्त उत्पादन-शक्ति भी अधिक होती है। दीर्घकालीन सूद की दरो मे सब [illegible] महत्त्वपूर्ण वह सूद की दर है जो सरकारी सिक्योरिटीज मे मिलती है। यह दर ३% या ३$\frac{1}{2}$% होती है। यदि दीर्घकालीन सूद की बाजारी दरो को देखे तो ज्ञात होगा कि वे समय, परिस्थितियो और ऋण लेने-वाले की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। यदि किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति अच्छी है और वह समाज का प्रतिष्ठावान पुरुष है तो उसे कम सूद पर ही ऋण मिल सकता है। क्योकि ऋणदाता को ऐसी स्थिति मे अधिक जोखिम नही उठानी पडती है। यदि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ठीक नही है या उस पर पूरी तरह से विश्वास नही किया जा सकता है तब उसे सूद की अधिक दर चुकानी पडेगी।

सूद की इन विभिन्न दरो का प्रभाव उत्पादन क्षेत्र मे पडता है। स्वय ये माँग और पूर्ति के नियम पर निर्भर करती है। यदि अल्प-कालीन सूद की दरो मे वृद्धि हो जाय तो लोग अपना द्रव्य दीर्घकालीन मदो से हटाकर जिसमे सूद की दर स्थिर है, अल्पकालीन मदो पर लगा देगे। ऐसा करने से अल्पकालीन मदो मे द्रव्य की पूर्ति अधिक हो जायेगी और दीर्घकालीन मदो मे कम। इसका परिणाम यह होगा कि सूद की दर क्रमश बढने और घटने लगेगी। यही क्रिया इसके विपरीत भी हो सकती है।

सूद पूँजी के उपयोग का भुगतान होने से उत्पादन से सम्बन्धित है। पूँजी उत्पादन की एक महत्त्वपूर्ण साधन है। वर्तमान मे आर्थिक उन्नति पूँजी के बल पर ही सम्भव हो सकती है। देश के उत्पादन और वितरण के साधनो पर विज्ञान का पूरा प्रभाव है। विज्ञान की सहायता से ही एक देश दूसरे देश से जुडा है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो का पलक मारते ही सुदूर ग्रामो के बाजारो तक मे प्रभाव पड जाता है। इन सब साधनो

की प्राप्ति पूँजी के बल पर ही संभव हुई है। नित्य नये उद्योगों के खुलने से पूँजी की माँग बढ़ रही है पर उसी शीघ्रता से सूद की दर नहीं बढ़ती है। नियमानुसार पूँजी की अधिक माँग होने से सूद की दरों में भी वृद्धि होना अनिवार्य था। इस वृद्धि के न होने का कारण है वर्तमान उत्पादन प्रणाली और सभ्यता। प्रत्येक उत्पादक यह प्रयत्न करता है कि सारे बाजार पर उसका प्रभाव हो जाय। इसके लिये उसे अपनी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य कम करने पड़ते हैं अन्यथा वह विदेशी या देशीय उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं सकता है। इसी कारण कारखानों, मिलों इत्यादि में उत्पा[illegible] जिससे प्रति इकाई उत्पादन व्यय न्यूनतम होता है। इससे उपभोक्ताओं की आमदनी पर प्रभाव पड़ता है। उनकी बचत बढ़ती है। यह बचत किसी न किसी उत्पादन के काम में लगकर सूद की दर घटाने में सहायक होती है क्योंकि पूँजी की पूर्ति माँग से अधिक है। यद्यपि भारतवर्ष में बैंकों, सेविंग बैंकों इत्यादि का प्रचलन बहुत कम हुआ है, इस कारण यहाँ के निवासियों में बचत करने का स्वभाव अभी नहीं बन पाया है, परन्तु विदेशों में बचत को उपभोग के बराबर ही महत्त्व दिया जाता है। इसी कारण वहाँ आर्थिक उन्नति के साथ ही साथ सूद की दर कम होती जाती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'कुल सूद' और 'वास्तविक सूद' में क्या अन्तर है? इसे विस्तार के साथ समझाइये।
२. 'समय-पसन्द-नियम' और 'तरलता-पसन्द-नियम' में से सूद-निर्धारण का कौन-सा नियम उपयुक्त है और क्यों?
३. बाजार में 'सूद की दर' माँग और पूर्त्ति के आधार पर किस प्रकार निर्धारित की जाती है? उसका सीमान्त-उत्पादन-शक्ति से क्या सम्बन्ध है?

अध्याय ५६

लाभ (Profit)

लाभ उत्पादन के साधन साहसी के श्रम का प्रतिफल है। साहस और संगठन के अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि वर्तमान उत्पादन प्रणाली में साहसी का होना [illegible]मावश्यक हैं। प्राचीन अर्थशास्त्री साहस और सगठन को 'व्यवस्था' [illegible] समझते थे। उन्होंने उत्पादक की उत्पादन क्रिया में प्रयुक्त दो विशिष्ट शक्तियो—साहस और सगठन—को पृथक् [illegible] नही देखा था। तब उत्पादन वैयक्तिक प्रथा से होता था और अत्यन्त छोटे पैमाने में। इसके विपरीत आज बड़ी-बड़ी मशीनों और सैकडों श्रमिको की सहायता से चलनेवाले कारखानों में उत्पादन कार्य होता है। साहसी ही एक ऐसा व्यक्ति होता है जो इतनी विस्तृत और जटिल उत्पादन क्रिया का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। साहसी विभिन्न स्रोतों से पूँजी एकत्रित करता है, भूमि प्राप्त करके कारखाने की स्थापना करता है, कच्चे माल को प्राप्त करता है, श्रमिको को नियुक्त करता है, उत्पादित सामग्री के विक्रय की उचित व्यवस्था करता है इत्यादि। इन साधनों के प्रयोग के फलस्वरूप वह इनके श्रम का भुगतान भी करता है। कुल उत्पादन में से वह भूमि का लगान भूमिपति को देता है, श्रमिकों को मजदूरी या वेतन देता है, पूँजीपतियों को उनकी पूँजी का सूद देता है। कुल उत्पादन मे से उक्त कुल उत्पादन-व्यय घटाकर जो शेष बचता है उसे लाभ कहते है और उसका अधिकारी साहसी होता है।

साधारण अर्थ में जिसे हम लाभ कहते है वास्तव में वह कुल लाभ (Gross Profit) होता है। साहसी वास्तविक लाभ का अधिकारी होता है, कुल लाभ का नही। जनसाधारण लाभ से केवल यह समझते है कि उत्पादन कार्य में लगी पूँजी से अधिक की आमदनी हुई है। अर्थात् यदि एक व्यापारी पाँच हजार रुपयों की पूँजी लगाकर व्यापार आरंभ करता है और एक निश्चित अवधि के अन्त में उसे कुल सात हजार रुपये प्राप्त होते है तो जनसाधारण की दृष्टि में व्यापारी को दो हजार रुपयों का लाभ हुआ। अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह लाभ कुल लाभ कहा जायगा। वास्तविक लाभ इस कुल लाभ के अन्तर्गत ही होता है।

लाभ साहसी के श्रम का प्रतिफल होता है। इसको स्पष्ट करने के लिये आचार्य मार्शल ने लाभ को दो भागों में विभाजित किया है—(१) सामान्य लाभ (Normal Profit) और (२) वास्तविक लाभ (Pure

Profit)। लाभ के ये दो प्रकार साहसी के कार्यो से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव यह जानना आवश्यकीय है कि साहसी के क्या कार्य (Function) होते हैं।

साहसी पर सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली का उत्तरदायित्व होता है। वह यह निश्चित करता है कि उद्योग में कितने श्रमिकों की आवश्यकता होगी; कितने और किस प्रकार के कर्मचारी नियुक्त करने होंगे, उत्पादन के साधनों की शक्ति का अधिकतम उपयोग करने के लिये उन्हें किस प्रकार सम्बन्धित करना होगा, उत्पादन के विभिन्न कार्यो में श्रमिकों को किस अनुपात में विभाजित [illegible]; कारखाने का कार्यालय किस प्रकार अधिक कार्यक्षम होगा इत्यादि। वह उत्पादन सम्बन्धी पत्रों का उत्तर देता है और उत्पादन की सारी क्रिया में लगे श्रम का निरीक्षण भी करता है। यदि हम ध्यानपूर्वक साहसी के इस काम को देखें तो विदित होगा कि उसके और साधारण श्रमिक के कार्य में विशेष अन्तर नहीं है और किसी प्रकार का भय भी नहीं है। यदि श्रमिक इस काम को करता तो उसे मजदूरी या वेतन मिलता परन्तु साहसी को अपन इस संगठन तथा प्रबन्ध के कार्य के लिये कुल लाभ में से सामान्य लाभ (Normal Profit) पुरस्कार स्वरूप दिया जाता है। यदि साहसी को यह सामान्य लाभ न मिले तो वह उक्त कार्य नही करेगा। अतएव साहसी के उत्पादन कार्य को करने के लिये कम से कम उक्त द्रव्य-राशि अवश्य मिलनी चाहिये। यह साहसी की सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर है।

साहसी का दूसरा कार्य अधिक महवत्त्पूर्ण है। इसे जोखिम लेना (Risk taking) कहते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि साहसी ही उत्पादन के समस्त साधनों को जुटाता है और उत्पादन आरंभ करता है। उत्पादन बड़ी मात्रा में किया जाता है और उसका तुरन्त विक्रय हो सकना असम्भव सा है। उसे इस उत्पादित राशि को भविष्य में बेचना पड़ता है। इसलिये साहसी उत्पादन आरंभ करने से पहले ही इस बात का अनुमान लगा लेता है कि अमुक समय में उत्पादित वस्तु की माँग कितनी होगी और वह उसमें से कितनी मात्रा की पूर्ति कर सकेगा। इसके साथ ही उसे इस बात पर भी ध्यान रखना पड़ता है कि उस समय बाजार में कितने अन्य उत्पादक उस वस्तु का उत्पादन कर रहे होंगे और उनकी प्रतिस्पर्धा की क्या स्थिति होगी। यदि उत्पादक या साहसी का यह अनुमान सही निकल गया तो सारे बाजार में उसका प्रभाव जम सकता है और उसे अधिक लाभ भी होना संभव है। परन्तु यदि उसका यह अनुमान अशुद्ध निकला तो उसे अवश्य हानि उठानी पड़ेगी। इसलिये साहसी का प्रमुख और विशेष कार्य यही है कि उसका अनुमान भविष्य में कितना

ठीक निकला। प्राय अभ्यासी होने के कारण उनका अनुमान सही ही निकलता है।

साहसी भविष्य की मॉग और पूर्ति को सही ऑकना चाहता है। यदि वह अपने कुल उत्पादन का भविष्य मे विक्रय न कर सके तो बहुत सी उत्पादित वस्तु व्यर्थ पडी रहेगी और उनके बराबर मूल्य की उसे हानि उठानी पडेगी। यदि वह कम उत्पादन करेगा तो भविष्य की अधिक मॉग होने से बाजार पर दूसरा उत्पादक अपना प्रभाव जमा लेगा। इससे भी उसे गहरी हानि होगी। उसे सदा [illegible] विचार [illegible] कि वह लाभ कमा सकता था परन्तु उत्पादन [illegible] रण न कमा स[illegible]।

उत्पादित व[illegible]ु भविष्य मे बेची जा[illegible]गी। अतएव साह[illegible] को यह जानना आवश्यक है कि भविष्य मे उसकी उत्पादित वस्तु का क्या मूल्य होगा। इसके लिये उसे अनेक सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियो का अध्ययन करना पडेगा। यह सभव [illegible] सकता है कि भविष्य मे उसकी उत्पादित वस्तु की मॉग ही न रहे, फैशन बदल जाय या लोगो की रुचि किसी कारण उसके प्रयोग की ओर न हो और यह भी सभव है कि राजनैतिक हलचल से उसकी वस्तु की मॉग एकाएक बढ जाय और मूल्य मे वृद्धि भी सभव हो। यदि भविष्य मे पूर्ति अधिक और मॉग कम होने से वस्तु के मूल्य मे कमी आ जाय तो उससे होनेवाली हानि को भी साहसी को ही सहना पडेगा क्योकि भविष्य के अनुमानित मूल्य के आधार पर ही वह वर्तमान मे श्रमिको के श्रम का भुगतान करता है या अन्य उत्पादन व्यय करता है। श्रमिक भविष्य के लिये नही रुकते है। वे काम करने के एक सप्ताह बाद या एक माह पश्चात् तक अपने पारिश्रमिक को प्राप्त कर लेना चाहते है। कच्चे माल का मूल्य उसे वर्तमान मे उसके बाजार-भाव पर देना पडता है। यदि उसका उत्पादन व्यय कम हुआ और भविष्य मे वस्तु का मूल्य बढ जाने से उसे लाभ अवश्य होगा परन्तु यदि भविष्य मे मूल्य प्रतिस्पर्धा या अन्य कारणो से उत्पादन-व्यय से कम हुआ तो उसे गहरी हानि उठानी पडेगी। उसे तो सदा यह ध्यान रखना पडता है कि उसकी वस्तु का मूल्य कम से कम रहे या उसके प्रतिस्पर्धियो के मूल्य के बराबर हो। यदि यह अनुमान ठीक निकला तो साहसी को इस जोखिम को उठाने का उचित प्रतिफल मिलेगा। कुल लाभ मे से वास्तविक लाभ ही साहसी के इस श्रम का प्रतिफल होगा।

लाभ साहसी पर निर्भर होता है। यदि साहसी चतुर, विद्वान और धैर्यवान है, व्यापारिक नीतियो का मर्मज्ञ है, राजनीति ओर मनुष्य के स्वभाव का गभीर विद्यार्थी है तो अवश्य लाभ अधिक होगा। उसके

अनुमान सही निकलेंगे, बाजार में अपनी वस्तु की वह अधिक विक्री करा सकेगा। परन्तु यदि साहसी चतुर नहीं है, अन्य उत्पादकों की स्थितियों से भली प्रकार परिचित नहीं है और भविष्य को ठीक-ठीक नहीं समझ सकता है तो उसे अवश्य ही हानि सहनी पड़ेगी।

यह साधारण ज्ञान की बात है कि यदि उत्पादन कार्य में उत्पादित-वस्तु के मूल्य से उत्पादन व्यय अधिक हो जाय तो उत्पादक उत्पादन बन्द कर देता है। वह उसी सीमा तक उत्पादन बढ़ा सकता है जहाँ पर दोनों बराबर रहें। यह स्थिति सीमान्त स्थिति कही जाती है। देश में अनेक साहसी उत्पादन कार्य करते हैं, प्रत्येक के स्वभाव, वातावरण, जलवायु और परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होते हैं और उसी के अनुकूल उन्हें लाभ मिलता है। कोई साहसी कुछ समय के पश्चात् ही लाखों रुपयों का स्वामी हो जाता है और कोई साहसी अपनी शक्ति भर चेष्टा करने पर भी केवल इतना उत्पादन कर सकता है जितना उसका उत्पादन व्यय है। अथवा उसे जो लाभ होता है वह केवल जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति करने भर के लिये होता है। ऐसे साहसी सीमान्त साहसी कहे जा सकते हैं। इनके आधार पर ही लाभ की सीमा निर्धारित की जा सकती है क्योंकि सीमान्त साहसी का लाभ न्यूनतम ही होता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि वास्तविक लाभ जो साहसी के श्रम का पुरस्कार है कुल लाभ से भिन्न होता है। कुल लाभ के अन्तर्गत अनेक बातों का समावेश रहता है जिनका निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

उत्पादन के समस्त साधन साहसी ही जुटाता है। यह हो सकता है कि वह उसमें अपनी पूँजी का भी कुछ अंश लगाये, कारखाना स्थापित करने के लिये अपनी भूमि का एक भाग दे दे। इसके साथ ही उत्पादन क्रिया का निरीक्षण करके तथा प्रबन्धक की तरह सारी व्यवस्था ठीक रखने का भी वह कार्य करता है। इस प्रकार कुल उत्पादन में उक्त प्रकार की उसकी सेवाओं का भी कुछ महत्त्व रहता है। व्यवहार में साहसी अपने इन सब कार्यों का प्रतिफल नहीं माँगता है। इससे यह समझा जा सकता है कि वह इस श्रम का उत्पादन को बढ़ाने के लिए मुफ्त प्रयोग करता है। वास्तव में यह बात नहीं है। साहसी कुल लाभ का अधि-कारी होता है और उसके उक्त श्रम का प्रतिफल उसमें सम्मिलित रहता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने श्रम के इस भेद पर विशष ध्यान नहीं दिया था। परन्तु आधुनिक उत्पादन प्रणाली में उक्त सभी प्रकार बिल्कुल पृथक्-पृथक् करके देखे जाते हैं। अतएव यदि कुल लाभ में से वास्तविक लाभ को जानना चाहें तो हमें उक्त श्रम का प्रतिफल कुल लाभ में से घटा देना पड़ेगा। अर्थात् साहसी ने यदि पूंजी, भूमि और प्रबन्ध करने का

श्रम लगाया है तो उसे कुल लाभ में से पूँजी के प्रयोग का प्रतिफल सूद, भूमि का लगान और प्रबन्ध इत्यादि करने के श्रम का प्रतिफल मजदूरी या वेतन अलग कर देना पड़ेगा।

उत्पादन में बड़ी-बड़ी मशीनें प्रयोग में लाई जाती हैं और प्रत्येक उत्पादक इसी चेष्टा में रहता है कि उनकी उत्पादन शक्ति का पूर्ण प्रयोग हो। इससे मशीन में टूट-फूट और अन्य खराबियाँ आ जाती हैं। कभी अकुशल श्रमिक के अज्ञान से मशीन के आवश्यक पुर्जे टूट जाते हैं। बड़े कारखानों में यह भी भय रहता है कि उनमें आग न लग जाय जिससे हजारों रुपयों की पलक मारते ही हानि हो सकती है। यदि उत्पादक नयी मशीन लगाना चाहे तो एकदम उतना द्रव्य प्राप्त नहीं हो सकता है इसलिये वह एक कोष खोल देता है जिसमें प्रतिवर्ष कुछ प्रतिशत द्रव्य जमा कर दिया जाता है और नयी मशीनों के लगाने इत्यादि का व्यय उसी में से किया जाता है। आग इत्यादि से कारखाने को बचाने के लिये या आग से कारखाने के नष्ट हो जाने पर कुछ द्रव्य नये उद्योग की स्थापना के लिये या उस हानि को कुछ अंश तक पूरा करने के लिये उत्पादक उसका बीमा करा देता है। इस कारण उसे आकस्मिक हानि से भय नहीं रहता है। इस बीमे के लिये भी उसको प्रतिवर्ष कुछ निश्चित मात्रा में द्रव्य बीमा कम्पनी को प्रीमियम के रूप में देना पड़ता है। अतएव वास्तविक लाभ को निकालने के लिये कुल लाभ में से उक्त रकमों को घटा देना अनिवार्य है।

जब उत्पादक उत्पादन आरंभ करता है तो पहले भविष्य के मूल्य, भविष्य की माँग और पूर्ति, उपभोक्ताओं की रुचि इत्यादि का ध्यान रखकर उत्पादन की मात्रा में नियन्त्रण रखता है और वर्तमान में उसी भविष्य के अनुमानित मूल्य के आधार पर मजदूरी इत्यादि देता है। यदि यह अनुमान लगभग ठीक निकला तो उसे लाभ होता है अन्यथा हानि। परन्तु वैज्ञानिक साधनों से बाजार या व्यापार पर एक सीमित प्रदेश का एकाधिकार नहीं रहा है। उस पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का तुरन्त प्रभाव पड़ जाता है। अतएव यदि युद्ध की आशंका से या भविष्य में होनेवाली किसी अवांछित घटना के फलस्वरूप वस्तु की माँग बढ़ जाने से उसकी उत्पादित वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है या उसकी माँग बढ़ जाती है जिससे उसकी उत्पादित प्रत्येक इकाई उपभोग के काम आ जाती है तब यह कहा जा सकता है कि उक्त परिस्थितियों में हुआ लाभ आकस्मिक लाभ है। वह उत्पादक के अनुमानित लाभ की अधिकतम सीमा से भी अधिक हो सकता है। इसलिये इस आकस्मिक लाभ के अंश को भी कुल लाभ में से पृथक् करके वास्तविक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

यदि उत्पादक या साहसी को किसी वस्तु के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त है तो वह उस अधिकार के बल से सारे बाजार पर अपना प्रभाव जमा सकता है और उपभोक्ताओं से इच्छानुसार मूल्य वसूल कर सकता है। उसे अपने किसी अन्य प्रतिस्पर्धी का भय नहीं रहता है और इस कारण घटिया वस्तु का उत्पादन करके भी वह अच्छे गुणवाली वस्तु के बराबर लाभ कमा लेता है। इसमें साहसी को अपनी चतुराई और विशेष योग्यता नहीं दिखानी पड़ती है या विशेष जोखिम नहीं उठानी पड़ती है। अतएव यह भी परिस्थितियों के कारण प्राप्त हुआ आकस्मिक लाभ ही है। वास्तविक लाभ प्राप्त करने के लिये इसे भी कुल लाभ की मात्रा में से घटाना आवश्यक है।

इन सबके पश्चात् साहसी का वास्तविक लाभ भी आता है। कुल लाभ के अन्तर्गत वास्तविक लाभ का समावेश रहता है। यह पहले कहा जा चुका है कि वास्तविक लाभ साहसी के जोखिम उठाने का प्रतिफल है। इसके साथ ही यदि साहसी अन्य साहसियों से अधिक चतुर है और अपनी विशेष योग्यता के बल से अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर अधिक लाभ कमा सकता है तो उसे भी वास्तविक लाभ के अन्तर्गत ही समझेंगे। वास्तव में यह साहसी के उक्त गुणों का प्रतिफल है। यदि यह न मिलेगा तो साहसी श्रमिक की तरह कार्य करना छोड़ देगा। उत्पादन के दृष्टिकोण से यह आवश्यकीय है कि उत्पादन के प्रत्येक साधन के श्रम का प्रतिफल उसे दिया जाय अन्यथा समस्त उत्पादन कार्य में विघ्न पड़ते हैं। इस दृष्टि से यह वास्तवकि लाभ उत्पादन व्यय के अन्तर्गत ही आ जाता है। यदि अल्पकालीन दृष्टिकोण से साहसी लाभ से वंचित है, उसका कुल उत्पादन सीमान्त उत्पादन है इस पर भी साहसी को अपने जोखिम उठाने और अनुमान लगाने की विशिष्ट योग्यता का पुरस्कार मिलता है जो उत्पादन व्यय में ही सम्मिलित रहता है। इस स्थिति में यह संभव है कि साहसी अपने उद्योग की प्रारम्भिक अवस्था में है और दीर्घकाल में उचित व्यवस्था हो जाने से उसे अधिक लाभ प्राप्त हो सकेगा।

प्राय: जब हम यह कहते हैं कि साहसी को उसके श्रम का—जोखिम उठाने और भविष्य की परिस्थितियों के अनुकूल मूल्य आँकने का—प्रतिफल उत्पादन के अन्य सभी साधनों के श्रम का प्रतिफल देने के पश्चात् अन्त में मिलता है तो इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं होता है कि लाभ कुल उत्पादन में उक्त वितरण के पश्चात् जो शेष रह जाता है वही है। वास्तविक लाभ साहसी के श्रम का प्रतिफल है अतएव उसका भी वही वर्ग है जो अन्य उत्पादन के साधनों के प्रतिफल का अर्थात् लगान, सूद और मजदूरी का, और उन्हीं की तरह वह उत्पादन व्यय का भी एक भाग है जिसके न मिलने पर उत्पादन कार्य रुक सकता है।

लाभ का और सामाजिक आर्थिक उन्नति का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। समाज की आर्थिक उन्नति का तात्पर्य उत्पादन की वृद्धि और उसके प्राणियों के उच्च रहन-सहन के स्तर से होता है। वर्तमान उत्पादन प्रणाली में देशीय और अर्न्तदेशीय प्रतिस्पर्धा का विशेष महत्त्व है। साहसी को सदा इसी बात की चिन्ता लगी रहती है कि उसकी उत्पादित वस्तु का उपभोग किस प्रकार से अधिक लोकप्रिय हो। यदि वस्तु का मूल्य अधिक होगा तो स्वाभाविक है कि बहुत कम संख्या में लोग उसका उपभोग कर सकेंगे। इसलिये प्रत्येक उत्पादक यह चाहता है कि [illegible] वस्तु का मूल्य कम से कम हो और इसके लिये प्रति इकाई उत्पादन व्यय न्यूनतम होना भी आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब उत्पादन बड़ी मात्रा में हो और उत्पादन के सभी साधनों का पूरा उपयोग किया जा सके। प्रायः देश की आर्थिक उन्नति में उत्पादन बड़ी मात्रा में किया जाता है, वस्तुओं के मूल्य कम होते हैं और अधिक लोग उनका उपभोग कर सकते हैं। मूल्य कम होने से उत्पादक को अधिक लाभ नहीं हो पाता है। इसके साथ ही उत्पादन के प्रारम्भ में एकाधिकार अधिक प्रचलित था और अच्छी योग्यता के बहुत कम साहसी प्राप्त होते थे। परन्तु वर्तमान में एकाधिकार की सुविधा मिलनी कठिन है क्योंकि उत्पादन क्षेत्र में अनेक उत्पादक हैं; उनकी योग्यता भी अधिक होती है और मशीनों का प्रयोग हो जाने से सारा उत्पादन कार्य एक विशेष प्रकार से किया जाता है जिसमें बहुत परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उत्पादक या साहसी को अधिक लाभ नहीं हो पाता है। उनके बाजार विभाजित रहते हैं, जो आकस्मिक लाभ पहले दो-एक उत्पादकों को मिल सकता था वह अनेक उत्पादकों में विभाजित हो जाता है। पहले व्यापारिक क्षेत्र में वही व्यक्ति जाते थे जिनकी बुद्धि कुशाग्र होती थी, जिनके पास पर्याप्त पूँजी होती थी और जो व्यापार विधि से परिचित होते थे। परन्तु वर्तमान में मिश्रित पूँजी की कम्पनियों के स्थापित हो जाने से व्यक्तिगत पूँजी का महत्त्व कम हो गया है। साधारण संगठन शक्ति वाले साहसी कुशाग्र बुद्धि के प्रबन्धकों को नियुक्त कर लेते हैं और व्यापारिक साधन और विधियाँ अधिक वैज्ञानिक हो जाने से अब गुप्त नहीं रहीं जिन पर कुछ ही व्यक्तियों का अधिकार हो। इन सब कारणों से लाभ की मात्रा भी घटती जाती है। परन्तु वह शून्य नहीं हो सकती है। यदि लाभ शून्य हो तो साहसी जोखिम नहीं उठायेगा और सारा उत्पादन कार्य बन्द हो जायेगा।

राजनैतिक विचारधारा भी लाभ को प्रभावित करती है। समाजवादी विचारधारा वाले व्यक्तियों का मत है कि उत्पादन का मुख्य साधन श्रम

हैं। यदि वह श्रम न करे तो उत्पादन नहीं किया जा सकता है। श्रमिक अपनी पूरी शक्ति से काम करता है और उसके परिणामस्वरूप जो लाभ कारखाने या मिल को होता है वह श्रमिकों का हुआ। वह यह नहीं चाहते हैं कि उपभोक्ता और श्रमिक के मध्य में उत्पादक सारे लाभ को स्वयं ले ले। उत्पादक श्रमिकों के अकथनीय श्रम का उनकी योग्यता और त्याग का अनुचित लाभ उठाते हैं। उनके अधिकार में उत्पादन की कुन्जी होने से वे वस्तुओं का बाजार में कृत्रिम अभाव पैदा कर देते हैं जिससे माँग अधिक होने पर वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। इसका एक मनो-वैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता है। उपभोक्ता भविष्य के प्रति आशंकित रहते हैं और वर्तमान की बिगड़ती दशा से प्रभावित होकर वस्तु का अधिक मात्रा में अधिक मूल्य पर ही क्रय करके सुरक्षित रखना चाहते हैं जिससे भविष्य की अनिश्चितता कुछ कम हो जाय। उत्पादक इस अनुचित रीति से कमाये लाभ को स्वय ले लेता है। इसी प्रकार चोरबाजारी करके भी उत्पादक काफी लाभ कमाता है। समाजवादियों का मत है कि श्रमिक के श्रम का इस प्रकार दुरुपयोग करके लाभ कमाने का उत्पादक को अधिकार नहीं है। उनका यह भी मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति-गत लाभ को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कुछ उत्पादक अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये श्रमिकों का और उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं। यह अनुचित है क्योंकि इससे समाज को गहरी हानि पहुँचती है। साहसी का व्यक्तिगत लाभ समाज की भलाई के लिये नहीं हो सकता है। वह उसका प्रयोग नये धन्धे स्थापित करके और अधिक शोषण के लिये करेगा।

इसके विपरीत यदि वर्तमान परिस्थितियों में व्यक्तिगत लाभ के प्रश्न को सुलझाने के लिये उत्पादन के केन्द्रों का और भूमि का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जा सकता है; उत्पादन और वितरण राज्य अपने नियन्त्रण में नहीं ले सकता है तो यह स्वाभाविक ही है कि मध्यस्थ-प्रथा अवश्य श्रमिकों और उपभोक्ताओं का शोषण करेगी। पूँजीपतियों और उत्पादकों का यह मत है कि वे बड़े त्याग और संयम से द्रव्य जुटाते हैं, उत्पादन के साधनों को बड़े कष्ट से एकत्रित करते हैं, अपनी कार्यक्षमता से उन्हें संगठित करते हैं; भविष्य की अनिश्चितता की जोखिम उठाकर अपना धन उत्पादन में लगा देते हैं, उत्पादन की समस्त योजना स्वयं बनाते और उसे कार्यान्वित करते हैं; यदि यह सब करने के पश्चात् लाभ होता है तो उस पर उनका अधिकार उचित है। वे समस्त उत्पादन के साधनों के श्रम का प्रतिफल दे चुकने के पश्चात् अवशेष को ही लेते हैं। यदि वह जोखिम न उठायें और अपनी व्यापारिक कुशलता का प्रयोग न करें तो देश में उत्पादन कार्य रुक जायेगा। यदि वैयक्तिक लाभ न मिलेगा तो

साहसी जोखिम नहीं उठायेगा; कारखाने और मिल बन्द हो जायेंगे, श्रमिक एक बड़ी संख्या में बेकार हो जायेंगे, वस्तुओं का अभाव हो जायेगा और उपभोक्ता समाज को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उन्हें अधिक लाभ केवल इसलिये होता है क्योंकि उत्पादन में उन्होंने अधिक जोखिम उठा रखी है। वे उत्पादन को बढ़ाने और उत्पादित वस्तु के गुणों में वांछित उन्नति करने के लिये उत्पादन के साधनों में परिवर्तन करते रहते हैं, भविष्य के लाभ का अनुमान करके वर्तमान में उत्पादन के साधनों के श्रम का भुगतान करते हैं। यह संभव हो सकता है कि अनिश्चित भविष्य की परिस्थितियाँ उनके अनुमान के अनुकूल न निकलीं तब समस्त हानि उन्हें ही उठानी पड़ती है। इसके साथ ही यदि प्रतिस्पर्धा को उत्पादन क्षेत्र से हटा दिया जाय तो उत्पादक ग्राहकों से वस्तुओं का मनमाना मूल्य वसूल करेंगे और उसके रहने से वस्तुओं के मूल्य में जो कमी होती है, वस्तु के गुणों में जो वृद्धि होती है और एक ही वस्तु के जो विभिन्न प्रकार प्राप्त होते हैं वह सब न हो सकेगा और उपभोक्ताओं की प्रतिस्थापना की शक्ति कुंठित हो जायेगी; उनकी रुचि में परिवर्तन न होने से उनका मानसिक विकास भी शिथिल पड़ जायेगा, इत्यादि। अतएव जब तक समाज में पूँजीवादी व्यवस्था स्थापित है वैयक्तिक लाभ को दूर नहीं किया जा सकता है और उस लाभ का अधिकारी साहसी ही होता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'कुल लाभ' और 'वास्तविक लाभ' में अन्तर समझाइये।

२. 'सामान्य लाभ' और 'वास्तविक लाभ' में क्या अन्तर है? 'वास्तविक लाभ' को किस प्रकार निर्धारित करते हैं?

३. वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में 'लाभ' का महत्त्व समझाइये।

अंग्रजी-हिन्दी शब्दावली

A

Abrasion—घिसाई ।
Abstinence Theory—संयम का नियम ।
Acceptability—मान्यता ।
Ad valorem (Duty)—मूल्य के अनुसार (आयात-निर्यात कर) ।
Agricultural Credit Department—कृषि-साख-विभाग ।
Agricultural Income Tax—कृषि-आय-कर ।
Assets—सम्पत्ति ।
Audit—जाँच ।
Authorised Capital—निर्धारित पूंजी ।
Average Cost—औसत लागत ।
Average Revenue—औसत आय ।
Average Utility—औसत उपयोगिता ।

B

Balance of Payments—भुगतान का अन्तर ।
Balance of Trade—आयात-निर्यात का अन्तर ।
Balance of Trade (favourable)—आयात निर्यात का अनुकूल अन्तर ।
Balance of Trade (unfavourable)—आयात निर्यात का प्रतिकूल अन्तर ।
Balance sheet—आँकड़ा ।
Bank Draft—बैंक ड्राफ्ट ।
Bank Rate—बैंक की दर ।
Barter—अदल-बदल ।
Bearer cheque—धनी जोग चेक ।
Betterment Tax—उन्नति कर ।
Bill of Exchange—बिल ऑफ एक्सचेन्ज ।
Bimetallism—द्विधातु चलन ।
Black Market—चोर बाजार ।
Brassage—ढलाई व्यय ।
Budget—बजट ।
Business Profits Tax—व्यापार-नफा-कर ।

C

Canons of Taxation—करके नियम ।
Capital—पूंजी ।
Capital Gains Tax—पूंजी के अर्घ की वृद्धि का कर ।
Central Bank—केन्द्रीय बैंक ।
Certainty—निश्चितता ।
Cheap Money Policy—सस्ते दर की नीति ।
Change—रेजगारी ।
Cheque—चेक ।
Circulating Capital—चल पूंजी ।
Civil Administration—नागरिक शासन ।
Civil Works—सार्वजनिक निर्माण ।

Classical Economists—प्राचीन अर्थशास्त्री।
Clipping—कटाई।
Coastal Trade—तटीय-व्यापार।
Cognisibility—परिचयता।
Commercial Bank—व्यापारी बैंक।
Compulsory Contribution—अनिवार्य-शुल्क।
Comforts—सुखदायक आवश्यकताएँ।
Competition—प्रतिस्पर्धा।
Conscious Want—चेतन आवश्यकता।
Conservancy Tax—सफाई की फीस।
Convenience—सुविधा।
Conventional Necessaries—रीति-रिवाज सम्बन्धी आवश्यकताएँ।
Convertible Paper Money—परिवर्त्तनशील कागजी-द्रव्य।
Co-operative Bank—सहकारी बैंक
Consumer's Surplus—उपभोक्ता की बचत।
Consumption—उपभोग।
Cost—लागत।
Cost of Living Index—रहन-सहन के व्यय के संकेतांक।
Cost of Production—उत्पादन व्यय।
Counterfoil—प्रतिलिपि।
Covered Issue—नोटों का रक्षित भाग।
Creation of Credit—साख के निर्माण का ार्य।
Credit—साख।
Credit Instruments—साखपत्र।
Credit Mechanism—साख-व्यवस्था।
Credit Societies—ऋण देने वाली समितियाँ।
Crisis—सकट।
Crossed cheque—रेखांकित चेक।
Currency Circulation—मुद्रा प्रचलन।
Currency system—मुद्रा प्रणाली।
Current Account—अस्थायी जमा-खाते।
Curve—वक्ररेखा।
Customs (Duties)—आयात-निर्यात-कर।

D

Daily Market—दैनिक बाजार।
Debased—निकृष्ट।
Debasement—निकृष्टता।
Debt Services—ऋण सम्बन्धी व्यय।
Deductive Method—निगमन रीति।
Defence Expenditure—सुरक्षा सम्बन्धी व्यय।
Deferred Shares—विलम्बित हिस्से
Deflation—मुद्रा संकुचन।
Demand—माँग।
Demand Bill of Exchange—दर्शनी बिल।
Demand Curve—माँग की वक्ररेखा।
Demand Prices—माँग के मूल्य।
Demand Schedule—माँग का कोष्टक
Density of Population—जनसख्या का घनत्व।
Deposit—जमा-खाते।
Depression—मन्दी।
Desire—इच्छा।
Devaluation—अवमूल्यन।

Development Schemes—विकास की योजनायें।
Diminishing Marginal Utility—सीमान्त उपयोगिता का ह्रास।
Diminishing Returns—क्रमागति-उत्पत्ति ह्रास।
Direct Demand on Revenue—आय पर प्रत्यक्ष माँग।
Direct Satisfaction—प्रत्यक्ष सन्तोष।
Direct Tax—प्रत्यक्ष कर।
Directors—संचालकों।
Distribution—वितरण।
Disutility—अनुपयोगिता।
Diversity—भिन्नता।
Dividend—लाभांश।
Divisibility—विभाजकीयता।
Dollar Exchange Standard—डौलर विनिमय मान।
Drawee—देनदार।
Drawer—लेखक।

E

Earned Income—उपार्जित आय।
Economic Goods—आर्थिक वस्तुएँ
Economy—मितव्ययता।
Effect (of Tax)—कर का प्रभाव।
EffectiveDemand—प्रभावपूर्ण माँग।
Effective Supply—प्रभावपूर्ण पूर्ति
Elasticity—लचक।
Elasticity of Demand—माँग की लचक।
Elasticity of supply-पूर्ति की लचक
Enterprise—साहस।
EntertainmentTax—मनोरंजन कर
Entrepreneur—साहसी।
Equality—समानता।
Equilibrium Price—सन्तुलन मूल्य।
Equi-Marginal Utility—सम-सीमान्त उपयोगिता।
Excess Profits Tax—अत्यधिक नफा कर।
Exchange—विनिमय।
Exchange Control—विनिमय नियन्त्रण।
Excise Duty—उत्पादन कर।
Exploitation—शोषण।
Export—निर्यात।
Export Duty—निर्यात कर।
Extensive Cultivation—कृषि भूमि में विस्तार करके खेती करना।
External Economics—वाह्य मितव्ययता।

F

Factor of Production—उत्पादन का साधन।
Family Budget—परिवारिक बजट।
Federal form of government—संघ-सरकार।
Fees—सरकारी शुल्क।
Fertility—उत्पादन-शक्ति।
Fiat Coin—कानूनी सिक्के।
Fiduciary Issue—नोटों का अरक्षित भाग।
Financial Integration—राजस्व सम्बन्धी एकीकरण।
Fines—जुर्माना।
Firm—फर्म।

Fixed Capital—स्थिर पूँजी।
Fixed Cost—स्थिर लागत।
Fixed Deposit—स्थायी जमा खाते।
Foreign Currency—विदेशी सिक्के।
Foreign Exchange—विदेशी विनिमय।
Foreign Exchange Bank—विदेशी विनिमय बैंक।
Foreign Trade—विदेशी व्यापार।
Form Utility—रूप परिवर्त्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता।
Free Coinage—स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई।
Free Goods—असीमित मात्रा में मिलने वाली वस्तुएँ।
Full Bodied Coin—पूर्णकाय सिक्का।

G

General Price Level—सामान्यमूल्य का स्तर।
Gifts—भेंट।
Gold Bullion Standard—स्वर्ण-पाट-मान।
Gold Currency Standard—स्वर्ण-मुद्रा-मान।
Gold Exchange Standard—स्वर्ण-विनिमय-मान।
Gold Standard—स्वर्ण-मान।
Goods—वस्तुएँ।
Grants to Provincial Governments—प्रान्तीय सरकारों को सहायता।
Gratuitous Coinage—मुद्रा ढ़लाई।
Gross Interest—कुल सूद।
Gross Profit—कुल लाभ।

H

Hoarding—संचय।
Homogeneity—समानता।
House Tax—घरो पर कर।
Hyper-Inflation—अत्यधिक मुद्रा-प्रसार।

I

Impact—कर-संघात।
Imperfect Competition—अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा।
Import—आयात।
Import Duty—आयात-कर।
Incidence—कर-भार।
Income Tax—आय-कर।
Inconvertible Paper Money—अपरिवर्त्तनशील कागजी द्रव्य।
Increase of Demand—माँग की वृद्धि।
Increasing Average Cost—औसत लागत की वृद्धि।
Independent Monetary Policy स्वतन्त्र द्राव्यिक नीति।
Indestructibility—अक्षयशीलता।
Indigenous Banks—साहुकारी बैंक।
Indirect Tax—परोक्ष कर।
Individual Ownership—वैयक्तिक स्वामित्व।
Indivisibility—अविभाज्यता।
Inductive Method—आगमन रीति।
Industrial Bank—औद्योगिक बैंक।
Industrialisation—औद्योगीकरण।
Industrial Revolution—औद्योगिक क्रान्ति।
Ineffective Demand—प्रभावहीन माँग।
Inflation (Monetary)—मुद्रा प्रसार।
Inheritance Tax—उत्तराधिकारीकर।

Intensification of Demand—माँग की तीव्रता ।
Intensive Cultivation—गहरी खेती
Interest—सूद ।
Interest Bearing Obligations—ब्याज चुकाने वाला ऋण ।
Internal Currency—आन्तरिक मुद्रा ।
Internal Customs — आन्तरिक आयात-कर ।
Internal Economics—आन्तरिक मितव्ययता ।
Internal Trade—देशान्तर्गत-व्यापार ।
International Monetary Fund—अन्तर्राष्ट्रीय-द्राव्यिक-कोष ।
International Standard—अन्तर्राष्ट्रीय मान ।
International Trade—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ।
International Wealth—अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति ।
Issued Capital—निर्गमित पूंजी ।
Issue Department (of the Reserve Bank)—निर्गम विभाग ।

J

Joint Enterprise—मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ ।

L

Labour—श्रम ।
Land—भूमि ।
Land Cess—स्थानीय भूमि-कर ।
Land Mortgage Banks—भूमि-बन्धक बैंक ।
Land Revenue—मालगुजारी ।
Law of Compensatory Action—क्षति पूर्त्ति का नियम ।
Law of Demand—माँग का नियम ।
Law of Diminishing Returns—क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास का नियम ।
Law of Increasing Cost—औसत लागत की वृद्धि का नियम ।
Laissez faire—राज्य के हस्तक्षेप न करने की नीति ।
Law of Constant Returns—क्रमागति उत्पादन-क्षमता नियम ।
Law of Diminishing Utility—सीमान्त उपयोगिता के ह्रास का नियम ।
Law of Increasing Returns—क्रमागति-उत्पत्ति-वृद्धि नियम ।
Law of Equi-Marginal Utility—सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम ।
Law of Substitution—प्रतिस्थापन का नियम ।
Legal Monopoly—कानूनी एकाधिकार ।
Legal Tender Money—कानूनी ग्राह्य द्रव्य ।
Letter of credit—साख पत्र ।
Liabilities—ऋण ।
Limitied Coinage—सीमित मुद्रा ढलाई ।
Limited Legal Tender—सीमित कानूनी ग्राह्य ।
Limping Standard—वैकल्पिक मान ।
Liquidity Preference Theory—तरलता पसन्द नियम ।
Loan—ऋण ।

Localised Materials—स्थानीय भौतिक पदार्थ ।

Long Period Loans—दीर्घ-कालीन ऋण ।

Luxuries—भोग-विलास की आवश्यकताएँ ।

M

Malleability—ढलाई की योग्यता ।

Marginal Cost—सीमान्त लागत ।

Marginal Productivity—सीमान्त-उत्पादन शक्ति ।

Marginal Revenue—सीमान्त आय ।

Marginal Utility—सीमान्त उपयोगिता ।

Market—बाजार ।

Market Price—बाजार मूल्य ।

Material Goods—पार्थिव वस्तुएँ ।

Maximum Net Monopoly Revenue—एकाधिकारी का अधिकतम नफा ।

Measure of Value—विनिमय-शक्ति का माप ।

Medium of Exchange—विनिमय का माध्यम ।

Metallic Money—धात्विक द्रव्य ।

Milled Edges—सिक्कों के किट-किटीदार किनारे ।

Mixed Banks—मिले-जुले बैंक ।

Mobility—गति शीलता ।

Monetary Inflation—मुद्रा-प्रसार ।

Money—द्रव्य ।

Money Market—द्रव्य-बाजार ।

Mono-metallism—एक धातु चलन ।

Monopolistic Competition—एकाधिकारी प्रतिस्पर्धा ।

Monopoly—एकाधिकार ।

N

National Capital—राष्ट्रीय पूँजी ।

National Wealth—राष्ट्र की सम्पत्ति ।

Natural Monopoly—प्राकृतिक एकाधिकार ।

Necessaries—आवश्यक आवश्यकताएँ ।

Necessaries for Efficiency—कार्य-क्षमता प्राप्त करने की आवश्यकताएँ ।

Necessaries for Existence—जीवित रहने की आवश्यकताएँ ।

Net Interest—वास्तविक सूद ।

Non-material Goods—अपार्थिव वस्तुएँ ।

Non-specific factor—अविशिष्ट साधन ।

Normal Price—सामान्य-मूल्य ।

Normal Profit—सामान्य लाभ ।

Normative Science—आदर्श-विज्ञान ।

O

Octroi—चुँगी ।

Open Market Operations—खुले बाजार में सिक्योरिटियों का क्रय-विक्रय ।

Optimum Theory of Population—अधिकतम जनसंख्या का सिद्धान्त ।

Order cheque—शाहजोग चेक ।

Ordinary Shares—साधारण हिस्से ।

Organisation—संगठन ।

Overhead Cost—अतिरिक्त-व्यय ।

Over-population—अधिक जनसंख्या ।

Over-production—अधिक उत्पादन ।

P

Paid-up Capital—परिदत्त पूँजी।
Paper Money—कागजी द्रव्य।
Paper Standard—कागजी मान।
Partial Monopoly—आंशिक एकाधिकार।
Partnership—साझेदारी।
Payee—लेनदार।
Pay-in-slip—जमा कराने की पर्ची।
Perfect competition—पूर्ण प्रतिस्पर्धा।
Perfectly Elastic—पूर्णतया लचकदार।
Perfectly Inelastic—पूर्णतया बेलचकदार।
Perfect Monopoly—पूर्ण एकाधिकार।
Personal Wealth—व्यक्तिगत सम्पत्ति।
Pilgrim Tax—यात्री कर।
Place Utility—स्थान-परिवर्त्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता।
Planned Expansionist Economy योजना के अनुसार प्रसारित होती हुई आर्थिक व्यवस्था।
Partability—वहनीयता।
Positive Science-वास्तविक विज्ञान।
Post-dated cheque–बाद की तारीख का चेक।
Preference Shares–रियायती हिस्से।
(Cumulative) Preference Shares—जमा होनेवाले रियायती हिस्से।
(Ordinary) Preference Shares–साधारण रियायती हिस्से।
Price—मूल्य।
Price Control—मूल्य का नियंत्रण।
Prime Cost—परिवर्त्तित लागत।
Principle of Equi-Marginal Social Benefit—सम-सीमान्त राजकीय या सामाजिक लाभ (या उपयोगिता) का सिद्धान्त।
Principle of Least Aggregate Sacrifice—न्यूनतम भार का सिद्धान्त।
Principle of Maximum Benefit (राजकीय व्यय से) अधिकतम लाभ प्राप्त करने का सिद्धान्त।
Principle of Public Expenditure—राजकीय व्यय का सिद्धान्त।
Principle of Public Finance—राजस्व का सिद्धान्त।
Principle of Taxation—कर का सिद्धान्त।
Private or Individual Capital–वैयक्तिक पूँजी।
Production—उत्पादन।
Productivity—उत्पादन शक्ति, उत्पादकता।
Profit—लाभ।
Progressive—प्रगतिशील।
Protective Duty—सुरक्षण कर।
Provincial Excise—(प्रान्तीय) आबकारी।
Public Debt—राजकीय ऋण।
Public Domain—राज्यकी सम्पत्ति।
Public Expenditure—राजकीय व्यय।
Public Finance—राजस्व।
(Science of) Public Finance—राजकीय अर्थशास्त्र।

Q

Public Revenue—राजकीय आय ।
Purchase—क्रय ।
Purchasing Power—द्रव्य की क्रय-शक्ति ।
Pure Profit—वास्तविक लाभ ।
Quantity Theory of Money—द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त ।
Quasi Rent—अनुपार्जित वृद्धि या अर्ध लगान ।

R

Rail Road Competition—रेल-स्थल मार्ग प्रतिस्पर्धा ।
Rationing—राशनिंग ।
Reflation—संकुचन सुधार ।
Regressive—ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति ।
Rent—लगान ।
Representative Firm—प्रतिनिधि फर्म ।
Reserve (Fund)—सुरक्षित कोष ।
Residual Claimant Theory—शेषाधिकारी सिद्धान्त ।
Revenue—आय ।
Revenue Duty—आय-निमित्त कर ।
Risk—जोखिम ।
Risk taking—जोमिख लेना ।
Rupee securities—रुपयों में चुकाये जानेवाले सरकारी ऋण ।

S

Sacrifice—त्याग ।
Sale—विक्रय ।
Sales Tax—विक्रय-कर ।
Salt Tax—नमक-कर ।
Satisfaction—सन्तोष ।
Saving—बचत ।
Savings Bank Account—सेविंग बैंक के खाते ।
Schedule—कोष्टक ।
Secular Market—सामान्य बाजार ।
Security Services—सुरक्षा [illegible] व्यय ।
Seigniorage—ढ़लाई लाभ ।
Semi-manufactured—आधी तैयार वस्तुएँ ।
Share Capital—हिस्सों की पूँजी ।
Shifting—कर का हटाना ।
Silver Standard—रजत-मान ।
Simplicity—सरलता ।
Social Capital—सामाजिक पूँजी ।
Social Monopoly—सामाजिक एकाधिकार ।
Social Services—समाज सेवा पर व्यय ।
Special Assessment-विशेष उघाई ।
Specialisation—विशिष्टता, विशेष योग्यता ।
Specific (Duty)—परिमाणके अनुसार (आयात-निर्यात) कर ।
Specific factor—विशिष्ट साधन ।
Speculation—सट्टा ।
Stability—स्थिरता ।
Standard Coin—प्रामाणिक सिक्का ।
Standard of Deferred Payments भविष्य के लेन-देन व भुगतान का मान ।
Standard of Living—रहन-सहन का दर्जा ।
Standard-Token Coin—सांकेतिक-प्रामाणिक सिक्का ।

State Banker—राजकीय बैंक।
State Enterprise—राजकीय उद्योग
Sterling Exchange Standard—स्टर्लिंग-विनिमय-मान।
Sterling Securities—स्टर्लिंग सिक्योरिटीज़।
Stock—स्टॉक।
Store of value—विनिमय-शक्ति का संचय।
Subscribed Capital—प्राथित पूँजी।
Subsidiary Industries—सहायक उद्योग-धन्धे।
Subsistence Theory—जीवन-निर्वाह सिद्धान्त।
Substitution—प्रतिस्थापन।
Supplementary Cost—स्थिर लागत
Supply—पूर्त्ति।
Supply Curve—पूर्त्ति की वक्ररेखा।
Supply Price—पूर्त्ति का मूल्य।
Supply schedule—पूर्त्ति का कोष्टक।
Sweating (of coins)—जलाई।
Symmetallism—अनेक धातु मान।

T

Tax—कर।
Terminal Tax—सीमा कर।
Terminal Toll—राहदरी महसूल।
Theory of Value—अर्घ का सिद्धान्त।
Time Liabilities—स्थायी सम्पत्ति।
Time Market—समय सम्बन्धी बाजार
Time Preference Theory—समय-पसन्द नियम।
Time or Usance Bill—मुद्दती बिल
Time Utility—समय-परिवर्त्तन से उत्पन्न हुई उपयोगिता।
Token Coin—सांकेतिक सिक्का।
Total Revenue—कुल आय।
Total Utility—कुल उपयोगिता।
Trade—व्यापार।
Trade Depression—व्यापार मन्दी।
Transport—यातायात।

U

Unconscious Want—अचेतन आवश्यकता।
Under population—कम जनसंख्या।
Unearned Income—अनउपार्जित आय।
Unitary form of government—एकात्मक सरकार।
Units—इकाइयाँ।
Unlimited Legal Tender—असीमित कानूनी ग्राह्य।
Unlimited Liability—अपरिमित दायित्व।
Unskilled Labour—अकुशल श्रमिक
Utility Schedule—उपियोगिता का कोष्टक।

V

Value—अर्घ।
Variable Cost—परिवर्त्तित लागत।

W

Wages—मजदूरी या वेतन
Wages Fund—मजदूरी कोष, पारिश्रमिक कोष।
Want—आवश्यकता।
Wealth—सम्पत्ति।
Weighted Index Number—गुरुता के संकेतांक।
Weighting—गुरुता की प्रथा।